ॐ

परमात्मने नमः

श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन साहित्य स्मृति संचय, पुष्प नं.

समयसार सिद्धि

भाग-३

परम पूज्य श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव द्वारा रचित
परमागम श्री समयसार पर
परम उपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के
उन्नीसवीं बार के धारावाहिक शब्दशः प्रवचन
(गाथा ३९ से ६८ तथा कलश ३३ से ४५)
प्रवचन क्रमांक ११२ से १४३

: हिन्दी अनुवाद :
पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन
बिजौलियाँ, जिला-भीलवाड़ा (राज.)

: प्रकाशक :
श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट
302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056
फोन : (022) 26130820

: सह-प्रकाशक :
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250
फोन : 02846-244334

प्रथम संस्करण : 1000 प्रतियाँ
(श्री शान्तिनाथ दिगम्बर जिनबिम्ब पञ्च कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव के पावन अवसर पर 17 मई से 22 मई 2015)

ISBN No. :

न्यौछावर राशि : 20 रुपये मात्र

प्राप्ति स्थान :

1. **श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट,**
   सोनगढ़ (सौराष्ट्र) – 364250, फोन : 02846-244334
2. **श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट**
   302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, वी. एल. महेता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400056, फोन (022) 26130820 Email - vitragva@vsnl.com
3. **श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट (मंगलायतन)**
   अलीगढ़-आगरा मार्ग, सासनी-204216 (उ.प्र.)
4. **पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट,**
   ए-4, बापूनगर, जयपुर, राजस्थान-302015, फोन : (0141) 2707458
5. **पूज्य श्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट,**
   कहान नगर, लाम रोड, देवलाली-422401, फोन : (0253) 2491044
6. **श्री परमागम प्रकाशन समिति**
   श्री परमागम श्रावक ट्रस्ट, सिद्धक्षेत्र, सोनागिरजी, दतिया (म.प्र.)
7. **श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान आध्यात्मिक ट्रस्ट**
   योगी निकेतन प्लाट, 'स्वरुचि' सवाणी होलनी शेरीमां, निर्मला कोन्वेन्ट रोड राजकोट-360007 फोन : (0281) 2477728, मो. 09374100508

टाईप-सेटिंग : **विवेक कम्प्यूटर्स,** अलीगढ़

मुद्रक :

प्रकाशकीय

मंगलं भगवान वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्॥

महाविदेहक्षेत्र में विराजमान त्रिलोकनाथ वीतराग-सर्वज्ञ परम देवादिदेव श्री सीमन्धर भगवान की दिव्यदेशना का अपूर्व संचय करके भरतक्षेत्र में लानेवाले, सीमन्धर लघुनन्दन, ज्ञान साम्राज्य के सम्राट, भरतक्षेत्र के कलिकालसर्वज्ञ, शुद्धात्मा में निरन्तर केलि करनेवाले, चलते-फिरते सिद्ध – ऐसे आचार्यश्री कुन्दकुन्ददेव हुए, जो संवत् 49 में सदेह महाविदेहक्षेत्र में गये और आठ दिन वहाँ रहे थे। महाविदेहक्षेत्र में त्रिलोकनाथ सर्वज्ञदेव के श्रीमुख से प्रवाहित श्रुतामृतरूपी ज्ञानसरिता का तथा श्रुतकेवलियों के साथ हुई आध्यात्मिक सूक्ष्म चर्चाओं का अमूल्य भण्डार लेकर भरतक्षेत्र में पधारकर पंच परमागम आदि आध्यात्मिक शास्त्रों की रचना की। उनमें से एक श्री समयसारजी, द्वितीय श्रुतस्कन्ध का सर्वोत्कृष्ट अध्यात्म शास्त्र है। जिसमें श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने 415 मार्मिक गाथाओं की रचना की है। यह शास्त्र सूक्ष्म दृष्टिप्रधान ग्रन्थाधिराज है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य के पश्चात् एक हजार वर्ष बाद अध्यात्म के प्रवाह की परिपाटी में इस अध्यात्म के अमूल्य खजाने के गहन रहस्य को स्वानुभवगत करके श्री कुन्दकुन्ददेव के ज्ञानहृदय को खोलनेवाले श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेव ने सिद्धपद-साधक मुनिसम्पदा को आत्मसात करके, निजस्वरूप के अलौकिक अनुभव से, सिद्धान्त शिरोमणि शास्त्र समयसार की 415 गाथाओं की टीका करने का सौभाग्य प्राप्त किया है। उन्होंने श्रीसमयसारजी में निहित सूक्ष्म और गम्भीर रहस्य को, अपूर्व शैली से आत्मख्याति नामक टीका बनाकर, स्पष्ट किया है; साथ ही 278 मंगल कलश तथा परिशिष्ट की रचना भी की है।

इस शास्त्र का भावार्थ जयपुर निवासी सूक्ष्म ज्ञानोपयोगी पण्डित श्री जयचन्दजी छाबड़ा ने किया है।

वर्तमान इस काल में मोक्षमार्ग प्रायः लुप्त हो गया था, सर्वत्र मिथ्यात्व का घोर अन्धकार छाया हुआ था, जैनदर्शन के मूलभूत सिद्धान्त का अभ्यास छूट गया था, परमागम विद्यमान होने पर भी उनके गूढ़ रहस्यों को समझानेवाला कोई नहीं था – ऐसे विषम काल में जैनशासन के गगन

मण्डल में एक महाप्रतापी वीर पुरुष, अध्यात्ममूर्ति, अध्यात्मदृष्टा, आत्मज्ञ सन्त, अध्यात्म युगपुरुष, निष्कारण करुणाशील, भवोदधि तारणहार, भावी तीर्थाधिनाथ परमपूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजीस्वामी का उदय हुआ। जिन्होंने इन आचार्यों के ज्ञानहृदय में संचित गूढ़ रहस्यों को अपने ज्ञान-वैभव द्वारा रसपान करके आचार्यों की महा सूक्ष्म गाथाओं में विद्यमान अर्थ गाम्भीर्य को स्वयं के ज्ञान प्रवाह द्वारा सरल सुगम भाषा में चरम सीमा तक मूर्तिवन्त किया।

मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान के घोर तिमिर को नष्ट करने के लिए एक तेजस्वी अध्यात्म दीपक का स्वर्णमय उदय हुआ, जिसने अपनी दिव्यामृत चैतन्य रसीली वाणी द्वारा अध्यात्म सिन्धु के अस्खलित सातिशय शुद्ध प्रवाह को आगे बढ़ाया। आपश्री जैनदर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों को अति स्पष्टरूप से, अति दृढ़तापूर्वक भवताप विनाशक और परम शान्ति प्रदायक प्रवचन गंगा द्वारा फैलाते रहे; विरोधियों के विरोध का भी, जंगल में विचरते केशरी सिंह की तरह, अध्यात्म के केशरी सिंह बनकर निडररूप से, तथापि निष्कारण करुणावन्त भाव से झेलते रहे। विरोधियों को भी 'भगवान आत्मा' है – ऐसी दृष्टि से देखकर जगत् के जीवों के समक्ष अध्यात्म के सूक्ष्म न्यायों को प्रकाशित करते रहे।

श्री समयसारजी शास्त्र, पूज्य गुरुदेवश्री के कर-कमल में विक्रम संवत् 1978 के फाल्गुन माह में आया था। इस समयसारजी शास्त्र के हाथ में आते ही कुशल झवेरी की पारखी नजर समयसार के सूक्ष्म भावों पर पड़ी और सहज ही अन्तर की गहराई में से भावनाशील कोमल हृदय बोल उठा – 'अरे! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।' अनादि का अप्रतिबुद्ध जीव प्रतिबुद्ध कैसे हो? – उसका सम्पूर्ण रहस्य और शुद्धात्मा का सम्पूर्ण वैभव इस परमागम में भरा है।

इस शास्त्र का रहस्य वास्तव में तो अध्यात्म युगपुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के हाथ में यह शास्त्र आने के पश्चात् ही चरम सीमा से प्रकाशित और प्रदर्शित हुआ है। पैंतालीस वर्ष तक स्वर्णपुरी / सोनगढ़ में अध्यात्म की मूसलधार वर्षा हुई है जो सर्व विदित है। पूज्य गुरुदेवश्री ने विक्रम संवत् 1978 से 1991 – इस तरह तेरह वर्षों तक गूढ़ मन्थन करके जिनवाणी का सम्पूर्ण निचोड़ इस शास्त्र में से ढूँढ़ निकाला और फरमाया है कि —

- समयसार तो द्वितीय श्रुतस्कन्ध का सर्वोत्कृष्ट / सर्वोच्च आगमों का भी आगम है।
- समयसार तो सिद्धान्त शिरोमणि, अद्वितीय अजोड़ चक्षु और अन्धे की आँख है।
- समयसार तो संसार विष-वृक्ष को छेदने का अमोघ शस्त्र है।
- समयसार तो कुन्दकुन्दाचार्य से कोई ऐसा शास्त्र बन गया; जगत् का भाग्य कि ऐसी चीज भरतक्षेत्र में रह गयी। धन्य काल!

- समयसार की प्रत्येक गाथा और आत्मख्याति टीका ने आत्मा को अन्दर से डुला दिया है। समयसार की आत्मख्याति जैसी टीका दिगम्बर में भी दूसरी किसी शास्त्र में नहीं है। इसके एक-एक पद में इतनी गम्भीरता (कि) खोलते-खोलते पार न आये – ऐसी बात अन्दर है।

- समयसार तो सत्य का उद्घाटक है! भारत का महारत्न है!! समयसार.... जिसके थोड़े शब्दों में भावों की अद्भुत और अगाध गम्भीरता भरी है!

- समयसार तो भरतक्षेत्र का प्रवचन का सर्वोत्कृष्ट बादशाह है, यह सार शास्त्र कहलाता है।

- समयसार तो जगत् का भाग्य.... समयसाररूपी भेंट जगत् को दिया, स्वीकार नाथ! अब स्वीकार! भेंट भी दे वह भी नहीं स्वीकारे?

- समयसार तो वैराग्य प्रेरक परमात्मस्वरूप को बतलानेवाली वीतरागी वीणा है।

- समयसार में तो अमृतचन्द्राचार्य ने अकेला अमृत बहाया है, अमृत बरसाया है।

- समयसार एक बार सुनकर ऐसा नहीं मान लेना कि हमने सुना है, ऐसा नहीं बापू! यह तो प्र... वचनसार है अर्थात् आत्मसार है, बारम्बार सुनना।

- समयसार भरतक्षेत्र की अन्तिम में अन्तिम और उत्कृष्टतम सत् को प्रसिद्ध करनेवाली चीज है। भरतक्षेत्र में साक्षात् केवलज्ञान सूर्य है। समयसार ने केवली का विरह भुलाया है।

- समयसार की मूलभूत एक-एक गाथा में गजब गम्भीरता! पार न पड़े ऐसी चीज है। एक-एक गाथा में हीरा-मोती जड़े हैं।

- समयसार में तो सिद्ध की भनकार सुनायी देती है। यह तो शाश्वत् अस्तित्व की दृष्टि करानेवाला परम हितार्थ शास्त्र है। समयसार तो साक्षात् परमात्मा की दिव्यध्वनि / तीन लोक के नाथ की यह दिव्यध्वनि है।

ऐसे अपूर्व समयसार में से पूज्य गुरुदेवश्री ने अपने निज समयसाररूपी शुद्धात्मा का अनुभव करके फरमाया कि आत्मा आनन्द का पर्वत है; ज्ञायक तो मीठा समुद्र / आनन्द का गंज और सुख का समुद्र है। न्यायों का न्यायाधीश है, धर्म का धोध ऐसा धर्मी है, ध्रुव प्रवाह है, ज्ञान की धारा है, तीन लोक का नाथ चैतन्यवृक्ष-अमृत फल है, वास्तविक वस्तु है। सदा विकल्प से विराम ही ऐसी निर्विकल्प जिसकी महिमा है – ऐसा ध्रुवधाम ध्रुव की धखती धगश है। भगवान आत्मा चिन्तामणि रत्न, कल्पवृक्ष और कामधेनु है, चैतन्य चमत्कारी वस्तु है, अनन्त गुणों का गोदाम, शक्तियों का संग्रहालय और स्वभाव का सागर है।

सनातन दिगम्बर मुनियों ने परमात्मा की वाणी का प्रवाह जीवन्त रखा है। जैनधर्म सम्प्रदाय-बाड़ा-गच्छ नहीं; अपितु वस्तु के स्वरूप को जैनधर्म कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री ने शास्त्र का अर्थ करने की जो पाँच प्रकार की पद्धति — शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ, और भावार्थ है, उसे अपनाकर कहाँ, किस अपेक्षा से कथन किया जाता है - उसका यथार्थ ज्ञान अपने को-मुमुक्षु समुदाय को कराया है। इस प्रवचन गंगा से बहुत से आत्मार्थी अपने निजस्वरूप को प्राप्त करने का पुरुषार्थ करते हैं, बहुत से स्वरूप के निकट आये हैं और इस वाणी के भाव ग्रहण करके बहुत से आत्मार्थी अवश्य आत्मदर्शन को प्राप्त होंगे ही - यह सुनिश्चित है।

पूज्य गुरुदेवश्री समयसार में फरमाते हैं कि समयसार दो जगह है - एक अपना शुद्धात्मा है वह समयसार है और दूसरा उत्कृष्ट निमित्तरूप समयसारजी शास्त्र है। इस शास्त्र में अपना निज समयसाररूपी शुद्धात्मा बतलाया गया है। प्रत्येक गाथा का अर्थ करते हुए पूज्य गुरुदेवश्री ऐसे भावविभोर हो जाते हैं कि उसमें से निकलना उन्हें सुहाता नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री फरमाते हैं कि पंचम काल के अन्त तक जो कोई जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त करेगा, उसे यह वीतराग की वाणी निमित्त होगी, यह सीधी सीमन्धर भगवान की वाणी है, इसमें एक अक्षर फिरे तो सब फिर जायेगा।

पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन, अपने वचनामृत में पूज्य गुरुदेवश्री के सम्बन्ध में फरमाती हैं कि पूज्य गुरुदेवश्री का द्रव्य तो अलौकिक और मंगल है; उनका श्रुतज्ञान और वाणी आश्चर्यकारक है। आपश्री मंगलमूर्ति, भवोदधि तारणहार और महिमावन्त गुणों से भरपूर हैं। उन्होंने चारों ओर से मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उनका अपार उपकार है, वह कैसे भूला जाये? पूज्य गुरुदेवश्री को तीर्थंकर जैसा उदय वर्तता है। पूज्य गुरुदेवश्री ने अन्तर से मार्ग प्राप्त किया, दूसरों को मार्ग बतलाया; इसलिए उनकी महिमा आज तो गायी जाती है परन्तु हजारों वर्षों तक गायी जाएगी।

पूज्य निहालचन्दजी सोगानी, जिनको पूज्य गुरुदेवश्री का एक ही प्रवचन सुनते हुए भव के अभावरूप सम्यग्दर्शन की प्राप्ति सोनगढ़ / स्वर्णपुरी में हुई - वे फरमाते हैं कि पूज्य गुरुदेव के एक घण्टे के प्रवचन में पूरी-पूरी बात आ जाती है। सभी बात का स्पष्टीकरण पूज्य गुरुदेवश्री ने तैयार करके दिया है; इस कारण कोई बात का विचार नहीं करना पड़ता, वरना तो साधक हो तो भी सब तैयारी करनी पड़ती है।

पूज्य गुरुदेवश्री ने सभा में समयसार उन्नीस बार पढ़ा और एकान्त में तो सैंकड़ों बार पढ़ा है, तो उन्हें इसमें कितना माल दिखता होगा! कभी ड़ेढ़ वर्ष, कभी दो वर्ष, कभी ढाई वर्ष; इस

प्रकार उन्नीस बार पैंतालीस वर्षों में सार्वजनिक पढ़ा है। ये प्रवचन पूज्य गुरुदेवश्री की पैंतालीस वर्ष की सोनगढ़ / स्वर्णपुरी में हुई साधना के निचोड़रूप मक्खन है। जैसे-जैसे ज्ञानी की ज्ञानस्थिरता वृद्धिगत होती जाती है, वैसे-वैसे एक ही गाथा पर बारम्बार प्रवचन किये जायें तो भी नये-नये भाव आते हैं; इसलिए प्रस्तुत प्रवचन प्रकाशित किये जा रहे हैं।

इस ग्रन्थ में अपूर्व, अनुपम श्री समयसारजी शास्त्र के जीव-अजीव अधिकार की गाथा 39 से गाथा 68 और कलश 33 से 45 पर पूज्य गुरुदेवश्री के उन्नीसवीं बार के धारावाही प्रवचन नम्बर 112 से 145 प्रकाशित किये जा रहे हैं।

प्रवचन-प्रकाशन से पूर्व सम्पूर्ण प्रवचनों को सी.डी. से शब्दश: लिख लिया जाता है; तत्पश्चात् आवश्यकतानुसार वाक्य पूर्ति हेतु कोष्ठक भरा जाता है। प्रकाशन से पूर्व फिर से मिलान किया जाता है। गुजराती भाषा में इस कार्य में डॉ. देवेन्द्रभाई एम. दोशी, सुरेन्द्रनगर; श्री देवशीभाई चावड़ा, राजकोट तथा श्री चेतनभाई मेहता, राजकोट का उल्लेखनीय सहयोग रहा है।

सम्पूर्ण प्रवचनों को हिन्दी भाषा में व्यवस्थितरूप से प्रस्तुत करने का कार्य पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियाँ (राजस्थान) ने किया है। तदर्थ संस्था सभी सहयोगियों का सहृदय आभार व्यक्त करती है।

ग्रन्थ के मूल अंश को बोल्ड टाईप में दिया गया है।

प्रस्तुत प्रवचन — ग्रन्थ के टाईप सेटिंग के लिए श्री विवेककुमार पाल, विवेक कम्प्यूटर्स, अलीगढ़ तथा ग्रन्थ के सुन्दर मुद्रण कार्य के लिए .... के प्रति आभार व्यक्त करते हैं।

अन्तत: समयसारस्वरूप निज शुद्धात्मा के आश्रयपूर्वक सभी जीव परम शान्ति को प्राप्त हों - इसी भावना के साथ.....

निवेदक

ट्रस्टीगण, श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, मुम्बई

एवं

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़

श्री समयसारजी-स्तुति

(हरिगीत)

संसारी जीवनां भावमरणो टाळवा करुणा करी,
सरिता वहावी सुधा तणी प्रभु वीर! ते संजीवनी;
शोषाती देखी सरितने करुणाभीना हृदये करी,
मुनिकुंद संजीवनी समयप्राभृत तणे भाजन भरी।

(अनुष्टुप)

कुन्दकुन्द रच्युं शास्त्र, साथिया अमृते पूर्या,
ग्रंथाधिराज! तारामां भावो ब्रह्मांडना भर्या।

(शिखरिणी)

अहो! वाणी तारी प्रशमरस-भावे नीतरती,
मुमुक्षुने पाती अमृतरस अंजलि भरी भरी;
अनादिनी मूर्छा विष तणी त्वराथी ऊतरती,
विभावेथी थंभी स्वरूप भणी दोड़े परिणति।

(शार्दूलविक्रीड़ित)

तुं छे निश्चयग्रंथ भंग सघळा व्यवहारना भेदवा,
तुं प्रज्ञाछीणी ज्ञान ने उदयनी संधि सहु छेदवा;
साथीसाधकनो, तुं भानु जगनो, संदेश महावीरनो,
विसामो भवक्लांतना हृदयनो, तुं पंथ मुक्ति तणो।

(वसंततिलका)

सुण्ये तने रसनिबंध शिथिल थाय,
जाण्ये तने हृदय ज्ञानी तणां जणाय;
तुं रुचतां जगतनी रुचि आळसे सौ,
तुं रीझतां सकलज्ञायकदेव रीझे।

(अनुष्टुप)

बनावुं पत्र कुंदननां, रत्नोना अक्षरो लखी;
तथापि कुंदसूत्रोनां अंकाये मूल्य ना कदी।

श्री सद्गुरुदेव-स्तुति

(हरिगीत)

संसारसागर तारवा जिनवाणी छे नौका भली,
ज्ञानी सुकानी मळ्या विना ए नाव पण तारे नहीं;
आ काळमां शुद्धात्मज्ञानी सुकानी बहु बहु दोह्यलो,
मुज पुण्यराशि फळ्यो अहो! गुरु कहान तुं नाविक मळ्यो।

(अनुष्टुप)

अहो! भक्त चिदात्माना, सीमंधर-वीर-कुंदना।
बाह्यांतर विभवो तारा, तारे नाव मुमुक्षुनां।

(शिखरिणी)

सदा दृष्टि तारी विमळ निज चैतन्य नीरखे,
अने ज्ञप्तिमांही दरव-गुण-पर्याय विलसे;
निजालंबीभावे परिणति स्वरूपे जई भळे,
निमित्तो वहेवारो चिद्घन विषे कांई न मळे।

(शार्दूलविक्रीडित)

हैयु 'सत सत, ज्ञान ज्ञान' धबके ने वज्रवाणी छूटे,
जे वज्रे सुमुमुक्षु सत्त्व झळके; परद्रव्य नातो तूटे;
- रागद्वेष रुचे न, जंप न वळे भावेंद्रिमां-अंशमां,
टंकोत्कीर्ण अकंप ज्ञान महिमा हृदये रहे सर्वदा।

(वसंततिलका)

नित्ये सुधाझरण चंद्र! तने नमुं हुं,
करुणा अकारण समुद्र! तने नमुं हुं;
हे ज्ञानपोषक सुमेघ! तने नमुं हुं,
आ दासना जीवनशिल्पी! तने नमुं हुं।

(स्त्रग्धरा)

ऊंडी ऊंडी, ऊंडेथी सुखनिधि सतना वायु नित्ये वहंती,
वाणी चिन्मूर्ति! तारी उर-अनुभवना सूक्ष्म भावे भरेली;
भावो ऊंडा विचारी, अभिनव महिमा चित्तमां लावी लावी,
खोयेलुं रत्न पामुं, - मनरथ मननो; पूरजो शक्तिशाळी!

अध्यात्मयुगसृष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

(संक्षिप्त जीवनवृत्त)

भारतदेश के सौराष्ट्र प्रान्त में, बलभीपुर के समीप समागत 'उमराला' गाँव में स्थानकवासी सम्प्रदाय के दशाश्रीमाली वणिक परिवार के श्रेष्ठीवर्य श्री मोतीचन्दभाई के घर, माता उजमबा की कूख से विक्रम संवत् 1946 के वैशाख शुक्ल दूज, रविवार (दिनाङ्क 21 अप्रैल 1890 – ईस्वी) प्रात:काल इन बाल महात्मा का जन्म हुआ।

जिस समय यह बाल महात्मा इस वसुधा पर पधारे, उस समय जैन समाज का जीवन अन्ध–विश्वास, रूढ़ि, अन्धश्रद्धा, पाखण्ड, और शुष्क क्रियाकाण्ड में फँस रहा था। जहाँ कहीं भी आध्यात्मिक चिन्तन चलता था, उस चिन्तन में अध्यात्म होता ही नहीं था। ऐसे इस अन्धकारमय कलिकाल में तेजस्वी कहानसूर्य का उदय हुआ।

पिताश्री ने सात वर्ष की लघुवय में लौकिक शिक्षा हेतु विद्यालय में प्रवेश दिलाया। प्रत्येक वस्तु के ह्वार्द तक पहुँचने की तेजस्वी बुद्धि, प्रतिभा, मधुरभाषी, शान्तस्वभावी, सौम्य गम्भीर मुखमुद्रा, तथा स्वयं कुछ करने के स्वभाववाले होने से बाल 'कानजी' शिक्षकों तथा विद्यार्थियों में लोकप्रिय हो गये। विद्यालय और जैन पाठशाला के अभ्यास में प्राय: प्रथम नम्बर आता था, किन्तु विद्यालय की लौकिक शिक्षा से उन्हें सन्तोष नहीं होता था। अन्दर ही अन्दर ऐसा लगता था कि मैं जिसकी खोज में हूँ, वह यह नहीं है।

तेरह वर्ष की उम्र में छह कक्षा उत्तीर्ण होने के पश्चात्, पिताजी के साथ उनके व्यवसाय के कारण पालेज जाना हुआ, और चार वर्ष बाद पिताजी के स्वर्गवास के कारण, सत्रह वर्ष की उम्र में भागीदार के साथ व्यवसायिक प्रवृत्ति में जुड़ना हुआ।

व्यवसाय की प्रवृत्ति के समय भी आप अप्रमाणिकता से अत्यन्त दूर थे, सत्यनिष्ठा, नैतिज्ञता, निखालिसता और निर्दोषता से सुगन्धित आपका व्यावहारिक जीवन था। साथ ही आन्तरिक व्यापार और झुकाव तो सतत् सत्य की शोध में ही संलग्न था। दुकान पर भी धार्मिक पुस्तकें पढ़ते थे। वैरागी चित्तवाले कहानकुँवर कभी रात्रि को रामलीला या नाटक देखने जाते तो उसमें से वैराग्यरस का घोलन करते थे। जिसके फलस्वरूप पहली बार सत्रह वर्ष की उम्र में पूर्व की आराधना के संस्कार और मङ्गलमय उज्ज्वल भविष्य की अभिव्यक्ति करता हुआ, बारह लाईन का काव्य इस प्रकार रच जाता है —

शिवरमणी रमनार तूं, तूं ही देवनो देव।

उन्नीस वर्ष की उम्र से तो रात्रि का आहार, जल, तथा अचार का त्याग कर दिया था।

सत्य की शोध के लिए दीक्षा लेने के भाव से 22 वर्ष की युवा अवस्था में दुकान का परित्याग करके, गुरु के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार कर लिया और 24 वर्ष की उम्र में (अगहन शुक्ल 9, संवत् 1970) के दिन छोटे से उमराला गाँव में 2000 साधर्मियों के विशाल जनसमुदाय की उपस्थिति में स्थानकवासी सम्प्रदाय की दीक्षा अंगीकार कर ली। दीक्षा के समय हाथी पर चढ़ते हुए धोती फट जाने से तीक्ष्ण बुद्धि के धारक – इन महापुरुष को शंका हो गयी कि कुछ गलत हो रहा है परन्तु सत्य क्या है? यह तो मुझे ही शोधना पड़ेगा।

दीक्षा के बाद सत्य के शोधक इन महात्मा ने स्थानकवासी और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समस्त आगमों का गहन अभ्यास मात्र चार वर्ष में पूर्ण कर लिया। सम्प्रदाय में बड़ी चर्चा चलती थी, कि कर्म है तो विकार होता है न? यद्यपि गुरुदेवश्री को अभी दिगम्बर शास्त्र प्राप्त नहीं हुए थे, तथापि पूर्व संस्कार के बल से वे दृढ़तापूर्वक सिंह गर्जना करते हैं — **जीव स्वयं से स्वतन्त्ररूप से विकार करता है; कर्म से नहीं अथवा पर से नहीं। जीव अपने उल्टे पुरुषार्थ से विकार करता है और सुल्टे पुरुषार्थ से उसका नाश करता है।**

विक्रम संवत् 1978 में महावीर प्रभु के शासन–उद्धार का और हजारों मुमुक्षुओं के महान पुण्योदय का सूचक एक मङ्गलकारी पवित्र प्रसंग बना —

32 वर्ष की उम्र में, विधि के किसी धन्य पल में श्रीमद्‌भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव रचित 'समयसार' नामक महान परमागम, एक सेठ द्वारा महाराजश्री के हस्तकमल में आया, इन पवित्र पुरुष के अन्तर में से सहज ही उद्‌गार निकले — **'सेठ! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।'** इसका अध्ययन और चिन्तवन करने से अन्तर में आनन्द और उल्लास प्रगट होता है। इन महापुरुष के अन्तरंग जीवन में भी परम पवित्र परिवर्तन हुआ। भूली पड़ी परिणति ने निज घर देखा। तत्पश्चात् श्री प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, मोक्षमार्गप्रकाशक, द्रव्यसंग्रह, सम्यग्ज्ञानदीपिका इत्यादि दिगम्बर शास्त्रों के अभ्यास से आपको नि:शंक निर्णय हो गया कि दिगम्बर जैनधर्म ही मूलमार्ग है और वही सच्चा धर्म है। इस कारण आपकी अन्तरंग श्रद्धा कुछ और बाहर में वेष कुछ — यह स्थिति आपको असह्य हो गयी। अत: अन्तरंग में अत्यन्त मनोमन्थन के पश्चात् सम्प्रदाय के परित्याग का निर्णय लिया।

परिवर्तन के लिये योग्य स्थान की खोज करते–करते सोनगढ़ आकर वहाँ 'स्टार ऑफ इण्डिया' नामक एकान्त मकान में महावीर प्रभु के जन्मदिवस, चैत्र शुक्ल 13, संवत् 1991 (दिनांक 16 अप्रैल 1935) के दिन दोपहर सवा बजे सम्प्रदाय का चिह्न मुँह पट्टी का त्याग कर दिया और स्वयं घोषित किया कि **अब मैं स्थानकवासी साधु नहीं; मैं सनातन दिगम्बर जैनधर्म**

का श्रावक हूँ। सिंह-समान वृत्ति के धारक इन महापुरुष ने 45 वर्ष की उम्र में महावीर्य उछाल कर यह अद्भुत पराक्रमी कार्य किया।

स्टार ऑफ इण्डिया में निवास करते हुए मात्र तीन वर्ष के दौरान ही जिज्ञासु भक्तजनों का प्रवाह दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया, जिसके कारण यह मकान एकदम छोटा पड़ने लगा; अतः भक्तों ने इन परम प्रतापी सत् पुरुष के निवास और प्रवचन का स्थल '**श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर**' का निर्माण कराया। गुरुदेवश्री ने वैशाख कृष्ण 8, संवत् 1994 (दिनांक 22 मई 1938) के दिन इस निवासस्थान में मंगल पदार्पण किया। यह स्वाध्याय मन्दिर, जीवनपर्यन्त इन महापुरुष की आत्मसाधना और वीरशासन की प्रभावना का केन्द्र बन गया।

दिगम्बर धर्म के चारों अनुयोगों के छोटे बड़े 183 ग्रन्थों का गहनता से अध्ययन किया, उनमें से मुख्य 38 ग्रन्थों पर सभा में प्रवचन किये। जिनमें श्री समयसार ग्रन्थ पर 19 बार की गयी अध्यात्म वर्षा विशेष उल्लेखनीय है। प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, परमात्मप्रकाश, नियमसार, पंचास्तिकायसंग्रह, समयसार कलश-टीका इत्यादि ग्रन्थों पर भी बहुत बार प्रवचन किये हैं।

दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले और कुन्दकुन्दादि आचार्यों के गहन शास्त्रों के रहस्योद्घाटक इन महापुरुष की भवताप विनाशक अमृतवाणी को ईस्वी सन् 1960 से नियमितरूप से टेप में उत्कीर्ण कर लिया गया, जिसके प्रताप से आज अपने पास नौ हजार से अधिक प्रवचन सुरक्षित उपलब्ध हैं। यह मङ्गल गुरुवाणी, देश-विदेश के समस्त मुमुक्षु मण्डलों में तथा लाखों जिज्ञासु मुमुक्षुओं के घर-घर में गुंजायमान हो रही है। इससे इतना तो निश्चित है कि भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को पञ्चम काल के अन्त तक यह दिव्यवाणी ही भव के अभाव में प्रबल निमित्त होगी।

इन महापुरुष का धर्म सन्देश, समग्र भारतवर्ष के मुमुक्षुओं को नियमित उपलब्ध होता रहे, तदर्थ सर्व प्रथम विक्रम संवत् 2000 के माघ माह से (दिसम्बर 1943 से) **आत्मधर्म** नामक मासिक आध्यात्मिक पत्रिका का प्रकाशन सोनगढ़ से मुरब्बी श्री रामजीभाई माणिकचन्द दोशी के सम्पादकत्व में प्रारम्भ हुआ, जो वर्तमान में भी गुजराती एवं हिन्दी भाषा में नियमित प्रकाशित हो रहा है। पूज्य गुरुदेवश्री के दैनिक प्रवचनों को प्रसिद्धि करता दैनिक पत्र **श्री सद्गुरु प्रवचनप्रसाद** ईस्वी सन् 1950 सितम्बर माह से नवम्बर 1956 तक प्रकाशित हुआ। स्वानुभवविभूषित चैतन्यविहारी इन महापुरुष की मङ्गल-वाणी को पढ़कर और सुनकर हजारों स्थानकवासी श्वेताम्बर तथा अन्य कौम के भव्य जीव भी तत्त्व की समझपूर्वक सच्चे दिगम्बर जैनधर्म के अनुयायी हुए। अरे! मूल दिगम्बर जैन भी सच्चे अर्थ में दिगम्बर जैन बने।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा दिगम्बर आचार्यों और मान्यवर,

पण्डितवर्यों के ग्रन्थों तथा पूज्य गुरुदेवश्री के उन ग्रन्थों पर हुए प्रवचन-ग्रन्थों का प्रकाशन कार्य विक्रम संवत् 1999 (ईस्वी सन् 1943 से) शुरु हुआ। इस सत्साहित्य द्वारा वीतरागी तत्त्वज्ञान की देश-विदेश में अपूर्व प्रभावना हुई, जो आज भी अविरलरूप से चल रही है। परमागमों का गहन रहस्य समझाकर कृपालु कहान गुरुदेव ने अपने पर करुणा बरसायी है। तत्त्वजिज्ञासु जीवों के लिये यह एक महान आधार है और दिगम्बर जैन साहित्य की यह एक अमूल्य सम्पत्ति है।

ईस्वीं सन् 1962 के दशलक्षण पर्व से भारत भर में अनेक स्थानों पर पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रवाहित तत्त्वज्ञान के प्रचार के लिए प्रवचनकार भेजना प्रारम्भ हुआ। इस प्रवृत्ति से भारत भर के समस्त दिगम्बर जैन समाज में अभूतपूर्व आध्यात्मिक जागृति उत्पन्न हुई। आज भी देश-विदेश में दशलक्षण पर्व में सैकड़ों प्रवचनकार विद्वान इस वीतरागी तत्त्वज्ञान का डंका बजा रहे हैं।

बालकों में तत्त्वज्ञान के संस्कारों का अभिसिंचन हो, तदर्थ सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 (ईस्वीं सन् 1941) के मई महीने के ग्रीष्मकालीन अवकाश में बीस दिवसीय धार्मिक शिक्षण वर्ग प्रारम्भ हुआ, बड़े लोगों के लिये प्रौढ़ शिक्षण वर्ग विक्रम संवत् 2003 के श्रावण महीने से शुरु किया गया।

सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 – फाल्गुन शुक्ल दूज के दिन नूतन दिगम्बर जिनमन्दिर में कहानगुरु के मङ्गल हस्त से श्री सीमन्धर आदि भगवन्तों की पंच कल्याणक विधिपूर्वक प्रतिष्ठा हुई। उस समय सौराष्ट्र में मुश्किल से चार-पाँच दिगम्बर मन्दिर थे और दिगम्बर जैन तो भाग्य से ही दृष्टिगोचर होते थे। जिनमन्दिर निर्माण के बाद दोपहरकालीन प्रवचन के पश्चात् जिनमन्दिर में नित्यप्रति भक्ति का क्रम प्रारम्भ हुआ, जिसमें जिनवर भक्त गुरुराज हमेशा उपस्थित रहते थे, और कभी-कभी अतिभाववाही भक्ति भी कराते थे। इस प्रकार गुरुदेवश्री का जीवन निश्चय-व्यवहार की अपूर्व सन्धियुक्त था।

ईस्वी सन् 1941 से ईस्वीं सन् 1980 तक सौराष्ट्र-गुजरात के उपरान्त समग्र भारतदेश के अनेक शहरों में तथा नैरोबी में कुल 66 दिगम्बर जिनमन्दिरों की मङ्गल प्रतिष्ठा इन वीतराग-मार्ग प्रभावक सत्पुरुष के पावन कर-कमलों से हुई।

जन्म-मरण से रहित होने का सन्देश निरन्तर सुनानेवाले इन चैतन्यविहारी पुरुष की मङ्गलकारी जन्म-जयन्ती 59 वें वर्ष से सोनगढ़ में मनाना शुरु हुआ। तत्पश्चात् अनेकों मुमुक्षु मण्डलों द्वारा और अन्तिम 91 वें जन्मोत्सव तक भव्य रीति से मनाये गये। 75 वीं हीरक जयन्ती के अवसर पर समग्र भारत की जैन समाज द्वारा चाँदी जड़ित एक आठ सौ पृष्ठीय अभिनन्दन ग्रन्थ, भारत सरकार के तत्कालीन गृहमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री द्वारा मुम्बई में देशभर के हजारों भक्तों की उपस्थिति में पूज्यश्री को अर्पित किया गया।

श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा के निमित्त समग्र उत्तर और पूर्व भारत में मङ्गल विहार ईस्वी सन् 1957 और ईस्वी सन् 1967 में ऐसे दो बार हुआ। इसी प्रकार समग्र दक्षिण और मध्यभारत में ईस्वी सन् 1959 और ईस्वी सन् 1964 में ऐसे दो बार विहार हुआ। इस मङ्गल तीर्थयात्रा के विहार दौरान लाखों जिज्ञासुओं ने इन सिद्धपद के साधक सन्त के दर्शन किये, तथा भवान्तकारी अमृतमय वाणी सुनकर अनेक भव्य जीवों के जीवन की दिशा आत्मसन्मुख हो गयी। इन सन्त पुरुष को अनेक स्थानों से अस्सी से अधिक अभिनन्दन पत्र अर्पण किये गये हैं।

श्री महावीर प्रभु के निर्वाण के पश्चात् यह अविच्छिन्न पैंतालीस वर्ष का समय (वीर संवत् 2461 से 2507 अर्थात् ईस्वी सन् 1935 से 1980) वीतरागमार्ग की प्रभावना का स्वर्णकाल था। जो कोई मुमुक्षु, अध्यात्म तीर्थधाम स्वर्णपुरी / सोनगढ़ जाते, उन्हें वहाँ तो चतुर्थ काल का ही अनुभव होता था।

विक्रम संवत् 2037, कार्तिक कृष्ण 7, दिनांक 28 नवम्बर 1980 शुक्रवार के दिन ये प्रबल पुरुषार्थी आत्मज्ञ सन्त पुरुष — देह का, बीमारी का और मुमुक्षु समाज का भी लक्ष्य छोड़कर अपने ज्ञायक भगवान के अन्तरध्यान में एकाग्र हुए, अतीन्द्रिय आनन्दकन्द निज परमात्मतत्त्व में लीन हुए। सायंकाल आकाश का सूर्य अस्त हुआ, तब सर्वज्ञपद के साधक सन्त ने मुक्तिपुरी के पन्थ में यहाँ भरतक्षेत्र से स्वर्गपुरी में प्रयाण किया। वीरशासन को प्राणवन्त करके अध्यात्म युग सृजक बनकर प्रस्थान किया।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस युग का एक महान और असाधारण व्यक्तित्व थे, उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सत्य से अत्यन्त दूर जन्म लेकर स्वयंबुद्ध की तरह स्वयं सत्य का अनुसन्धान किया और अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ से जीवन में उसे आत्मसात किया।

इन विदेही दशावन्त महापुरुष का अन्तर जितना उज्ज्वल है, उतना ही बाह्य भी पवित्र है; ऐसा पवित्रता और पुण्य का संयोग इस कलिकाल में भाग्य से ही दृष्टिगोचर होता है। आपश्री की अत्यन्त नियमित दिनचर्या, सात्विक और परिमित आहार, आगम सम्मत्त संभाषण, करुण और सुकोमल हृदय, आपके विरल व्यक्तित्व के अभिन्न अवयव हैं। शुद्धात्मतत्त्व का निरन्तर चिन्तवन और स्वाध्याय ही आपका जीवन था। जैन श्रावक के पवित्र आचार के प्रति आप सदैव सतर्क और सावधान थे। जगत् की प्रशंसा और निन्दा से अप्रभावित रहकर, मात्र अपनी साधना में ही तत्पर रहे। आप भावलिंगी मुनियों के परम उपासक थे।

आचार्य भगवन्तों ने जो मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उसे इन रत्नत्रय विभूषित सन्त

पुरुष ने अपने शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति के आधार से सातिशय ज्ञान और वाणी द्वारा युक्ति और न्याय से सर्व प्रकार से स्पष्ट समझाया है। द्रव्य की स्वतन्त्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार, क्रमबद्धपर्याय, कारणशुद्धपर्याय, आत्मा का शुद्धस्वरूप, सम्यग्दर्शन, और उसका विषय, सम्यग्ज्ञान और ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता, तथा सम्यक्चारित्र का स्वरूप इत्यादि समस्त ही आपश्री के परम प्रताप से इस काल में सत्यरूप से प्रसिद्धि में आये हैं। आज देश-विदेश में लाखों जीव, मोक्षमार्ग को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं - यह आपश्री का ही प्रभाव है।

समग्र जीवन के दौरान इन गुणवन्ता ज्ञानी पुरुष ने बहुत ही अल्प लिखा है क्योंकि आपको तो तीर्थङ्कर की वाणी जैसा योग था, आपकी अमृतमय मङ्गलवाणी का प्रभाव ही ऐसा था कि सुननेवाला उसका रसपान करते हुए थकता ही नहीं। दिव्य भावश्रुतज्ञानधारी इस पुराण पुरुष ने स्वयं ही परमागम के यह सारभूत सिद्धान्त लिखाये हैं :—

1. एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता।
2. प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध ही होती है।
3. उत्पाद, उत्पाद से है; व्यय या ध्रुव से नहीं।
4. उत्पाद, अपने षट्कारक के परिणमन से होता है।
5. पर्याय के और ध्रुव के प्रदेश भिन्न हैं।
6. भावशक्ति के कारण पर्याय होती ही है, करनी नहीं पड़ती।
7. भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है।
8. चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता है।
9. स्वद्रव्य में भी द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद करना, वह अन्यवशपना है।
10. ध्रुव का अवलम्बन है परन्तु वेदन नहीं; और पर्याय का वेदन है, अवलम्बन नहीं।

इन अध्यात्मयुगसृष्टा महापुरुष द्वारा प्रकाशित स्वानुभूति का पावन पथ जगत में सदा जयवन्त वर्तो!

तीर्थङ्कर श्री महावीर भगवान की दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले शासन स्तम्भ श्री कहानगुरुदेव त्रिकाल जयवन्त वर्तो!!

सत्पुरुषों का प्रभावना उदय जयवन्त वर्तो!!!

❖ ❖ ❖

अनुक्रमणिका

गाथा/कलश नम्बर	प्रवचन नम्बर	तारीख	पृष्ठ क्रमांक
कलश–३३	–	–	१
	११२	१९–१०–१९७८	२
	११३	२०–१०–१९७८	१६
गाथा–३९–४३	–	–	१७
	११३	२०–१०–१९७८	२१
	११४	२१–१०–१९७८	३५
गाथा–४४	–	–	४३
	११४	२१–१०–१९७८	४६
	११५	२२–१०–१९७८	५४
	११६	२३–१०–१९७८	६८
कलश–३४	–	–	८०
	११६	२३–१०–१९७८	८१
	११७	२४–१०–१९७८	८३
गाथा–४५	–	–	९४
	११७	२४–१०–१९७८	९५
	११८	२६–१०–१९७८	९६
गाथा–४६	–	–	११०
	११९	२७–१०–१९७८	१११
	१२०	२८–१०–१९७८	१२७
गाथा–४७–४८	–	–	१४४
	१२१	२९–१०–१९७८	१४५
गाथा–४९	–	–	१६१
	१२२	३०–१०–१९७८	१६६
	१२३	३१–१०–१९७८	१८१
	१२४	०१–११–१९७८	१९८
	१२५	०२–११–१९७८	२११
	१२६	०३–११–१९७८	२२७

गाथा/कलश नम्बर	प्रवचन नम्बर	तारीख	पृष्ठ क्रमांक
कलश–३५	–	–	२२७
	१२६	०३–११–१९७८	२२८
कलश–३६	–	–	२३३
	१२६	०३–११–१९७८	२३४
गाथा–५०–५५	–	–	२३७
	१२६	०३–११–१९७८	२४३
	१२७	०४–११–१९७८	२४९
	१२८	०५–११–१९७८	२६७
	१२९	०६–११–१९७८	२८२
	१३०	०७–११–१९७८	२९६
	१३१	०९–११–१९७८	३१०
कलश–३७	–	–	३२२
	१३१	०९–११–१९७८	३२३
गाथा–५६	–	–	३२७
	१३२	१०–११–१९७८	३२८
गाथा–५७	–	–	३४२
	१३२	१०–११–१९७८	३४३
गाथा–५८–६०	–	–	३४६
	१३३	११–११–१९७८	३४९
	१३४	१२–११–१९७८	३६३
गाथा–६१	–	–	३७३
	१३४	१२–११–१९७८	३७४
	१३५	१३–११–१९७८	३८१
गाथा–६२	–	–	३८५
	१३५	१३–११–१९७८	३८६
	१३६	१५–११–१९७८	३९९
गाथा–६३–६४	–	–	४०२
	१३६	१५–११–१९७८	४०४

गाथा/कलश नम्बर	प्रवचन नम्बर	तारीख	पृष्ठ क्रमांक
	१३७	१६-११-१९७८	४१६
गाथा-६५-६६	-	-	४२१
	१३७	१६-११-१९७८	४२३
कलश-३८	-	-	४२५
	१३७	१६-११-१९७८	४२६
कलश-३९	-	-	४२८
	१३७	१६-११-१९७८	४२८
गाथा-६७	-	-	४३२
	१३७	१६-११-१९७८	४३३
कलश-४०	-	-	४३७
	१३८	१७-११-१९७८	४३७
गाथा-६८	-	-	४४१
	१३८	१७-११-१९७८	४४३
	१३९	१८-११-१९७८	४५४
कलश-४१	-	-	४७०
	१४०	१९-११-१९७८	४७०
कलश-४२	-	-	४८४
	१४१	२०-११-१९७८	४८५
	१४२	२१-११-१९७८	५००
कलश-४३	-	-	५०९
	१४२	२१-११-१९७८	५१०
कलश-४४	-	-	५१५
	१४२	२१-११-१९७८	५१६
	१४३	२२-११-१९७८	५१७
कलश-४५	-	-	५२२
	१४३	२२-११-१९७८	५२४
	१४४	२४-११-१९७८	५३२

ॐ

श्री परमात्मने नमः

श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत श्री समयसार परमागम पर

अध्यात्मयुगपुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचन

समयसार सिद्धि

(भाग - ३)

जीव-अजीव अधिकार

कलश - ३३

अब, जीवद्रव्य और अजीवद्रव्य – वे दोनों एक होकर रङ्गभूमि में प्रवेश करते हैं।

इसके प्रारम्भ में मङ्गल के आशय से (काव्य द्वारा) आचार्यदेव, ज्ञान की महिमा करते हैं कि सर्व वस्तुओं को जाननेवाला यह ज्ञान है, वह जीव-अजीव के सर्व स्वाङ्गों को भलीभाँति पहिचानता है। ऐसा (सभी स्वाङ्गों को जाननेवाला) सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है – इस अर्थरूप काव्य कहते हैं :–

(शार्दूलविक्रीडित)

जीवाजीवविवेकपुष्कलदृशा प्रत्याययत्पार्षदान्
आसंसारनिबद्धबंधनविधिध्वंसाद्विशुद्धं स्फुटत्।
आत्माराममनन्तधाम महसाध्यक्षेण नित्योदितं
धीरोदात्तमनाकुलं विलसति ज्ञानं मनो ह्लादयत्॥३३॥

श्लोकार्थ : [ज्ञानं] ज्ञान है, वह [मनो ह्लादयत्] मन को आनन्दरूप करता हुआ [विलसति] प्रगट होता है। वह [पार्षदान्] जीव-अजीव के स्वाङ्ग को देखनेवाले महापुरुषों को [जीव-अजीव-विवेक-पुष्कल-दृशा] जीव-अजीव के भेद को देखनेवाली अति उज्ज्वल निर्दोष दृष्टि के द्वारा [प्रत्याययत्] भिन्न द्रव्य की प्रतीति उत्पन्न कर रहा है। [आसंसार-निबद्ध-बन्धन-विधि-ध्वंसात्] अनादि संसार से जिनका बन्धन दृढ़ बँधा हुआ है – ऐसे ज्ञानावरणादि कर्मों के नाश से [विशुद्धं] विशुद्ध हुआ है, [स्फुटत्] स्फुट हुआ है; जैसे फूल की कली खिलती है, उसी प्रकार विकासरूप है। और [आत्म-आरामम्] उसका रमण करने का क्रीड़ावन आत्मा ही है, अर्थात् उसमें अनन्त ज्ञेयों के आकार आकर झलकते हैं, तथापि वह स्वयं अपने स्वरूप में ही रमता है; [अनन्तधाम] उसका प्रकाश अनन्त है; और वह [अध्यक्षेण महसा नित्य-उदितं] प्रत्यक्ष तेज से नित्य उदयरूप है। तथा वह [अध्यक्षेण महसा नित्य-उदितं] प्रत्यक्ष तेज से नित्य उदय है। तथा वह [धीरोदात्तम्] धीर है, उदात्त (उच्च) है और इसीलिए [अनाकुलं] अनाकुल है – सर्व इच्छाओं से रहित निराकुल है। (यहाँ धीर, उदात्त, अनाकुल – यह तीन विशेषण शान्तरूप नृत्य के आभूषण जानना।) ऐसा ज्ञान विलास करता है।

भावार्थ : यह ज्ञान की महिमा कही। जीव-अजीव एक होकर रङ्गभूमि में प्रवेश करते हैं, उन्हें यह ज्ञान ही भिन्न जानता है। जैसे, नृत्य में कोई स्वाङ्ग धरकर आये और उसे जो यथार्थरूप में जान ले, (पहिचान ले) तो वह स्वाङ्गकर्ता उसे नमस्कार करके अपने रूप को जैसा का तैसा ही कर लेता है, उसी प्रकार यहाँ भी समझना। ऐसा ज्ञान सम्यग्दृष्टि पुरुषों को होता है; मिथ्यादृष्टि इस भेद को नहीं जानते॥३३॥

प्रवचन नं. ११२ दिनाङ्क १९-१०-१९७८, गुरुवार

आसोज कृष्ण ३, वीर निर्वाण संवत् २५०४

(श्री समयसार जीव अधिकार की पूर्णता के ३२ कलश के बाद के पेराग्राफ का प्रवचन है।)

समयसार, पहला जीव अधिकार। शब्द है जीव – अजीव अधिकार नाम से, परन्तु

वास्तव में यह जीव अधिकार है। जीव का वास्तविक स्वरूप क्या है? वह कहा। इस प्रकार इस समयसार ग्रन्थ में पहला जीव-अजीव अधिकार दो साथ लिये हैं और वैसे तो जीव अधिकार है। 'कलश टीका' में इसे जीव अधिकार लिया है। यह यहाँ के अजीव अधिकार है। अधिकार में टीकाकार ने पूर्वरंग स्थल कहा। संस्कृत में है न! मूल संस्कृत में '**आत्मख्यातिः पूर्वरंगः समाप्तः**' संस्कृत में अन्तिम शब्द है।

जीव-अजीव अधिकार में जीव का पूर्वरंग स्थल, जीव का वास्तविक आनन्द पूर्णस्वरूप ज्ञायकभाव, वह वास्तविक जीव का स्वरूप, उसका यहाँ वर्णन किया है - टीकाकार ने ऐसा लिया है न रंगस्थल प्राप्त है। पूर्वरंग स्थल समाप्त! टीकाकार ने अमृतचन्द्राचार्य ने! **यहाँ टीकाकार का यह आशय है कि इस ग्रन्थ का अलंकार से नाटकरूप से वर्णन किया है। नाटक में पहले रंगभूमि रची जाती है।** देखा? यह रंग कहा न? पाठ में है न यहाँ संस्कृत पूर्वरंग, **रंगभूमि रची जाती है।** जमीन, जहाँ आगे नृत्य करना हो - ऐसी रंगभूमि / अखाड़ा कहते हैं न? '**वहाँ देखनेवाले, नायक और सभा होती है।**' देखनेवाले नायक समकिती और सभा मिथ्यादृष्टि की होती है - इत्यादि। तीसरे नाटक करनेवाले होते हैं, जो अनेक स्वांग धारण करते हैं तथा **शृंगारादि आठ रस का रूप वर्णन करते हैं।** शृंगार (आदि) आठ रस है न, उनका वर्णन नाटक में आता है। **वहाँ शृंगार, हास्य, रौद्र, करुणा, वीर, भयानक, विभत्स और अद्भुत - ये आठ रस हैं, वे लौकिक रस है।**

बाकी तो उतारे हैं, बनारसीदास ने लोकोत्तर में उतारे हैं परन्तु यहाँ यह लौकिक में.. यहाँ शान्तरस सिद्ध करना है। शान्त.. शान्त.. शान्त.. वह अपेक्षा से लौकिक है, नाटक में उसका ही अधिकार है। नौवां शान्तरस, वह अलौकिक है। आहाहा! आत्मा का वीतरागभाव - ऐसा शान्तरस, वह अलौकिक है। जो शान्तस्वभाव, जो त्रिकाली भगवान आत्मा, जिनबिम्ब, शान्तबिम्ब, उसका आश्रय लेकर परिणमन में शान्त.. शान्त अकषाय स्वभाव वीतराग परिणमन, उसे यहाँ शान्तरस कहते हैं। वह शान्तरस, वह आनन्दरस, वह स्वरूपरस, वह अद्भुतरस - उसे फिर अनेक प्रकार से उतारा है। आहाहा! वह अलौकिक है। **नाटक में उसका अधिकार नहीं है,** नाटक के अधिकार में शान्तरस का अधिकार नहीं है।

नाटक होता है न? हमने छोटी उम्र में बहुत नाटक देखे है न। उसमें पहले नारद

आता है, नारद, नाटक में 'ब्रह्मा सुत मैं नारद कहाऊँ, जहाँ हो संप वहाँ दुसंप कराऊँ' - ऐसा आवे मुँह के सामने। पाटनीजी! नाटक भी देखे हैं बहुत सब। दुकान का धन्धा था, वह व्यापार करने-माल लेने जाते (थे), रात्रि में फुर्सत होती (तो) नाटक में जाते परन्तु उस समय वे वैराग्य के नाटक थे, हों! वह नारद आवे, ऐसा करके 'जहाँ दुसंप हो वहाँ संप कराऊ' - ऐसा मैं नारद हूँ - ऐसा कहता है। यहाँ तो जहाँ संप होवे, उसका नाश कराकर शान्तरस प्रगट कराऊँ। आहाहा! ऐसा इसमें अधिकार है।

इन रसों का स्थायीभाव - यह रसों की व्याख्या है। **सात्विक भाव, अनुभावी भाव, व्यभिचारी भाव और उनकी दृष्टि आदि का वर्णन रस ग्रन्थों में है, वहाँ से जान लेना**। यहाँ उनका काम नहीं है।

सामान्यरूप से रस का यह स्वरूप है कि ज्ञान में जो ज्ञेय आया.. अब यह रस है - ज्ञान में जो ज्ञेय आया। भगवान ज्ञानस्वरूप है, उसमें जो कोई ज्ञेय आया - समुच्चय बात है। **उसमें ज्ञान तदाकार हो जाए - उसमें पुरुष का भाव लीन हो जाए और अन्य (ज्ञेय की) इच्छा न रहे, वह रस है**। यह समुच्चय की बात है - आठों ही रस की (बात है)। शृंगाररस आदि हों परन्तु जिस ज्ञान में यह आया और उसमें लीन हो गया और दूसरे भाव की इच्छा नहीं रही, उसका नाम यहाँ 'रस' कहा जाता है। **उन आठ रसों का रूप नृत्य में नृत्यकार बतलाते हैं और उनका वर्णन करते हुए कवीश्वर जब अन्य रस को अन्य रस के समान कर भी वर्णन करते हैं, तब अन्य रस का अन्य रस अंगभूत होने से तथा अन्यभाव रसों का अंग होने से, रसवत् आदि अलंकार से उसे नृत्यरूप में वर्णन किया जाता है।**

यहाँ पहले रंगभूमिस्थल कहा। वहाँ देखनेवाले तो सम्यग्दृष्टि पुरुष हैं। आहाहा! जीव और अजीव में, जीव का वास्तविक स्वरूप ज्ञाता-दृष्टा कहा। क्रमबद्ध में वह आया न? क्रमबद्ध, प्रत्येक जीव की पर्याय क्रमबद्ध है। जिस समय जो होता है, वह उस समय क्रमबद्ध (होता है), उसके क्रम में। अब, वहाँ भी क्रमबद्ध में अकर्तापने का वर्णन किया। अकर्ता-जो कुछ होता है, उस कार्य का कर्ता नहीं, तब उसका अर्थ यह हुआ कि ज्ञाता-दृष्टा हुआ। क्रमबद्ध की पर्याय में ज्ञाता-दृष्टा, क्योंकि वीतराग का कोई भी वाक्य है, उसका तात्पर्य तो वीतरागता है, तो क्रमबद्ध में तात्पर्य वीतरागता है। आहाहा! जहाँ क्रमबद्ध का

निर्णय होता है, वहाँ ज्ञाता-दृष्टा हो जाता है - ऐसी बात है और ज्ञाता-दृष्टा होने पर, जो शास्त्र का तात्पर्य वीतरागता है, वह वहाँ प्रगट होता है। आहाहा! और वह वीतरागता प्रगट हो, वह पहले से आ गया कि वह स्व त्रिकाली द्रव्य है, उसके आश्रय से होती है, इसलिए क्रमबद्ध के निर्णय में भी ज्ञाता का निर्णय होना, वह उसका तात्पर्य है। आहाहा! ऐसी बात है।

वह यहाँ कहते हैं, **देखनेवाले सम्यग्दृष्टि पुरुष हैं..** ज्ञाता-दृष्टा है - ऐसा कहते हैं। स्वांग अनेक प्रकार के आवें परन्तु देखनेवाले सम्यग्दृष्टि उन्हें जानने-देखनेवाले के रूप में देखते-जानते हैं। आहाहा! अजीव का रंग स्थल आये, कर्ताकर्म का आये, परन्तु उसमें उन्हें सब में से जानने-देखनेवाले ऐसे भाव को जानते हैं। सम्यग्दृष्टि चाहे जिस प्रसंग में हो; चाहे जैसे कर्ता-कर्म, अजीव आदि, आस्रव-बन्ध आदि काल में हो, वह स्वयं ज्ञाता-दृष्टारूप से सम्यग्दृष्टि उस स्वांग को जानता है। आहाहा! बन्ध के स्वांग को भी जानता है, मोक्ष के स्वांग को भी जानता है। आहाहा! देखनेवाला सम्यग्दृष्टि है। आहाहा! ओहोहो! **वहाँ सम्यग्दृष्टि पुरुष देखनेवाले हैं..** आहाहा! अर्थात् जो कुछ भी स्वान अजीव का हो, आस्रव का, बन्ध का, मोक्ष का हो, उसे तो धर्मी सम्यग्दृष्टि जीव.. रागादि का भाव आवे परन्तु सम्यग्दृष्टि जीव उसे देखनेवाला है। आहाहा! वह देखनेवाला है, वही वास्तव में नायक है। समझ में आया? पहले कहा था न? देखनेवाला नायक, है न पहले? और सभा है मिथ्यादृष्टि की, है? है न इसमें आ गया! यहाँ आ गया देखो न! **और अन्य मिथ्यादृष्टि पुरुषों की सभा है,..** यहाँ सभा शब्द लिया था न पहला, उसका यहाँ स्पष्टीकरण कर दिया।

पहले था न? - देखनेवाला नायक और सभा होवे, दो बात। वह देखनेवाला सम्यग्दृष्टि - ऐसा यहाँ स्पष्टीकरण किया। भाई! हिम्मतभाई! देखनेवाला नायक और सभा। उसका यहाँ स्पष्टीकरण किया कि **देखनेवाले तो सम्यग्दृष्टि पुरुष हैं और अन्य मिथ्यादृष्टि पुरुषों की सभा है,** आहाहा! **उनको दिखलाते हैं।** आहाहा! सम्यग्दृष्टि वास्तविक स्वाँग के देखनेवाले हैं और मिथ्यादृष्टि की सभा है, उसे बतलाते हैं। आहाहा! इसलिए लिया था न (कि) अप्रतिबुद्ध शिष्य को गुरु समझाते हैं। यहाँ सम्यग्दृष्टि जीव लिया है। शुरुआत से बात ली है। **नृत्य करनेवाले जीव-अजीव पदार्थ हैं..** जीव और अजीव दो, दो नृत्य करनेवाले, बदलनेवाले, परिणमन करनेवाले, अपनी-अपनी अवस्था

से वहाँ परिणमन करनेवाले वहाँ दो पदार्थ हैं। **और दोनों का एकपना,...** आहाहा! ऐसा स्वाँग आता है। जीव में भी राग और शरीर उनका इकट्ठा ऐसा स्वाँग आता है। **कर्ताकर्मपना..** पर कार्य और जीव कर्ता; राग कार्य और जीव कर्ता – ऐसा स्वाँग आता है। **आदि उनके स्वाङ्ग हैं। उनमें वे परस्पर अनेकरूप होते हैं..** आहाहा! **आठ रसरूप होकर परिणमन करते हैं, सो वह नृत्य हैं। वहाँ सम्यग्दृष्टि दर्शक जीव-अजीव के भिन्न स्वरूप को जानता है;...** यहाँ यह बात है। आहाहा! भले कहे कि कर्ता-कर्म का स्वाँग आवे.. राग कार्य और आत्मा कर्ता – ऐसा स्वाँग आता है; जीव के साथ राग का – अजीव के सम्बन्ध का स्वाँग आवे। आहाहा! दोनों को पृथक् जानता है। आहाहा! धर्मी जीव, सम्यग्दृष्टि जीव.. आहाहा! भिन्न स्वरूप को जानता है, यहाँ वजन यहाँ है। सम्यग्दृष्टि को राग भी आता है, आस्रव भी आता है परन्तु उस स्वाँग को आत्मा से भिन्न जानता है। आहाहा! समझ में आया?

वह तो इन सब स्वाङ्गों को कर्मकृत जानकर.. अजीवपना अन्दर यह दिखाई दे, राग दिखाई दे, वह सब, **कर्मकृत जानकर शान्तरस में ही मग्न है..** आहाहा! चाहे तो जीव में राग आवे, द्वेष आवे, विषय की वासना आवे, दया-दान का विकल्प आवे। आहाहा! उसे सम्यग्दृष्टि जीव, शान्तरस में रहकर जानता है। आहाहा! गजब! नाटक की उपमा से कहा न! रंगभूमि स्थल कहा! आहाहा! **इन सब स्वाङ्गों को कर्मकृत जानकर शान्तरस में ही मग्न है..** आहाहा! रागादि, दया, दान, और काम-क्रोध के विकल्प आवे परन्तु वह सब कर्मकृत स्वांग है; मेरा स्वांग नहीं। आहाहा! मैं तो ज्ञायकस्वरूप हूँ—ऐसी एकाग्रता में शान्तरस में रहकर, कर्मकृत भावों को जानता है। आहाहा! ऐसी बात है। अजब बात है।

जहाँ हो राग और द्वेष के भाव, ऐसे स्वांग को भी समकिती.. आहाहा! **कर्मकृत जानकर..** राग को वह कर्मकृत है ऐसा जानकर.. परन्तु रहता किसमें है? वह अपने श्रद्धा, ज्ञान, और शान्ति में (रहता है)। आहाहा! ऐसी बात है। **सब स्वाङ्गों को कर्मकृत जानकर शान्तरस में ही मग्न है..** भगवान आत्मा आनन्द और शान्तरस का पिण्ड प्रभु, अकेला ज्ञायक और आनन्द—ऐसा भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द, उसकी जिसे सम्यक् प्रतीति, अनुभव में भान हुआ, वह जीव तो रागादि आवे, कर्मकृत आवे, अजीव का संयोग दिखाई दे.. यह राग भी वास्तव में तो अजीव है। आत्मा का स्वरूप वर्णन किया,

अब वर्णन करेंगे कि यह इसमें नहीं है, यह इसमें नहीं है, अजीव नहीं, राग नहीं, शरीर नहीं, वाणी नहीं, गुणस्थान नहीं, मार्गणास्थान नहीं - ऐसे इस अजीव का वर्णन, 'जीव में यह नहीं' - ऐसा करके इसका वर्णन करेंगे। आहाहा!

पहले जीव का वर्णन करते हुए ऐसा कहा कि भगवान आत्मा ज्ञायक है, आनन्द है, शान्त है, वीतराग है - ऐसा उसका स्वरूप है। ऐसा कहकर जीव की विधि से बात की, अब निषेध से (बात) करेंगे कि भगवान आत्मा में राग नहीं, मार्गणास्थान नहीं, गुणस्थान नहीं, विकारी इसके स्वरूप में नहीं - आहाहा! ऐसा जीवस्वरूप भगवान आत्मा में यह नहीं - ऐसा वर्णन करके इनका निषेध करेंगे। आहाहा!

मिथ्यादृष्टि जीव,.. मिथ्यादृष्टि जीव-अजीव का भेद नहीं जानते, शरीर जड़ है, अन्दर दया, दान का राग आवे, हिंसा-झूठ-विषय का राग आवे, वह वास्तव में तो अचेतन जड़ है। आहाहा! ऐसा मिथ्यादृष्टि नहीं जानता। वह तो ऐसा जानता है कि यह राग मेरा है, पुण्य का भाव मेरा है, शरीर मेरा है; इस प्रकार मिथ्यादृष्टि, जीव और अजीव का भेद नहीं जानता। दोनों को अभेदरूप मानता है। आहाहा! ऐसी बहुत कठिन बातें।

धर्म ऐसी चीज सूक्ष्म है कि जहाँ आत्मा ज्ञायकस्वरूप, ऐसा जहाँ भान हुआ। फिर उसे पर्याय में रागादि आवे, अजीव का संयोग-चक्रवर्ती के पद जैसा भी आवे, आहा! परन्तु इन सबको अपने ज्ञानस्वभाव में रहकर, अर्थात् शान्तरस में रहकर जानता है। आहाहा! **मिथ्यादृष्टि, जीव-अजीव के भेद नहीं जानते,..** आहाहा! अज्ञानी, ज्ञायकभाव में राग है, वह मेरा है - ऐसा अज्ञानी मानता है। यह आ गया है न अपने? वह भावक का भाव है। आहाहा! स्वभाव का वह भाव नहीं है। पर्याय में होता है परन्तु वह स्वभावभाव नहीं है, आहाहा! शुभ-अशुभराग, वह कर्मकृत है - ऐसा यहाँ आया न? वहाँ भावक का भाव है - ऐसा आया था। इस प्रकार धर्मी जीव ऐसा जानता है कि मेरा स्वभाव तो जाननहार शान्तरस में रहना वह है; ये रागादि भाव, अजीव हैं; ये मेरी चीज नहीं। मिथ्यादृष्टि इन अजीवकृत भावों को अपना मानकर, मिथ्यादृष्टिपने के अशान्तस्वभाव को सेवन करता है। आहाहा!

इसलिए वे इन स्वाङ्गों को ही यथार्थ जानकर उनमें लीन हो जाते हैं। भगवान

आत्मा ज्ञायक चैतन्यज्योति स्वरूप प्रभु में राग और पुण्य-पाप आदि के भाव आने पर, (उन्हें) अज्ञानी मेरा है – ऐसा उनमें लीन हो जाता है। इतना अन्तर है। आहा! अज्ञानी को यह विषय-वासना मेरी है और मुझे मजा आता है – ऐसा अज्ञानी मानता है। आहा! ज्ञानी को वह राग आवे, उसे पृथक् जानकर, ज्ञान का मेरा स्वरूप भिन्न पृथक् है – ऐसा ज्ञान में रहकर उसे जानता है। अज्ञानी राग में रहकर, राग मेरा है – ऐसा जानता है। आहाहा! ऐसा है। धर्म का स्वरूप बहुत सूक्ष्म, बापू! आहाहा! यहाँ तो सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों का अन्तर बतलाया है।

सम्यग्दृष्टि जीव अपने स्वरूप को, जानन-देखन आनन्दस्वरूप जानता हुआ, अपनी शान्ति की पर्याय में रहता है। अज्ञानी, इन रागादि को 'मेरा स्वाँग है, मेरा स्वरूप है'-ऐसा मानकर मिथ्यादृष्टि के आकुलता के अशान्तभाव में वह रहता है। उसे रागादि, पुण्यादि, शरीरादि का स्वाँग, वह अजीव है और वह भगवान आत्मा का परिवेश नहीं, उसका वह वेष नहीं। आहाहा! ऐसा ज्ञानी जानता हुआ, अज्ञानी को यह बतलाता है। **उन्हें सम्यग्दृष्टि यथार्थ स्वरूप बतलाकर,..** देखा? यहाँ तो सम्यग्दृष्टि से ही बात शुरु की है। आहाहा!

जो कोई आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय ज्ञानादि गुण का पिण्ड प्रभु, उसमें जिसका अपना स्वरूप है – ऐसा अनुभव किया है और रागादिभाव, वे मेरे स्वरूप में नहीं है – ऐसा जो धर्मी सम्यग्दृष्टि ने जाना है, वह स्वयं पर को जानता हुआ, अपने में रहता हुआ शान्तरस में रहता है। अज्ञानी उन स्वाँग को अपना मानकर मिथ्यादृष्टि (था), इसलिए अशान्ति में रहता है, आहाहा! उन्हें **सम्यग्दृष्टि यथार्थ स्वरूप बतलाकर उनका भ्रम मिटाकर..** आहाहा!

श्रोता : सम्यग्दृष्टि से भ्रम जाता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो ऐसी शैली ली है। उसे बतानेवाला कौन? कि यह, ऐसा। आहाहा! अज्ञानी, जो राग और अजीव-शरीर, कर्म आदि आत्मा के-चैतन्य के स्वाँग मानता है, उसे ज्ञानी समझाता है, भाई! तेरा स्वाँग यह नहीं; तेरा स्वाँग तो आनन्द और शान्ति प्रगटे, वह तेरा स्वाँग है। आहाहा! राग और पुण्य के परिणाम तथा शरीर और कर्म का योग, यह सब तेरा स्वरूप नहीं है, यह तुझमें नहीं है, तू इनमें नहीं है। आहाहा! यह

तो अन्दर की धीर बातें हैं भाई! **उन्हें सम्यग्दृष्टि यथार्थ स्वरूप बतलाकर, उनका भ्रम मिटाकर, उन्हें शान्तरस में लीन करके...** आहाहा! ३८ गाथा में यह आया न? अज्ञानी था, उसे गुरु ने समझाया, तब वह समझ गया और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हुआ, सम्यग्दृष्टि (हुआ)। आहाहा!

उसकी सूचनारूप में रङ्गभूमि के अन्त में आचार्य ने 'मज्जंतु' इत्यादि इस श्लोक की रचना की है,.. आहाहा! सम्यग्दृष्टि बतलाता है, तब कहता है कि अरे जीवों! ऐसा जो आनन्द का सागर भगवान, वहाँ जाकर, वहाँ रम न! वहाँ अन्दर में आ जा। सर्व जीवों आ जाओ न प्रभु! ऐसा कहते हैं। भले वहाँ टीका में भव्य लिये हैं, अध्यात्मतरंगिणी में भव्य लिये हैं, समस्त जीवों में। आहाहा! यह आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का सागर प्रभु, अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ, अतीन्द्रिय शान्तस्वरूप, वहाँ सर्व जीवों अन्दर आ जाओ न! ऐसा कहते हैं। आहाहा! देखो! यह अधिकार पूर्ण का अधिकार यह। जीव के अधिकार की पूर्णता और दूसरे को समझा करके ही उसे जीव का पूर्ण अधिकार हुआ, तब यह अधिकार समाप्त होता है। आहाहा! समझ में आया?

जीव का अधिकार अर्थात्, यह राग और पुण्य और शरीर यह इसका अधिकार नहीं, यह उनका स्वामी नहीं, वे इसके अधिकार में नहीं, आहाहा! इसके अधिकार में तो ज्ञान-दर्शन, आनन्द और शान्ति, वह इसके अधिकार में है। आहाहा! यह अधिकार जो समझते नहीं! जीव का जो स्वरूप का अधिकार है, उसे वे जानते नहीं और अधिकार बाहर के भाव को वह अपने जीव के अधिकार में मानते हैं, आहाहा! उनसे सम्यग्दृष्टि कहता है, भगवन्त! तेरा स्वाँग, यह राग और पुण्य और शरीर, यह तेरा स्वाँग नहीं। आहाहा! तू तो जाननस्वभावी, आनन्दस्वभावी, इसकी पर्याय में भी जानना और शान्तरस आवे, वह तेरा स्वरूप है। आहाहा! ऐसा कहकर, वह समझ जाता है। ऐसा कहते हैं यहाँ तो। ३८ में भी - यह लिया न? आहाहा!

लीन करके.. देखा? उन्हें लीन कर डालता है। करता है अर्थात् क्या? लीन होते हैं। आहाहा! गजब मार्ग भाई! धर्म, वह कहीं दया, दान, व्रत के परिणाम वे कहीं धर्म नहीं है।

श्रोता : यह कहाँ लिखा है?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह इसमें, यह लिखा है न अजीव। वह अजीव का स्वाँग है, यह अब कहेंगे। आहाहा! भगवान आत्मा के स्वाँग में – ज्ञायकस्वरूप में वह नहीं आता।

श्रोता : पर्याय में आवे न?

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय में स्वाँग, वह इसका नहीं; द्रव्य का स्वभाव जिसने जाना, उसने मेरी पर्याय में राग स्वाँग, वह भी मेरा स्वाँग (है ऐसा) नहीं। आहाहा!

उन्हें शान्तरस में लीन करके.. आहाहा! उन्हें उपदेश दिया इस अपेक्षा से। वैसे वरना लीन तो वह स्वयं होता है। भाषा तो ऐसी (आवे न)! शान्तरस में उन्हें लीन करके, शान्तरस में उन्हें लीन करके **सम्यग्दृष्टि बनाता है**। भाषा ऐसी है न? निमित्त से कथन है। आहाहा! अर्थात् कि जो आत्मा आनन्द का नाथ प्रभु, ऐसा जिसने बताया, वह जाननेवाला आनन्द के नाथ में अन्दर समा जाता है। राग से हटकर स्वरूप में आ जाता है, उसे समकिती ने बतलाया था, इसलिए उसे समकिती बनाया, उसने लीन किया। आहाहा! समझ में आया? बातें ऐसी हैं। भाई!

'मज्जंतु' इत्यादि इस श्लोक (की रचना की है,..) अरे भगवन्त! चैतन्यस्वरूप आत्मा शुद्ध चैतन्य जहाँ जागृत हुआ तो कहते हैं कि हे जीवों! तुम वहाँ आकर नहाओ न, स्नान करो न! अन्दर डुबकी लगाओ न! आहाहा! भगवान आत्मा आनन्द का नाथ प्रभु, आहाहा! जगत के जीवों को सम्यग्दृष्टि कहता है,.. यहाँ आचार्य कहते थे परन्तु यहाँ इतना लिया है कि पुण्य और पाप के भाव और अजीव के प्रेम में पड़ा प्रभु तू, वह तेरा स्वरूप नहीं है, वह तो दुःख का स्वरूप है, वह तो अजीव का स्वरूप है। आहाहा! इस ओर भगवान आनन्द का नाथ, उस अतीन्द्रिय आनन्द का ज्ञान करके वहाँ स्थिर हो न! राग में स्थिरता छोड़ दे न प्रभु! आहाहा! इस प्रकार सम्यग्दृष्टि दूसरे को इस तरह बोध देकर लीन करता है। ऐसा कहते हैं न? सम्यग्दृष्टि बनाता है। आहाहा! वह बना तो इसे बनाता है– ऐसा कहने में आता है। आहाहा!

इसमें क्या करना? हाथ आवे नहीं, बाहर का कुछ करने का इसमें हाथ आवे नहीं, व्रत पालना या 'इच्छामि पडिक्कमणुं इरिया वहिया गमणा गमणे' यह तो सब विकल्प–राग है। आहाहा! यह विकल्प है, यह 'इच्छामि अने तस्स ऊतरी ने लोगस्सनो' विकल्प करता है, वह राग है प्रभु! तुझे पता नहीं। वह राग तेरी चैतन्य की जाति नहीं है, वह कुजात

है, अर्थात् वह अजीव है। आहाहा! उसमें से हट कर, चैतन्य भगवान ज्ञान और आनन्दस्वरूप है, वहाँ जा, तुझे शान्ति मिलेगी और अशान्ति टलेगी। आहाहा! ऐसा स्वरूप है। अनजाने लोगों को तो ऐसा लगता है कि यह क्या कहते हैं? यह धर्म की रीति, बापू! आहाहा! अलौकिक है अलौकिक! यहाँ तो कहते हैं न, बनाते हैं - ऐसी भाषा! आहाहा! **उसकी सूचनारूप में रङ्गभूमि के अन्त में आचार्य ने 'मज्जंतु' इत्यादि इस श्लोक की रचना की है, वह अब जीव-अजीव के स्वाँग का वर्णन करेंगे, इसका सूचक है—ऐसा आशय प्रगट होता है। इस प्रकार यहाँ तक रंगभूमि का वर्णन किया है।** रंगभूमि की पहली भूमि जीव का वर्णन किया। आहाहा!

नृत्य कुतूहल तत्त्व को, मरियवि देखो धाय।
निजानन्द रस में छको, आन सवै छिटकाय॥

नृत्य के कौतूहल के राग-विकार आदि तत्त्वों को '**मरियवि**'—महा कष्ट और पुरुषार्थ से भी देखो, मरकर भी देखो। राग को मार डालकर, पुरुषार्थ करो, पुरुषार्थ, कहते हैं। कौतूहल का नाच राग और विकार को ऐसे तत्त्वों को '**मरियवि**'—मार डालकर देखो, नाश करके देखो। आहाहा! निजानन्द रस में छको,.. आत्मा निजानन्द प्रभु, सर्वज्ञ परमेश्वर जिनेश्वर ने कहा, वह यह आत्मा निजानन्द, निज आनन्दस्वरूप प्रभु, **निजानन्द रस में छको,** आहाहा! राग के रस को छोड़ दे प्रभु! आहाहा! उसे - राग को मार डाल। जीवते जीव को जीवता देख! आहाहा! चैतन्य जीवन से जीवित भगवान (आत्मा) को देखकर राग को मार डालकर देख। आहाहा! **निजानन्द रस में छको,** हे प्रभु! आत्मा! निजानन्द आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द है, उसमें छको, वहाँ खेल, क्रीड़ा कर। आहाहा! **निजानन्दरस में छको..** संक्षिप्त भाषा! आहाहा! निजानन्द प्रभु अतीन्द्रिय आनन्द का सागर आत्मा। भगवान सन्त और ज्ञानी और समकिती और केवली सब यह कहते हैं। **निजानन्द रस में छको।** बहुत संक्षिप्त परन्तु बहुत ऊँचा परम सत्य है।

भगवान! राग और पुण्य-पाप के भाव यह दया, दान, व्रत, भक्ति के भाव भी राग है, वह दुःख है, आकुलता है। आहाहा! उस रस में तुझे रस आता है, (उसे) छोड़ दे। आहाहा! निजानन्द प्रभु आत्मा भगवान तीर्थंकर सर्वज्ञदेव ने जो देखकर अनुभव करके

पूर्ण किया 'वह आत्मा तू' **निजानन्द रस में** स्वयं का रस ही साथ लिया है। शान्तरस - **निजानन्द रस में छको** अर्थात् शान्तरस में रहो, छको, आहाहा! उसमें भरपूर हो जाओ। आहाहा! छक जाओ। भाषा तो बहुत.. वस्तु तो वस्तु कोई दूसरी है बापू! भाषा में क्या.. आहाहा! '**निजानन्द रस में छको**' लीन होओ। '**आन सवै छिटकाय**' अन्य विकल्प आदि-दया, दान, राग आदि के विकल्पों को छोड़ दे। आहाहा! अन्य - दूसरा सब छिटकाय, '**आन सवै छिटकाय**।' चाहे तो भगवान की भक्ति का राग हो, णमो अरिहंताणं का विकल्प हो परन्तु वह राग है प्रभु! आहाहा! उसे छोड़कर 'सर्व छोड़कर' निजानन्द रस में छक जाओ, उसमें लीन होओ। आहाहा! क्या संक्षिप्त भाषा!

इस प्रकार जीव-अजीव अधिकार में इन्होंने ऐसा लिया है, अकेला जीव अधिकार और अकेला अजीव, ऐसा नहीं। जीव-अजीव अधिकार दोनों ही स्वरूप इकट्ठे किये हैं।

पूर्वरंग समाप्त हुआ। पूर्वरंग जीव का रंग-स्वाँग पूर्ण किया।

कलश - ३३ पर प्रवचन

अब, जीव और अजीव द्रव्य – ये दोनों एक होकर अखाड़े में / रङ्गभूमि में प्रवेश करते हैं। वहाँ शुरुआत में मङ्गल के आशय से आचार्य, ज्ञान की महिमा करते हैं। ज्ञान की महिमा करते हैं। ज्ञान अर्थात् आत्मस्वभाव - ज्ञानस्वभाव की महिमा करते हैं। **सर्व वस्तुओं को जाननेवाला यह ज्ञान है..** भगवान आत्मा का ज्ञान, स्व को जाने, द्रव्य को भी जाने, गुण को भी जाने, पर्याय को भी जाने, राग को भी जाने और भिन्न अजीव को भी जाने, **यह जाननेवाला ज्ञान है,** आहाहा! **वह सर्व स्वाङ्गों को भलीभाँति पहिचानता है-ऐसा सभी स्वाङ्गों को जाननेवाला सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है**। वह कलश कहते हैं, लो!

(शार्दूलविक्रीडित)

जीवाजीवविवेकपुष्कलदृशा प्रत्याययत्पार्षदान्
आसंसारनिबद्धबंधनविधिध्वंसाद्विशुद्धं स्फुटत्।
आत्माराममनन्तधाम महसाध्यक्षेण नित्योदितं
धीरोदात्तमनाकुलं विलसति ज्ञानं मनो ह्लादयत्॥३३॥

आहाहा ! ज्ञान कैसा प्रगट होता है ? कि आनन्द लेता प्रगट होता है। आनन्द और ज्ञान मुख्य दो वर्णन बतलाये हैं। आहाहा ! ज्ञान अर्थात् जीव; शुद्ध जीवद्रव्य स्वरूप; **वह मन को आनन्दरूप करता हुआ..** यहाँ ज्ञान कहा न ! इसलिए करता हुआ – जीव को–आत्मस्वभाव को; मन को अर्थात् आत्मा को आनन्दरूप करता हुआ प्रगट होता है। आहाहा ! ज्ञान तो उसे कहते हैं; और ज्ञान प्रगट होने पर साथ में उसे आनन्द होता है, उसे ज्ञान कहते हैं। आहा..हा..! ऐसी बड़ी शर्तें हैं।

मनो हादयत है न ? **मन को आनन्दरूप करता हुआ..** मन को अर्थात् मूल आत्मा को पर्याय में.. मन को आनन्दरूप करता हुआ, ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा प्रगट होता है। आहाहा ! कैसा है वह ? **पार्षदान-जीव-अजीव के स्वाङ्ग को देखनेवाले.. पार्षदान** है न ? **जीव-अजीव के स्वाङ्ग को देखनेवाले महापुरुषों..** पार्षदान की व्याख्या इतनी। पार्षदान अर्थात् महापुरुष, गणधरादि। है, उसमें गणधर अर्थ किया है। **पार्षदान – जीव-अजीव के स्वाङ्ग को देखनेवाले गणधर आदि महापुरुष। जीव-अजीव-विवेक पुष्कल दशा – जीव-अजीव के भेद को देखनेवाली..** आहाहा ! **अति उज्ज्वल निर्दोष दृष्टि के द्वारा।** आहाहा !

भगवान चैतन्यस्वरूप, वह ज्ञान और आनन्दस्वरूप है–ऐसा बतलाता हुआ और रागादि–शरीरादि अजीव स्वरूप है – ऐसा ज्ञान बतलाता हुआ.. **भेद देखनेवाली अति उज्ज्वल निर्दोष दृष्टि के द्वारा..** जहाँ चैतन्यस्वभाव की दृष्टि हुई, उज्ज्वल दृष्टि हुई, निर्मल हुई, आहाहा ! निजनिधान को देखने की जो दृष्टि, वह उज्ज्वल है। आहाहा ! **निर्दोष दृष्टि के द्वारा 'प्रत्यायत' भिन्न द्रव्य की प्रतीति उत्पन्न कर रहा है..** जहाँ वह ज्ञान अन्दर से राग से भिन्न पड़कर (सम्यक्) हुआ, वह आत्मा को भिन्न द्रव्य की प्रतीति उत्पन्न कर रहा है। राग और शरीर से भगवान आत्मा भिन्न है – ऐसा वह ज्ञान बता रहा है। आहाहा !

आसंसार-निबद्ध बन्धन-विधि-ध्वंसात, यह संसार अर्थात् **अनादि संसार** ऐसा 'यह' है न ? **अनादि संसार से जिसका बन्धन दृढ़ बँधा हुआ है..** आहाहा ! **ऐसे ज्ञानावरणादि कर्म** और भावकर्म.. **ज्ञानावरणादि कर्मों के नाश से..** भावकर्म और द्रव्यकर्म के नाश से; आहाहा ! भगवान आत्मा आठों ही कर्मों से रहित और आठों ही कर्मों के निमित्त

से होनेवाले भावों से भी रहित (है)। - ऐसे शुद्धस्वभाव को प्रगट करता हुआ ज्ञान, आनन्दसहित प्रगट होता है। भले यहाँ नीचे हो, परन्तु वह आठ कर्मों और भाव से भिन्न ही है। आहाहा! जिसका ज्ञायकस्वभाव, आनन्दस्वभाव, द्रव्यस्वभाव, वह तो आठ कर्मों से और कर्मों के निमित्त के भावकभाव से अभी भिन्न है। आठ कर्म रहित हो जाए, तब सिद्ध होता है, यह तो फिर पर्याय की बात है। आहाहा!

आठों ही कर्मों का अजीवपना, इस जीवद्रव्य के स्वभाव में उसका अभाव है। वह आठों कर्मों से भिन्न भगवान और उनके निमित्त से होनेवाले विपरीत भावों से भिन्न (है।) आहाहा! उनका नाश करता हुआ.. विधि अर्थात् कर्म। **निबद्ध बन्धन विधि ध्वंसात्** - ये आठ कर्म और उनके निमित्त से होनेवाले विकारीभाव। द्रव्यकर्म, नोकर्म और भावकर्म सब। आहाहा! उनके **नाश से विशुद्ध हुआ है**। ज्ञान अर्थात् आत्मा। आहाहा! आठों ही कर्म अजीव हैं, उनसे भिन्न; भावकर्म विकृत है, उससे भिन्न - ऐसा भान करके, उनका नाश करता हुआ.. आहाहा! है न? **ध्वंसात... ध्वंसात ध्वंस** करके। आहाहा! हो जाए, परन्तु शैली तो ऐसी ही होती है न! स्वभाव-सन्मुख होता है तो विकार और कर्म दोनों भिन्न पड़ जाते हैं, उसे 'नाश करता है' - ऐसा कहा जाता है। आहाहा!

स्फुटम्-स्फुट हुआ है - जैसे फूल की कली खिलती है; उसी प्रकार विकासरूप है। आहाहा! जैसे कली खिलती है, जैसे लाख पंखुडी का गुलाब खिल उठे; वैसे भगवान अनन्त गुण के गुलाब जल से पर्याय में खिल निकला है - अनन्त गुणों का विकास हो गया है। आहाहा! सम्यग्दर्शन में भी अनन्त गुणों का विकास पर्याय में हो गया है। आहाहा! 'सर्व गुणांश वह समकित' - ऐसा कहा है न? **स्फुटम्** - स्फुट होता हुआ, प्रगट होता हुआ ऐसा। जो शक्तिरूप से है। भगवान (आत्मा) आनन्द और ज्ञान आदि की शक्तिस्वभाव के सामर्थ्यरूप है, वह पर्याय में प्रगट हुआ। आहाहा!

और कैसा है? **आत्म-आरामम्-उसका रमण करने का क्रीड़ापन आत्मा ही है** -ज्ञान का। आहाहा! कहते हैं कि जो भगवान आत्मा, राग और अजीव से जहाँ भिन्न पड़ा प्रभु, तो अनन्त गुण हैं, वे सब आंशिक खिल निकले हैं और वह आत्माराम, वह आत्मा में आराम पाता है। आहाहा! है?

रमण करने का क्रीड़ावन आत्मा ही है, जिसमें अनन्त ज्ञेयों के आकार आकर झलकते हैं। समझाते हैं, झलकें, वे कहाँ यहाँ झलकते हैं ? परन्तु यहाँ अनन्त ज्ञेयों का ज्ञान होता है, वह अपने स्वभाव की सामर्थ्य से होता है, तो भी स्वयं अपने स्वरूप में ही रमता है। यह अनन्त ज्ञेयों का ज्ञान यहाँ होता है; वह स्वयं ज्ञेयों में नहीं जाता; अपने क्षेत्र में और अपने भाव में वह स्वयं रमता है। अनन्त ज्ञेयों को जानने पर भी स्वयं अपने ज्ञान में रमता है। आहाहा!

जहाँ ज्ञानस्वरूप भगवान (आत्मा), पर से भिन्न पड़कर खिल निकला, तब अनन्त ज्ञेय जो हैं, (उन्हें) अपना माना था, वह छूट गया। अब रहा, वह है, उनका यहाँ ज्ञान होता है, वे मेरे हैं – ऐसी मान्यता छूट गयी, तब उनका – उस सम्बन्धी का ज्ञान स्वयं का स्वयं में से खिलता है। आहाहा!

सब श्लोक, गाथा और टीका गजब की बाते हैं! अन्दर कितनी गम्भीरता भरी है! वे सब ज्ञेय जानने में आवें तो भी स्वयं अपने स्वरूप में रमता है। आहाहा! जिसका अनन्तधाम, आत्माराम '**अनन्तधाम**' **जिसका प्रकाश अनन्त है;** धाम अर्थात् प्रकाश, अनन्त है.. अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. प्रकाश है। आहाहा!

अध्यक्षेण-प्रत्यक्ष तेज से वह नित्य उदयरूप है। भगवान ज्ञानस्वरूप जहाँ प्रगट हुआ तो नित्य प्रगटरूप ही रहता है। आहाहा! केवलज्ञान हुआ या सम्यग्ज्ञान हुआ, वह सदा प्रगट ही रहता है। आहाहा! **धीर है,** अचंचल है, चंचल नहीं। **उच्च है और अनाकुल है..** आहाहा! **इच्छाओं से रहित निराकुल है। धीर, उदात्त, अनाकुल = यह तीन विशेषण शान्तरूप नृत्य के आभूषण जानना..** परिणमन की शोभा जानना – यह आत्मा के परिणमन की तीन शोभा। आहाहा! **ऐसा ज्ञान विलास करता है।** लो! ऐसा भगवान आत्मा, ज्ञान की विलास की क्रीड़ा में रमता है, उसे आत्मा कहते हैं।

विशेष कहेंगे। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ११३ श्लोक - ३३, गाथा ३९ से ४३ दिनाङ्क शुक्रवार, २०-१०-१९७८
आषाढ़ कृष्ण ४, वीर निर्वाण संवत् २५०४

भावार्थ है न ? ३३ वें कलश का भावार्थ। **यह ज्ञान की महिमा कही**। ज्ञानस्वरूप आत्मा ने सब जानकर, स्वसन्मुख ढलकर पूर्णानन्द की प्राप्ति की, वह ज्ञानस्वरूप। **जीव-अजीव एक होकर रंगभूमि में प्रवेश करते हैं**। जीव और अजीव - दो संयोग से एक होकर अखाड़े की भूमि में, जैसे नृत्य करे, वैसे रंगभूमि में आकर खड़े हैं। **उन्हें यह ज्ञान ही भिन्न-भिन्न जानता है**। इस ज्ञान का स्वभाव ही ऐसा है कि मैं ज्ञान हूँ और रागादि, वे (मुझसे) भिन्न हैं। राग, वह अजीव है; वह चैतन्य की शक्ति के स्वभाव में से हुआ नहीं है। वह राग तो अजीव है, जिसमें चैतन्य के स्वभाव का अभाव है - ऐसे ज्ञान भिन्न-भिन्न जानता है।

जैसे नृत्य में कोई स्वाङ्ग धरकर आये और उसे जो यथार्थरूप से जान ले.. बहुरूपिये का स्वांग पहचानते हैं न! **तो स्वाङ्गकर्ता उसे नमस्कार करके अपने रूप को जैसा का तैसा ही कर लेता है, उसी प्रकार यहाँ भी समझना। ऐसा ज्ञान, सम्यग्दृष्टि पुरुषों को होता है..** जिन्हें ज्ञायकस्वभाव ध्रुव की दृष्टि हुई है, जिससे उन्हें सम्यग्ज्ञान हुआ है, उन्हें यह यथार्थ विवेक और भेदज्ञान होता है। आहाहा! **मिथ्यादृष्टि इस भेद को नहीं जानते**। अज्ञानी, यह रागादि भाव मेरी चीज का नहीं है - ऐसा वे नहीं जानते। यह राग है, वह मैं हूँ, पुण्य आदि का भाव, वह मैं हूँ - ऐसा मानकर मिथ्यादृष्टि (जीव) भेद नहीं जानते।

गाथा ३९-४३

अप्पाण-मयाणंता मूढा दु परप्प-वादिणो केई।
जीवं अज्झवसाणं कम्मं च तहा परूवेंति।।३९।।
अवरे अज्झवसाणेसु तिव्व-मंदाणुभागगं जीवं।
मण्णंति तहा अवरे णोकम्मं चावि जीवो त्ति।।४०।।
कम्मस्सुदयं जीवं अवरे कम्माणुभाग-मिच्छंति।
तिव्वत्तण-मंदत्तण-गुणेहिं जो सो हवदि जीवो।।४१।।
जीवो कम्मं उहयं दोण्णि वि खलु केइ जीवमिच्छंति।
अवरे संजोगेण दु कम्माणं जीव-मिच्छंति।।४२।।
एवंविहा बहु-विहा पर-मप्पाणं वदंति दुम्मेहा।
ते ण परमट्ठ-वादी णिच्छय-वादीहिं णिद्दिट्ठा।।४३।।

आत्मानमजानन्तो मूढास्तु परात्म-वादिनः केचित्।
जीव-मध्यवसानं कर्म च तथा प्ररूपयन्ति।।३९।।
अपरेऽध्यवसानेषु तीव्र-मन्दानुभागगं जीवम्।
मन्यन्ते तथाऽपरे नोकर्म चापि जीव इति।।४०।।
कर्मण उदयं जीव-मपरे कर्मानुभाग-मिच्छन्ति।
तीव्रत्व-मन्दत्व-गुणाभ्यां यः स भवति जीवः।।४१।।
जीव-कर्मोभयं द्वे अपि खलु केचिच्जीव-मिच्छन्ति।
अपरे संयोगेन तु कर्मणां जीव-मिच्छन्ति।।४२।।
एवंविधा बहु-विधाः परमात्मानं वदन्ति दुर्मेधसः।
ते न परमार्थ-वादिनः निश्चय-वादिभिर्निर्दिष्टाः।।४३।।

इह खलु तदसाधारणलक्षणाकलनात्क्लीबत्वेनात्यंतविमूढाः संतस्तात्त्विकमात्मानमजानंतो बहवो बहुधा परमप्यातमानमिति प्रलपंति। नैसर्गिकरागद्वेषकल्माषितमध्यवसानमेव जीवस्तथाविधाध्यवसानात् अंगारस्येव काष्ण्र्यादतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित्। अनाद्यनंतपूर्वापरिभूतावयवैकसंसरणक्रियारूपेणक्रीडत्कर्मैव जीवः कर्मणोऽतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित्। तीव्रमंदानुभवभिद्यमानदुरंतरागरसनिर्भराध्यवसानसंतान एव जीवस्ततोऽतिरिक्तस्यान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित्। नवपुराणावस्थादिभावेन प्रवर्तमानं नोकर्मैव जीवः शरीरादतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित्। विश्वमपि पुण्यपापरूपेणाक्रामन् कर्मविपाक एव जीवः शुभाशुभभावादतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित्। सातासातरूपेणाभि व्याप्तसमस्ततीव्रमंदत्वगुणाभ्यां भिद्यमानः कर्मानुभव एव जीवः सुखदुःखातिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित्। मज्जितावदुभयात्मकत्वादात्मकर्मोभयमेव जीवः कात्स्न्र्यतः कर्मणोतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित्। अर्थक्रियासमर्थः कर्मसंयोग एव जीवः कर्मसंयोगत्खट्वाया इवाष्टकाष्ठसंयोगादतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित्। एवमेवंप्रकारा इतरेऽपि बहुप्रकाराः परमात्मेति व्यपदिशन्ति दुर्मेधसः किन्तु न ते परमार्थवादिभिः परमार्थवादिन इति निर्दिश्यंते।

अब, जीव-अजीव का एकरूप वर्णन करते हैं —

को मूढ़, आत्म-अजान जो, पर-आत्मवादी जीव है।
'है कर्म, अध्यवसान ही जीव' यों हि वो कथनी करे॥ ३९॥

अरु कोई अध्यवसान में, अनुभाग तीक्षण मन्द जो।
उसको ही माने आतमा, अरु अन्य को नोकर्म को॥ ४०॥

को अन्य माने आत्मा बस, कर्म के ही उदय को।
को तीव्रमन्दगुणोंसहित, कर्मोंहि के अनुभाग को॥ ४१॥

को कर्म-आत्मा, उभय मिलकर जीव की आशा धरें।
को कर्म के संयोग से, अभिलाष आत्मा की करें॥ ४२॥

दुर्बुद्धि यों ही और बहुविध, आतमा पर को, कहै।
वे सर्व नहिं परमार्थवादी, ये हि निश्चयविद् कहै॥ ४३॥

गाथार्थ - [आत्मानम् अजानन्तः] आत्मा को न जानते हुए [परात्मवादिनः] पर को आत्मा कहनेवाले [केचित् मूढ़ाः तु] कोई मूढ़, मोही, अज्ञानी तो [अध्यवसानं] अध्यवसान को [तथा च] और कोई [कर्म] कर्म को [जीवम् प्ररूपयंति] जीव कहते हैं।

[अपरे] अन्य कोई [अध्यवसानेषु] अध्यवसानों में [तीव्रमंदानुभागगं] तीव्र-मन्द अनुभागगत को [जीवं मन्यंते] जीव मानते हैं [तथा] और [अपरे] दूसरे कोई [नोकर्म अपि च] नोकर्म को [जीवः इति] जीव मानते हैं [अपरे] अन्य कोई [कर्मणः उदयं] कर्म के उदय को [जीवम्] जीव मानते हैं, कोई '[यः] जो [तीव्रत्वमंदत्वगुणाभ्यां] तीव्र मन्दतारूप गुणों से भेद को प्राप्त होता है, [सः] वह [जीवः भवति] जीव है' इस प्रकार [कर्मानुभागम्] कर्म के अनुभाग को [इच्छंति] जीव इच्छते हैं (-मानते हैं)। [केचित्] कोई [जीवकर्मोभयं] जीव और कर्म [द्वे अपि खलु] दोनों मिले हुओं को ही [जीवम् इच्छंति] जीव मानते हैं [तु] और [अपरे] अन्य कोई [कर्मणां संयोगेन] कर्म के संयोग से ही [जीवम् इच्छंति] जीव मानते हैं।

[एवंविधाः] इस प्रकार के तथा [बहुविधाः] अन्य भी अनेक प्रकार के [दुर्मेधसः] दुर्बुद्धि-मिथ्यादृष्टि जीव [परम्] पर को [आत्मानं] आत्मा [वदंति] कहते हैं। [ते] उन्हें [निश्चयवादिभिः] निश्चयवादियों ने (-सत्यार्थवादियों ने) [परमार्थवादिनः] परमार्थवादी (-सत्यार्थवक्ता) [न निर्दिष्टाः] नहीं कहा है।

टीका - इस जगत में आत्मा का असाधारण लक्षण न जानने के कारण नपुंसकता से अत्यन्त विमूढ़ होते हुए, तात्त्विक (परमार्थभूत) आत्मा को न जाननेवाले बहुत से अज्ञानी जन अनेक प्रकार से पर को भी आत्मा कहते हैं, बकते हैं। कोई तो ऐसा कहते हैं कि स्वाभाविक, अर्थात् स्वयमेव उत्पन्न हुए राग-द्वेष के द्वारा मलिन जो अध्यवसान (मिथ्या अभिप्राययुक्त विभावपरिणाम), वह ही जीव है क्योंकि जैसे कालेपन से अन्य अलग कोई कोयला दिखाई नहीं देता, उसी प्रकार अध्यवसान से भिन्न अन्य कोई आत्मा दिखाई नहीं होता ॥१॥

कोई कहते हैं कि अनादि जिसका पूर्व अवयव है और अनन्त जिसका भविष्य

का अवयव है—ऐसी एक संसरणरूप (भ्रमणरूप) जो क्रिया है, उसरूप से क्रीड़ा करता हुआ कर्म ही जीव है क्योंकि कर्म से भिन्न अन्य कोई जीव दिखाई नहीं देता ॥२ ॥

कोई कहते हैं कि तीव्र-मन्द अनुभव से भेदरूप होते हुए, दुरन्त (जिसका अन्त दूर है—ऐसा) रागरूप रस से भरे हुए अध्यवसानों की संतति (परिपाटी) ही जीव है क्योंकि उससे अन्य अलग कोई जीव दिखाई नहीं देता ॥३ ॥

कोई कहता है कि नयी और पुरानी अवस्था इत्यादि भाव से प्रवर्तमान नोकर्म ही जीव है क्योंकि इस शरीर से अन्य अलग कोई जीव दिखाई नहीं देता ॥४ ॥

कोई यह कहते हैं कि समस्त लोक को पुण्य-पापरूप से व्याप्त करता हुआ कर्म का विपाक ही जीव है क्योंकि शुभाशुभभाव से अन्य अलग कोई जीव दिखाई नहीं देता ॥५ ॥

कोई कहते हैं कि साता-असातारूप से व्याप्त समस्त तीव्र-मन्दत्वगुणों से भेदरूप होनेवाला कर्म का अनुभव ही जीव है क्योंकि सुख-दुःख से अन्य अलग कोई जीव दिखाई नहीं देता ॥६ ॥

कोई कहते हैं कि श्रीखण्ड की भाँति उभयरूप मिले हुए आत्मा और कर्म, दोनों ही मिलकर जीव हैं क्योंकि सम्पूर्णतया कर्मों से भिन्न कोई जीव दिखाई नहीं देता ॥७ ॥

कोई कहते हैं कि अर्थक्रिया में (प्रयोजनभूतक्रिया में) समर्थ — ऐसा जो कर्म का संयोग, वह ही जीव है क्योंकि जैसे आठ लकड़ियों के संयोग से भिन्न अलग कोई पलंग दिखाई नहीं देता, इसी प्रकार कर्मों के संयोग से अन्य अलग कोई जीव दिखाई नहीं देता। (आठ लकड़ियाँ मिलकर पलंग बना, तब वह अर्थक्रिया में समर्थ हुआ; इसी प्रकार यहाँ भी जानना) ॥८ ॥

इस प्रकार आठ प्रकार तो यह कहे और ऐसे-ऐसे अन्य भी अनेक प्रकार के दुर्बुद्धि (विविध प्रकार से) पर को आत्मा कहते हैं परन्तु परमार्थ के ज्ञाता उन्हें सत्यार्थवादी नहीं कहते।

भावार्थ : जीव-अजीव दोनों अनादिकाल से एकक्षेत्रावगाहसंयोगरूप से मिले हुए हैं, और अनादि काल से ही पुद्गल के संयोग से जीव की अनेक विकारसहित अवस्थाएँ हो रही हैं। परमार्थदृष्टि से देखने पर, जीव तो अपने चैतन्यत्व आदि भावों

को नहीं छोड़ता और पुद्गल अपने मूर्तिक, जड़त्व आदि को नहीं छोड़ता परन्तु जो परमार्थ को नहीं जानते, वे संयोग से हुए भावों को ही जीव कहते हैं क्योंकि पुद्गल से भिन्न परमार्थ से जीव का स्वरूप सर्वज्ञ को दिखाई देता है तथा सर्वज्ञ की परम्परा के आगम से जाना जा सकता है, इसलिए जिनके मत में सर्वज्ञ नहीं हैं, वे अपनी बुद्धि से अनेक कल्पनाएँ करके कहते हैं। उनमें से वेदान्ती, मीमांसक, सांख्य, योग, बौद्ध, नैयायिक, वैशेषिक, चार्वाक आदि मतों के आशय लेकर आठ प्रकार तो प्रगट कहे हैं; और अन्य भी अपनी -अपनी बुद्धि से अनेक कल्पनाएँ करके अनेक प्रकार से कहते हैं, सो उन्हें कहाँ तक कहा जाए?

गाथा - ३९ से ४३ पर प्रवचन

अब, जीव-अजीव का एकरूप वर्णन करते हैं —

अप्पाणमयाणंता मूढा दु परप्पवादिणो केई।
जीवं अज्झवसाणं कम्मं च तहा परूवेंति।।३९।।
अवरे अज्झवसाणेसु तिव्वमंदाणुभागगं जीवं।
मण्णंति तहा अवरे णोकममं चावि जीवो त्ति।।४०।
कम्मस्सुदयं जीवं अवरे कम्माणुभागमिच्छंति।
तिव्वत्तणमंदत्तणगुणेहिं जो सो हवदि जीवो।।४१।।
जीवो कम्मं उहयं दोण्णि वि खलु केई जीवमिच्छंति।
अवरे संजोगेण दु कम्माणं जीवमिच्छंति।।४२।।
एवंविहा बहुविहा परमप्पाणं वदंति दुम्मेहा।
ते ण परमट्ठवादी णिच्छयवादीहिं णिद्दिट्ठा।।४३।।

हरिगीत

को मूढ़, आत्म-अज्ञान जो, पर-आत्मवादी जीव है।
'है कर्म, अध्यवसान ही जीव' यों हि वो कथनी करे॥ ३९॥

अरु कोई अध्यवसान में, अनुभाग तीक्षण मन्द जो।
उसको ही माने आतमा, अरु अन्य को नोकर्म को॥ ४०॥
को अन्य माने आत्मा बस, कर्म के ही उदय को।
को तीव्रमन्दगुणोंसहित, कर्मोंहि के अनुभाग को॥ ४१॥
को कर्म-आत्मा, उभय मिलकर जीव की आशा धरें।
को कर्म के संयोग से, अभिलाष आत्मा की करें॥ ४२॥
दुर्बुद्धि यों ही और बहुविध, आतमा पर को, कहै।
वे सर्व नहिं परमार्थवादी, ये हि निश्चयविद् कहै॥ ४३॥

दुम्मेहा शब्द है न, दुम्मेहा का दुर्बुद्धि अर्थ किया। दुम्मेहा शब्द है न (गाथा) ४३ में, उसका अर्थ दुर्बुद्धि किया। दुम्मेहा - दुर्बुद्धि।

टीका - इस जगत में.. इस जगत में—ऐसा कहकर जगत सिद्ध किया। जगत है। **इस जगत में आत्मा का असाधारण लक्षण न जानने के कारण..** भगवान आत्मा का असाधारण (लक्षण), जो अन्यत्र न हो ऐसा। आनन्द और ज्ञान जिसका लक्षण है—ऐसा नहीं जानने के कारण **नपुंसकता से..** उसका वीर्य नपुंसक है, कहते हैं। आहाहा! नपुंसकरूप से राग को अपना माने, वह नपुंसक है। आहाहा! नपुंसक - हीजड़ा है—ऐसा कहते हैं। आहाहा! क्या करुणा की भाषा है, भाई! अरे! भगवान पूरण ज्ञान-आनन्द के लक्षण से स्वाभाविक वस्तु पड़ी है, उसे तू मानता नहीं और इन रागादि को अपना मानता है, यह तू नपुंसक है। आहाहा! नपुंसक को जैसे धर्म प्रजा नहीं होती; वैसे राग को अपना माननेवाले को धर्म प्रजा नहीं होती। आहाहा! नपुंसक को वीर्य नहीं होता, इसलिए प्रजा नहीं होती। इसे वीर्य जो नपुंसकरूप हुआ है रागादि में,... आहाहा! उसे सम्यग्दर्शन की प्रजा नहीं होती; उसे मिथ्यादर्शन की दशा होती है। आहाहा!

जगत में भगवान आत्मा का असाधारण लक्षण. लक्षण नहीं जानने के कारण नपुंसकता से.. आहाहा! वीर्य का गुण लिया है न वहाँ? आत्मा में एक वीर्य नाम का—पुरुषार्थ नाम का.. अनन्त.. अनन्त.. अनन्त सामर्थ्यवाला गुण है। उस गुण का कार्य तो ऐसा होता है (कि).. आहाहा! अपने शुद्धस्वभाव की रचना करे, उसे वीर्य कहते हैं,

आहाहा! उसे पुरुषार्थ कहते हैं कि जो वीर्य अपने अनन्त ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि की वर्तमान निर्मलपर्याय की रचना करे, उसे वीर्यगुण कहते हैं। आहाहा! राग को और दया, दान के विकल्प को अपना माने,.. आहाहा! इसका अर्थ यह कि रागादि क्रिया से मुझे लाभ होगा—ऐसा माननेवाले राग को अपना मानते हैं। अपने स्वभाव से लाभ होता है; ऐसे (ही) इस राग से लाभ होता है.. आहाहा!—ऐसा माननेवाले नपुंसकपने हैं। उनका वीर्य नपुंसक है, कहते हैं। आहाहा!

अत्यन्त विमूढ़.. दूसरी भाषा, आहाहा! शुभ-अशुभराग.. निहालभाई को इतना ही कहा था—निहालभाई सोगानी आये थे न! इतना कहा था - भाई! राग और आत्मा - ज्ञान दो भिन्न चीज है। बस! इतना ही सुना। समिति के रसोई में चले गये—शाम से सबेरे तक—पूरी रात, बस! यह राग और भगवान दो भिन्न है, प्रभु! चाहे तो राग दया, दान विकल्प का हो या गुणी और गुण के भेद का राग-विकल्प हो, उसके राग से भगवान अन्दर भिन्न चीज है। आहाहा! उन्होंने एक रात विचार-मंथन किया और दिन उगने से पहले निर्विकल्पदशा प्रगट करके खड़े हो गये—इस समिति में। सोगानी, जिनकी द्रव्यदृष्टि प्रकाश पुस्तक बाहर प्रकाशित हुई है न? देखी है या नहीं त्रिलोकचन्दजी? द्रव्यदृष्टि प्रकाश देखी है? (श्रोता - हाँ।) ठीक। आहाहा! एक रात में राग और ज्ञान दो भिन्न.. प्रभु! आहाहा! यह घोलन करते.. करते.. करते.. पूरी रात्रि, हों! आहाहा! यह राग से भिन्न भगवान ज्ञानस्वरूप का निर्विकल्प अनुभव किया। आहाहा! यहाँ यह कहते हैं कि जिसे राग को—यह दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम हैं, वह तो राग है; उस राग से मुझे समकित होगा, उस राग से मुझे धर्म होगा—यह माननेवाला.. प्रभु! कठोर बात है प्रभु, हों! कहते हैं कि उसका वीर्य नपुंसक है। आहाहा!

भगवान आत्मा, राग से भिन्न है। यहाँ तो बहुत प्रकार लेंगे, परन्तु मुख्य (बात) यहाँ है। आहाहा! जितने विकल्प मात्र - वृत्ति उठते हैं, वे चैतन्यदल-ज्ञायकदल में वे नहीं हैं.. आहाहा!—ऐसा न मानकर, जो राग है, वह मेरा है अथवा राग है, वह मुझे लाभकर्ता माना—इसका अर्थ ही यह है कि राग को अपना माना। आहाहा! सूक्ष्म बात पड़ती है। लोग कहते हैं न, व्यवहाररत्नत्रय करने से निश्चय प्राप्त होता है। आहाहा! प्रभु! इस राग

से निश्चय प्राप्त हो तो इसका अर्थ यह हुआ कि राग ही जीव का स्वभाव है और स्वभाव से स्वभाव की प्राप्ति होती है। आहाहा! धीरजवान का काम है बापू! यह कोई.. आहाहा! इस **नपुंसकता से अत्यन्त विमूढ़ होते हुए...** राग के कण को—शुभराग को.. अरे प्रभु! देखो! यहाँ तो ऐसा कहा है कि अभी शुभयोग ही होता है.. तो प्रभु! शुभयोग ही धर्म है? आहाहा! वह शुभयोग राग है और राग मेरा है—ऐसा माननेवाला नपुंसक है, हीजड़ा है, पावैया है; वह आत्मा नहीं। ऐसी बातें! आहाहा! है? (श्रोता – परम सत्य।) आहाहा!

फिर सब उतारेंगे। आठ बोल है न? **अत्यन्त विमूढ़ होते हुए...** भगवान ज्ञानस्वरूपी प्रभु, वह भिन्न चीज है, उसमें अत्यन्त विमूढ़ होते हुए, इस राग की कणिका को अपनी मानते हैं, वे वीर्यहीन अत्यन्त विमूढ़ हैं। आहाहा! **तात्विक आत्मा को नहीं जाननेवाले.. तात्विक-परमार्थभूत..** भगवान आत्मा, इस राग की क्रिया के परिणाम से भिन्न है। आहाहा! क्योंकि कोई—चैतन्य के अनन्त गुणों में कोई गुण ऐसा नहीं, अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. अपार गुण—ऐसे गुण अनन्त अपार.. अपार.. अनन्त का अन्त नहीं, इतने गुण (हैं) परन्तु इतने गुणों में कोई गुण ऐसा नहीं है कि विकार करे, आहाहा! राग करे, ऐसे अनन्त.. अनन्त गुणों में कोई एक भी गुण नहीं। आहाहा! समझ में आया?

इस कारण यह राग, स्वभाव के लक्ष्य बिना, पर के लक्ष्य से हुआ विकार-राग, वह परमार्थ के जाननेवालों को नहीं है। इस राग को अपना माने, इस शुभयोग से आत्मा को लाभ माने.. प्रभु, प्रभु! कठोर बात, भाई! यह तात्विक आत्मा, आत्मा तात्विक अर्थात्? राग है, वह तो विकृत अवस्था है, वह कहीं तात्विक आत्मा नहीं। आहाहा! परमार्थभूत भगवान आत्मा ज्ञान और आनन्द जिसका स्वरूप है—ऐसे तात्विक भगवान आत्मा.. आहाहा! को नहीं जानते हुए ऐसे.. नहीं जानते ऐसे, **बहुत से अज्ञानी जन..** थोड़े नहीं, कहते हैं—बहुत से अज्ञानीजन; आहाहा! **बहुत प्रकार** से बहुत प्रकार लेंगे न? **पर को भी आत्मा कहते हैं..** कहते हैं का अर्थ मानते हैं। आहाहा! रागादि आठ प्रकार लेंगे बहुत। **अनेक प्रकार से पर को भी..** अपने को तो ठीक, परन्तु पर को भी अपना मानते हैं—ऐसा कहते हैं। आहाहा!

जो भगवान आत्मा राग और कर्म से भिन्न है। कर्म, कहेंगे कर्म मेरे हैं अर्थात् क्या? कि कर्म से मुझे राग होता है और राग से मुझे लाभ होता है, इसलिए आठ कर्म मेरे हैं..

आहाहा! (ऐसा) बाद में कहेंगे अन्दर। आत्मा को नहीं जानते हुए ऐसे बहुत अज्ञानीजन बहुत प्रकार से पर को भी आत्मा कहते हैं। अपने को कहें ही, यह माना जा सकता है, वे तो पर को भी कहते हैं—ऐसा कहते हैं। जो पर, वे रागादि पर आत्मा नहीं हैं; आहाहा! (उन) पर को भी आत्मा कहते हैं। आहाहा! **वकते हैं..** ऐसा नहीं? लो!

'**प्रलयन्ति**' है न? '**प्रलयन्ति-प्रलयन्ति-प्रकृष्टे लवे**' है। संस्कृत टीका में है '**लवे**' है। आहाहा! शब्द तो एक ही है वह, है! कहते हैं कि बकते हैं—सब एक ही है। '**प्रलयन्ति**' बकते हैं वे तो। आहाहा! पागल मनुष्य जैसे बकता है, आहाहा! वैसे आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप प्रभु को रागवाला हूँ, कर्मवाला हूँ—ऐसा बकते हैं.. आहाहा! '**प्रलयन्ति**' है न भाई! उसका यह अर्थ है। '**प्रलयन्ति**' आहाहा! **परम आत्मानम् इति प्रलयन्ति, बहु बहुधा परम आत्मानम् इति प्रलयन्ति... 'आत्मानम् इति'** वहाँ से 'भी' निकाला लगता है। **आत्मानम् इति 'अपि'** शब्द है न? आहाहा! **प्रलयन्ति..** भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूपी प्रभु को सब अज्ञानी मूढ़, यह राग का परिणाम जो है - पुण्य-पाप का भाव है, वह मेरा है, मुझमें हैं - ऐसा बकते हैं, कहते हैं। प्ररूपित करते हैं—ऐसा न लेकर बकते हैं.. (- ऐसा कहा है।) आहाहा! लोगों को ऐसा कठिन काम लगता है।

कोई तो ऐसा कहते हैं कि.. अब बोल शुरु किया। **स्वाभाविक (अर्थात्) स्वयमेव उत्पन्न हुए राग-द्वेष के द्वारा मलिन जो अध्यवसान,..** आहाहा! **(मिथ्या अभिप्राययुक्त विभाव परिणाम)...** मिथ्या अभिप्राय सहित विभाव परिणाम.. ये पुण्य और पाप के परिणाम, ये राग-द्वेष द्वारा मलिन हैं—ऐसा जो अध्यवसान / एकत्वबुद्धि है, उसे ऐसा (जीव) कहते हैं। **मिथ्या अभिप्राय युक्त विभाव परिणाम, वह ही जीव है..** वह जीव है, उसकी पर्याय में होते हैं, इसलिए मैं जीव हूँ। आहाहा! यह शुभ-अशुभभाव—दया, दान, व्रत, भक्ति आदि का भाव,.. आहाहा! यह मैल है - राग के मैलवाला जीव है.. आहाहा! कठिन बात.. ऐसा अध्यवसान वह, **वह ही जीव है**—ऐसा फिर वह '**ही**' जीव है, राग की एकत्वबुद्धि, वह '**ही**' जीव है। आहाहा!

भगवान आनन्द का नाथ प्रभु भिन्न है, उसे (तो) अत्यन्त मूढ़ जीव जानते नहीं.. आहाहा!

श्रोता : उसमें क्या भूल हुई ?

पूज्य गुरुदेवश्री : मिथ्या अभिप्राय—महा झूठा; जो राग का भाव, स्वभावभाव नहीं है; विभावभाव है, कृत्रिम है, क्षणिक है, मलिन है, दु:ख है—उसे भगवान आत्मा के साथ मानते हैं,.. आहाहा! वे सब नपुंसकरूप से अत्यन्त विमूढ़ होते हुए, परमार्थ भगवान को नहीं जानते हुए, उसे अपना है—ऐसा मानते हैं। आहाहा! यह क्या कहा? कि **स्वाभाविक-स्वयमेव उत्पन्न हुए राग-द्वेष के द्वारा..** यह स्वयमेव उत्पन्न हुआ है मेरे स्वभाव की पर्यय में। आहाहा! ऐसा दृष्टान्त आयेगा।

क्योंकि जैसे कालेपन से अन्य अलग कोई कोयला दिखायी नहीं देता.. देखो! कैसा दृष्टान्त! कोयला.. कोयला काला है न? तो उसकी पर्याय भी काली है तो कोयला कालेपन से अलग दिखायी नहीं देता। आहाहा! दृष्टान्त तो देखो! कोयला जैसे कालेपने से अलग नहीं है; वैसे मेरा भगवान आत्मा... भगवान उसे कहाँ पता है? आत्मा, मलिन परिणाम से अलग नहीं है। आहाहा!

श्रोता : परिणाम, वह द्रव्य है—ऐसा बहुत जगह आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : परिणाम उसके हैं; यह तो पर से भिन करने के लिए (कहा) परन्तु ये परिणाम राग-द्वेष के हैं, इसकी चीज में नहीं हैं; ये वस्तु के नहीं हैं। आहाहा!

वस्तु तो, कहा न पहले! उसमें अनन्त.. अनन्त.. अनन्त अपार गुण हैं प्रभु में, आहाहा! परन्तु कोई एक गुण विकार करे—ऐसा कोई गुण नहीं है। आहाहा! उसका गुण का गुण विकार करे, गुण का गुण राग को करे—ऐसा गुण का गुण नहीं है। आहाहा!

श्रोता : दूसरा आकर राग कर जाता है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह स्वयं अज्ञानरूप से खड़ा करता है—ऐसा कहते हैं। आहाहा!

भगवान ज्ञानस्वरूप आनन्द प्रभु को नहीं जानते हुए, नपुंसकता से अत्यन्त विमूढ़ होते हुए, इस राग की एकत्वबुद्धि के परिणाम मेरे हैं; जैसे कोयले की कालिमा कोयले से अलग नहीं होती, वैसे मलिन परिणाम मुझसे अलग नहीं होते—ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! ओहोहो! यह आत्मख्याति टीका है! जैसे, यह अज्ञानी का

दृष्टान्त है, कालेपन से-कालेपन की दशा से कोयला अलग है, कहते हैं ? कालेपन की दशा—अवस्था हों, उससे कोयला अलग है ? आहाहा! **अन्य अलग कोई कोयला दिखायी नहीं देता..** ऐसा अज्ञानी कहता है। आहाहा! उसी प्रकार राग-द्वेष परिणाम मेरे आत्मा से अलग हों—ऐसा दिखायी नहीं देता। बात तो सच्ची है, वहाँ देखता है न, मेल का देखता है और दृष्टान्त कोयले का दिया। जैसे, कोयले की कालिमा कोयले से अलग नहीं है; वैसे मलिन परिणाम आत्मा से अलग नहीं है। आहाहा!

भगवान आत्मा को तो पूरा मलिन सिद्ध किया। मलिन भगवान, उससे मलिन परिणाम अलग नहीं है।

श्रोता : दृष्टान्त ऐसा दिया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : दृष्टान्त - यह दिया है; इसीलिए तो स्वयं आचार्य ने इस प्रकार दिया है। आहाहा! इस कालेपन से, कालिमा-कोयला अलग देखने में नहीं आता। समझ में आया ? कालापना, यह दशा और कोयला, वह वस्तु, तो उसके कालेपन की दशा से कोयला अलग तो दिखता नहीं; ऐसे (ही) पुण्य और पाप के मलिन परिणाम से भगवान (आत्मा) अलग तो देखने में आता नहीं - ऐसा अज्ञानी का तर्क है। आहाहा!

भाई! यह तो अध्यात्म की बातें हैं। भाई! यह कोई कथा-वार्ता नहीं है। आहाहा! **उसी प्रकार तथाविध अध्यवसान से भिन्न..** अर्थात् राग और एकताबुद्धि - ऐसा जो अध्यवसान, उससे भिन्न **अन्य कोई आत्मा दिखायी नहीं देता..** हमें तो राग दिखता है, वही आत्मा (है।) आहाहा! यह दया, दान, व्रत के परिणाम-शुभयोग के (परिणाम) दिखते हैं, वही आत्मा। हमें दूसरा कोई आत्मा दिखायी नहीं देता। अररर!

श्रोता : पंचम काल में तो ऐसा ही होता है न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे! पंचम काल में... इसलिए क्या कोई पंचम काल में हलुआ बनाये तो शक्कर डाले बिना - कीचड़ डालते होंगे ? आहाहा! पंचम काल के ऐसे अज्ञानी ऐसा मानते हैं - ऐसा कहते हैं। पंचम काल के ज्ञानी ऐसा नहीं मानते - ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया ? दोनों पंचम काल के हैं। **अध्यवसान से भिन्न अन्य कोई आत्मा दिखायी नहीं देता।** यह एक बोल हुआ। एक बोल।

कोई कहते है कि अनादि जिसका पूर्व अवयव है और अनन्त जिसका भविष्य का अवयव है - ऐसी एक संसरणरूप (भ्रमणरूप) जो क्रिया है, उसरूप से क्रीड़ा करता हुआ कर्म.. वह जीव है। **कर्म ही जीव है।** भूतकाल में भी कर्म ही था, आत्मा के साथ सम्बन्ध भूतकाल में, परन्तु उस सम्बन्धी राग की क्रिया-कर्म की क्रिया, उससे पृथक् नहीं है। **अनन्त जिसका भविष्य का अवयव है...** कर्म का, हाँ! **ऐसी जो एक भ्रमणरूपी क्रिया..** भ्रमण की क्रिया, आहाहा! **उसरूप क्रीड़ा करता हुआ कर्म..** यह कर्म क्रीड़ा करता है। भ्रमण में कर्म क्रीड़ा करता है-परिभ्रमण में। आहाहा! **क्योंकि कर्म से भिन्न अन्य कोई जीव दिखाई नहीं देता।** आहाहा! यहाँ तो जीव को पर्याय में जो परिभ्रमण है न! उस परिभ्रमण का कारण कर्म है तो उस कर्म का जो पूर्व में अवयव है, वह भी परिभ्रमण का है, भविष्य में भी परिभ्रमण का कारण है, वह कर्म है। उस कर्म से भगवान (आत्मा) हमें तो भिन्न दिखायी नहीं देता। आहाहा! आहाहा!

दूसरे प्रकार से कहें तो ऐसा कहते हैं कि जो कर्म है न ? उससे जो परिभ्रमण खड़ा हुआ है, और वह परिभ्रमण भूतकाल में भी था तथा भविष्य में भी कर्म के कारण परिभ्रमण खड़ा रहेगा, इसलिए कर्म है, वही आत्मा है। आहाहा! ऐसा वह कहता है। पूर्व अवयव - अनादि जिसका अवयव अर्थात् कर्म का भाग - क्रिया है न भ्रमण की-उसका कारण कर्म है, वह पूर्व अवयव है और अनन्त जिसका भविष्य का-अनन्त-अनन्त काल ऐसा ही रहेगा, आहाहा! क्योंकि कर्म से अन्य कोई जीव दिखायी नहीं देता। कर्म ने ज्ञान की दशा हीन की, कर्म ने ज्ञान की दशा हीन करके कर्म इसे भटकाता है - ऐसा कहता है। आहाहा!

श्रोता : कर्म से राजा, कर्म से रंक, कर्म ने डाला आड़ा (टेड़ा) अंक (- ऐसा आता है न) ?

पूज्य गुरुदेवश्री : ये सब बातें (हैं)। दर्शनमोहनीय कर्म है, उससे मिथ्यात्व होता है; भूतकाल में भी उसके कारण हुआ है और भविष्य में भी उसके कारण होगा - यही वस्तु है, आत्मा उससे कोई भिन्न है, आहाहा! (ऐसा नहीं है।) ज्ञानावरणी कर्म के कारण गत काल में भी ज्ञान की हीन अवस्था-परिभ्रमण की हुई, वह कर्म के कारण है और ऐसी

की ऐसी हीन अवस्था भविष्य में भी रहेगी। वह परिभ्रमण का कारण (है), उसका कारण भी कर्म ही है। आहाहा! कठिन परन्तु.. यह कर्मकाण्ड का स्पष्टीकरण किया है। यह चारित्रमोह कर्म है, वह यहाँ चारित्रदोष उत्पन्न कराकर.. कराया है और करायेगा; इसलिए यही जीव है (– ऐसा अज्ञानी मानते हैं।) आहाहा!

वेदनीयकर्म के कारण सुख-दुःख के संयोग और फिर अन्दर मोह के कारण सुख-दुःख की वृत्ति करता है – यह सब कर्म के कारण है। भूत (काल) में (ऐसा) था और भविष्य (काल) में रहेगा, परन्तु कोई इससे – सुख-दुःख की कल्पना से और सुख-दुःख के संयोग से भिन्न आत्मा है – ऐसा है नहीं कुछ! आहाहा!

श्रोता : शास्त्र में आता है न – कम्मो वलियो धम्मो बलियो...।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह नहीं। कर्म बलियो, वह तो भावकर्म बलियो (बलवान) की बात की है। किसी समय, विकृत अवस्था है, उसका बल है और किसी समय स्वभाव की अवस्था का बल है – ऐसा कहा है। आहाहा!

कर्म जड़ है, अजीव है, जो आत्मा को स्पर्श ही नहीं करते; आत्मा उन्हें स्पर्श नहीं करता। 'कर्म बिचारै कौन भूल मेरी अधिकाई' – नहीं आता?

श्रोता : यह तो एक-दो जगह आता है....

पूज्य गुरुदेवश्री : जगह, जगह यही है। आहाहा! मेरी भूल मैंने की; कर्म ने नहीं करायी। आहाहा! मलिनता की जो पर्याय है, वह मैंने मेरे स्वभाव से विपरीत मैंने की है, कर्म ने नहीं करायी है। वह कहता है – कर्म ने करायी है और यह कर्म का अंश है, ऐसा का ऐसा यह कर्म का अंश रहेगा; ऐसे का ऐसे परिभ्रमण कर्म के कारण रहनेवाला है; इसलिए कर्म, वह जीव है.. आहाहा! ऐसा है। परन्तु (इसे) फुर्सत कहाँ है ऐसा सब निर्णय करने की। शास्त्र में आवे लो! कि ज्ञानावरणी कर्म ज्ञान को रोकता है, दर्शनावरणी कर्म दर्शन को रोकता है, निद्रावरणी के कारण नींद आती है! लो, ठीक! यह तो निमित्त के कथन हैं, उससे होता है – ऐसा नहीं है। निद्रा में प्रमाद है, वह तो स्वयं का दोष है, वह निद्रावरणीय ने नहीं कराया है।

श्रोता : उदीरणा से आती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : उदीरणा अर्थात् स्वयं विपरीतता करता है। पर्याय में विपरीतता करता है इसलिए; कर्म के कारण नहीं। आहाहा!

यही विवाद उठा था न, हमारे (संवत्) ७१ में, पहले 'लाठी' के चातुर्मास में (संवत्) ७१ (में) चार महीने उपवास थे एकांतरा – एक दिन उपवास एक दिन भोजन और दूसरे दिन एक बार खाना, चारों ही महीने, हाँ! 'लाठी'। शास्त्र का उपधान करते थे – मैं (और) फिर उसके कारण हमारे गुरु हीराजी महाराज और मूलचन्दजी – तीनों उपवास करते चारों महीने के। उसमें भगवती (सूत्र) पढ़ते थे, उसमें से यह आया – मैंने कहा – देखो! कर्म से आत्मा में विकार होता है – यह बात झूठ है, मिथ्या है, कहा।

श्रोता : भगवती (सूत्र) में से निकाला।

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवती (सूत्र), उसमें से निकाला था। संशय मिथ्यात्व है, वह कर्म के कारण नहीं – कहा देखो! इस अपनी विपरीत श्रद्धा के कारण मिथ्यात्व है, कर्म के कारण नहीं तथा उलटी श्रद्धा से मिथ्यात्व है और सुलटे पुरुषार्थ से मिथ्यात्व का नाश करके सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है। उसे मिथ्यात्व में कर्म की कोई अपेक्षा नहीं है और समकित में कर्म के अभाव की अपेक्षा भी उसे नहीं है। आहाहा! खलबलाहट हो गयी थी। (संवत्) ७१ की साल है, ६३ वर्ष हुए, खलबलाहट – खलबलाहट! वे हमारे गुरुजी हीराजी महाराज थे, वे कुछ नहीं बोले विचारे, परन्तु दामोदर सेठ एक गृहस्थ थे, उस समय दस लाख की पूँजी थी। खलबलाहट.. खलबलाहट.. यह बिना डोरे की पड़ाई (पतंग) उड़ी.. ऐसा हमारे गुरु कहते नहीं, ऐसा हमने कभी सुना नहीं, यह नया कहाँ से निकाला? कुछ नया नहीं भाई! यह वस्तु के स्वरूप की विपरीतता स्वयं करता है; कर्म से नहीं, बिल्कुल नहीं, कहा – किंचितमात्र नहीं। उल्टे पुरुषार्थ से विकार और सुल्टे पुरुषार्थ से विकार का नाश, बस! यह बात है।

श्वेताम्बर के शास्त्र में सब गड़बड़ है। यही बात हुई थी न, रामविजय के साथ। जेठालाल खेड़ावाले (ने) यहाँ का सुना, ओह! यह बात दूसरी लगती है! पचास प्रश्न श्वेताम्बर साधु और आचार्य के लिये निकाले कि यदि अपने में से यह मिल जाए तो फिर मेरे सम्प्रदाय बदलना मिटे। पचास प्रश्न रखे – एक व्यक्ति ने जवाब दिया किन्तु उल्टा;

तो फिर रामविजय के पास गये। रामविजय को जेठाभाई ने चर्चा की (तो) रामविजय ने कहा – पहले तुम्हें यह मान्य है कि कर्म से जीव को विकार होता है – यह मान्य है? फिर चर्चा करेंगे। कहो, वह बड़ा आचार्य रामविजय। इन्होंने कहा – भाई! हमें यह मान्य नहीं, कर्म से विकार होता है। वह विकार स्वयं से होता है। तब अपने को चर्चा करके क्या काम है? कर्म से विकार होता है – ऐसा मानों तो चर्चा करते हैं, कहो। आहाहा!

इसी प्रकार 'लीमड़ी' में वे साधु आये थे। कैसे? चन्द्रशेखर, दो साधु थे न? दो साधु थे और दो-तीन गृहस्थ थे। गृहस्थ बिचारे नरम थे, साथ में खड़े थे। उन्होंने कहा कि अपने चर्चा करते हैं। मैंने कहा – देख भाई! हम किसी के साथ चर्चा नहीं करते। तब वे बोले – इस चश्में के बिना दिखता है? यह चर्चा हो गयी – कहा। यह चश्मा है तो दिखता है या नहीं? यह परद्रव्य यहाँ है तो सुमन दिखता है या नहीं? कहा – ऐसा नहीं है, बापू! देखने की पर्याय जीव स्वयं अपने से करता है, तब इसे निमित्त कहा जाता है। आहाहा! इसे तो बहुत वर्ष हुए। पहले साल होगा? पहले विहार में भाई वहाँ थे, तब जंबकभाई खड़े थे। आहाहा! अरे! तुम चर्चा नहीं करोगे तो तुम्हारी महत्ता क्या रहेगी? कहा – भाई! हमारी महत्ता कुछ नहीं; हम तो जहाँ हैं वहाँ हैं.. ऐसा कहते हैं। ऐसा कहा कि तुम सिंह हो तो मैं सिंह का बच्चा हूँ। भाई! हम कुछ कहते नहीं, बापू! हम सिंह हैं।

चन्द्रशेखर है न, जीवप्रताप का भतीजा, (उसने) दीक्षा ली है, सब श्रद्धा-भ्रष्ट। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात! यह तो पूरा श्वेताम्बर सम्प्रदाय ही गृहीत मिथ्यात्व से खड़ा हुआ है। कठोर बात है, बापू! आहाहा! (वहाँ तो) कर्म से होता है, बस! यह कर्म से होता है..। यहाँ कहते हैं – कर्म से होता है और उसके कारण मैं भटकता हूँ – ऐसा माने तो वह मिथ्यादृश्टि है – अत्यन्त झूठ है। उसने यह कहा कि इसके कारण ऐसा होता है, इसके कारण ऐसा हाता है... यहाँ इनकार करते हैं कि अज्ञानी ऐसा मानते हैं, कर्म के कारण मैं भटका। यह कर्म का अवयव जो भटकाता है, कर्म भटकायेगा – यह कर्म है – ऐसा मानता है, वह मूढ़ और अज्ञानी है – ऐसा सिद्ध किया है। कठोर बात है, बापू! और स्थानकवासी तो उसमें से – श्वेताम्बर में से निकले हैं; वे तो फिर अधिक भ्रष्ट हैं। उनमें फिर तेरापंथी निकले, वे फिर अधिक भ्रष्ट (हैं)। तुलसी, तुम्हारे गाँव का-लाडनू का है न! क्या करें विचारे? उन्हें मिला नहीं और जो परम्परा मिली, उस प्रकार माना! आहाहा!

अरे ! यहाँ यह कहते हैं, अज्ञानी ऐसा मानता है, है ? कि पूर्व अवयव वह कर्म का ही भाग है। आहा ! भटकने का और भविष्य में भी भटकने का भाव, वह कर्म का ही भाग है। उसके-कर्म के कारण भटके और वह कर्म है, वही जीव है। आहाहा ! है ? बहुत गजब बात की है ! अमृतचन्द्राचार्य ने मूल श्लोक (गाथा) का पाठ है इसमें, उसकी टीका की है न ? भगवान कुन्दकुन्दाचार्य के श्लोक (गाथा) में यह है। आहाहा ! है न यह ? **जीव अज्झवसाणं कम्मं च तहा परुवेंति।**

पहली गाथा का चौथा पद - **कम्मं च तहा परुवेंति** - कर्म को आत्मा मानता है, अर्थात् परिभ्रमण का कारण कर्म है और परिभ्रमण के कारण से परिभ्रमण है, इसलिए कर्म, वह जीव है। आहाहा ! अब क्या हो भाई ! कठोर बात है, बापू ! किसी ऐसे जीव को वह नहीं, इस प्रकार का इसे मिला है न ? मिला है न ? आहाहा !

यहाँ ऐसा कहते हैं - कर्म है, वही परिभ्रमण का कारण है और परिभ्रमण करता है, वह भी कर्म के कारण; इसलिए कर्म, जीव है - ऐसा अज्ञानी - नपुंसक जीव, अत्यन्त विमूढ़ जीव (मानते हैं।) आहाहा ! दो शब्द है - नपुंसकपने, है न ? **क्लीबत्वेन - अत्यन्त विमूढा:** - दो शब्द संस्कृत में हैं। **क्लीबत्वेन - अत्यन्त विमूढा:** - संस्कृत है-पहली लाईन, है न ? **नपुंसकता से अत्यन्त विमूढ** - ऐसा शब्द है। आहा ! यहाँ तो शब्द-शब्द का अर्थ है न ? संस्कृत में है।

बस, वह रामविजय कहे - कर्म से विकार होता है - ऐसा तुम मानो तो चर्चा करते हैं। वह यह बात है, आहाहा ! और यह प्रश्न हुआ था न, वहाँ सुमनभाई और अपने जज कनुभाई.. जज-जज, अभी रिटायर्ड हो गये। सरकार ने अहमदाबाद में से रद्द किया, कुछ खटपट होगी। ये दोनों व्यक्ति पहले यहाँ थे न ? बहुत वर्ष पहले की बात है; फिर यहाँ से सुनकर गये रामविजय के पास - उनके गुरु के पास; उन्हें कहे कि आत्मा पर का कुछ नहीं करता। वह कहे कि परमाणु का नहीं करता, शरीर का करता है। परमाणु छोटा है न - ऐसा बारीक है न,उसे नहीं कर सकता, परन्तु यह जो शरीर है, उसका कर सकता है - ऐसा। भगवान भी, ऐसे कि वाणी ग्रहण करते हैं और फिर निकालते हैं, भाषा। ये कहें - यह हमारी मान्यता नहीं है। उन लोगों में चीज ही ऐसी है - कर्म का ही पूरा लेखन है।

सूयगडांग की पहली गाथा है – 'बुजेव जटीमटिया' कर्म को जानो ऐसा वहाँ है, 'बंधनम् परिहियाणयां' – ऐसी वहाँ पहली गाथा है – 'बन्ध को जान' 'कर्म के बन्धन को जान।'

श्रोता : द्रव्यकर्म लेना या भावकर्म।

पूज्य गुरुदेवश्री : जड़, जड़ का बन्धन है, उसे जान।...शब्द भूल गये (हैं), उस समय कण्ठस्थ था। (हमने) कहा – इसमें भूल है। आहाहा! इसमें बात ऐसी है, भाई! जीव अपने को भूलकर अपनी पर्याय में भूल करता है। कर्म के कारण है, तो उस कर्म के कारण विकार और कर्म के कारण परिभ्रमण, कर्म के कारण चौरासी के अवतार तो वह कर्म के कारण है – ऐसा वे लोग मानते हैं। आहाहा! भारी कर्मी जीव ही भारी कर्मी मिथ्यात्व सेवे, वह भारी कर्मी है। है? यह क्रिया, **उसरूप से क्रीड़ा करता हुआ,..** वह परिभ्रमण की क्रिया – ऐसे उसरूप क्रीड़ा करता हुआ **(जो) कर्म, वही जीव है,..** क्योंकि परिभ्रमण के कारण के **कर्म बिना कोई भिन्न जीव देखने में नहीं आता..** ऐसा कहते हैं। दो (बोल हुए)।

कोई कहते हैं कि तीव्र-मन्द अनुभव से भेदरूप होनेवाले.. रागरूप रस से भरे हुए मन्द और तीव्र, मन्द और तीव्र, बस! यही आत्मा है। राग की मन्दता, वह आत्मा और राग की तीव्रता, वह आत्मा। आहाहा! **तीव्र-मन्द अनुभव से भेदरूप होनेवाले (दुरन्त) जिसका अनन्त दूर है..** विकार का अन्त कहाँ है, कहते हैं। अन्त न हो सके – ऐसा जो तीव्र-मन्द भाव, आहाहा! **रागरूप रस से भरे हुए अध्यवसानों की जो सन्तति (परिपाटी) वही जीव है..** आहाहा! मन्दभाव-शुभयोग और तीव्रभाव-अशुभयोग, बस! वही जीव है।

श्रोता : वह पर्याय को जीव मानता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : इस विकृत को जीव माना है। आहाहा! बहुत कठिन काम है, भाई! अनन्त-अनन्त पुरुषार्थ चाहिए। आहाहा! यह राग का परिणाम मन्द होवे तो भी मैं नहीं और तीव्र होवे तो भी मैं नहीं, यह कोई साधारण बात नहीं है, बापू! मैं तो ज्ञायक चैतन्य ज्योतिस्वरूप हूँ। उसमें तीव्र-मन्द राग का कोई अवकाश ही नहीं है। आहाहा!

यहाँ तो यह कहते हैं कि पंचमकाल में शुभयोग ही होता है; मन्द राग, वह (ही) पंचमकाल में होता है, अर्थात् पंचमकाल में अजीवपना होता है। वस्तु की स्थिति ऐसी है,

हों! किसी व्यक्ति का अपने को काम नहीं है, यह तो उसका स्पष्टीकरण होता है। आहाहा! दृष्टि का बड़ा अन्तर.. जहाँ दृष्टि ही विपरीत है, वहाँ फिर व्रत और तप आये कहाँ से वहाँ? आहाहा! तीव्र-मन्द **रागरूप रस से भरे हुए..** चाहे तो तीव्र-अशुभराग हो या मन्दराग हो, परन्तु उस राग का रस है उसमें, आत्मरस नहीं, **वही आत्मा है..** हमारे तो बस! शुभयोग से कल्याण होगा - ऐसा माननेवाले, शुभयोग को आत्मा मानते हैं, राग की मन्दता को आत्मा मानते हैं। आहाहा! कहो, चन्दुभाई! ऐसा सूक्ष्म है जरा! अरे! भव का अन्त लाने की बातें बापू! आहाहा! अन्दर भगवान-प्रभु तो राग की मन्दता से भी भिन्न है, उसे आत्मा कहते हैं। राग की मन्दता, वह आत्मा नहीं है; वह तो वास्तव में पुद्गल का परिणाम है। आहाहा! राग को पुद्गल का परिणाम - अचेतन कहा है न! आहाहा! इस अपेक्षा से, हों! अन्य (लोग) कहते हैं - कर्म से (राग) होता है - ऐसा नहीं। स्वभाव में (राग) नहीं है और इसलिए राग मन्द होता है, वह इस अपेक्षा से पुद्गल का परिणाम है। पुनश्च कोई ऐसा कहे कि पुद्गल के कारण हुए, उसके कारण भटकना होता है - ऐसा नहीं।

अरे! यह! पण्डितजी! ऐसे सब भंग और भेद। एक ओर कहते हैं कि मन्द परिणाम भी मेरे पुरुषार्थ और उल्टे पुरुषार्थ से होता है, उस कर्म से नहीं, और वह मन्द पुरुषार्थ से होता है, वह मेरा स्वरूप नहीं। आहाहा! ऐसा जो सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान, वह चैतन्य के अवलम्बन से होता है, वह ऐसा मानता है कि राग की मन्दता, मेरी नहीं है। राग की मन्दता से मुझे लाभ हो, वह मैं नहीं। आहाहा! ऐसा कि यह व्रत, तप, और भक्ति करते हैं, यह शुभभाव है; इस शुभभाव से शुद्धता होगी - तो इसका अर्थ यह हुआ कि राग का तीव्र रस और मन्द रस से अरागीपना होगा। आहाहा! हेय माने तो वह तो हो गया.. वह मेरा नहीं; होता है, तथापि ज्ञान जानता है कि मेरी चीज-वस्तु की चीज नहीं है; पर्याय की कमजोरी से हुआ है, वह कर्म के कारण नहीं हुआ। यहाँ तो सर्वस्व राग की तीव्रता और मन्दता, वह सर्वस्व है; फिर कोई राग रहित भगवान आत्मा है - यह हम नहीं जानते, कहते हैं। आहाहा! सब राग की क्रीड़ा है-मन्द राग या तीव्रराग। जो इस राग में राग का रस पड़ा है, बस! वही आत्मा है; उससे फिर अलग आत्मा हम जानते नहीं, मानते नहीं। आहाहा!

एक शब्द आता है बहिन के उसमें (वचनामृत में) कि 'राग से रहित होऊँगा तो

शून्य हो जाऊँगा' – शुभयोग छोड़ दूँगा तो शून्य हो जाऊँगा। है न? 'शुभराग छोड़ दूँगा तो शून्य हो जाऊँगा।' – ऐसा नहीं, प्रभु! शुभराग छूटेगा तो वहाँ निवड़ता (प्रगटता) ज्ञान और आनन्द की होगी; शून्यता नहीं होगी – ऐसा कहते हैं। शुभ ही भाव है पूरा; यह अब उसे छोड़ दूँगा तो शून्य हो जाऊँगा। ऐसा यहाँ कहते हैं; वही कहते हैं कि शुभभाव है, वही स्वयं है, उसे छोड़ देगा तो शून्य हो जाएगा.. परन्तु उसे छोड़ देगा तो आनन्द की दृढ़ता होगी। आहाहा! शुभ से मानो मैं हूँ, उस शुभ से और उसे छोड़ दूँगा तो शून्य हो जाऊँगा (– ऐसा अज्ञानी को लगता है।) आहाहा! भाई! भिन्न ही है; छोड़ना नहीं; छूटा हुआ ही है। आहाहा! शुभराग (तो) ज्ञायकभाव से भिन्न ही है, एक हुआ ही नहीं; आहाहा! उसे यहाँ कहते हैं कि हमें तो मन्द और तीव्र रागरस बस! यह एक मन्द और तीव्र, मन्द और तीव्र, बस! फिर राग का अभाव करना और ऐसा आत्मा, वह में नहीं (जँचता)। आहाहा! ऐसा काम है। विशेष कहेंगे, लो! (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ११४ गाथा ३९ से ४४ दिनाङ्क २१-१०-१९७८, शुक्रवार
आसोज कृष्ण १, वीर निर्वाण संवत् २५०४

समयसार, ३९ से ४३ गाथा है न? तीन बोल चले, तीन! क्या चलता है? कि यह अन्दर आत्मा है, वह ज्ञानानन्द सहजात्मस्वरूप शुद्ध चैतन्यघन है। उसे नहीं जाननेवाले, राग के भाव की एकताबुद्धि – ऐसा जो अध्यवसाय (है), उसे आत्मा मानते हैं, (वे) अज्ञानी हैं।

श्रोता : विकार की पर्याय को आत्मा मानते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : राग की पर्याय है न, अध्यवसाय-एकताबुद्धि; भगवान तो अन्दर उस राग से भिन्न है। आहाहा! वह तो सच्चिदानन्द शुद्ध चैतन्यघन ऐसा तत्त्व है, परन्तु उसका पता नहीं है और यह वस्तु (बात) चलती नहीं है। यह तो क्रियाकाण्ड करो और यह करो और वह करो.. आहाहा! इससे यहाँ कहते हैं कि कितने ही भगवान आत्मा को ऐसा मानते हैं कि यह राग और पुण्य-पाप से मलिन एकताबुद्धि, वह आत्मा (है।) हमें तो इससे भिन्न कोई आत्मा ज्ञात नहीं होता; इसलिए वही आत्मा है – ऐसा कहते हैं। अज्ञानी ऐसा मानता है। (अज्ञानी की मान्यता के) तीन बोल आ गये हैं।

दूसरा बोल—हमारे तो यह कर्म है, इससे परिभ्रमण की क्रिया होती है, वह कर्म, वही आत्मा है। दूसरा कोई आत्मा अलग है, वह हमें तो ज्ञात नहीं होता। आहाहा! ऐसा अज्ञानियों का अन्तर का कुतर्क है। आहाहा! कर्म का एक अवयव – अंश पूर्व का, परिभ्रमण का कारण हुआ और उसका अंश परिभ्रमण का कारण होगा, इसलिए यह कर्म है, वही आत्मा है; इससे फिर परिभ्रमण से भिन्न, क्रियावाला आत्मा – ऐसा हमें ज्ञात नहीं होता – ऐसा अज्ञानी अनादि से मिथ्याश्रद्धा के कारण मान रहा है। आहाहा!

श्रोता : इस व्याख्या का उसे पता ही नहीं न!

पूज्य गुरुदेवश्री : विचार ही नहीं किया न! ऐसा अन्दर भगवान सच्चिदानन्द प्रभु; सत् अर्थात् ज्ञान और आनन्द का स्वरूप शाश्वत् – ऐसी चीज अन्दर भिन्न है। आहाहा! यह राग की क्रिया और जो एक समय वर्तमान की पर्याय जो है न, पर्याय – अवस्था, उससे अन्दर समीप तत्त्व जो है, वह अखण्डानन्द प्रभु भिन्न है। आहाहा! उसे नहीं जानकर, कर्म को ही आत्मा माननेवाले मूढ़ मिथ्यादृष्टि जीव अनादि से परिभ्रमण करते हैं। दो बोल हुए। यह (अब) तीसरा बोल।

राग की मन्दता या तीव्रता, वह आत्मा; हमको फिर आत्मा, मन्दराग.. राग मन्द हो शुभरागरूप से.. तीसरा बोल है, तीसरा.. राग मन्द हो या तीव्र हो, उससे भरा हुआ भाव, वही जीव है। यह राग की मन्दता और तीव्रता, यह तो हमें दिखती है। इस राग की मन्दता और तीव्रता से भिन्न कोई आत्मा हमें तो दिखता नहीं। आहाहा! तीन बोल तो हो गये हैं।

यह तो चौथा बोल जरा – चौथा बोल – ऐसा कहते हैं। हैं? **नयी और पुरानी अवस्था..** यह शरीर-शरीर, जीर्ण अवस्था होती है, युवा अवस्था होती है—नवीन (अवस्था), यह अवस्था, वह आत्मा है। अब आत्मा उससे भिन्न है; आहाहा! शरीर, वह आत्मा। क्योंकि शरीर की सभी क्रियाएँ हमारे आत्मा से होती है; इसलिए शरीर की क्रियाएँ, जो कुछ – शरीर जीर्ण हो या पुष्ट हो, परन्तु यह आत्मा, शरीर है; आत्मा, शरीर से भिन्न हमें तो दिखायी नहीं देता – ऐसी अज्ञानी की मान्यता है। आहाहा! (अज्ञानी) अनादि से ऐसा मान रहा है। यह शरीर तो मिट्टी है, धूल है, अजीव है, जड़ है; भगवान तो अन्दर चैतन्य मन्दिर में आनन्दकन्द प्रभु विराजमान है। आहाहा! उसका इसे पता नहीं है; इस कारण शरीर को ही आत्मा (मानता है)। वह परदेशी राजा के अधिकार में ऐसा आता है न, भाई!

ऐसा कि.. क्या कहलाता है ? तीर.. तीर.. तीर यदि जीर्ण हो तो जीर्ण काम करे, भले वह आत्मा अन्दर हो परन्तु जीर्ण काम कर सके - ठीक से काम कर सके नहीं और तीर ठीक से पक्का हो तो आत्मा अन्दर जो हो मार सके, इसलिए तीर वही आत्मा (है), वैसे इस शरीर की अवस्था जीर्ण-मन्द हो, वही आत्मा। आहाहा! यह परदेशी में आता है। भाई! तब तो व्याख्यान बहुत चला था, राजकोट में (संवत्) ८९ में बहुत-अधिक वर्ष हो गये। तीन-तीन हजार लोग! (संवत्) ८९ की साल, सम्प्रदाय में, परदेशी राजा का व्याख्यान चलता था न, (संवत्) १९८९, राजकोट-राजकोट, बाहर दशाश्रीमाली की भोजनशाला में (व्याख्यान चलता था।) तीन-तीन हजार लोग, (हॉल में) समायें नहीं इतने (लोग) थे। (सवंत्) ८९ में, पैंतालीस वर्ष हुए। उस समय दृष्टान्त दिया था। अपनी दशाश्रीमाली की भोजनशाला है न बाहर, 'वंडो' कहलाता है न, वंडो। आहाहा!

वह यहाँ ऐसा कहते हैं कि यह शरीर शिथिल होवे तो आत्मा अधिक काम नहीं कर सकता; इसलिए यही आत्मा है। शरीर मजबूत हो तो आत्मा काम एकदम कर सकता है, इसलिए यही आत्मा है। - ऐसा मूढ़ ऐसा मानता है। शरीर जीर्ण हो या शरीर पुष्ट हो; अन्दर भगवान तो आनन्द का नाथ प्रभु, सच्चिदानन्द प्रभु, ज्ञान का सागर, आनन्द का सागर विराजमान है। भाई! तुझे पता नहीं है। आहाहा! इसके भान बिना तेरे जन्म-मरण मिटें - ऐसा नहीं है। आहाहा! बापू! चौरासी के अवतार कर-करके (तेरा) कचूमर निकल गया है, इस ऐसी श्रद्धा और ऐसी मान्यता से। आहाहा! तीन बोल हो गये हैं;

यह चौथा—**पुरानी और नयी अवस्था - इत्यादि भाव से प्रवर्तमान नोकर्म ही जीव है, क्योंकि शरीर से अन्य अलग कोई जीव दिखायी नहीं देता..** ऐसा अज्ञानी मानताा है। है न ? चौथा बोल। भाई! दरबार हमारे पुराने परिचित हैं। 'चूड़ा' के दीवान थे, तब गये न व्याख्यान में, पहले-पहले गये न, ९९ के साल में, तब दीवान थे न वहाँ 'चूड़ा' में। ९९ में पहले परिवर्तन करके विहार में निकले थे न, तब दरबार आते थे, नाम भूल गये हैं.. यह तत्त्व कहाँ (अन्यत्र कहाँ है) ? यह तो जगत की प्रवृत्ति के कारण और इससे भी आगे बढ़कर.. अब दूसरा कहते हैं -

चौथे के बाद, अब पाँचवाँ बोल—**कोई यह कहते हैं कि समस्त लोक को पुण्य -पापरूप से व्याप्त करता हुआ कर्म का विपाक ही जीव है..** आहाहा! हमें तो अन्दर

शुभभाव और अशुभभाव हो, इसके अलावा अलग आत्मा ज्ञात नहीं होता; **वही आत्मा है..** ऐसा कहते हैं। आहाहा! शुभभाव, वह पुण्य है। दया, दान, व्रत, भक्ति आदि भाव, वह पुण्य है; हिंसा, झूठ, चोरी, विषय, भोग-वासना आदि पापभाव हैं; अतः हमें तो यह पुण्य-पापरूपी भाव - जो शुभाशुभभाव है, उनसे आत्मा भिन्न है - ऐसा तो हमें ज्ञात होता नहीं। आहाहा! आहाहा! है? **समस्त लोक को पुण्य-पापरूप से व्याप्त करता..** पुण्य करे तो उसे स्वर्गादि मिलें, पाप करे तो नरकादि, परन्तु यह पुण्य और पाप में रहनेवाला, वह आत्मा है। पुण्य-पाप के भाव से भिन्न है - ऐसा हमें ज्ञात नहीं होता। देखो न! आहाहा! अभी आया था न? एक श्रुतसागर दिगम्बर है, वह कहता है कि अभी पंचमकाल में तो शुभयोग ही है। अररर! शुभयोग से भिन्न चीज अभी है ही नहीं (- ऐसा कहता है।) दिगम्बर शान्तिसागर की परम्परा में हुआ। प्रभु! ऐसा कहा यह। यह तो तर्क है, इसकेअपहले से यह तो (ऐसी मान्यता तो) चली आती है। भाई! शुभभाव - दया, दान, व्रत ये परिणाम और हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग - वासना-काम-क्रोध, यह पाप - दोनों से भिन्न कोई आत्मा हमें तो दिखायी नहीं देता। दोनों (शुभाशुभ-पुण्यपाप), वह आत्मा है। आहाहा! है?

समस्त लोक को.. पुण्य-पाप पूरे लोक में पूरा-सब व्यापक है। पुण्य-पाप से स्वर्ग-नरक मिलते हैं न, वही आत्मा है। आहाहा! **पुण्य-पापरूप से व्याप्त करता...** देखो! यह कर्म का विपाक-यह कर्म का पाक (उदय) -फल, शुभ-अशुभभाव, यह पुण्य-पाप, यह कर्म का पाक है; हमें तो वही आत्मा है—ऐसा लगता है, कहते हैं। आहाहा! अभी तो कहते हैं न कि दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के भाव, वे धर्म हैं और धर्म का कारण है; उसे ही वे जीव मानते हैं। आहाहा! वह यह दलील है। बाद में सब उत्तर देंगे, यह तो अभी इसकी (-अज्ञानी की) दलील है। **पुण्य-पापरूप से व्याप्त.. कर्म का विपाक..** बस! आहा! भगवान अन्दर सच्चिदानन्द प्रभु ज्ञान के नूर के पूर से भरा है; उसे न जानकर, इस पुण्य-पाप भाव को ही आत्मा मानता है; आहाहा! — यह अनादि का ऐसा है। **पुण्य-पापरूप से..** शुभाशुभभाव से **अन्य अलग कोई..** देखा? शुभाशुभभाव... शुभ अर्थात् दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का भाव, वह शुभ और हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग-वासना, वह अशुभ, इनसे **अन्य अलग आत्मा है..** वह तो हमें ज्ञात नहीं देता; हमें तो यह शुभाशुभभाव है, वही जीव है (— ऐसा ज्ञात होता है।) आहाहा! यह पाँचवाँ बोल हुआ न?

(छठवाँ बोल—) **कोई कहते हैं कि साता-असातारूप से व्याप्त तीव्र-मन्दत्वगुणों से भेदरूप होनेवाला कर्म का अनुभव ही जीव है...** आहा! अन्दर में जो सुख-दु:ख की कल्पना का वेदन है, वह जीव है। दूसरा सुख-दु:ख की कल्पना से भिन्न अन्दर कोई चीज है, वह तो हमें ज्ञात नहीं होती। आहाहा! सातावेदनीय से अनुकूल संयोग मिले और उसमें कल्पना होवे कि मुझे ठीक है; असाता के उदय से प्रतिकूल संयोग मिले, उसमें लगे कि मुझे ठीक नहीं है; इस सुख-दु:ख की कल्पना के अलावा भिन्न चीज हमें तो भासित नहीं होती। आहाहा! अरे! भगवान! क्या करता है यह तू? आचार्य स्पष्टीकरण करते हैं। सब (स्पष्टीकरण) करेंगे। भाई! तू यह मानता है, वह तू अजीव को जीव मानता है। आहाहा! यह शुभ-अशुभाव वास्तव में तो आस्रव हैं, भावबन्ध है, अजीव है। आहाहा! निश्चय से तो वे पुद्‌गल के परिणाम हैं। भगवान! तेरे परिणाम नहीं हैं; तू तो शुद्ध आनन्द का नाथ है न, नाथ! प्रभु! आहाहा! तू तो ज्ञान का पूर है अन्दर; जैसे पानी का पूर होता है, वह ऐसा (उल्टा) होता है। यह ज्ञान.. ज्ञान.. ज्ञान.. ज्ञान.. ज्ञान.. ज्ञान.. आनन्द.. आनन्द.. आनन्द.. आनन्द—ऐसा ध्रुव पूर है तू। आहाहा! अरे..रे! किसने विचार किया है? निवृत ही कहाँ है? आहाहा! फुर्सत ही कहाँ है? आहाहा! अन्दर भगवान ज्ञान-स्वभावरूपी दल चैतन्य रसकन्द को आत्मा मानना (चाहिए), उसके बदले यह कहता है—हमारे तो पुण्य-पाप के भाव की—साता-असाता की कल्पना, सुख-दु:ख की (कल्पना).. भाव सुख अर्थात् यह कल्पना का सुख, वह आत्मा लगता है। हमें तो इससे भिन्न फिर आनन्दस्वरूप आत्मा तो हमें कहीं दिखता नहीं। आहाहा!

(सातवाँ बोल)—**कोई कहते हैं कि श्रीखण्ड की भाँति उभयरूप मिले हुए आत्मा और कर्म, दोनों ही मिलकर जीव हैं..** हमारे तो आत्मा और कर्म - दो होकर जीव है। फिर कर्म अलग और आत्मा अलग.. आहाहा! है? जैसे श्रीखण्ड—दही और शक्कर.. दही और शक्कर होते हैं न श्रीखण्ड में? वैसे यहाँ दही समान कर्म, शक्कर - समान आत्मा, दो होकर यहाँ तो आत्मा है। फिर कर्म से भिन्न अन्दर आत्मा भगवान! आहाहा! ये क्रियाकाण्डी यही मानते हैं न? शुभभाव की क्रियाएँ, वे आत्मा और वह आत्मा का धर्म। आहाहा! यह अज्ञानियों की दलील (है, वह) यही है, कहते हैं। आहाहा! ऐसा है। श्रीखण्ड की भाँति आत्मा और कर्म, दोनों मिले हुए समस्तरूप से मिले हुए (है)

कर्म से भिन्न अलग कोई जीव दिखाई नहीं देता। सात बोल हुए।

(आठवाँ बोल)—**कोई कहते हैं कि अर्थक्रिया में (प्रयोजनभूत क्रिया में) समर्थ—ऐसा जो कर्म का संयोग,..** यह आठों ही कर्मों का संयोग, आहाहा! **वह ही जीव है, क्योंकि जैसे आठ लकड़ियों के संयोग से भिन्न अलग कोई पलंग दिखाई नहीं देता,..** पलंग होता है न पलंग ? उसके चार पाये और चार ईस.. वह क्या कहलाती है ? दो तरफ दो लकड़ियाँ और चार पाये—आठ वस्तु (लकड़ियाँ) है, वह पलंग है। उस पर सोनेवाला जीव फिर अलग है। आहाहा! हमारे तो आठ कर्म हैं, जो उनका संयोग है, वही आत्मा है। आहाहा!

श्रोता : संयोग के अतिरिक्त दूसरा कोई पदार्थ देखा नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : देखा नहीं; इसलिए तो कहता है न ? इसीलिए उसे मानता है न ? भाई! कर्म के रजकण (तो) जड़ हैं। प्रभु! तेरी चीज तो अन्दर भिन्न है। वस्तु है, वह तो कर्म का स्पर्श नहीं करती—ऐसी चीज है अन्दर। ज्ञानानन्द प्रभु, प्रज्ञा ब्रह्मस्वरूप प्रभु है। आहाहा! प्रज्ञा अर्थात् ज्ञान और ब्रह्म अर्थात् अतीन्द्रिय आनन्द। आहाहा! वह प्रभु आत्मा, इस अतीन्द्रिय ज्ञान और आनन्दस्वयप है; तो उसके बदले तू आठ कर्म के संयोग को ही आत्मा मानता है। कहेंगे, आगे जवाब देंगे।

पलंग, आठ लकड़ियाँ मिलकर पलंग हुआ; हुआ न—वे दो आड़े, दो खड़े चार; और चार पाये.. उससे अन्य कोई जीव दिखायी नहीं देता। इस प्रकार **(आठ लकड़ियाँ मिलकर पलंग बना, तब वह अर्थक्रिया में समर्थ हुआ;..)** अर्थक्रिया अर्थात् सोने के काम आया। **(इसी प्रकार यहाँ भी जानना।)** यह आठ कर्मों की स्थिति है साथ में, वही आत्मा (है।) आहाहा! **इस प्रकार आठ प्रकार तो यह कहे।**

ऐसे-ऐसे अन्य भी अनेक प्रकार के दुर्बुद्धि.. आहाहा! जिनकी बुद्धि खराब (हैं वे) दुर्बुद्धि है; इस प्रकार इस आत्मा को ऐसा मानते हैं। आहाहा! उसने कहा न कि व्यवहार है, सिद्ध को निश्चय होता है। परन्तु फिर १५६ गाथा में तो ऐसा कहा उसे 'व्यवहारे विद्वंस वट्टंति'—विद्वान व्यवहार में वर्ते, परन्तु उनका मोक्ष नहीं है। यह सब.. गजब करते हैं। क्योंकि व्यवहार रखा सही न व्यवहार। एक तुलसी ने महिमा की थी, स्थानकवासी ने महिमा की, मन्दिर मार्गी ने की, दिगम्बर ने की। पुस्तक है न ? आहाहा!

वहाँ है। वहाँ है, परन्तु परन्तु यह वस्तु ही—अर्थ ही एकदम विपरीत किये हैं। जो समयसार का भाव है, उससे एकदम विपरीत। अब, यहाँ कहे कि स्वामीजी हमें कुछ बतायें, (उनका आशय) ऐसा कि हमने किया, उसके लिये क्या कहते हैं ? भाई ! हम केसे कहें तुझे खोटा... ऐसा हमारे कैसे कहना ! यहाँ पण्डित पूछने आये थे—यह पुस्तक ऐसे कि स्वामी(जी) के पास आयी होगी तो उसके लिये सब महिमा करते हैं तो स्वामीजी क्या कहते हैं ? क्या कहें बापू ! आहाहा ! यह राग और राग की जो क्रिया है, वह तो व्यवहार और बन्ध का कारण है। वह व्यवहार रखा है न, निश्चय तो सिद्ध में रखा है—तो फिर यहाँ क्या कहा ? 'व्यवहारे वर्ट्ठति'—वह मूढ़ जीव है। 'निश्चयनयाश्रित मुनिवरों प्राप्ति करे निर्वाण की'— आहाहा ! तो निश्चय सिद्ध को ही है या यहाँ है निश्चय ?

भगवान आत्मा.. जैसे पानी और कीचड़ है, उस कीचड़ से पानी भिन्न है; वैसे इन पुण्य-पाप के—राग के मलिन परिणामों से चैतन्य झलहल ज्योति भगवान शुद्ध चैतन्यघन भिन्न है। आहाहा ! अरे.. ! क्या हो भाई ? अभ्यास नहीं होता और सिर पर कहनेवाले मिलते हैं, उसकी हाँ.. हाँ.. करके.. निर्णय करने का समय नहीं मिलता। आहाहा ! मेरा क्या होगा ? मैं यहाँ से कहाँ जाऊँगा ? यहाँ से आत्मा तो चला जाएगा; आत्मा तो नित्य रहेगा। वह कहीं नाश हो जाता है ? आहाहा ! तो, मैंने जो इस प्रकार पर को आतमा माना तो मैं तो वहाँ पर के संयोग में ही भविष्य में भी रहूँगा.. आहाहा ! यह कहते हैं, **परन्तु परमार्थ के ज्ञाता उन्हें सत्यार्थवादी नहीं कहते**। धर्मी सन्त - निश्चय से ज्ञाता, सत्यार्थवादी, ऐसा माननेवाले को कहते हैं कि सत्य कहनेवाले नहीं, झूठ कहनेवाले हैं। आहाहा !

भावार्थ - भावार्थ है न ! **जीव-अजीव दोनों अनादि से..** एक क्षेत्र में रहे हैं। ऐसे जहाँ भगवान आत्मा है, वहाँ कर्म और शरीर साथ रहे; तथापि कोई एक हुए नहीं। आहाहा ! समझ में आया ? **संयोगरूप मिले हुए हैं। अनादि काल से ही पुद्गल के संयोग से जीव की अनेक विकारसहित अवस्थाएँ हो रही हैं।..** देखा ? यह कर्म के संयोग से इसमें (जीव में) विकार अवस्था अनादि से हो रही है। आहा ! **परमार्थदृष्टि से देखने पर, जीव तो अपने चैतन्यत्व आदि भावों को नहीं छोड़ता..** भगवान (आत्मा) है, वह चैतन्य है, आनन्द है, ज्ञान है, शान्त.. शान्त अविकारी स्वभाव है। उसकी पर्याय में - अवस्था में भले विकार है (परन्तु) वस्तु स्वयं अपने स्वरूप को नहीं छोड़ती। आहाहा ! समझ में आया ?

और पुद्गल अपने मूर्तिक, जड़त्व आदि को नहीं छोड़ता.. पुद्गल जड़ है। निश्चय से तो विकारीभाव भी जड़ है। आहाहा! वह उसके स्वभाव को नहीं छोड़ता और यह प्रभु चैतन्यमूर्ति भगवान अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता। आहा! ऐसा कहाँ भेदज्ञान? **परन्तु जो परमार्थ को नहीं जानते, वे संयोग से हुए भावों को ही..** संयोग अर्थात् कर्म का संयोग, उससे हुए भावों को ही **जीव कहते हैं..** यह पुण्य का परिणाम, वह जीव; दया, दान, व्रत के परिणाम आत्मा को लाभदायक—ऐसे अज्ञानी, जड़-पुद्गल के संयोग को अथवा संयोग से होनेवाले भाव को जीव मानते हैं। आहाहा!

क्योंकि परमार्थ जीव का स्वरूप पुद्गल से भिन्न सर्वज्ञ को दिखाई देता है.. सर्वज्ञस्वभावी परमात्मा होते हैं, उन्हें यह राग से भिन्न सर्वज्ञस्वरूपी (आत्मा) दिखायी देता है। आत्मा सर्वज्ञस्वभावी है। सर्वज्ञस्वभाव, सबको जानने-देखने के स्वभाववाला आत्मा है। आहाहा! ऐसा सर्वज्ञ भगवान जानते हैं।

अब, उसे जान, इसलिए कहेंगे—**तथा सर्वज्ञ की परम्परा के आगम से जाना जा सकता है..** आगम के वचनों से अन्दर अनुभव करे तो उसे (-आत्मा को) जाना जा सकता है कि इस राग से आत्मा भिन्न है। चाहे तो दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का भाव हो, परन्तु वह राग है, वृत्ति का उत्थान है, विकार है, विभाव है, दुःखरूप है; आहाहा! इससे भगवान भिन्न है। **इसलिए जिनके मत में सर्वज्ञ नहीं हैं..** जिनके कोई सर्वज्ञ जिनके मत में नहीं है, उन्होंने यह नहीं जाना, कल्पना से सब बातें की हैं। **वे अपनी बुद्धि से..** अनेक जान सकते हैं.. **अनेक कल्पना करके कहते हैं। उनमें से वेदान्ती..** वेदान्ती एक ही आतमा सर्व व्यापक (कहते हैं)। वह बात मिथ्या है। इसमें आठ बोल आये हैं न? आठ डाले हैं—**मीमांसक, सांख्य, योगदर्शन, बौद्धदर्शन, नैयायिकदर्शन, वैषेशिकदर्शन, चार्वाक, नास्तिकदर्शन आदि मतों का आशय लेकर आठ प्रकार तो प्रगट कहे हैं..** यहाँ ऐसा कहा इन्होंने। **और अन्य भी अपनी-अपनी बुद्धि से अनेक कल्पनायें करके अनेक प्रकार से कहते हैं, वह कहाँ तक कहा जाए?**

ऐसा कहनेवाले सत्यार्थवादी क्यों नहीं हैं?—ऐसा कहनेवाले झूठे हैं; सच्चे नहीं हैं—इसका उत्तर दिया जाता है।

गाथा ४४

एदे सव्वे भावा पोग्गलदव्वपरिणामणिप्पण्णा।
केवलिजिणेहिं भणिया कह ते जीवो त्ति वुच्चंति।।४४।।

एते सर्वे भावा: पुद्गलद्रव्यपरिणामनिष्पन्ना:।
केवलिजिनैर्भणिता: कथं ते जीव इत्युच्यंते।।

यत: एतेऽध्यवसानादय: समस्ता एव भावा भगवद्भिर्विश्वसाक्षिभिरर्हद्भि: पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वेन प्रज्ञप्ता: संतश्चैतन्यशून्यात्पुद्गलद्रव्यादतिरिक्तत्वेन प्रज्ञाप्यमानं चैतन्यस्वभावं जीवद्रव्यं भवितुं नोत्सहंते ततो न खल्वागमयुक्तिस्वानुभवैर्बाधितपक्षत्वात् तदात्मवादिन: परमार्थवादिन:। एतदेव सर्वज्ञवचनं तावदागम:। इयं तु स्वानुभवगर्भिता युक्ति:। न खलु नैसर्गिकरागद्वेषकल्माषितमध्यवसानं जीवस्तथाविधाध्यवसानात्कार्त-स्वरस्येव श्यामिकाया अतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्यविवेचकै: स्वयमुपलभ्य-मानत्वात्। न खल्वनाद्यनंतपूर्वापरीभूतावयवैकसंसरणलक्षणक्रियारूपेण क्रीडत्कर्मैव जीव: कर्मणोतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकै: स्वयमुपलभ्यमानत्वात्। न खलु तीव्रमंदानुभवभिद्यमानदुरंतरागरसनिर्भराध्यवसानसंतानो जीवस्ततोतिरिक्तत्वे नान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकै: स्वयमुपलभ्यमानत्वात्। न खलु नवपुराणावस्थादिभेदेन प्रवर्तमानं नोकर्म जीव: शरीरादतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावसय विवेचकै: स्वयमुपलभ्यमानत्वात्। न खलु विश्वमपि पुण्यपापरूपेणाक्रामन् कर्मविपाको जीव: शुभाशुभभावादति-रिक्तत्वेनान्यसय चित्स्वभावस्य विवेचकै: स्वयमुपलभ्यमानत्वात्। न खलु सातासात-रूपेणाभिव्याप्तसमस्ततीव्रमंदत्व-गुणाभ्यां भिद्यमान: कर्मानुभवो जीव: सुखदु:खाति-रिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकै: स्वयमुपलभ्यमानत्वात्। न खलु मज्जितावदुभया -तमकत्वादात्मकर्मोभयं जीव: कात्स्न्र्यत: कर्मणोतिरिक्तत्वेनान्यसय चित्स्वभावस्य विवेचकै: स्वमुपलभ्यमानत्वात्। न खल्वर्थक्रियासमर्थ: कर्मसंयोगो जीव: कर्मसंयोगा-

त्खट्वाशायिनः पुरुषस्येवाष्टकाष्ठसंयोगादतिरिक्तत्वेनान्यसय चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वादिति।

ऐसा कहनेवाले सत्यार्थवादी क्यों नहीं हैं, सो कहते हैं —

पुद्गलदरव परिणाम से, उपजे हुए सब भाव ये।
सब केवलीजिन भाषिया, किस रीत जीव कहो उन्हें॥४४॥

गाथार्थ - [एते] यह पूर्व कथित अध्यवसान आदि [सर्वे भावाः] भाव हैं, वे सभी [पुद्गलद्रव्यपरिणामनिष्पन्नाः] पुद्गलद्रव्य के परिणाम से उत्पन्न हुए हैं, इस प्रकार [केवलिजिनैः] केवली सर्वज्ञ जिनेन्द्रदेव ने [भणिताः] कहा है, [ते] उन्हें [जीवः इति] जीव ऐसा [कथं उच्यंते] कैसे कहा जा सकता है ?

टीका - यह समस्त अध्यवसानादि भाव, विश्व के (समस्त पदार्थों के) साक्षात् देखनेवाले भगवान (वीतराग-सर्वज्ञ) अरहन्तदेवों के द्वारा, पुद्गलद्रव्य के परिणाममय कहे गये हैं, इसलिए वे चैतन्यस्वभावमय जीवद्रव्य होने के लिए समर्थ नहीं हैं कि जो जीवद्रव्य, चैतन्यभाव से शून्य - ऐसे पुद्गलद्रव्य से अतिरिक्त (भिन्न) कहा गया है; इसलिए जो इन अध्यवसानादिक को जीव कहते हैं, वे वास्तव में परमार्थवादी नहीं हैं क्योंकि आगम, युक्ति और स्वानुभव से उनका पक्ष बाधित है। उसमें, 'वे जीव नहीं हैं' यह सर्वज्ञ का वचन है, वह तो आगम है और यह (निम्नोक्त) स्वानुभवगर्भित युक्ति है —

स्वयमेव उत्पन्न हुए राग-द्वेष के द्वारा मलिन अध्यवसान हैं, वे जीव नहीं हैं क्योंकि, कालिमा से भिन्न सुवर्ण की भाँति; अध्यवसान से भिन्न अन्य चित्स्वभावरूप जीव, भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है, अर्थात् वे चैतन्यभाव को प्रत्यक्ष भिन्न अनुभव करते हैं॥१॥

अनादि जिसका पूर्व अवयव है और अनन्त जिसका भविष्य का अवयव है— ऐसी एक संसरणरूप क्रिया के रूप में क्रीड़ा करता हुआ कर्म भी जीव नहीं है क्योंकि कर्म से भिन्न अन्य चैतन्यस्वभावरूप जीव, भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है, अर्थात् वे उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं॥२॥

तीव्र-मन्द अनुभव से भेदरूप होने पर, दुरन्त राग-रस से भरे हुए अध्यवसानों की सन्तति भी जीव नहीं है, क्योंकि उस सन्तति से अन्य पृथक् चैतन्यस्वभावरूप जीव, भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है, अर्थात् वे उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं॥३॥

नयी-पुरानी अवस्थादिक के भेद से प्रवर्तमान नोकर्म भी जीव नहीं है क्योंकि शरीर से अन्य पृथक् चैतन्यस्वभावरूप जीव, भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है, अर्थात् वे उसे प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं॥४॥

समस्त जगत को पुण्य-पापरूप व्याप्त करता कर्म-विपाक भी जीव नहीं है क्योंकि शुभाशुभभाव से अन्य पृथक् चैतन्यस्वभावरूप जीव, भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है, अर्थात् वे स्वयं उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं॥५॥

साता-असातारूप से व्याप्त समस्त तीव्र-मन्दतारूप गुणों के द्वारा भेदरूप होनेवाला कर्म का अनुभव भी जीव नहीं है क्योंकि सुख-दुःख से भिन्न अन्य चैतन्यस्वभावरूप जीव, भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है, अर्थात् वे स्वयं उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं॥६॥

श्रीखण्ड की भाँति उभयात्मकरूप से मिले हुए आत्मा और कर्म, दोनों मिलकर भी जीव नहीं हैं क्योंकि सम्पूर्णतया कर्मों से भिन्न अन्य चैतन्यस्वभावरूप जीव, भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है, अर्थात् वे स्वयं उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं॥७॥

अर्थक्रिया में समर्थ कर्म का संयोग भी जीव नहीं है क्योंकि आठ लकड़ियों के संयोग से (—पलंग से) भिन्न पलंग पर सोनेवाले पुरुष की भाँति, कर्मसंयोग से भिन्न अन्य चैतन्यस्वभावरूप जीव, भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है, अर्थात् वे स्वयं उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं॥८॥ (इसी प्रकार अन्य किसी दूसरे प्रकार से कहा जाए तो वहाँ भी यही युक्ति जानना।)

भावार्थ - चैतन्यस्वभावरूप जीव, सर्व परभावों से भिन्न, भेदज्ञानियों के अनुभवगोचर है; इसलिए अज्ञानी जैसा मानते हैं, वैसा नहीं है।

गाथा – ४४ पर प्रवचन

एदे सव्वे भावा पोग्गलदव्वपरिणामणिप्पण्णा।
केवलिजिणेहिं भणिया कह ते जीवो त्ति वुच्चंति।।४४।।

यह समस्त ही अध्यवसानादि भाव है,.. आठ कहे न, आठ वे सभी **विश्व के (समस्त पदार्थों के) साक्षात् देखनेवाले (वीतराग-सर्वज्ञ..)** जैन परमेश्वर.. आहाहा! **अरहन्त देवों द्वारा पुद्गलद्रव्य के परिणाममय गये हैं..** आहाहा! ये समस्त शुभ-अशुभभाव, ये पुद्गलद्रव्य के परिणाम (हैं), जीव के नहीं। आहाहा! यह सुख-दु:ख की कल्पना, पुद्गलद्रव्य के परिणाम हैं; प्रभु-जीव नहीं। आहाहा! इसके (-जीव के) होवें तो भिन्न नहीं पड़ें; भिन्न पडें, वे इसके नहीं हैं। लॉजिक से-न्याय से पकड़ना पड़ेगा या नहीं? आहाहा! अरे..रे..! अनन्त बार मनुष्यभव मिला, अनन्त बार साधु-दिगम्बर मुनि भी हुआ, परन्तु यह आत्मा अन्दर राग से भिन्न चिदानन्द प्रभु है - ऐसी दृष्टि नहीं की। आहाहा! यह कहते हैं।

पुद्गलद्रव्य के परिणाम.. देखा? **पुद्गलद्रव्य के परिणाममय..** ऐसा कहा है। आहाहा! चैतन्यमय नहीं। शुभाशुभभाव, पुण्य-पापभाव, आहाहा! ये पुद्गलद्रवय के, पुद्गलमय परिणाम, ये जड़ के परिणाम हैं; भगवान चैतन्य ज्योत के नहीं। कठिन बात है, भाई! आहाहा! भगवान जिनेश्वरदेव सर्वज्ञ परमेश्वर ने ऐसा कहा है। ऐसे तो भगवान का आधार देकर कहते हैं - इन्हें तो **पुद्गलद्रव्य के परिणाममय..** यह शुभाशुभभाव, शरीर, आठ कर्म - ये सब पुद्गलमय परिणाम हैं; आहाहा! ये चैतन्य के परिणाम नहीं हैं, यह चैतन्य की जाति नहीं है। यह पुण्य-पाप और शरीर - यह तो कुजात है। आहाहा! ये तो पुद्गलद्रव्य के परिणाममय.. आहाहा! निमित्त पुद्गल है न? निमित्त के आधीन हुए भाव, ये सब पुद्गलमय है - ऐसा यहाँ कहा है। जैसे, शरीर पुद्गल, आठ कर्म पुद्गल के परिणाम (हैं), वैसे शुभ-अशुभभाव भी पुद्गल के - जड़ के ही परिणाम हैं; वैसे सुख-दु:ख की कल्पना, वह भी पुद्गल-जड़ के ही परिणाममय, परिणाममय (है)। आहाहा!

वे चैतन्यस्वभावमय जीवद्रव्य.. वे अर्थात् पुण्य-पाप के भाव, शुभ-अशुभभाव, कर्म, शरीर - वे **चैतन्यस्वभावमय जीवद्रव्य होने के लिए समर्थ नहीं हैं..** आहाहा!

भगवान चैतन्य ज्योति ज्ञान-दर्शनस्वभाव का प्रभु, वे.. आहाहा! (पुद्गलपरिणामभाव) जीवद्रव्य होने के लिए.. **चैतन्यस्वभावमय जीवद्रव्य...** जीवद्रव्य कैसा? चैतन्यस्वभावमय; भगवान आत्मा कैसा? चैतन्यस्वभावमय.. चैतन्यस्वभाववाला - ऐसा भी नहीं। चैतन्यस्वभावमय, जानन-देखन स्वभावमय भगवान आत्मा अन्दर है आहाहा! और ये पुण्य-पाप के भाव (जो कि) पुद्गल परिणाममय (हैं)। यह चैतन्यस्वभावमय जीवद्रव्य तो वे पुण्य-पाप के भाव - दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के (भाव), वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय (हैं, इस प्रकार) दोनों को भिन्न कर दिया। आहाहा!

है इसकी पर्याय में होनेवाले, परन्तु इसका स्वभाव नहीं न? भगवान आत्मा में अनन्त गुण हैं; आत्मा में सच्चिदानन्द-ज्ञान, दर्शन, आनन्द, शान्ति, स्वच्छता, प्रभुता - ऐसे अनन्त गुण हैं, परन्तु वह कोई विकाररूप होवे - ऐसा कोई गुण नहीं है; इसलिए ऐसा कहा कि जीवद्रव्य तो.. चैतन्यस्वभावमय जीवद्रव्य, वह पुद्गलद्रव्यमय परिणाम होने के लिए समर्थ नहीं है। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म पड़ता है लोगों को! निन्यानवें (की साल) ३५ वर्ष हुए.. दरबार! चूड़ा पहले, तुम भी चूड़ा कैसे हो? अटक भी ऐसी है चूडास में (राखेंगार के वंशवाले हैं।) आहाहा!

यह तो सिद्ध के समान वंशवाला है, प्रभु! आहाहा! सिद्ध की जाति है न? णमो सिद्धाणं - उनके कुल की जातिवाला है प्रभु तो। यह तो शरीर की बात-व्याख्या है न? आहाहा! बात ऐसी मीठी-मधुर बहुत...! भगवान चैतन्यमय जीवद्रव्य-ज्ञानस्वभावी जीवद्रव्य, आनन्दमय जीवद्रव्य (है), ये सुख-दुःख के परिणाम-पुद्गलपरिणाममय, यह जीवद्रव्य उसरूप होने के लिए समर्थ नहीं है। आहाहा! आहाहा! बहुत सरस बात है! दो-एक ओर राम तथा एक ओर गाँव। एक ओर आत्माराम आनन्द का धाम चैतन्यमूर्ति भगवान.. आहाहा! भगवान! एक बार सुन तो सही प्रभु! आहाहा! यह चैतन्यमय-चैतन्यस्वभावमय जीवद्रव्य,.. वे पुद्गल के परिणाममय कहा गया होने से, यह चैतन्यस्वभाव जीवद्रव्य उसरूप होने के लिए समर्थ नहीं है। आहाहा! इस पुण्य के परिणामरूप चैतन्यमय जीवद्रव्य.. पुण्य के परिणाममय - दया, दान के इन पुद्गल परिणाममय, वह जीव स्वयं चैतन्यमय द्रव्य - इन पुद्गल के परिणाममय होने योग्य नहीं है। आहाहा! आहाहा! अभी तो सुनने को ही कभी मुश्किल से मिलता है। पूरे दिन धमाधम धर्म के

बहाने भी यह करो और यह करो, दया पालो, व्रत करो, भक्ति करो.. अरे प्रभु! यहाँ कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं, सर्वज्ञ की वाणी से.. यह कहा न – सर्वज्ञ भगवान ने ऐसा कहा है। त्रिलोकनाथ सीमन्धर भगवान विराजते हैं, वर्तमान की बात है न! आहाहा! वर्तमान सन्त-मुनि कहते हैं न? कि सर्वज्ञ भगवान त्रिलोकनाथ की वाणी में ऐसा आया है। प्रभु! यह शुभ-अशुभभाव और सुख-दु:ख की कल्पना का भाव, वह पुद्गलपरिणाममय (है); पुद्गलपरिणाममय (अर्थात्) पुद्गल के साथ तन्मय ये परिणाम, चैतन्यमय जीवद्रव्य होने के लिए ये परिणाम समर्थ नहीं हैं। कहो, पाटनीजी!

श्रोता : इन सब विकारीभावों को पुद्गल कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : एक ओर राम-आत्माराम सच्चिदानन्द प्रभु; एक ओर पुण्य-पाप, काम-क्रोध, शरीर सब पुद्गल जड़। जड़, आहाहा! क्यों? कि यह शुभभाव – दया, दान, व्रत का (भाव हो) परन्तु यह राग कोई अपने को जानता नहीं कि हम राग हैं। यह जानता है? राग जानता है? राग में जानने की ताकत कहाँ है? अत: चैतन्यमय जीवद्रव्य.. राग में जानने की ताकत नहीं – ऐसा जड़, यह चैतन्यमय जीवद्रव्य होने के लिए समर्थ नहीं है। आहाहा! न्याय से-लॉजिक से (समझना पड़ेगा न!) आहाहा!

फिर से (लेते हैं) – इसमें कहीं पुनरुक्ति नहीं लगती। आहाहा! समस्त विश्व को देखनेवाले सर्वज्ञ भगवान वीतराग परमात्मा, वर्तमान में तो भगवान सीमन्धर प्रभु महाविदेहक्षेत्र में विराजमान हैं। यह सामायिक के समय आज्ञा नहीं लेते है? परन्तु इसे कहाँ पता है (कि) भगवान कौन है?

श्रोता : इन श्वेताम्बर के शास्त्र में सीमन्धर का नाम नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री : श्वेताम्बर में नहीं है। वर्तमान में महाविदेहक्षेत्र में सीमन्धर परमात्मा समवसरण में विराजमान हैं। आहाहा! ५०० धनुष की देह है। वे भगवान, समस्त विश्व को देखनेवाले.. विश्व अर्थात् समस्त पदार्थ-लोकालोक को देखनेवाले.. आहाहा! **समस्त पदार्थों के साक्षात्.. प्रत्यक्ष देखनेवाले भगवान वीतराग..** वीतराग, **वीतराग-सर्वज्ञ अरहन्तदेवों के द्वारा..** ओहोहो! सन्त, भगवान का आश्रय (आधार) लेकर बात करते हैं। स्वयं कहते हैं, परन्तु यह तो सर्वज्ञ परमात्मा, जिन्होंने तीन काल-तीन लोक देखे

(हैं)—ऐसे सर्वज्ञ भगवान.. **देखनेवाले भगवान अरहन्तदेवों द्वारा..** अरिहन्त परमात्मा (द्वारा) आहाहा! **पुद्गलद्रव्य के परिणाम कहे गये हैं..** इस पुण्य को, शुभ-अशुभभाव (को पुद्गल परिणाम कहा गया है।) अरे... गजब! नाथ! लोगों को जँचना कठिन! यह पंचम काल-हीन काल उन्हें बाधक है - ऐसा वे मानते हैं। आहाहा! (काल नहीं) तेरी विपरीत दृष्टि बाधक है। आहाहा!

यह पुण्य-पाप के भाव-शुभाशुभभाव, ये पुद्गलद्रव्य के-पुद्गलद्रव्य-पुद्गल वस्तु - अजीव वस्तु के परिणाममय... ये अजीव के साथ परिणाममय तन्मय है ये तो। ये अजीव के साथ तन्मय है - ऐसा कहने में (दिव्यध्वनि में) वीतराग भगवान अरहन्तदेवों ने कहा है न प्रभु!? आहाहा! **वे चैतन्यस्वभावमय..** देखा? वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय हैं; तो भगवान आत्मा चैतन्यस्वभावमय (है।) ये रागादि अचेतन स्वभाव-पुद्गलमय (हैं) - ऐसा उस (विपरीत) मान्यतावाले को उत्तर देते हैं। वह कहता है कि भाई! पुण्य और पाप के भाव-रागबुद्धि और एकत्व अध्यवसाय, वे जीव (हैं) हमारे; फिर राग और एकत्वबुद्धि से भिन्न आत्मा है - ऐसा हम देखते-जानते नहीं। (तो उससे कहते हैं -) सुन भाई! आहाहा!

विश्व को देखनेवाले अरिहन्त परमात्मा... णमो अरिहंताणं कहे, परन्तु उसे अरिहन्त कौन और कैसे (है) - इसके ज्ञान का कुछ पता नहीं होता। यह किसी पक्ष का शब्द नहीं है - णमो अरिहंताणं। जिन्होंने राग और द्वेष तथा अज्ञानरूपी अरि अर्थात् वैरी को नाश किया और जिन्होंने वीतरागता और केवलज्ञान प्रगट किया, उन्हें अरिहन्त परमात्मा कहते हैं। आहाहा! उन अरिहन्त परमात्मा-सर्व को देखनेवाले भगवान ने ऐसा कहा। आहाहा! उन्होंने ऐसा कहा कि पुण्य-पाप के भाव पुद्गलद्रव्यमय होने से और भगवान (आत्मा) चैतन्यस्वभावमय जीवद्रवय होने से, उन पुद्गलमय परिणाम होने को चेतनमय जीवद्रव्य योग्य नहीं है। आहाहा! दरबार! ऐसी बातें हैं! अभी तो कहीं यह मिले - ऐसा नहीं है। आहाहा! अरे...रे! वहाँ तक चले गये... दिगम्बर साधु नाम धराकर कि पंचम काल में शुभयोग ही है (अर्थात्) अभी जड़ ही है.. अरेरे! प्रभु.. प्रभु.. प्रभु.. (यह क्या करता है?)

प्रश्न : वे सर्वज्ञ को नहीं मानते?

समाधान : नहीं मानते। सर्वज्ञ का पता नहीं है, बापू! भाई! तीन लोक के नाथ

सर्वज्ञ प्रभु विराजते हैं, भाई ! आहाहा ! वे राजा थे, सन्त होकर केवलज्ञान प्राप्त किया है प्रभु (ने।) तीर्थंकर होते हैं, वे सब क्षत्रिय ही होते हैं। बनिये तीर्थंकर नहीं होते। बनिये केवल(ज्ञान) प्राप्त करते हैं परन्तु तीर्थंकर नहीं हो सकते; क्षत्रिय ही होते हैं। बनिया मरकर क्षत्रिय होवे, वह तीर्थंकर होता है। आहाहा ! भगवान क्षत्रिय हैं। ऐसे सीमन्धर भगवान विराजते हैं, सीधे महाविदेहक्षेत्र में अभी विराजते हैं, हाँ ! बहुत दूर हैं। वे सर्वज्ञ भगवान समस्त विश्व के जाननेवाले (हैं।) वहाँ कुन्दकुन्दाचार्य गये थे - इस गाथा के रचनाकार (आचार्य गये थे।) आहाहा ! अब इसका भी इनकार करते हैं लो। न, कि यह विश्वसनीय (बात) नहीं है। प्रभु ! तू क्या करता है भाई ? आचार्य पुकार करते हैं - स्वयं जयसेनाचार्य, देवसेनाचार्य (कहते हैं कि) भगवान कुन्दकुन्दाचार्य वहाँ गये थे और यदि आकर उन्होंने यह उपदेश नहीं दिया होता तो हम-मुनिपना कैसे प्राप्त करते ? तीन लोक के नाथ परमात्मा सर्वज्ञदेव विराजमान हैं। आहाहा ! उनके पास कुन्दकुन्दाचार्य न गये होते तो हमें यह उपदेश कौन देता - ऐसा कहते हैं। दर्शनसार पुस्तक-शास्त्र है। अरेरे !

यहाँ तो कहते हैं अमृतचन्द्राचार्य, उसका - कुन्दकुन्दाचार्य का अर्थ करते हैं। **ऐसे सव्वेभावा पोग्गलदव्व परिणाम निष्पन्न** - क्यों ? उन्होंने कहा **केवलीजिणेहि भणीया** - है न ? **केवलीजिणेहि भणीया** - सर्वज्ञ परमेश्वर केवली जिनेश्वर अरिहन्तदेव ने कहा है। है ? तीसरा पद है, उसका अर्थ यह किया है। ये पुण्य-पाप का शुभ-अशुभभाव, शरीर और आठ कर्म को पुद्गलमय परिणाम कहा है, पुद्गल परिणाममय कहा - ऐसे जिनेश्वरदेव ने कहा, सर्वज्ञ परमेश्वर ने कहा। अतः परमात्मा कहते हैं कि जो पुद्गलमय है, उसे चैतन्यमय जीवद्रव्य 'उसरूप' होने के लिए कैसे योग्य हो ? आहाहा !

ऐसा भगवान आत्मा ज्ञायकस्वभाव ज्ञान से भरपूर प्रभु, चैतन्यस्वभाव से भरा हुआ भगवान (है), वह पुद्गल के परिणाममय होने के लिए योग्य कैसे होगा ? बापू ! आहाहा ! प्रभु ! भगवान ! यह पुण्य-पाप के परिणाम पुद्गलमयी से तेरी चीज अन्दर भिन्न है। आहाहा ! चैतन्य के स्वभाव से, चैतन्य के नूर के तेज से जिसका पूरा पूर्ण भरा है; आहाहा ! चैतन्य.. चैतन्य.. चैतन्य.. चैतन्य.. चैतन्य.. चैतन्य.. वह पानी का पूर ऐसे (उल्टा) चलता है। यह चैतन्य.. चैतन्य.. चैतन्य.. चैतन्य.. चैतन्य.. ध्रुव, आहाहा ! नित्य; जिसका -

चैतन्य ध्रुव प्रवाह है – आहाहा! ऐसा जो भगवान चैतन्य जीवद्रव्य.. यह भगवान ने तो ऐसा कहा है कि वे पुद्गल के परिणाम हैं – व्यवहाररत्नत्रय के परिणाम हैं, वे पुद्गल परिणाम हैं.. अर..र..र..! गजब बात है! अब अभी तो उन लोगों की पुकार यह है कि व्यवहाररत्नत्रय करते-करते (निश्चय-शुद्धता) होता है। अरे! यह तो अभी व्यवहाररत्नत्रय ही धर्म है, बस! शुभराग! प्रभु.. प्रभु.. प्रभु.. बापू! आहाहा! विश्व को देखनेवाले तीन लोक के नाथ का विरह पड़ा भरत में..! आहाहा! उन्होंने – परमात्मा ने तो ऐसा कहा – चैतन्यस्वभावमय आत्मा, उस पुद्गलमय परिणाम-पुद्गल परिणाममय शुभ-अशुभभाव होने के लिए योग्य आत्मा कैसे होगा? आहाहा!

सन्त को केवली भगवान कहते हैं, उनका आधार लेना पड़ा – **केवलीजिणेहि भणीया** है न? तीसरा पद, मूल श्लोक-गाथा। आहाहा! प्रभु सर्वज्ञ परमात्मा जिनेश्वरदेव ने ऐसा कहा है कि पुण्य और पाप के शुभ-अशुभभाव, ये पुद्गल के परिणाममय होने से चैतन्यस्वभावमय जीवद्रव्य, वह परिणामरूप कैसे होगा? आहाहा! ऐसी बातें हैं।

अनन्त.. अनन्त काल भटकते हुए गया, अनादि.. अनादि.. अनादि.. आदि रहित काल, भव.. भव.. भव.. भव.. भव.. भव.. भव.. ऐसा कहीं अन्त नहीं होता भव बिना का.. ऐसे अनन्त भव, प्रभु! ऐसी भ्रान्ति और भ्रम के कारण किये (हैं।) ये पुण्य-पाप के मेरे और ये चैतन्य की जाति के (हैं) – ऐसा मानकर, प्रभु! तूने परिभ्रमण के अनन्त भव किये हैं। आहाहा! अब, अभी सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ वर्तमान में तुझे ऐसा कहते हैं, आहाहा! कि पुद्गलद्रव्य के परिणाममय जो पुण्य-पाप के भाव (हैं), वे चैतन्यस्वभावमय जीवद्रव्य होने के लिए समर्थ नहीं है। आहाहा!

आत्माराम चैतन्यस्वभाव से भरा हुआ प्रभु! जिसके बगीचे में, जैसे वृक्ष फले हुए होते हैं, वैसे जिसके घर में अनन्त गुण फले हुए भरे हुए हैं अन्दर भगवान में। आहाहा! ऐसा चैतन्यमय जो अनन्त गुणमय प्रभु – ऐसे चैतन्य के अनन्त गुणमय भगवान (है), वह पुद्गलद्रव्य, जो जड़ के परिणाम, उसरूप कैसे हो प्रभु? तुझे भ्रम हो गया है। धीरजवान होकर इसका विचार करना चाहिए। बापू! यह अनन्त काल से परिभ्रमण करता है, भाई! यह दु:खी है। यह आनन्दमूर्ति दु:खी है। (इसे) इसके स्वरूप को पता नहीं है; इस कारण

यह पुण्य-पाप के भाव में रहा है, वह दु:खी है। आहाहा! ये दु:ख के परिणाम, वे पुद्गल के परिणाम हैं। भगवान तो अतीन्द्रिय आनन्दमय सच्चिदानन्द प्रभु (है), इसके परिणाम तो आनन्दमय-शान्तमय आयें। आहाहा! बर्फ के ढेर में से तो शीतलता आती है; वैसे चैतन्य अतीन्द्रिय आनन्द का पिण्ड भगवान नित्य शाश्वत् प्रभु है; तू उसका आश्रय ले तो पर्याय में आनन्द आवे – इसका नाम धर्म है। है? ऐसा है दरबार! सूक्ष्म बहुत, बापू! आहाहा!

अरे! सन्तों को ऐसा कहना पड़ा। है? आहाहा! आहाहा! महामुनि-भावलिंगी सन्त हैं। जिन्हें निज वैभव-अतीन्द्रिय आनन्द की मोहरछाप (मुद्रा) प्रगट हुई है; (जो) अतीन्द्रिय आनन्द में झूलते हैं। आहाहा! सन्त दिगम्बर मुनि और आचार्य हैं – मुनि हैं, आहाहा! परमेष्ठी पद में हैं। उन्हें भी जगत को बताने के लिए कि भाई! ये शुभयोग के परिणाम जो हैं, वे पुद्गल के परिणाममय हैं – ऐसा जिनेश्वर ने-प्रभु ने कहा है न, भाई! अरे..रे! जिनके शास्त्र में यह बात नहीं, वे सर्वज्ञ के शास्त्र नहीं। आहाहा! ऐसा कहा न, यहाँ? सर्वज्ञ का आगम ऐसा कहता है – सर्वज्ञ भगवान त्रिलोकनाथ (ऐसा कहते हैं।) आहाहा! गजब किया है!

ए सव्वेभावा पोग्गल दव्व परिणाम निष्पन्ना – ये पुद्गल-जड़ से प्राप्त है यह विकार। यह विकार अचेतन है तो अचेतन से प्राप्त है; भगवान चैतन्य है, उससे यह प्राप्त कैसे हो? आहाहा! **जो जीवद्रव्य, चैतन्यभाव से शून्य..** क्या कहा? भगवान जीवद्रव्य, जो चैतन्यस्वभावमय है वह, **चैतन्यभाव से शून्य ऐसे पुद्गलद्रव्य से अतिरिक्त (भिन्न)..** आहाहा! चैतन्यभाव से शून्य ऐसे पुद्गलद्रव्य अर्थात् पुण्य-पाप, कर्म आदि; इनसे **भिन्न कहा गया है..** भगवान ने ऐसा कहा है। आहाहा! भगवान त्रिलोकनाथ परमात्मा ने दिव्यध्वनि द्वारा-ओमध्वनि द्वारा ऐसा कहा है कि **चैतन्यभाव से शून्य ऐसे पुद्गलद्रव्य..** आहाहा! यह शुभ-अशुभभाव, कर्म, शरीर – ये सब चैतन्यस्वभाव से शून्य है; उनमें चैतन्यस्वभाव – जानन स्वभाव नहीं है। आहाहाहा!

भगवान चैतन्यस्वभाव से भरा हुआ पदार्थ है और पुण्य-पाप के भाव, शरीर, कर्म चैतन्यभाव से शून्य है। यहाँ जब (आत्मा) चैतन्यस्वभाव से भरा हुआ है, तब पुण्य-पाप के भाव चैतन्यस्वभाव से शून्य हैं। समझ में आये ऐसा है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! पहले एक उत्तर में गजब किया है! अभी तो बहुत-सब आयेगा।

यह पाठ में पुद्गलद्रव्य परिणाम कहा न ? **पोग्गल दव्व परिणाम निष्पन्ना** - उससे परिणाम निष्पन्ना / प्राप्त। ये दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का भाव - यह पुद्गलद्रव्य से उत्पन्न भाव है। प्रभु.. प्रभु.. प्रभु.. जगत को बहुत कठिन पड़ता है, आहाहा! क्योंकि वे चैतन्यस्वभाव से शून्य हैं। उस राग में चैतन्य का स्वभाव नहीं। आहाहा! समझ में आया ? आहाहाहा!

इस चैतन्यभाव से शून्य - ऐसे शुभाशुभभाव, शरीर, कर्म, राग की एकताबुद्धि का अध्यवसाय, ये सब पुद्गल द्रव्य से अतिरिक्त; चैतन्यभाव से शून्य-ऐसे ये जो पुद्गलद्रव्य.. वे पुद्गलद्रव्य के परिणाम कहा था, उसे सब पुद्गलद्रव्य में डाल दिया। वे पुद्गलद्रव्य ही है। **चैतन्यभाव से शून्य - ऐसे पुद्गल द्रव्य से भिन्न कहा गया है।** आहाहा!

शान्ति से - यह तो.. बापू! यह कोई वार्ता-कथा नहीं है। यह तो भगवत्स्वरूप भगवान की भागवत कथा है। आहाहा! इसने अनन्त-अनन्त काल से कभी इस प्रकार से-प्रेम से बात सुनी नहीं। श्रुत-परिचित आता है न ? उसका फिर उनने अर्थ किया है भाई! श्रुत परिचित अनुभूता, श्रुत अर्थात् ज्ञान; परिचित अर्थात् दर्शन और अनुभूता अर्थात् चारित्र - ऐसा अर्थ किया है, उसने-बलभद्र ने। तूने राग-द्वेष को तूने सुना है; उसका परिचय किया है, उसका तुझे अनुभव है - ऐसा कहना है। आहाहा आहाहा! तूने राग को करना - यह सुना है; राग के परिचय में तू अनन्त बार आ गया है; और अनुभूति राग की, तुझे अनुभव है परन्तु राग से भिन्न भगवान आत्मा.. आहाहा! प्रभु! तूने सुना नहीं, वह तुझे रुचा नहीं, परिचय नहीं किया और अनन्त काल में उसका अनुभव तूने नहीं किया। आहाहा! समझ में आया ? ऐसी बातें हैं!

इसलिए जो इन अध्यवसानादि भावों को जीव कहते हैं, वे वास्तव में परमार्थवादी नहीं हैं आहाहा! **क्योंकि आगम, युक्ति और स्वानुभव से उनका पक्ष बाधित है..** भगवान की वाणीरूपी आगम, युक्ति अर्थात् तर्क और न्याय। वे पुद्गल हैं, वे पुद्गल के परिणाम हैं। स्वानुभव और अनुभव से उनका पक्ष बाधित है, तीन से विरोध है, इसका। विशेष कहेंगे। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ११५ गाथा ४४ दिनाङ्क २२-१०-१९७८, रविवार
आसोज कृष्ण १, वीर निर्वाण संवत् २५०४

समयसार, ४४ गाथा चलती है। फिर से टीका शुरुआत से (लेते हैं।) टीका है न? **यह समस्त अध्यवसानादिभाव..** हैं। अर्थात् क्या कहा? कि अन्दर में राग की एकताबुद्धि— ऐसा जो अध्यवसाय-मिथ्यात्व, वह पुद्गल का परिणाम है, जीव का नहीं। ऐसे अन्दर दया, दान, पूजा, भक्ति आदि व्रत, तप, का भाव-राग है। यह राग है, वह सब पुद्गल का परिणाम है (-ऐसा) भगवान ने कहा है। आहाहा!

विश्व के (समस्त पदार्थों के) साक्षात् देखनेवाले भगवान.. समस्त पदार्थों को साक्षात् ज्ञान की पर्याय में तीन काल-तीन लोक के पदार्थों को देखनेवाले भगवान **(वीतराग-सर्वज्ञ) अरहन्तदेवों के द्वारा,** आहाहा! **पुद्गलद्रव्य के परिणाममय कहे गये होने से..** यह अन्दर जो शुभाशुभराग होता है, उसे भगवान ने दिव्यध्वनि द्वारा (कहा) कि वह पुद्गल का परिणाम है, आत्मा का नहीं। आहाहा! यह शरीर, वाणी, मन, जड़, यह तो आत्मा के नहीं; ये तो मिट्टी-पुद्गल के जड़ हैं, आहाहा! परन्तु अन्दर में हिंसा, झूठ, चोरी, विषय-भोग वासना—ऐसे जो पाप के परिणाम और दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, भगवान का स्मरण—यह भाव, पुण्य-राग है। इस राग को भगवान तीर्थंकरों ने इसे पुद्गलद्रव्य (के) परिणाम कहे हैं। आहा! यह लोगों को पता नहीं होता और हम धर्म करते हैं, आहाहा! हैं? **इसलिए वे चैतन्यस्वभावमय जीवद्रव्य होने के लिए समर्थ नहीं हैं..** कौन? अन्दर जो दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, भगवान का स्मरण—ऐसा भाव, वह पुद्गलद्रव्य का-जड़ का परिणाम है; वह आत्मा के (परिणाम) नहीं। आहाहा!

वे चैतन्यस्वभावमय जीवद्रव्य होने के लिए समर्थ नहीं हैं.. आहाहा! शुभयोग की क्रिया, जो राग की, वह चैतन्यस्वभाव—ऐसा जो जीवद्रव्य होने के लिए समर्थ नहीं हैं। आहाहा! कठोर बात है, भाई! शरीर, वाणी, मन, स्त्री, पुत्र, परिवार, व्यापार-धन्धा, वह तो परचीज है; वह तो आत्मा की पर्याय में भी नहीं है। आहाहा! यहाँ तो अरिहन्तदेव सर्वज्ञ-वीतराग परमात्मा ऐसा कहते हैं कि यह पुण्य और पाप के भाव, पुद्गलद्रव्य के

परिणाम होने से चैतन्यस्वभावमय जीवद्रव्य होने के लिए समर्थ नहीं है। आहाहा! चैतन्यस्वभाव, ज्ञायकस्वभाव, ज्ञायकभाव, सत्यार्थभाव, भूतार्थभाव, ज्ञायकभाव, शुद्धभाव—ऐसा जो जीवभाव (है), वह विकार, यह जीव भाव होने के लिए समर्थ नहीं है। अरे! ऐसी व्याख्या अब! है? यह तो कल आ गया है।

जो जीवद्रव्य.. भगवान आत्मा कौन है? भगवान ऐसा कहते हैं। आहा! अन्दर जीववस्तु - आत्मपदार्थ अनन्त.. अनन्त ज्ञान-आनन्द का भण्डार प्रभु, वह जीवद्रव्य, चैतन्यभाव से शून्य - ऐसे पुद्गल द्रवय से अतिरिक्त (भिन्न) है। जो पुद्गल - पुण्य और पाप के, दया, दान और व्रत के भाव, पुद्गलद्रव्य के परिणाम कहे, वे चैतन्यभाव से शून्य है, वह (चैतन्यभाव) ऐसे पुद्गलद्रव्य से तो भिन्न है जीवद्रव्य। आहाहा! पाटनीजी! सूक्ष्म बातें हैं।

श्रोता : भाव करता तो जीव दिखता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : जीव में नहीं है। मानता है। अनादि से पागलपना है। आहाहा!

यहाँ तो यह कहते हैं, आहाहा! कि यह शरीर, वाणी—यह तो मिट्टी-जड़-धूल (है), यह तो आत्मा की नहीं, परन्तु आत्मा में होनेवाले पुण्य और पाप के भाव भी पुद्गलद्रव्य से उत्पन्न हुए परिणाम हैं इसके। वह जीवद्रव्य, चैतन्यभाव से शून्य—ऐसे पुद्गलद्रव्य से तो जीवद्रवय को भिन्न कहा गया है। आहाहा!

नव तत्त्व है न? नव तत्त्व—जीव-अजीव-पुण्य-पाप-आस्रव-संवर-निर्जरा-बन्ध और मोक्ष। जो दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम हैं, वे पुण्यतत्त्व में जाते हैं; हिंसा, झूठ, चोरी, काम-भोग, यह कमाना, कमाने का भाव आदि जो हैं, वे पाप में जाते हैं; आहाहा! ये दो होकर आस्रव है, वह भी पुद्गल के परिणाम में जाता है और उस राग में अटकता है - ऐसा भावबन्ध, वह भी पुद्गल परिणाम में जाता है, आहाहा!—ऐसा सूक्ष्म है! उस पुद्गलद्रव्य को, जीवद्रव्य से, चैतन्यभाव से शून्य—ऐसा जो पुद्गलद्रव्य अथवा उसके जो परिणाम, उनसे तो जीवद्रव्य को भिन्न कहा गया है। आहाहा! तीन लोक के नाथ जिनेश्वरदेव परमेश्वर अरिहन्त सर्वज्ञ भगवान, तीन काल-तीन लोक को साक्षात् देखनेवाले ने तो यह कहा है न प्रभु! आहाहा! जिनके शास्त्र में राग से आत्मा को लाभ होता है और

राग आत्मा का (है—ऐसा कहा है), वह शास्त्र भगवान का नहीं है। आहाहा! वह भगवान की वाणी नहीं है, वे भगवान के शास्त्र नहीं है और जो गुरु नाम धराकर ऐसा कहे कि राग आत्मा का है; ये दया, दान आदि; और इनसे आत्मा भिन्न नहीं है (तो), वह भी मिथ्यादृष्टि है, जैन नहीं है। आहाहा! कठोर बातें हैं! थोड़ी-सी लाईन में बहुत अधिक भरा है। आहाहा!

जीवद्रव्य भगवान आत्मा, चैतन्यस्वरूप प्रभु, ज्ञायकभाव अतीन्द्रिय आनन्द और ज्ञान का पिण्ड प्रभु आत्मा (है।) आहा! जैसे स्फटिकमणि निर्मल है; वैसे भगवान आत्मा निर्मल शुद्ध पवित्र भगवान है। ऐसा जो जीवद्रव्य (है) वह.. चैतन्यभाव से शून्य.. कौन? पुद्गल, जिस पुद्गल में चैतन्यस्वभाव नहीं, उस राग में भी चैतन्यस्वभाव नहीं—ऐसा है। यह दया, दान, व्रत, भक्ति, तप का विकल्प उठता है, अपवास करना आदि का राग (होता है), वह चैतन्यस्वभाव से शून्य है। अरे! थोड़ी-थोड़ी गुजराती समझते हो न? यहाँ तो यह सब गुजराती है न? आहाहा! यहाँ तो कहते हैं, भगवान! भगवान त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव ऐसा कहते हैं; आहाहा! जबकि अब अभी ऐसा कहते हैं कि अभी शुभयोग ही है (इसका अर्थ यह हुआ कि) अर्थात् आत्मा नहीं—ऐसा। प्रभु, प्रभु क्या करे उसे बुद्धि (में न जमे तो) आहाहा!

जीववस्तु.. ये पुण्य-पाप के भाव जो पुद्गल-द्रव्य के परिणाम है, उन चैतन्यभाव से शून्य—ऐसे पुद्गलद्रव्य से अतिरिक्त (भिन्न) जीवद्रव्य को कहा गया है। ऐसा तो स्पष्ट है! आहाहा! ऐसा जो यह भगवान आत्मा, चैतन्य निर्मलानन्द प्रभु, शुद्ध वीतरागस्वभावी आत्मा—ऐसा जो चैतन्यस्वभाव जीवद्रव्य, उससे—चैतन्य से शून्य ऐसे पुण्य-पाप के भाव जो पुद्गलद्रव्य है, उससे तो भगवान आत्मा को अतिरिक्त-भिन्न कहा गया है। आहाहा! शशीभाई! यह तो कल हो गया था। (आज) शुरुआत से लिया है। कितने ही नये है न? आहाहा!

अन्दर भगवान जीवद्रव्य जो है, वह तो चैतन्यस्वभावी, वीतरागस्वभावी, जिनबिम्ब-जिनस्वरूपी प्रभु है। आहाहा! कैसे जँचे? ऐसा जिनस्वरूपी जीवद्रव्य.. वह अजैन स्वभावी—ऐसा पुण्य-पाप का भाव, जो पुद्गलद्रव्य है, उससे जीवद्रव्य को अतिरिक्त-भिन्न कहा गया है। आहाहा!

श्रोता : पाँच महाव्रत, वह अजैन है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पाँच महाव्रत (का) भाव, वह पुद्गलद्रव्य का परिणाम है; जीवद्रव्य से शून्य है। यह कठोर बात है, बापू! यह जैनधर्म समझना कोई.. वाड़ा में पड़े और माने कि हम जैन हैं। भाई! आत्मा जिनस्वरूपी वीतरागबिम्ब आत्मा है, अभी, हाँ! आहाहा! ऐसा जिन—

घट-घट अन्तर जिन बसे, घट-घट अन्तर जैन।
मत मदिरा के पान सों मतवाला समझे न॥

अभिमानी मिथ्यात्व की शराब पीये हुए, पुण्य-पाप के भाव, वे जीवद्रव्य के हैं— ऐसा मानता है, वह मूढ़ मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! शरीर, वाणी को अपना माने, वह तो फिर महामूढ़ है। वह तो परवस्तु-मिट्टी है। आहाहा! पैसा, स्त्री, पुत्र, परिवार वे तो पर-अत्यन्त भिन्न (हैं), उनके साथ तो कुछ सम्बन्ध नहीं, आहाहा! परन्तु अन्दर पुद्गल के भावकभाव के निमित्त के सम्बन्ध से हुए जो शुभ-अशुभभाव, वे चैतन्यभाव से शून्य हैं; आहाहा! इस कारण वह जीवद्रव्य,.. चैतन्यभाव से शून्य—ऐसे भावों से जीवद्रव्य भिन्न है। आहाहा! रतिभाई! वे तुम्हारे कारखाने और रुपये-पैसे कहाँ गये? ऐ अजीतभाई! यह सब बड़े पैसेवाले बैठे हैं—सात लाख-सत्तर लाख, करोड़पति - धूल के पति....

श्रोता : धूल के भी पति तो है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : ये मानते हैं, हैं कहाँ? यहाँ तो (अपने को) राग का पति (-स्वामी) माने कि मैं राग का स्वामी हूँ और राग मेरा.. प्रभु वीतराग सर्वज्ञदेव ऐसा कहते हैं कि वह मिथ्यादृष्टि-मूढ़ है। उसे हमारे जैन की आज्ञा का पता नहीं है। आहाहा!

जैन परमेश्वर अनन्त तीर्थंकरों ने, वर्तमान विराजमान प्रभु सीमन्धर भगवान ने उसे ऐसा कहा है। कुन्दकुन्दाचार्य दिगम्बर सन्त स्वयं (महाविदेहक्षेत्र) गये थे न! अभी भगवान विराजमान हैं; वहाँ गये थे संवत् ४९ में। तो कहते हैं कि सर्वज्ञ तीर्थंकर तो ऐसा कहते हैं न! आहाहा! **केवलि जिणोहि भणिया**—कहा न पद में? **केवलि जिणोहि भणिया**—सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ केवलज्ञानी ऐसा कहते थे, आहाहा! कि जो दया, दान, व्रत, भक्ति का परिणाम परलक्ष्य से हुआ, वह पर का है, पुद्गल का है; तेरा नहीं। आहाहा!

अरे.. ! सुनना कठिन पड़ता है ! त्रंबकभाई ! ऐसी बात है, भगवान ! दुनिया से अलग है, यह तो पता है न ! आहाहा ! चार लाईन में तो कितना.. अब फिर अधिक है । आहाहा !

एक तो यह कहा कि शुभ-अशुभ—पुण्य-पाप के भाव, वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से जीवद्रव्य से भिन्न है; और जीवद्रव्य उन चैतन्यभाव से शून्य—ऐसे परिणामों से जीव भिन्न है । चैतन्य ज्योति अन्दर, झलहल ज्योति भगवान आत्मा चैतन्य के नूर के तेज का पूर भरा है । भाई ! तुझे पता नहीं है, प्रभु ! अन्दर आत्मा चैतन्य के नूर अर्थात् तेज का पूर है वह अन्दर । ऐसा चैतन्य तत्त्व जो भगवान (है), उससे, यह पुण्य-पाप के परिणाम पुद्गलमय कहे हैं, वे चैतन्यस्वभाव से शून्य होने के कारण, उन परिणामों को जीवद्रव्य से भिन्न कहा है । जीवद्रव्य (को) उन परिणामों से भिन्न कहा है । उन परिणामों से जीवद्रव्य को भिन्न कहा है । आहाहा !

यह तो एक-दो लाईन में इतना भरा है, पढ़ते नहीं, भाई ! आहाहा ! अरे ! अनादि से चौरासी लाख (योनियों) में अवतार कर-करके दुःखी है यह। भले ही अरबोंपति, करोड़पति सेठिया हो, वे सब दुःखी हैं । भाई ! उसका—आनन्द का नाथ भगवान है, उसका इसे पता नहीं । उसे - यह लक्ष्मी आदि मेरी है—ऐसा मानकर यह ममता के दुःख का वेदन करता है । आहाहा ! जिसे यहाँ पुद्गल का परिणाम कहा है और जो ममता के परिणाम, जीवद्रव्य से (भिन्न हैं ।) जीवद्रव्य... इन चैतन्य से शून्य (परिणामों) इनसे जीवद्रव्य को भिन्न कहा है । एक तो ये जीवद्रव्य से भिन्न पुण्य-पाप के परिणाम कहे और जीवद्रव्य पुण्य-पाप के परिणामों से भिन्न कहा है । आहाहा ! भगवान तो ऐसा कहते हैं कि हमारा स्मरण करो—णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं—यह एक विकल्प और राग है प्रभु ! आहाहा ! वह राग, इस पुद्गलद्रव्य का परिणाम (है), तेरा नहीं । (यदि) तेरा होवे तो भिन्न नहीं पड़े, और भिन्न पड़े वे तेरे नहीं । आहाहा ! अरे ! ऐसा सुनने को मिलता नहीं और जिन्दगी ऐसी की ऐसी जाती है । यह व्रत करते हैं, अपवास करते हैं, और तप करते हैं.. आहाहा ! त्रिलोकचन्दजी ! ऐसा सुनने को नहीं मिलता वहाँ दिल्ली-फिल्ली में नहीं । ऐसी बातें हैं, बापू ! आहाहा !

इसलिए जो इन अध्यवसानादिक को.. इसलिए जो अध्यवसान अर्थात् राग की

एकताबुद्धि और राग, दया-दान का राग, (उसे) **जीव कहते हैं, जो इन्हें जीव कहते हैं वे वास्तव में परमार्थवादी नहीं हैं..** वे सच्चा माननेवाले, सत्य माननेवाले नहीं हैं; वे झूठ माननेवाले हैं। है भाई अन्दर? यह पुस्तक अलग प्रकार की है तुम्हारे से; इसमें—पाठ में ध्यान रखे तो समझ में आये – ऐसा है। वे तुम्हारी बहियाँ रुपयों की होती है न, धूल की, उससे अन्य प्रकार की बहियाँ हैं यह।

श्रोता : पन्ना फिरे और सोना झरे।

पूज्य गुरुदेवश्री : झरे? धूल में भी नहीं। क्या कहते हैं? कि जो इन अध्यवसानादिक के जीव कहते हैं, जो ये पुण्य के परिणाम, दया, दान के राग को जीव कहते हैं जो; आहाहा! **वे वास्तव में परमार्थवादी नहीं हैं..** वे सत्य माननेवाले नहीं हैं, वे परमार्थ के तत्त्व को नहीं जानते। आहाहा!

क्योंकि, अब न्याय देते हैं—**आगम..** सर्वज्ञ की वाणीरूपी आगम, त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव की वाणी—ओमध्वनि—'ओम् ध्वनि सुनि अर्थ गणधर विचारे, रची आगम उपदेशे भविक जीव संशय निवारे' आहाहा!—ऐसे जो भगवान त्रिलोकनाथ वर्तमान में तो विराजमान हैं प्रभु! (भगवान) महावीर आदि तो मोक्ष पधारे—सिद्ध हो गये हैं। ये तो—सीमन्धर भगवान तो अरिहन्तपद में विराजमान हैं। आहाहा! उनकी जो वाणी—आगम, वह भी ऐसा कहती है, कहते हैं। भगवान ने देखा, भगवान तो ऐसा कहते हैं, कहते हैं, परन्तु वाणी द्वारा कहते हैं न! भगवान ऐसा कहते हैं, आगम ऐसा कहता है। **युक्ति..** ऐसा कहती है, आहाहा! और **स्वानुभव से..** भी ऐसा ज्ञात होता है कि राग आत्मा का नहीं है। आहाहा! सूक्ष्म विषय है, भाई!

अरे..रे! ऐसे की ऐसे जिन्दगी.. अनन्त काल बिताया है। आहाहा! बापू! यह नरक और निगोद में गया है। भगवान परमात्मा, निगोद में एक श्वाँस में अठारह भव करता है। यह आलू, शकरकन्द, मूली, गाजर में—एक टुकड़े में असंख्य शरीर और एक शरीर में अनन्त जीव.. एक श्वास में अठारह भव.. मरे और जन्मे, मरे और जन्मे.. आहाहा! भाई! वे अनन्त दुःखी है। उन्हें संयोग अनुकूल नहीं है, प्रतिकूल, इसलिए नहीं; उनकी दशा में ही निगोद के जीव हीनदशारूप परिणम गये हैं। उन्हें दुःख का पार नहीं है, उस दुःख का

वेदन करनेवाले निगोद के जीव.. प्रभु ! तूने एक श्वास में अठारह भव किये, परन्तु किसे देखना है ? अनन्त काल कहाँ बिताया, अनन्त, आहाहा ! ऐसे भव अनन्त बार किये, एक बार नहीं। इस भव से निवर्तना होवे और जिसे आत्मा का ज्ञान करना होवे, उसे यह जानना पड़ेगा—ऐसा कहते हैं। आहाहा ! तीन लोक के नाथ, सौ इन्द्रों से पूज्यनीय प्रभु जिनेश्वरदेव की यह वाणी है—यह आगम (है) । इसलिए जिस आगम में पुण्य के परिणाम को जीव का कहा हो, वह आगम नहीं, वह शास्त्र नहीं अथवा जिस आगम में, शुभभाव से जीव को लाभ होता है—ऐसा मनवाया हो, वह आगम नहीं है, वह सिद्धान्त नहीं है, वह वीतराग की वाणी नहीं है। आहाहा ! **आगम, युक्ति..** युक्ति से भी यह जँचता है कि राग, वह आत्मा का स्वभाव नहीं है। आहाहा ! दृष्टान्त कहेंगे।

स्वानुभव.. और राग से भिन्न पड़कर भेदज्ञान करनेवाले धर्मी जीवों को वह (-आत्मा) राग से भिन्न जानने में आता है। आहाहा ! भेदज्ञानियों को अर्थात् समकिती जीव को, अर्थात् धर्म की पहली सीढ़ीवाले जीव को स्वानुभव.. (से) वह (आत्मा) राग से भिन्न जानने में आता है। राग से भेद करके आत्मानुभव करे, आहाहा ! ऐसे समकिती भेदज्ञानी को राग से भिन्न अनुभव में आता है। आहाहा ! आगम में कहा है, युक्ति से जँचता है। अभी कहेंगे - और स्वानुभव गर्भित युक्ति भी साथ है ऐसा। एक राग का कण—जो व्रत, तप और भक्ति की - वृत्ति उत्पन्न होती है; उससे तो भेदज्ञानी समकिती जीव उसे (-आत्मा को) भिन्न करके अनुभव करता है। उसके अनुभव में वह राग नहीं आता। आहाहा ! ऐसी बातें ! अब किसी दिन सुनी न हो, किसकी होगी यह ! यह वीतरागमार्ग ऐसा होगा ? भाई ! अनादि तीर्थंकर परमात्मा का यही मार्ग है; ये त्रिकाल अनादि तीर्थंकर हुए, अनन्त होंगे; उनका यह मार्ग है।

यहाँ कहते हैं कि इन तीन से तो उनका पक्ष विरोध को प्राप्त होता है। किसका ? जो कोई, दया-दान-व्रत के परिणाम जीव के हैं—ऐसा जो मानते हैं, वह आगम से विरुद्ध है, युक्ति से विरुद्ध है और स्वानुभव से भी विरुद्ध है। अरे ! ऐसी बातें ! उसमें, **वे जीव नहीं हैं..** कौन ? वे अर्थात् ? राग की एकताबुद्धिरूपी मिथ्यात्वभाव और दया, दान आदि का राग-भाव, **वे जीव नहीं हैं..** वह आत्मा नहीं है, आहाहा !—ऐसा **यह सर्वज्ञ का वचन है,..**

है ? यह आगम, सर्वज्ञ का वचन - यह आगम। जिस आगम में, आहाहा! यह राग का शुभभाव, वह जीव नहीं; वह तो विकारी परिणाम है; भगवान तो निर्विकारी भिन्न चीज है— ऐसे भगवान की वाणी ऐसा कहती है। आहाहा! अरे..रे! पूरे दिन यह दुनिया की मजदूरी कर-करके.. व्यापार और स्त्री-पुत्र (को) सम्हालना.. अकेली पाप की मजदूरी, महा पाप की मजदूरी, अब इसे ऐसा सुनना कठिन पड़ता है। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि यह तेरे पाप के परिणाम तो जीव के नहीं—ऐसा वीतराग ने कहा है, परन्तु शुभभाव—दया, दान, व्रत, उपवास करूँ आदि जो विकल्प उत्पन्न होता है, वह राग, जीवद्रव्य में नहीं है—ऐसा भगवान ने कहा है। भगवान आये, उनकी वाणी— आगम आयो-दो; और गुरु स्वयं यह मुनि कहते हैं। आहाहा! प्रभु! तुझे कहाँ मीठास चढ़ी है नाथ! ऐसा कहते हैं। तेरा अमृतसागर भगवान समुद्र, आहाहा! का अनुभव करना छोड़कर इस राग को अनुभव में कहाँ - जहर के प्याले कहाँ चढ़ गया तू? आहाहा! ये पुद्गल के परिणाम तेरे जीव से भिन्न है—ऐसा भगवान की वाणी कहती है, भगवान कहते हैं और वाणी अर्थात् आगम कहता है तथा गुरु—तीनों ऐसा कहते हैं। जो गुरु ऐसा कहे कि राग करने से आत्मा को लाभ होता है, वे गुरु नहीं हैं। जो गुरु ऐसा कहे कि दया, दान के परिणाम, वे जीव के हैं, वे गुरु नहीं हैं। जो आगम, राग को आत्मा का कहे या राग से आत्मा को लाभ होता है—ऐसा कहे, वह आगम नहीं है और जो कोई भगवान त्रिलोकनाथ नाम धराये और ऐसा कहे कि राग से जीव को लाभ होता है, वह भगवान नहीं है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। हैं?

श्रोता : खतोनी ही अलग प्रकार की है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बात ऐसी है, बापू! आहाहा! उधार खाते को जमा खाते में लगा देता है। नाम-नामा, उधार खाता होवे, उसे जमा खाता (कर डालता है।) पुण्य-पाप का भाव देना- खाता (है) उधार खाता (है)। उसे आत्मा का है लेना—ऐसा (जमा) खाता डालता है। ऐसी बात है! अरे! ऐसा कैसा उपदेश यह? बापू! अनादि का ऐसा मार्ग है! भाई! तीर्थंकर जिनेश्वर का (मार्ग ऐसा है।)

उसमें, 'वे जीव नहीं हैं' यह सर्वज्ञ का वचन है, वह तो आगम है.. देखा? यह

दया, दान, व्रत का परिणाम—ये शुभ, ये जीव नहीं हैं—ऐसा आगम का वचन है। जो आगम ऐसा कहता है कि शुभभाव से जीव को लाभ होता है, वह भगवान का आगम नहीं है; कल्पित बनाये हुए शास्त्र, (वे आगम नहीं है।) आहाहा! **और यह (निम्नोक्त) स्वानुभवगर्भित युक्ति है..** दो साथ लेते हैं। आगम, युक्ति और स्वानुभव—ऐसे तीन कहे हैं न? भगवान का आगम—जैन तीर्थंकर त्रिलोकनाथ का आगम.. 'ओमकार ध्वनि सुनि अर्थ गणधर विचारे'—और वे गणधर शास्त्र रचें, वह वीतराग की वाणी (है), उसमें ऐसा कहा है। आहाहा! **और निम्नोक्त स्वानुभवगर्भित युक्ति..** क्या?

स्वयमेव उत्पन्न हुए राग-द्वेष के द्वारा मलिन अध्यवसान हैं,.. ये शुभ-अशुभभाव तो स्वयमेव उत्पन्न हुए हैं; द्रव्य से नहीं। आहाहा! पुद्गलद्रव्य के परिणाम, वे पर के लक्ष्य से हुए हैं। **स्वयमेव उत्पन्न हुए..** ऐसे राग-द्वेष द्वारा मलिन अध्यवसान से भिन्न-अन्य चित्स्वभावरूप जीव... आहाहा! क्या कहते हैं? बापू! यह तो भगवान की वाणी (है), यह कोई कथा-वार्ता नहीं है। आहाहा! यह तो त्रिलोकनाथ आत्मा की भागवत् कथा है, प्रभु! आहाहा! इसमें ऐसा कहा है कि राग-द्वेष द्वारा मलिन ऐसे जो भाव—**अध्यवसान, वे जीव नहीं हैं क्योंकि कालिमा से भिन्न सुवर्ण की भाँति;..** पहले दृष्टान्त दिया था कि कोयले की कालिमा कोयले से भिन्न नहीं है, वैसे पुण्य और पाप, जीव से भिन्न भाव नहीं है—ऐसा उसने (तर्क करनेवाले ने) कहा था। तब यहाँ कहते हैं (कि) सुन! कि कोयले की कालिमा, वह कोयले में गयी; वह यहाँ नहीं परन्तु सुवर्ण में जो मलिनता दिखती है, उस मैल से सुवर्ण भिन्न चीज है। उस मैल में जो कालिमा सुवर्ण में दिखती है.. आहाहा! **सुवर्ण की भाँति..** कालिमा से भिन्न सुवर्ण अर्थात् सोना, उसमें जो मैल दिखता है, उससे सुवर्ण अलग है। आहाहा! भिन्न कालिमा से भिन्न सुवर्ण की भाँति, आहाहा! भगवान आनन्द का नाथ प्रभु, वह प्रभु—आत्मा सुवर्ण के समान है; उसमें यह पुण्य-पाप का मैल-काजल जैसा मैल है, वह सुवर्ण की जाति नहीं है। आहाहा!

कालिमा से भिन्न सुवर्ण की भाँति.. ऐसे राग से **भिन्न अन्य चित्स्वभावरूप जीव..** आहाहा! इन दया, दान, व्रत के विकल्प से भिन्न.. **अन्य चित्स्वभावरूप जीव भेदज्ञानियों के द्वारा..** राग से भिन्न (भेदज्ञान) करनेवाले भेदज्ञानियों के द्वारा, राग से भिन्नता करनेवाले

समकिती द्वारा आहाहा! **स्वयं उपलभ्यमान है...** आहाहा! इससे (-राग से) भिन्न जीव भेदज्ञानियों द्वारा स्वयं उपलभ्यमान। राग से प्राप्त नहीं होता। राग भिन्न है। इससे (आत्मा से) स्वयं आत्मा का लाभ होता है। आहाहा! रागरूपी मैल को भेदज्ञानी धर्मी जीव, उसे भिन्न करके जीव का अनुभव करता है; इस कारण जीव के स्वभाव से वह राग भिन्न है। आहाहा! राग से भेदज्ञान करनेवालों को राग, भेदज्ञान में राग साथ में नहीं आता। आहाहा!

अरे! ऐसी बात! अब, ऐसा जैनमार्ग होगा? अभी तक तो हमने यह छह काय की दया पालो, 'इच्छामि पडिकमणं ईरिया वहीआतस्स उतसे करणेणं माणेणं झाणेणं अप्पाणं वोसिरामि ताऊं काय ठाणेण..' जयन्तीभाई! बापू! सब पता है, बापू! हमने भी सब किया था न, बापू! मार्ग दूसरा, भाई! तुझे पता नहीं। आहाहा!

तीन न्याय दिये— एक तो पुण्य-पाप के भाव, जीव नहीं—ऐसा भगवान की वाणी कहती है। अब युक्ति और स्वानुभव दो—कि सुवर्ण की मलिनता जैसे सुवर्ण से भिन्न है, यह युक्ति, ऐसे भगवान आत्मा से पुण्य-पाप के भाव भिन्न हैं, यह युक्ति का न्याय; तीसरा—स्वानुभवगर्भित; आहाहा! धर्मी जीव उसे कहते हैं कि जो दया, दान के राग से भिन्न जीव का अनुभव करे, उस भेदज्ञानी द्वारा स्वयं राग के अवलम्बन बिना, चैतन्य के अवलम्बन से स्वयं अनुभव होता है। वह राग से भिन्न-पृथक् का अनुभव करता है। आहाहा! अब ऐसी बातें! हैं?

एक तो भगवान ने ऐसा कहा कि ये पुण्य-पाप, वह जीव नहीं है क्योंकि कालिमा से भिन्न सुवर्ण की तरह, इस राग से **भिन्न अन्य चित्स्वरूप जीव भेदज्ञानियों द्वारा स्वयं उपलभ्यमानम्** अर्थात् जो राग का विकल्प है, उसके अवलम्बन बिना, चैतन्य के अवलम्बन से स्वयमेव आत्मा, राग से भिन्न अनुभव में आता है; इसलिए यह राग, आत्मा का नहीं है। ऐसी बातें हैं। (निर्णय) करना पड़ेगा, बापू! दुनिया माने या मनवा बैठे, इससे कहीं तुझे लाभ नहीं होगा, भाई! यह देह छूटकर कहाँ जाएगा प्रभु? आत्मा का नाश होवे - ऐसा है? भगवान तो नित्य अनादि-अनन्त वस्तु अन्दर है। आहाहा! उसे यदि राग से लाभ होता है—ऐसा माना तो प्रभु! तू मिथ्याभ्रम में जाएगा और रहेगा तथा परिभ्रमण करेगा। आहाहा!

भगवान ने ऐसा कहा और कहा, वह आगम ने ऐसा कहा तथा आगम में गुरु ऐसा

स्वयं कहते हैं। अमृतचन्द्राचार्य - पंचम काल के सन्त-गुरु ऐसा कहते हैं आहाहा! कि अरे..रे प्रभु! (अभी तो) यह कहते हैं कि पंचम काल में तो शुभयोग ही होता है.. प्रभु! बहुत अन्याय होता है, अन्याय! पंचम काल के सन्त-मुनि, भेदज्ञानी, आहाहा! इस शुभयोग से भिन्न आत्मा को अनुभव करते हैं। आहाहा! ये तो पंचम काल के सन्त हैं; ये कुन्दकुन्दाचार्य, अमृतचन्द्राचार्य कहीं चौथे काल के नहीं हैं। अरे..रे! ऐसी बात कहाँ? मस्तिष्क में—सिर में काम करे नहीं, दुनिया के चतुर भटक मरे हैं। आहाहा! भगवान कहते हैं—इस चैतन्य का जो ज्ञान है, (वह) अनन्त काल में एक सैकेण्ड भी नहीं किया है। आहाहा! एक सैकेण्ड भी राग से भिन्न भेदज्ञान का अनुभव करे, उसे अनन्त भव का अन्त आ गया। आहाहा! समझ में आया?

चैतन्यभाव को प्रत्यक्ष भिन्न अनुभव करते हैं.. यह चैतन्यस्वभाव जो अनन्त गुण गम्भीर भगवान (है), उसके सन्मुख के जोर के पुरुषार्थ से, धर्मी जीव, राग से भिन्न अनुभव करते हैं; इसलिए वह राग, आत्मा का नहीं; जड़ का है। आहाहा! जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह भाव जड़ है - ऐसा कहते हैं। वहाँ तो प्रसन्न-प्रसन्न हो जाता है.. कि आहाहा! भाई! वह शुभभाव है। जैसे, सुवर्ण में कालिमा दिखती है; वैसे ही चैतन्य में यह मलिनता दिखती है, वह चैतन्य की चीज नहीं है। आहाहा! यह जिनवचन ऐसा कहते हैं अर्थात् भगवान और भगवान की वाणी ऐसा कहती है कि दया, दान, व्रत के परिणाम, वे जीव नहीं हैं; पुद्गल के परिणाम हैं। भगवान के (आत्मा के) परिणाम तो निर्मल होते हैं; (आत्मा) स्वयं निर्मल-पवित्र है, इसलिए उसके परिणाम तो वीतरागी निर्मल होते हैं। आहाहा! उस निर्मल परिणाम द्वारा धर्मी जीव, राग से भिन्न जीव का अनुभव करता है; इसलिए वह राग उसका नहीं है। आहाहा! इतनी शर्तें और इतना उत्तरदायित्व.. ऐसा है, प्रभु!

यह लोग फिर ऐसा प्रश्न करते हैं.. अभी सुना है वहाँ - सिवनी में प्रश्न किया है कि वे शिविर करके पाँच सौ लोग.. घासीलालजी गये थे न? तुम साधु को मानते हो? तुम चार अनुयोगों को मानते हो? और किसी ने कहीं कहा होगा, कौन जाने क्या कहा होगा और क्या माना होगा? वे लोग तो ऐसा कहते हैं कि ये साधु तो कुत्ते जैसे हैं, अभी ऐसी भाषा प्रयोग की है। ऐसा किसी ने कहा न हो न, तथापि लोगों ने सिवनी में यह बात सुनी थी। घासीलाल गये थे न, वहाँ ऐसा हुआ था। फिर उन्होंने तो समाधान किया, आज्ञाप्रमाण

मार्ग होता है, साधु तो साधु। साधु तो हम साधु को मानते हैं, साधु हो उसे न? आगम से विरुद्ध हो, वह साधु कहाँ है? चारों अनुयोग को मानते हैं। द्रव्यानुयोग में से उसकी दृष्टि हुई, वह तीनों अनुयोग को जानता है। दूसरे में यह व्रत और तप और विकल्प आया, उसकी बात करते हैं। परन्तु वह स्वयं धर्म नहीं है, ऐसा द्रव्यानुयोग की दृष्टि से वहाँ वाँचन करे तो उसका सार यह दिखायी दे। यह मोक्षमार्गप्रकाशक में कहा है न, कि द्रव्यानुयोग की दृष्टि होने के पश्चात् चरणानुयोग पढ़े तो उसकी—तत्त्व की दृष्टि की खबर पड़े। मोक्षमार्गप्रकाशक। आहाहा!

अरे, भगवान! यहाँ भगवान रहे नहीं, भगवान रहे वहाँ। अब भगवान ऐसा कहते हैं दुनिया को कहना—एक नहीं परन्तु अनन्त भगवन्त, तीर्थंकर अनन्त हो गये, अनन्त होंगे, संख्यात तीर्थंकर विचरते हैं, बीस, परन्तु इसके अतिरिक्त केवलज्ञानी लाखों-करोड़ों महाविदेहक्षेत्र में वर्तमान में विचरते हैं। उन सभी केवलियों का वचन आगम है कि यह शुभराग मैल है। निर्मलानन्द प्रभु से वह पृथक् चीज़ है और मैल से निर्मलानन्द भगवान भी भिन्न है। ऐसा भगवान की वाणी कहती है, भगवान कहते हैं। और जैसे स्वर्ण की कालिमा भिन्न है, यह युक्ति, ऐसे स्वर्ण समान भगवान चैतन्यमूर्ति से पुण्य के परिणाम मैल, वे पृथक् हैं और स्वानुभव—राग से भिन्न पड़कर भेदज्ञानी धर्मी जीव उसे कहते हैं, वह राग से भिन्न पड़कर भेदज्ञानी जीव द्वारा चैतन्य स्वयमेव राग के अवलम्बन बिना अनुभव में आता है। इसलिए कितने ही कहते हैं न कि व्यवहार, निश्चय का कारण है। यहाँ तो कहते हैं कि उसके अवलम्बन बिना भेदज्ञान द्वारा (आत्मा) भिन्न दिखता है। आहाहा! कहो, शशीभाई! यह तुम्हारे वेदान्त-फेदान्त में तो ऐसा कुछ नहीं। आहाहा! जैनदर्शन के नाम पर गड़बड़ चली है यहाँ।

आहाहा! **स्वयं उपलभ्यमानम्..** आत्मा तो स्वयं स्व के अवलम्बन की दृष्टि करने से राग से भिन्न स्वयं अनुभव में आता है, आहाहा! इसलिए भी राग को जीव नहीं—ऐसा भगवान कहते हैं, और आगम ऐसा कहता है और अनुभवी जीव भी (आत्मा का) राग से भिन्न अनुभव करते हैं; इसलिए राग से भिन्न है। आहाहा! अब, इतनी बात की अब। यह पहला बोल हुआ। आठ बोल हैं न?

(२) अनादि जिसका पूर्व अवयव है.. कर्म, कर्म.. **और अनन्त जिसका**

भविष्य का अवयव है.. अंश है अंश। कर्म का एक भाग.. **ऐसी एक संसरणरूप क्रिया..** चौरासी में परिभ्रमण की क्रिया, उसका कारण तो कर्म है—ऐसा अज्ञानी कहता है। कर्म के कारण उसके एक भाग से भटका और एक भाग से भटकेगा, इसलिए हमारे (तो) कर्म ही जीव है; भिन्न जीव है, यह हम नहीं जानते। आहाहा! अनादि जिसका पूर्व भाग है, अर्थात् कर्म का अवयव - एक अंश, **और अनन्त जिसका भविष्य का अवयव है — ऐसी एक संसरणरूप..** अनादि-अनन्त लिया.. ऐसा अनादि, ऐसा अनन्त। **एक संसरणरूप क्रिया के रूप में क्रीड़ा करता हुआ कर्म भी जीव नहीं है..** यह (अज्ञानी) कहता है कि वह (कर्म) जीव है; हमारे तो कर्म की क्रिया से परिभ्रमना-भटकता है, उससे अलग हमें तो दिखता नहीं—अज्ञानी ऐसा कहता है। उसके उत्तर में यह कहते हैं कि वह जीव नहीं है। कर्म के कारण जो परिभ्रमण की क्रिया दिखती है, वह जीव नहीं है। आहाहा! **क्योंकि कर्म से भिन्न अन्य चैतन्यस्वभावरूप जीव,..** इस परिभ्रमण की क्रिया के रागभाव से चैतन्यस्वभाव जीव भिन्न, आहाहा! **अन्य चैतन्यस्वभावरूप जीव, भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है,..** कर्म के कारण होती विकृति-परिभ्रमण का भाव, उससे आत्मा भिन्न है—ऐसा भेदज्ञानी द्वारा धर्मी जीव द्वारा.. यह कर्म के अवयवरूपी जो क्रिया, उससे भिन्न भेदज्ञानी द्वारा, धर्मी द्वारा, समकिती द्वारा भिन्न अनुभव किया जाता है। आहाहा! ऐसी बात! **(अर्थात् वे उसका स्वयं) प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।** दो बोल हुए।

तीसरा (बोल)—**तीव्र-मन्द अनुभव से भेदरूप होनेवाले दुरन्त राग-रस से भरे हुए अध्यवसानों की सन्तति..** राग मन्द और तीव्र, उसकी जो एकताबुद्धिरूप अध्यवसाय.. आहाहा! है? **दुरन्त रागरस से भरे हुए..** राग से भरे हुए, जिसका अन्त कठिन है, ऐसे जो अध्यवसान, उनकी सन्तति **भी जीव नहीं है..** आहाहा! क्या कहते हैं? राग की मन्दता और राग की तीव्रता की सन्तति / प्रवाह चलता है, वह जीव नहीं है, आहाहा! क्योंकि परिभ्रमण का कारण जीवद्रव्य नहीं है। यह कर्म के निमित्त से परिभ्रमण हुआ, वह जीवस्वरूप नहीं है। आहाहा! है? **तीव्र-मन्द अनुभव से भेदरूप होनेवाले दुरन्त..** जिसका अन्त लाना कठिन है—ऐसे रागरस से भरे हुए अध्यवसानों से (भिन्न) **जीव भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है, अर्थात् वे उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।** आहाहा!

चौथा (बोल)—यह शरीर, शरीर है, वह जड़-मिट्टी का है। ऐसे कि **नयी..** दशा-

युवा अवस्था और **पुरानी अवस्था..** वृद्ध अवस्था, (जिसमें) सब हड्डियाँ कमजोर पड़ गयी। अज्ञानी कहता है कि हमारे तो यह शरीर है, वही आत्मा है। शरीर शिथिल हो तो हम कठोर काम नहीं कर सकते। जब शरीर मजबूत होवे, तब काम कर सकते हैं; इसलिए हमारे तो शरीर ही आत्मा है— आहाहा! ऐसे अज्ञानी, शरीर की क्रियाएँ हम करते हैं, यह हलन-चलन वह हमारी क्रिया है (—ऐसा मानते हैं।) परन्तु वह तो जड़ की क्रिया है, भाई! तुझे पता नहीं है। उसका उत्तर देते हैं—**नयी-पुरानी अवस्था..** नयी और पुरानी, ताजी अवस्था, ऐसे बालक जन्मता है न; युवा अवस्था—ऐसा मजबूत शरीर दिखायी दे और वह शरीर शिथिल पड़ जाए, चमड़ी लटक जाए—यह नयी और पुरानी अवस्था जो शरीर, वह हम हैं—ऐसा अज्ञानी कहते हैं। उन्हें उत्तर देते हैं। आहाहा! इस (नयी-) **पुरानी अवस्थादि के भेद से प्रवर्तमान नोकर्म शरीर भी जीव नहीं है..** आहाहा! यह युवा और वृद्ध अवस्था तो शरीर की अवस्था है; वह तेरी नहीं है, तू नहीं है। आहाहा!

तेरी अवस्था के तीन प्रकार (हैं)—बाल अवस्था, युवा अवस्था और वृद्ध अवस्था। इस राग की क्रिया को अपनी मानना, वह बाल अवस्था इसकी है, यह बालक है; वह चाहे तो लाख वर्ष की उम्रवाला शरीर हो, परन्तु वह राग को अपना मानता है तो वह बालक है और राग से भिन्न जानकर अन्तर-आत्मा को जो पहिचानता है, वह अन्तर का युवा है। आहाहा! और अन्तर में जाकर, स्थिरता करके केवलज्ञान प्राप्त करता है, वह वृद्ध है—यह तीन अवस्था इसकी है, यह (शरीर की) नहीं। आहाहा! लोगों को ऐसा कहाँ जँचता है? पूरे दिन शरीर से काम करता हो—यह लाओ, वह लाओ, पैसे गिने, दे-ले-दे, यह सब क्रिया मेरी है यह सब.. परन्तु प्रभु! वह तो जड़ है। जड़ की क्रिया तुझमें से नहीं और तुझसे नहीं। है? **क्योंकि शरीर से भिन्न अन्य चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियों द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है, अर्थात् वे उसे प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।** आहाहा!

(पाँचवाँ बोल—) **समस्त जगत को पुण्य-पापरूप से व्याप्त करता..** देखा? पुण्य-पाप आया, शुभ-अशुभ राग उससे, **(वह) कर्मविपाक..** वह आत्मा का पाक नहीं है। आहाहा! आत्मा का पाक तो आनन्द और शान्ति उसमें पकती है। वह तो ऐसा खेत है कि जिसमें से अतीन्द्रिय आनन्द और शान्ति पके। आहाहा! इस पुण्य-पापरूप से व्याप्त करता (कर्मविपाक), **भी जीव नहीं है क्योंकि शुभाशुभभाव से भिन्न अन्य..** इस

शुभाशुभभाव से भिन्न **चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियों द्वारा..** आहाहा! अरे..रे! प्रभु.. प्रभु.. प्रभु.. यहाँ तो कहते हैं कि अभी शुभभाव—पंचम काल में तो शुभभाव ही होता है। अरे प्रभु! तो पंचम काल में धर्म नहीं होता? आहाहा! अरे! ऐसा अच्छा किया, छानबीन की! आहाहा! इस शुभाशुभभाव से अन्य-भिन्न भगवान तो अन्दर पुण्य-पाप के भाव से भिन्न, आहाहा! **चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियों द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है।** समकिती-भेदज्ञानी ऐसा स्वयं उसे प्रत्यक्ष - राग के अवलम्बन बिना, मति-श्रुतज्ञान द्वारा **प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं..** आहाहा! इसलिए ये पुण्य और पाप के शुभ-अशुभभाव, जीव नहीं हैं। चार बोल हुए।

विशेष कहेंगे। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ११६ गाथा-४४, श्लोक-३४ दिनाङ्क २३-१०-१९७८, सोमवार
आसोज कृष्ण ७, वीर निर्वाण संवत् २५०४

समयसार गाथा ४४। चार बोल चले हैं। है न! आठ बोल में चार बोल का उत्तर दिया। पाँचवाँ, **समस्त जगत को पुण्य-पापरूप व्याप्त करता कर्म-विपाक भी जीव नहीं है..** कर्म का विपाक पुण्य-पापरूप के भाव से व्याप्त, वह जीव नहीं है। आहाहा! **क्योंकि शुभाशुभभाव से अन्य पृथक्..** शुभ और अशुभभाव, हिंसा, झूठ, चोरी, विषय-भोग, वासना, कमाना इत्यादि भाव पाप; दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा इत्यादि पुण्य - इन **शुभाशुभभाव से अन्य पृथक् चैतन्यस्वभावरूप जीव,..** यह कर्ता की व्याख्या है। जो शुभ-अशुभभाव होते हैं, वे वस्तुत: कर्म का विपाक है। यह ३२ (गाथा) में आ गया है। कर्म भावक है और शुभ-अशुभभाव उस भावक का भाव्य है। उस कर्म के विपाक का भाव है। चैतन्य का विपाक वह नहीं होता। आहाहा! शुभ-अशुभभाव वह कर्म के भावक का भाव, वह कर्म का विपाक है, आहाहा! वह जीव नहीं है। क्योंकि सम्यग्दृष्टि और **भेदज्ञानियों के द्वारा..** इन शुभाशुभभाव से पृथक् आत्मा अनुभव में आता है। आहाहा!

शुभाशुभभाव से अन्य पृथक्.. भाव से अन्य पृथक्.. आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात है, भाई! सूक्ष्म ज्ञान का उपयोग होकर जो स्वभाव के सन्मुख ढला है, ऐसे भेदज्ञानियों

द्वारा, इन शुभाशुभभाव से अन्य पृथक्.. आहाहा! अन्य पृथक् चैतन्यस्वभावरूप जीव,.. ये शुभ-अशुभभाव, वह कर्म के विपाक का कार्य है; जीव का नहीं। यह कर्ता-कर्म का कर्म विपाक है उसका-उस कर्ता का कार्य है। यहाँ अज्ञानी ने ऐसा कहा था न कि शुभ-अशुभभाव हमारा कार्य है, उससे पृथक् जीव हमें तो दिखाई नहीं देता। आहाहा! कठिन बात बहुत, भाई! अतीन्द्रिय आनन्द का पिण्ड प्रभु, उसे पुण्य और पाप के शुभाशुभभाव से अन्य जीव हैं, वह जीव है। उसे भेदज्ञानी, धर्मी जीव, समकिती जीव, उस शुभाशुभभाव से अन्य आत्मा है.. है? **भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है,..** स्वयं प्राप्त, स्वयं से प्राप्त है। वह शुभभाव था, इसलिए उसका अभाव करके (प्राप्त) हुआ है, इसलिए स्वयं प्राप्त हुआ है। यह ऐसा कहते हैं न कि भाई! दया, दान, व्रतादि के आचरण का भाव हो, उस भाव से शुद्धता प्रगट होती है। वह यहाँ इनकार करते हैं कि ऐसा नहीं है, भाई! तुझे पता नहीं है। जिससे भिन्न अनुभव करना है, उससे वह होगा? आहाहा!

अरेरे! इसे जन्म-मरणरहित होने का पंथ कोई अलौकिक है, प्रभु! आहाहा! यह शुभ और अशुभ, दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, जो जैनधर्म नहीं है, आहाहा! - ऐसे भाव से पृथक् स्वयं अपने ज्ञान की पर्याय द्वारा अनुभव में आता है। आहाहा! इसलिए वह शुभाशुभभाव, (वह) जीव और जीव का स्वरूप नहीं है। आहाहा! यह कर्तापने की व्याख्या है। शुभाशुभभाव, वह आत्मा का कर्तव्य है, और आत्मा कर्ता है - ऐसा नहीं है। शुभाशुभभाव, भावककर्म कर्ता है और उसका वह कार्य है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! जो ज्ञान की पर्याय वर्तमान अन्तरस्वरूप में ढलती है, वह पुण्य और पाप के भाव से भिन्न पड़कर ढलती है, वह पुण्य का शुभभाव को साथ रखकर अन्दर में जाती है या उसकी मदद से अन्दर जाती है - ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसी बातें, भाई!

यह किसका अर्थ हुआ? यह **स्वयं उपलभ्यमान है,** आहाहा! **अर्थात् वे स्वयं..** भेदज्ञानी जीव, सम्यग्दृष्टि जीव, **स्वयं उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।** 'स्वयं' का अर्थ प्रत्यक्ष किया है। आहाहा! ज्ञानानन्द भगवान आत्मा, उस ज्ञानानन्द की ज्ञान की पर्याय स्वयं प्रत्यक्ष होकर उसे अनुभव करती है। आहाहा! इसका नाम आत्मा जाना और आत्मा माना, उसने आत्मा का अनुभव किया। ऐसी बात सूक्ष्म है, भाई! आहाहा! यह पाँचवाँ बोल हुआ।

(छठवाँ बोल) अब भोक्ता की बात है। **साता-असातारूप से व्याप्त समस्त तीव्र-मन्दतारूप गुणों के द्वारा भेदरूप होनेवाला कर्म का अनुभव..** है वह। आहाहा! कल्पना हुई कि यह सुख, यह संयोग अनुकूल है, इसलिए मैं सुखी हूँ, प्रतिकूल संयोग है, इसलिए दु:खी हूँ - ऐसी जो कल्पना, वह सुख-दु:ख का जो अनुभव, वह जीव का नहीं है। आहाहा! वह जीव उसका भोक्ता नहीं है। **तीव्र-मन्दतारूप गुणों के द्वारा भेदरूप होनेवाला..** यह तो राग का मन्दभाव हो या तीव्र हो, परन्तु उसका भोक्ता आत्मा नहीं है। आहाहा! राग की मन्दता का सुखरूप वेदन कल्पना का या तीव्र रागरूपी दु:ख का वेदन, वह जीव का नहीं है। आहाहा! उस तीव्र-मन्दतारूप भेद से होनेवाला कर्म का अनुभव वह है। आहाहा! हम सुखी हैं, पैसे-टके से अनुकूलता से हम सुखी हैं-ऐसा माननेवाले, उस कर्म के विपाक को स्वयं अनुभव करते हैं। आहाहा! हम दु:खी हैं, पैसा न मिले, यह न मिले.. आहाहा!

यहाँ आया था न, एक व्यक्ति मन्दसौर का, मैं तीर्थंकर हूँ.. नाम भूल गये। पाटनीजी! यहाँ आया था। व्याख्यान सुना, पत्र दिया था पहले, महीने पहले, मैं तीर्थंकर हूँ, केवली हूँ, मुझे चार घातिकर्म नाश हुए हैं, भगवान को भी चार घातिकर्म नाश हुए थे परन्तु उनके पास पैसे नहीं थे, वैसे ही मेरे पास पैसे नहीं हैं। अरे रे! आहाहा! यह दु:ख का वेदन है। निर्धनता का अनादि से। यह वेदन तो कर्म के पाक का वेदन है। कहो, अब वह कहे कि मुझे घातिकर्म का नाश हुआ है और मैं सब बताऊँ ऐसा कि.. फिर तो मैंने कहा बापू! ये क्या है भाई! दृष्टि विपरीत हो गयी बहुत भाई! वह सुने (नहीं) वापस, यहाँ तो मध्यस्थ से कहा जाता है। किसी का अनादर नहीं है। वापस खड़ा होकर ठीक से पैर लगा। अरे भाई! दु:ख का यह निर्धनता और साधन नहीं है, उसका वेदन-दु:ख का, वह तो कर्म का वेदन है। यह मिथ्यादृष्टि उसे वेदता है। सम्यग्दृष्टि जीव, भेदज्ञानी जीव, इस राग के वेदन से भिन्न पड़ा हुआ भगवान, आहाहा! उसे स्वयं वेदते हुए वह उससे पृथक् रह जाता है - राग का वेदन पृथक् रह जाता है; आत्मा में नहीं आता। आहाहा! ऐसी बातें अब यह तो.. अरे रे! एक तो बाह्य की प्रवृत्ति के कारण निवृत्ति नहीं मिलती.. आहाहा! और बाह्य की प्रवृत्ति छोड़े तथा बाह्य से निवृत्ति ले तो अन्दर के पुण्य-पाप के परिणाम से निवृत्ति नहीं मिलती। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, वह अज्ञानी ऐसा कहता था कि हमारे तो कर्म का विपाक ऐसा जो शुभ-अशुभभाव, वही हमारा वेदन है और वही हम जीव हैं। आहाहा! उसका उत्तर आचार्य ने यहाँ दिया है, भाई! तुझे पता नहीं है। यह सुख-दुःख का वेदन, यह तो जड़ का वेदन है। आहाहा! प्रभु! तू इससे भिन्न है न? आहाहा! यह भेदज्ञानी द्वारा.. आहाहा! सुख-दुःख से पृथक्। उस वेदन का है यह। कर्म के निमित्त से पैसे हुए पाँच-पचीस करोड़ या धूल करोड़, हम सुखी हैं, वह मूढ़ जीव, राग को सुख के नाम से वेदन करता है.. आहाहा! और वह ऐसा कहता है कि सुख-दुःख के वेदन से पृथक् जीव हमें तो कहीं दिखता नहीं। कहाँ से दिखे? भाई! तेरी दृष्टि ही पर्याय पर, सुख-दुःख के वेदन पर पड़ी है। आहाहा! भगवान वहाँ है नहीं; आहाहा! भगवान आत्मा तो अन्दर सुख-दुःख के वेदन से भिन्न जाति अन्दर है - ऐसी बातें अब। हैं?

श्रोता : अलौकिक बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसी बात है, भाई! यह कर्म का अनुभव-सुख-दुःख का (अनुभव) हम सुखी हैं.. कहा था न, एक बार यहाँ, वे वढ़वान के नानालालभाई और वे सब पैसेवाले, करोड़पति पैसेवाले, उनका समधी, यह व्याख्यान चलता था स्वाध्याय मन्दिर में.. हमारे समधी सुखी हैं। मैंने कहा, भाई! सुखी की व्याख्या क्या? दो-पाँच लाख, पचास लाख, करोड़-दो करोड़ मिले, इसलिए सुखी? यह पैसे की ओर लक्ष्य जाता है, वह तो दुःख है और वह दुःख का वेदन है, पैसे का नहीं। आहाहा! और वह वेदन, जड़ का वेदन है; भगवान चैतन्य का नहीं। वह जड़ है, राग है, वह अचेतन है, उसका उसे वेदन है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं **साता-असातारूप से व्याप्त समस्त तीव्र-मन्द..** असाता में तीव्र और इसमें-साता में मन्द हो। ऐसे **गुणों के द्वारा भेदरूप होनेवाला कर्म का अनुभव..** है। भाई! आहाहा! यह तो साता के उदय से प्राप्त सामग्रियाँ, इनमें तुझे सुख भासित होता है, वह तो कर्म के पाक की कल्पना है। आहाहा! उसमें प्रभु आत्मा अन्दर आया नहीं.. आहाहा! और निर्धनता होवे, पाई मिले नहीं, महाकठिनता से माँगकर रोटियाँ खाता हो इत्यादि.. आहाहा! वह भी दुःख का परिणाम, वह कर्म का पाक है; वह जीव का स्वभाव नहीं है। आहाहा!

हमारे बहुत वर्ष पहले एक साधु आये थे, वहाँ पालेज में ऐसी बातें करे। ऐसी सब वैराग्य की। 'कुत्ते के भव में मैंने बीनकर खाये टुकड़े' कुत्ते के भव में, क्योंकि कुछ जोली नहीं मिले, कपड़ा नहीं मिले, पात्र नहीं मिले, लोटा नहीं मिले, वहाँ टुकड़े मिलें। 'कुत्ते के भव में मैंने बीनकर खाये टुकड़े', 'मैंने भूख के पाये भड़का भूदरजी तुमको भूला' - ऐसा बोले उस समय उन्हें तो दूसरा क्या ? आहाहा ! कहते हैं कि जो भूख का दर्द सहन किया - ऐसा जो दु:ख वह तो कर्म का पाप है। आहाहा ! समझ में आया ?

भेदज्ञानी जीवों ने, आहाहा ! उस सुख-दु:ख के वेदन से भगवान आत्मा भिन्नस्वरूप से विराजमान है, आहाहा ! उसे सुख-दु:ख से पृथक्.. आहाहा ! अन्य चैतन्यस्वभावरूप जीव, आहाहा ! इसका अर्थ यह हुआ न कि शुभ-अशुभ का वेदन, वह चैतन्यस्वभाव नहीं है। अन्य चैतन्यस्वभावरूप जीव.. आहाहा ! भेदज्ञानियों के द्वारा, इस सुख-दु:ख की कल्पना के वेदन से भिन्न पड़े हुए भेदज्ञानी जीवों (के द्वारा) आहाहा ! स्वयं उपलभ्यमान है, आहाहा ! प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं, प्राप्ति है - ऐसा कहते हैं। आहाहा !

भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय ज्ञान की खान है, वह जिसके ज्ञान में ज्ञात हुआ, वह सुख-दु:ख के वेदन से अन्य पृथक् प्रभु, उसे-चैतन्यस्वभाव को वह अनुभव करता है। आहाहा ! भेदज्ञान द्वारा स्वयं प्रत्यक्ष प्राप्त है। आहाहा ! ऐसी बात अब ! वीतराग-वीतराग मार्ग सूक्ष्म, भाई ! तीर्थंकर सर्वज्ञ परमेश्वर ने.. ऊपर कहा था, (कि) तीर्थंकर सर्वज्ञ परमेश्वर ने कहा है कि वह जीव नहीं है। पहला बोल आया था। आहाहा ! यह सुख-दु:ख का वेदन, वह जीव नहीं है—ऐसा सर्वज्ञ भगवान तीर्थंकरदेव ने कहा है। आहाहा !

यह तो एक गाथा उत्तराध्ययन में, बीसवें अध्ययन में ऐसी आती है.. आत्मा, सुख-दु:ख का कर्ता है और उनका भोक्ता है-ऐसा आता है। अनाथी मुनि का बीसवाँ अध्ययन है, व्याख्यान हो गये न बहुत वहाँ तो बहुत। उसमें यह बात स्पष्ट है ही नहीं। आहाहा ! यहाँ तो आत्मा, कर्ता और भोक्ता, वह अपनी निर्मल शुद्धपर्याय का कर्ता और उसका भोक्ता (है)। विकारी परिणाम का कर्ता-भोक्ता, वह आत्मा नहीं, आहाहा ! क्योंकि इस सुख-दु:ख की कल्पना के भाव को तो भगवान ने अजीव कहा है। आया था न पहले ? आहाहा ! है जीव की पर्याय, परन्तु वह कर्म के उदय से हुई, इसलिए उसे अजीव कहा है। आहाहा !

भगवान आत्मा अतीन्द्रिय शान्ति का भरा हुआ, अतीन्द्रिय आनन्द का भरा हुआ प्रभु—ऐसे जीव का, आत्म का; जिसे इस सुख-दु:ख के वेदन से अन्य भगवान वेदन में आया, आहाहा! वह प्रत्यक्ष आनन्द और शान्ति को वेदता है, वह सुख-दु:ख को वेदता नहीं है। आहाहा! दूसरी जगह फिर ऐसा भी आवे; यहाँ! तो यह भेद मात्र पर से किया है, बाकी धर्मी जीव भी अपने आनन्द को भी वेदता है और अभी किंचित् बाकी रहा है, उस राग को वेदता है अर्थात् दु:ख को वेदता है। यहाँ तो दु:ख, वह कर्म के विपाक का फल गिनकर, जीव से भिन्न गिनकर, उसे वेदता नहीं—इतना सिद्ध करना है। यह जीव-अजीव अधिकार है न? आहाहा! परन्तु फिर इसमें से एकान्त खींच ले कि धर्मी-आत्मज्ञानी को पर्याय में दु:ख होता ही नहीं-ऐसा नहीं है। यह तो जीव-अजीव की भिन्नता बतलाते हुए, उस अजीव का वेदन उसे नहीं है; परन्तु जब धर्मी जीव है, राग और राग के वेदन से भिन्न पड़े हुए का वेदन है, उसके साथ अभी थोड़ी राग की आसक्ति है, उसका वेदन दु:ख का है। आहाहा! अब ऐसी बातें! यहाँ पकड़े और वहाँ ऐसा कहे कि नहीं, ऐसा नहीं और वहाँ कहा हो तो वापस यहाँ मिलान न खाये। आहाहा!

किस अपेक्षा से कहा है प्रभु? प्रवचनसार के सैतालीसनय अधिकार में तो उन्होंने यहाँ तक कहा है कि आत्मा शुद्ध चैतन्यघन का भान हुआ, उसका जिसे ज्ञान और आनन्द वर्तता है, उसे अभी राग और दु:ख वर्तता है, उसका वह स्वामी है—अधिष्ठाता है। आहाहा! यहाँ इनकार करते हैं। यह तो जीव-अजीव को भिन्न करने की अपेक्षा बात है। आहाहा! यहाँ तो सुख-दु:ख की वेदनदशा, वह जीव की नहीं; अजीव की है—ऐसा कहकर भिन्न किया है। वहाँ आगे सम्यग्दृष्टि हुआ है, भेदज्ञानी है, उसे भी पूर्ण वीतरागता और पूर्णानन्द की दशा नहीं, तब तक आनन्द को भी वेदता है और दु:ख जो कर्म का विपाक, पाक यहाँ कहा, आहाहा! ऐसे दु:ख को भी वेदता है। रतिभाई! ऐसी बातें हैं। आहाहा!

श्रोता : इसमें से सच्चा क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : हैं! दोनों सत्य है। यह जड़ और चैतन्य के विपाक को भिन्न बतलाना है और वहाँ भिन्न बतलाये होने पर भी, उसकी पर्याय में जितनी सुख-दु:ख की कल्पना होती है, उसका वह वेदन करनेवाला है। भाई मोहनलालजी! ऐसी बात है, भाई! यह क्या हो?

अरेरे! दुनिया कहीं दु:खी होकर भटक रही है। आहाहा! पागल होकर पर में सुख है-ऐसा मानती है। आहाहा! भगवान तीर्थंकर सर्वज्ञदेव तो पुकार करते हैं, हम कहते हैं प्रभु! यह सुख-दु:ख की कल्पना जो है, वह अजीव है।

श्रोता : वह अपने में से निकल जाता है इसलिए... ?

पूज्य गुरुदेवश्री : उसका चित्स्वरूप नहीं है न ? इसके द्रव्य-गुण में है वह चीज ? कोई गुण-कोई गुण विकृत हो-ऐसा कोई गुण है ? कोई गुण सुख-दु:ख को वेदे—ऐसा कोई गुण है ? पर्याय की व्याख्या जब चले, तब.. प्रवीणभाई! आहाहा! ऐसी बात है। भगवान आत्मा अपार-अपार गुणों का सागर है। वे अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. चाहे जितने अनन्त करो तो भी जिसके गुण की संख्या का पार नहीं, परन्तु उन सब गुणों में—इतने गुणों में कोई गुण ऐसा नहीं कि विकार करे; कोई गुण ऐसा नहीं कि विकार को वेदे। आहाहा! समझ में आया ?

जहाँ शक्ति का अधिकार चला, वहाँ तो सब गुण हैं भगवान आत्मा के; इसलिए उनका परिणमन क्रमसर भी निर्मल ही है। क्रम भी निर्मल है और अक्रम जो गुण हैं, वे भी निर्मल हैं। शक्ति का अधिकार जहाँ चला, वहाँ। विकार का रहना या वेदना या होना, वह उसमें है ही नहीं, क्योंकि भगवान आत्मा में जो शक्तियाँ-गुण हैं... आहाहा! 'मोरबी' के पास है न एक ? विहार करके गये थे न उस दिन! वहाँ एक शक्ति का बड़ा मन्दिर है। शक्ति को देवल, अन्यमती का। मोरबी के पास सनाला है। दलीचन्दभाई के भाई की बहू का वहाँ मकान है। फिर आहार करके मैं घूमने निकला, वहाँ वह शक्ति का मन्दिर था, वहाँ गया। वे बेचारे बाबा (बोले) पधारो... पधारो। मैंने कहा—भाई! यह शक्ति नहीं, वास्तविक शक्ति देवी भी यह नहीं। अन्तर में ज्ञान-दर्शन आदि शक्ति, वही देवी है। वे ऐसा कहते थे कि ईश्वर को शक्ति बिना भी चलता नहीं। ऐ पोपटभाई! यह तुम्हारी बात चलती है, यह पूर्व की सब। ईश्वर को शक्ति के बिना चलता नहीं, वह यह हमारी शक्ति है, कहते हैं। (हमने) कहा-यह नहीं। यह (आत्मा) ईश्वर-भगवान है, उसके गुणरूपी शक्ति के बिना उसे चलता नहीं। ऐसी बात है, कहा। भाई! वहाँ मकान है मोरबी के पास सनाला है या कोई। दलीचन्दभाई के भाई की बहू का मकान है, वहाँ उतरे थे। आहाहा!

यहाँ कहना है, प्रभु आत्मा है, उसमें अनन्त-अनन्त शक्तिरूप गुण है, परन्तु कोई गुण विकृतरूप से परिणमें-ऐसा कोई गुण नहीं है। वह तो पर्याय में पर के आधीन होकर विकृत होता है। उस गुण के आधीन नहीं होता, इसलिए होता है। अब उसके भी प्रकार दो—कि जब यह राग और दुःख का वेदन अजीव कहकर, भेदज्ञानियों को वह नहीं, तब उसे जीव के सुख-दुःख का, आत्मा के सुख का वेदन है—यह सिद्ध करना है; और जब नय का अधिकार चले, तब तो पर्याय में जितना अन्दर समकिती को ज्ञानी.. आहाहा! को भी विषय-वासना आवे, वह दुःख है। दया, दान, भक्ति के परिणाम आवें, वे दुःख हैं, आहाहा! और उस दुःख को तथा आनन्द को दोनों को, एक पर्याय में दो भाग, दोनों को वेदता है। आहाहा! ऐसी बात प्रभु! वीतराग के सिवाय कहीं मिले-ऐसी नहीं है। अभी तो वीतराग के बाड़े में भी खबर नहीं पड़ती। आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं, इस **सुख-दुःख से भिन्न अन्य चैतन्यस्वभावरूप जीव..** इससे—सुख-दुःख की कल्पना जो है, वह कर्म के पाक का पाक गिनकर, उससे **अन्य चैतन्यस्वभावरूप जीव, भेदज्ञानियों द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है**। स्वयं का अर्थ स्वयं उसे प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। स्वयं का अर्थ यह किया। आहाहा! यह सुख-दुःख की जो कल्पना—हम सुखी हैं, हम अभी हैरान-हैरान दुःखी हैं-ऐसा कहते हैं न कितने ही। दो-चार वर्ष से घर में एक के बाद एक बीमार पड़ता हो; कोई लड़का बीमार पड़कर उठे, वहाँ बहू-बहू बीमार होकर उठे, वहाँ स्वयं बीमार पड़े—ऐसा क्रम से पाँच वर्ष से पलंग खाली नहीं होता, अभी हैरान-हैरान हो गये - ऐसा कहते हैं।

किन्तु यह हैरान अर्थात् क्या? यह तो दुःख की कल्पना में हैरान हो गया है। आहाहा! हम अभी दुःखी है, दुःखी हैं; आहाहा! कोई हमें मदद करो, हम दुःखी हैं-ऐसा कहते हैं। कहते हैं कि दुःखी है, वह पर्याय विकृत है, इससे यहाँ उसे अजीव कही। भगवान ने उसे अजीव कहीं; उससे अन्य-भिन्न चैतन्यस्वभाव, भेदज्ञानी द्वारा अनुभव किया जाता है। आहाहा!

श्रोता : उसके साथ इसका अनुभव तो है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह है, परन्तु अभी यहाँ भिन्न किया है, उसमें गिनना नहीं; परन्तु

जब इसकी पर्याय इसकी है-ऐसा जब कहना है.. वह सुख-दु:ख की पर्याय भी है तो जीव की न ? वह कहीं जड़ की और जड़ से हुई नहीं। आहाहा ! तब उसे ऐसा कहा कि जितने नयों के सुख-दु:ख कर्ता, सुख-दु:ख का भोक्ता, उन सबका स्वामी/अधिष्ठाता तो प्रभु स्वयं है; कर्म के कारण नहीं। आहाहा ! यह ज्ञानप्रधान कथन की शैली में ऐसा आता है; दृष्टिप्रधान शैली में, वह वेदन आत्मा का नहीं-ऐसा आता है। आहाहा ! क्या हो ? भगवान परमात्मा जिनेश्वरदेव द्वारा कथित अपूर्व मार्ग है, भाई ! अरे ! यह सत्य बात सुनने को मिले नहीं, वह सत्य की शरण में कब जाए ? आहाहा ! यह छठवाँ बोल हुआ। आहाहा !

यह शरीर-वाणी-मन तो अजीव है, यह तो स्पष्ट बात है। यह मिट्टी है, वह अजीव -जड़-धूल है; वाणी धूल-जड़ है, कर्म जड़ है, परन्तु यहाँ तो पुण्य-पाप का वेदन है, वह जड़ है। आहाहा ! चैतन्यस्वभाव की जाति नहीं, इस अपेक्षा से। आहाहा ! ऐसी बात है।

सातवाँ बोल—**श्रीखण्ड की भाँति उभयात्मकरूप से मिले हुए आत्मा और कर्म दोनों मिलकर भी जीव नहीं है..** यह कहते हैं कि कर्म और आत्मा दोनों मिलकर आत्मा है, क्योंकि कर्म के बिना किसी दिन रहा नहीं; इसलिए कर्म और आत्मा दोनों मिलकर जीव है.. आहाहा !—ऐसा अज्ञानी कहता है। ऐसे यहाँ श्रीखण्ड में जैसे दही और शक्कर उभयात्मकरूप से मिले हुए, वैसे आत्मा और कर्म दोनों मिले हुए भी जीव नहीं है। शक्कर, वह शक्कर है और दही, वह दही; दोनों भिन्न चीज है। इसी प्रकार भगवान आत्मा शक्कर के समान आनन्दकन्द प्रभु भिन्न है.. आहाहा ! और सुख-दु:ख की जो यह वेदनदशा अथवा कर्म का फल, वह सब जड़ है; दोनों एक नहीं हैं। दही और खाँड-शक्कर एक नहीं है। श्रीखण्ड में कहा जाता है कि दोनों एक हैं, परन्तु एक नहीं है। इसी प्रकार भगवान आत्मा चैतन्यघन अनाकुल आनन्द का स्वरूप, वह भिन्न है और कर्म का स्वरूप अत्यन्त भिन्न है। जैसे वह खट्टा दही भिन्न है और मीठी शक्कर भिन्न है; इसी तरह भगवान मीठा-आननद का नाथ, वह भिन्न है और कर्म, वह दही की भाँति खटाश है, वह भिन्न है। अरे ! ऐसी बात ! यह किसलिए कहा ? हमरे बँधे हुए कर्म हमें भोगना पड़ें—ऐसा कहते हैं न ? हमने बाँधे, वैसे भोगेंगे, परन्तु वे तूने बाँधे ही नहीं और उनका भोगनेवाला भी तू नहीं।

यह आता है न ? स्थानकवासी में व्याख्यान शुरु करे, तब यह बोलते हैं—बाँधे कर्म भोगने पड़ें-ऐसा कुछ बोलते हैं। हम भूल गये। हम भी बोलते थे। 'कर्म से राजा, कर्म से

रंक; कर्म ने डाला आडा अंक' ऐई! स्थानकवासी में ऐसा बोलते (थे), व्याख्यान के प्रारम्भ में पाँच मिनिट ऐसी स्तुति करे। अब यह ऐसा कि मानो.. अब सब भूल गये।

कर्म के कारण यह सब होता है, कर्म के कारण यह सब होता है, तत्त्व की बात ही नहीं मिलती। यह स्तुति पहले, व्याख्यान शुरु करे न, (तब) पाँच मिनिट पहले ऐसी स्तुति करे। यहाँ कहते हैं—कर्म और आत्मा अत्यन्त भिन्न चीज है। जैसे खाँड और दही भिन्न हैं, वैसे कर्म जो है, वह जहर का वृक्ष है। यह आगे आता है न, १४८ प्रकृति, जहर का वृक्ष और भगवान, अमृत का वृक्ष है। आहाहा! आहाहा! नीम इतना बड़ा, देखो! परन्तु निम्बौली इतनी छोटी होती है। हैं! और काशीफल, अधमण-अधमण के काशीफल होते हैं न काशीफल? उसकी बेल पतली-छोटी होती है, काशीफल इतना (बड़ा) पकता है। आहाहा! नारियल लो! नारियली ऐसी लम्बी-लम्बी, ऊपर ऐसे नारियल पकें, सौ-दौ सौ अन्दर मीठे; आहाहा! इसी तरह भगवान आत्मा नारियली के समान हैं, उसकी पर्याय में तो आनन्द पकता है।

श्रोता : यह श्रीमद् में आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो होगा, परन्तु अपने अभी यहाँ की बात है। वह तो नारियली है-ऐसा कहते। हमारे तो पूरी नारियली है, इतना कहा था। यह नहीं, ऐसा। ऐसा कहे कि लोगों ने नारियल की महिमा की है, परन्तु हमारे पास तो पूरी नारियली है, पूरा आत्मा है-मूल तो यह कहना है। इस बात का पता है।

यह कहते हैं कि आत्मा में जो सुख-दु:ख की कल्पना हो, वह कर्म है और आत्मा, दोनों शामिल है-ऐसा नहीं है, आहाहा! क्योंकि वह जीव नहीं है, **क्योंकि सम्पूर्णतया..** सम्पूर्णरूप से **कर्मों से भिन्न..** सम्पूर्ण कर्म-आठ कर्म से अत्यन्त भिन्न। आहाहा! भगवान आत्मद्रव्य में आठ कर्म के द्रव्य का अभाव है। भगवान आत्मद्रव्य स्वरूप है, आहाहा! आवे ऐसा वापस गोम्मटसार में कि इतने आठ कर्म, जीव को होते हैं, इसको सात होते हैं और इसको छह होते हैं, छठवें में छह बँधते हैं, पाँचवें और चौथे में सात-आठ बँधते हैं, आयुष्य सहित। यहाँ कहते हैं प्रभु, सुन! एक बार सुन! किस अपेक्षा से? वह तो साथे में थे, इतना बतलाया; आहाहा! वरना इन आठ कर्मों से भिन्न, पूरा भिन्न, सम्पूर्णरूप से

कर्मों से भिन्न.. आहाहा! चैतन्यसत्तास्वरूप भगवान, इन आठों ही कर्मों के स्वभाव के भाव से अभावस्वरूप है। आहाहा! इस शक्कर का स्वाद, श्रीखण्ड में दही के स्वभाव के स्वाद से बिल्कुल भिन्न / पृथक् है। आहाहा! समझ में आया? ये मिले हुए जीव नहीं हैं-ऐसा भगवान ने कहा है। यह तो पहले आ गया है।

क्योंकि सम्पूर्णतया कर्मों से भिन्न.. पूर्ण-पूर्ण कर्म से-समस्त कर्मों से भिन्न, आहाहा! भगवान चैतन्यतत्त्व, चैतन्यस्वभावरूप भगवान तो आठ कर्मों से अत्यन्त भिन्न, ऐसा **अन्य चैतन्यस्वभावरूप जीव..** कर्म से अन्य चैतन्यस्वभावरूप जीव, आहाहा! **भेदज्ञानियों के द्वारा..** देखो! यहाँ तो नीचे सम्यग्दर्शन में भी आठ कर्मों से भिन्न आत्मा ज्ञात होता है - ऐसा कहते हैं, आहाहा! क्योंकि जहाँ ज्ञान की पर्याय जहाँ स्वसन्मुख ढली-झुकी, तब तो आठों ही कर्मों का इसकी पर्याय में तो अभाव है; द्रव्य में तो अभाव है, आहाहा! द्रव्य-गुण में तो कभी आवरण नहीं; उसे-द्रव्य को तो कर्म का सम्बन्ध भी नहीं, परन्तु एक समय की पर्याय में जो सम्बन्ध है, निमित्त-नैमित्तिक (सम्बन्ध है), वह इस ओर ढलने से वह सम्पूर्ण कर्म से भिन्न भगवान है। आहाहा!

ऐसा उपदेश अब किस प्रकार का यह! कहाँ से आया ऐसा? जैनधर्म का ऐसा स्वरूप होगा? कहते हैं। वह तो हम सुनते थे, अपवास करना और यह करना, व्रत करने का। आहा! वहाँ कहीं अपवास हुआ है, कहीं जमशेदपुर, समाचारपत्र में आया था न? कुछ पैसा खर्च किया था भाई ने, प्रफुल्ल, नरभेराम का है न? कहीं बेचारे को पता नहीं पड़ता। यह तो सब उसको भी माने सांईबाबा (को)। अरे रे! बेचारा क्या करे? कुछ पता नहीं पड़ता और सब उसमें भाग लें। उसकी माँ को तो यहाँ का पूरा प्रेम था। यहाँ हेमकुँवरबेन, पैसे इतने दिये, अमुक किया, भाग लिया। अरे रे! यहाँ कहते हैं कि प्रभु! एक बार सुन तो सही! यह पैसा दिया, वह तुझसे अलग चीज हुई, परन्तु उसमें जो राग हुआ, उससे भी तू भिन्न है। आहाहा! ऐसा भेदज्ञानी द्वारा प्रत्यक्ष उपलभ्यमान है। उपलभ्यमान अर्थात्? प्राप्त होने के योग्य ही है—ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? यह सातवाँ बोल हुआ।

आठवाँ! है! आठ कहे, आठ! **अर्थक्रिया में समर्थ कर्म का संयोग..** आठों ही

कर्म का संयोग। ऐसा कि आठ कर्म का संयोग, वही आत्मा (है)। जैसे कि पलंग चार पाये और चार ईश, आठ का, आता है न? दो लकड़ियाँ और चार, आठ यह – यह पलंग, उसमें सोनेवाला वह अलग है। यहाँ तो कहते हैं यह आठ कर्म है, वही आत्मा है। आहाहा! आहाहा! यह लोग कहते हैं न, यह दयानन्द सरस्वतीवाले? (कि) जीव को मोक्ष होता है और वहाँ से भी वापस आता है और भटकता है, सर्वथा कर्मरहित हो – ऐसा कोई स्वरूप है ही नहीं, ऐसा कहते हैं। मोक्ष हो जाए, परन्तु साथ में कर्म थोड़े बाकी हैं, इसके बिना तो हो ही नहीं सकता अकेला, फिर वापस अवतार धारण करता है। वे यह ऐसा कहते हैं आठ कर्म रहित आत्मा होता ही नहीं – अज्ञानी ऐसा कहता है। बहुत सूक्ष्म बातें, बापू! अरे! जगत् के मतों को आठ में बहुत प्रकार डाल दिये हैं। आहाहा!

अर्थक्रिया में समर्थ.. अर्थात् पदार्थ की प्रवृत्ति करने में समर्थ। **कर्म का संयोग भी जीव नहीं है..** ऐसा भगवान कहते हैं। **क्योंकि आठ लकड़ियों के संयोग से (—पलंग से) भिन्न पलंग पर सोनेवाले पुरुष की भाँति,..** पलंग में सोता है, वह पुरुष पलंग से भिन्न है। आहाहा! अभी यह पलंग बनाते हैं न, नये? नये काथी के करते हैं न? काथी सुना है न काथी? नया। हमारे रिवाज है यहाँ, पहले सोये नहीं आदमी, पहले कुत्ते को बैठावे, वहाँ रोटी डालकर कुत्ते को खिलावे तो फिर, बाद में सोवे। नहीं तो पहले सोवे तो वह अर्थी में सो गया कहलाये। यहाँ तो कहते हैं कि उस पलंग में सोनेवाला पुरुष, पलंग से अलग है, ले! आहाहा! आठ कर्म के सम्बन्ध में दिखता है, तथापि भगवान तो आठ कर्म से अत्यन्त भिन्न है। आहाहा!

अरे रे! वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर को क्या कहना है, यह सुनने को मिलता नहीं। अरे भाई! और सत्य बाहर आवे, तब उसका विरोध करते हैं कि यह तो एकान्त है, एकान्त है! करो प्रभु! तुम भगवान हो भाई! आहाहा!

श्रोता : जब सत्य बाहर आवे, तब सत्य को समझनेवाले होते ही हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : होते हैं और विरोध करनेवाले भी होते हैं।

श्रोता : यह तो अनादि से है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह है, यह तो अनादि से है।

श्रोता : दोनों बातें अनादि से चली आती हैं, सत्य को माननेवाले और विरोध करनेवाले।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बहुत.. मार्ग ऐसा है भाई! पहले आत्मा और कर्म ये दोनों अत्यन्त भिन्न चीज है। आत्मा आठ कर्म बाँधे और आठ कर्म छोड़े, यह सब व्यवहार की व्याख्या है। कर्म उसके कारण बँधते हैं और उसके कारण छूटते हैं। आहाहा! भगवान आत्मा चैतन्य के तेज से भरपूर प्रभु, इन आठ कर्मों से अत्यन्त भिन्न है। पलंग में सोया हुआ पुरुष पलंग से भिन्न है; इसी प्रकार आठ कर्म के सम्बन्ध में रहा, तथापि वह आठ कर्म से निराला / भिन्न है। आहाहा! आठ काष्ठ के संयोग से भिन्न है। **पलंग पर सोनेवाले पुरुष की भाँति, कर्मसंयोग से भिन्न..** कर्म का तो संयोग है; संयोग कहते ही भिन्न चीज है। संयोग कहने पर वह भिन्न चीज है। हैं! आहाहा! स्वभाव कहने पर, वह उससे (संयोग) भिन्न चीज है। आहाहा!

अन्य चैतन्यस्वभावरूप जीव, भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है, अर्थात् वे स्वयं उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। आठ कहे थे न! (**इसी प्रकार अन्य किसी दूसरे प्रकार से कहा जाए...**) जिस प्रकार लोग कहते हों इससे विरुद्ध तो उसे समझ लेना कि यह तत्त्व से विरुद्ध है। (**वहाँ भी यही युक्ति जानना।**)

भावार्थ : चैतन्यस्वभावरूप जीव, सर्व परभावों से भिन्न,.. सर्व परभाव-पुण्य-पाप, कर्म, शरीर सब ले लेना। **भेदज्ञानियों के अनुभवगोचर है; इसलिए अज्ञानी जैसा मानते हैं, वैसा नहीं है।**

कलश-३४

यहाँ पुद्गल से भिन्न आत्मा की उपलब्धि के प्रति विरोध करनेवाले (-पुद्गल को ही आत्मा जाननेवाले) पुरुष को (उसकी हितरूप आत्मप्राप्ति की बात कहकर) मिठासपूर्वक (समभाव से) ही इस प्रकार उपदेश करना-यह काव्य में बतलाते हैं-

विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन
स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकम्।

हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो
ननु किमनुपलब्धिर्भाति किं चोपलब्धिः।।३४।।

श्लोकार्थ–हे भव्य! तुझे [अपरेण] अन्य [अकार्य–कोलाहलेन] व्यर्थ ही कोलाहल करने से [किम्] क्या लाभ है? तू [विरम्] इस कोलाहल से विरक्त हो और [एकम्] एक चैतन्यमात्र वस्तु को [स्वयम् अपि] स्वयं [निभृतः सन्] निश्चल लीन होकर [पश्य षण्मासम्] देख; ऐसा छह मास अभ्यास कर और देख कि ऐसा करने से [हृदय–सरसि] अपने हृदय सरोवर में, [पुद्गलात् भिन्नधाम्नः] जिसका तेज, प्रताप, प्रकाश पुद्गल से भिन्न है, ऐसे उस [पुंजः] आत्मा की [ननु किम् अनुपलब्धिः भाति] प्राप्ति नहीं होती है [किं च उपलब्धिः] या होती है?

भावार्थ – यदि अपने स्वरूप का अभ्यास करे तो उसकी प्राप्ति अवश्य होती है; यदि परवस्तु हो तो उसकी तो प्राप्ति नहीं होती। अपना स्वरूप तो विद्यमान है, किन्तु उसे भूल रहा है; यदि सावधान होकर देखे तो वह अपने निकट ही है। यहाँ छह मास के अभ्यास की बात कही है, इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि इतना ही समय लगेगा। उसकी प्राप्ति तो अन्तर्मुहूर्तमात्र में ही हो सकती है, परन्तु यदि शिष्य को बहुत कठिन मालूम होता हो तो उसका निषेध किया है। यदि समझने में अधिक काल लगे तो छह मास से अधिक नहीं लगेगा; इसलिए यहाँ यह उपदेश दिया है कि अन्य निष्प्रयोजन कोलाहल का त्याग करके इसमें लग जाने से शीघ्र ही स्वरूप की प्राप्ति हो जाएगी–ऐसा उपदेश है।।३४।।

कलश – ३४ पर प्रवचन

यहाँ पुद्गल से भिन्न आत्मा की उपलब्धि के प्रति विरोध करनेवाले (–पुद्गल को ही आत्मा जाननेवाले) पुरुष को (उसकी हितरूप आत्मप्राप्ति की बात कहकर) मिठासपूर्वक (समभाव से)... उसे प्रेम से उसे समझाते हैं। भाई! तू यह क्या करता है? पुण्य और पाप के भाव जीव के हैं? तू क्या करता है प्रभु! यह तुझे.. उसे मिठास से कहते हैं–प्रेम से कहते हैं। आहाहा! श्रीमद् में आता है न? 'कोई क्रिया जड़ हो रहे, शुष्क ज्ञान में कोई, माने मारग मोक्ष का करुणा उपजै जोई'–करुणा उत्पन्न होती है, द्वेष नहीं करे। आहाहा! उसके प्रति द्वेष नहीं करे, विरोध नहीं करे। अरे रे! क्या हो? भाई! तू यह क्या

करता है ? आहाहा ! शुभभाव, वह जड़ का फल, उसे आत्मा का कर्म तू माने, भाई ! और उससे धर्म हो.. भगवान ने तो उस शुभभाव को अजीव और जड़ कहा है। प्रभु ! तू यह क्या करता है ? इस प्रकार मिठासपूर्वक उसे समझाते हैं। आहाहा ! जगत् में 'सत्वेसु मैत्री' सब भगवान जीव है, किसी के प्रति मैत्री न जाये, कोई कैसा भी विरोधी दृष्टिवाला हो परन्तु उसके प्रति मैत्री न जाये। वह जीवद्रव्य है न ? जीवद्रव्य, वह साधर्मी द्रव्य है, आहाहा ! – ऐसी बात है। उसे यहाँ मिठासपूर्वक – है न ? **(समभाव से) ही इस प्रकार उपदेश करना—यह काव्य में बतलाते हैं।**

हे भव्य जीव ! **तुझे अन्य व्यर्थ ही कोलाहल करने से..** वह अकार्य है, विकल्प आदि कार्य तेरा नहीं है, प्रभु ! आहाहा ! यह मिथ्यात्व के परिणाम, वह तेरा कार्य नहीं है। अकार्य कोलाहल, तेरे कार्य से प्रभु वह अकार्य का कोलाहल है। आहाहा ! आहाहा ! प्रेम से उसे कहते हैं। प्रभु ! तू चैतन्यमूर्ति है न नाथ ! आहाहा ! आनन्द का नाथ प्रभु तू अन्दर है। वह इन पुण्य और पाप के भाव को तेरा मानता है, वह अकार्य है; वह तेरा कार्य नहीं है। आहाहा ! '**अकार्य-कोलाहलेन**' इस अकार्य कोलाहल से बस हो, बस हो। आहाहा ! समझ में आया ? आहाहा !

भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का रसकन्द है। प्रभु ! तू उसे यह रागवाला और पुण्यवाला मानता है, प्रभु ! तू यह क्या करता है ? इस अकार्य कोलाहल में तू कहाँ पड़ा ? आहाहा ! अन्दर भगवान आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु पूर्णानन्द का नाथ आत्मा है न, भाई ! उसे इस दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम पुण्य के विकार के (परिणाम), ये मेरे (ऐसा) मानकर उस प्रभु ने ! यह अकार्य कोलाहल, वह कार्य तेरा नहीं, उस कोलाहल में तू गिर गया है। आहाहा ! समझ में आया ? ऐसी बात है। है ? '**अकार्य-कोलाहलेन**' अकार्य अर्थात् व्यर्थ का, कोलाहल अर्थात् यह पुण्य मेरा है और दया, दान के विकल्प मेरे हैं, यह अकार्य कोलाहल है, यह कार्य तेरा नहीं है। '**अकार्य-कोलाहलेन**' आहाहा ! प्रभु ! यह छोड़ दे तू। तेरा नाथ अन्दर चैतन्य आनन्दस्वरूप विराजता है, उसे तू मान और उसे तू जान, बाकी ऐसे ये परिणाम-विकार को अपना मानकर अकार्य कोलाहल व्यर्थ का कोलाहल तू कर रहा है। विशेष कहेंगे। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)

प्रवचन नं. ११७ श्लोक-३४ दिनाङ्क २४-१०-१९७८, मंगलवार
आसोज कृष्ण ८, वीर निर्वाण संवत् २५०४

हे भव्य! ऐसा सम्बोधन किया है। तू ऐसा कर-ऐसा कहा न, इसलिए भव्य लिया। **हे भव्य! तुझे अन्य व्यर्थ 'अकार्य-कोलाहलेन'...** राग, वह मेरा कार्य है; राग, वह मैं हूँ-ऐसा '**अकार्य-कोलाहलेन**' छोड़ दे। आहाहा! जो शुभराग है, वह भी व्यर्थ-अकार्य कोलाहल (है)। वह मेरा है.. वह कार्य तेरा नहीं, आहाहा! वह तेरा स्वरूप ही नहीं। आहाहा!

श्रोता : स्वरूप नहीं, यह तो ठीक है, परन्तु कार्य किसका है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : इसका (आत्मा का) कार्य नहीं। राग, वह अकार्य है। अकार्य शब्द का अर्थ यहाँ '*व्यर्थ*' किया है, परन्तु इसका अर्थ, वह कार्य इसका नहीं है। आहाहा! जो राग है, चाहे तो दया, दान, व्रत, भक्ति का हो या गुण-गुणी के भेद का विकल्प / राग हो, वह अकार्य है, वह व्यर्थ की चीज है। आहाहा! (यह तो) जिसे हित करना हो, उसकी बात है, बापू! बाकी तो अनन्त काल से भटक रहा है। आहाहा! '**अकार्य-कोलाहलेन' कोलाहल करने से क्या लाभ है ?'...** प्रभु! तुझे। आहाहा! यह शुभराग मेरा है और शुभराग मेरा कार्य है-ऐसे व्यर्थ के कोलाहल से, ऐसे अकार्य से तुझे क्या कार्य होगा ? तुझे क्या लाभ होगा ? आहाहा! **इस कोलाहल से तू विरक्त हो**। आहाहा!

उपदेश तो क्या कहे! वरना तो वास्तव में तो कोलाहल से विरक्त होना, ऐसा भी वहाँ नहीं है; वहाँ तो द्रव्यस्वभाव चैतन्य अमृत का सागर भगवान ध्रुव, उसकी दृष्टि करने से कोलाहल से विरक्त हो जाता है। आहाहा! ऐसा मार्ग! उपदेश में क्या आवे ? इस कोलाहल से विरक्त हो।

श्रोता : पुण्य-पाप को कोलाहल कहा।

पूज्य गुरुदेवश्री : इस पुण्य का परिणाम के कार्य से भिन्न हो - ऐसा कहते हैं। आहाहा! इस कोलाहल से विरक्त हो। **एक चैतन्यमात्र वस्तु..** देखो! **निभृततासन! निश्चल लीन होकर..** आहाहा! **षणमासमुपश्य** देख; **ऐसा छह माह अभ्यास कर..** ऐसा कहते हैं। वह द्रव्यस्वभाव एकरूप चैतन्यमात्र वस्तु को देख। देखता है, वह परिणाम है, परन्तु उसे देख; परिणाम को देख-ऐसा नहीं। आहाहा! ऐसी बाते हैं।

यह भगवान अन्दर परमात्मस्वरूप विराजता है न, प्रभु! आहाहा! अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. गुण का महाप्रभु, अनन्त गुण का एकरूप। यह गुणी और गुण – ऐसा भी नहीं, अनन्त गुणस्वरूप द्रव्य। इसलिए **एक चैतन्यमात्र वस्तु..** कहा न? वहाँ अनन्त गुण का भेद भी नहीं – ऐसा कहते हैं। आहाहा! एक चैतन्यमात्र वस्तु है, भगवत्स्वरूप, परमेश्वर –स्वरूप (वस्तु है), उसे देख। पर को देखने की क्रिया तो तूने अनन्त बार की है, परन्तु देखनेवाले को तूने देखा नहीं। आहाहा! ऐसी बातें हैं! देखनेवाली, वह पर्याय है परन्तु पर्याय से पर को देखा, किन्तु यह वस्तु अखण्ड चैतन्य है, उसे नहीं देखा। ऐसी बाते हैं, भाई!

श्रोता : देखने की विधि क्या है?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कहते हैं न! यह स्वरूप है चैतन्यमात्र वस्तु, इसे देख; परिणाम से इसे देख; परिणाम को परिणाम से देख – ऐसा नहीं। आहाहा! सूक्ष्म बात है न, बापू! यह तो वचन में उसका कितना आवे! यहाँ तो प्रभु! एक समय में प्रभु पूर्णानन्द का नाथ स्वयं विराजमान है। उस सिद्ध की पर्याय से भी अनन्तगुनी ताकतवाला वह तत्त्व है, स्वयं भगवान; यह आत्मा, हों! आहाहा! ऐसी एक चैतन्यमात्र वस्तु। यह गुणी है और यह गुण है – यह भी भेद हो गया। आहाहा! एकरूप चैतन्यवस्तु है, उसे परिणाम जो वर्तमान, उससे उसे (वस्तु को) देख। परिणाम को परिणाम से देख, यह नहीं। सूक्ष्म बातें, बापू! दुनिया से निराली बातें हैं, भाई! आहाहा!

उत्पादव्ययध्रुव युक्तं सत्, तथापि उस उत्पाद-व्यय की पर्याय से ध्रुव को देख; पर्याय से पर्याय को न देख; पर्याय से पर को न देख। इस तो कोलाहल से विरक्त हो – ऐसा कहा है, आहाहा! परन्तु भगवान पूर्णानन्द का नाथ प्रभु, तीर्थंकर परमेश्वर ने जो केवलज्ञान में देखा कि तेरा – आत्मा का स्वरूप तो पूर्ण आनन्दकन्द ध्रुव है। ऐसा जो अन्दर भगवान (है), उसे तू देख। तेरी दृष्टि वहाँ लगा, आहाहा! यह तो भेद से कथन है – दृष्टि को और लगा। कथन में क्या आवे? हें! देख – ऐसा कहा; दूसरा क्या आवे? तो देखनेवाली तो पर्याय है, परन्तु देखे किसे? ध्रुव भगवान पूर्णानन्द प्रभु (को देखे)। उस पर्याय में पर्याय को भी मत देख, पर्याय में रागादि आवें, उन्हें न देख; आहाहा! उस पर्याय में ध्रुव को देख। बहुत सूक्ष्म बात है, भाई! अनन्त-अनन्त काल में एक सेकेण्ड भी ध्रुव को नहीं देखा और उसके बिना चौरासी के अवतार में भटक मरता है। आहाहा! वह दुःख

से जला हुआ है। आहाहा! उसे दु:ख से जलाया हुआ पर्याय में, हों! वस्तु दु:ख से जली नहीं। आहाहा! उसे देख।

आचार्य, करुणा से कहते हैं, प्रभु! **छह माह अभ्यास कर..** तेरे अंग्रेजी के और एल.एल.बी. के और एम.ए. के पूंछड़े (डिग्रियाँ) दस-दस वर्ष किये और वहाँ पाप के पोथे बाँधकर वहाँ पढ़ता है, रहता है। यह है न अभ्यास बी.ए. का क्या कहलाता है? यह सब व्यापारियों का और अमुक का यह सब आता है न? ऐसे अभ्यास पाँच, सात, दस-दस वर्ष कर, धूल का, पाप का अकेला। आहाहा! एक छह माह तो प्रभु! इस ओर ले आ। तेरा घर है, उसे देखने को छह माह तो अभ्यास कर। आहाहा! इसका अर्थ पण्डित जयचन्दजी करेंगे। **छह मास अभ्यास कर..** आहाहा! **और देख..** इसका अर्थ किया है, जरा।

ध्रुव विद्यमान परमार्थ प्रभु, तेरा नाथ परमात्मस्वरूप प्रभु विराजता है, आहाहा! उसे खोज न! तूने दूसरी बहुत खोज की। आहाहा! इस शास्त्र वांचन से भी वह मिले, ऐसा नहीं है - ऐसा कहते हैं। आहाहा! शास्त्र सुनने से भी वह मिले - ऐसा नहीं है। आहाहा! वह तो अन्तर्मुख तत्त्व है और अन्तर्मुख के परिणाम से अन्तर्मुख को ही देख। आहाहा! दूसरा क्या करे वहाँ? आहाहा! यह परिणाम है और इससे ऐसा देखता हूँ - ऐसा वहाँ नहीं है, परन्तु समझाने में क्या आवे? आहाहा! अन्तर में वस्तु पड़ी है, प्रभु परमेश्वर, स्वयं परमेश्वर है। आहाहा! भगवान भगवन्तस्वरूप हैं तू। आहाहा! उसे एक बार छह महीने तो खोज कि क्या है वह? दूसरी चपलता और चंचलता छोड़कर... निभृत कहा है न?

अन्दर भगवान पूर्णानन्द का नाथ प्रभु, 'सिद्ध समान सदा पद मेरो'... यह पर्याय की अपेक्षा नहीं। सिद्धसमान-द्रव्यस्वभाव सिद्धसमान त्रिकाल है। समझ में आया? भाई! यह तो धर्मोपदेश है, यह तो वीतराग तीन लोक के नाथ.. आहाहा! तीर्थंकरदेव की यह वाणी है, उसका यह भाव है। आहाहा! भगवान की वाणी में ऐसा आया, प्रभु! तेरी प्रभुता से भरी हुई चैतन्यवस्तु.. आहाहा! जिसमें से तो अनन्त सिद्ध की पर्याय प्रगट हो, ऐसे तो अनन्त गुण का सागर प्रभु है न! आहाहा! अत: तुझे सिद्ध हुए उन पर भी नजर करनी नहीं है; सिद्ध जिस भाव से हुए, उस भाव पर भी तुझे नजर करनी नहीं है। आहाहा! वे सिद्ध जिसके अवलम्बन से हुए.. आहाहा! - ऐसा जो भगवान आत्मा, उसे तू देख न प्रभु! आहाहा! छह महीने तो वहाँ जा न, एक बार! उसके लिये छह महीने तो निकाला। आहाहा!

ऐसा करने से... है ? **हृदयसरसि** अन्तर ज्ञानसरोवर भगवान भरा है अन्दर। अन्तर के परिणाम से देख तो अन्तर के परिणाम में हृदय में भरा हुआ भगवान.. आहाहा! **हृदय सरोवर में पुद्गलात् भिन्नधाम्नः जिसका तेज भिन्नधाम्नः** है न? धाम्नः अर्थात् तेज जिसमें। चैतन्य का तेज.. जैसे सूर्य का तेज, जैसे चन्द्र का तेज, वह तो जड़ है। चैतन्य के तेज से भरा हुआ, चैतन्यस्वरूप ही भगवान, भगवान, आहाहा! यह भी भेद हुआ। आहाहा! **पुद्गलात् भिन्नधाम्नः जो तेज-प्रताप..** यह धाम्नः की व्याख्या है। **तेज-प्रताप और प्रकाश पुद्गल से..** अर्थात् रागादि जो पुण्य, दया, दान का विकल्प है, वह पुद्गल है। आहाहा! ऐसी बात कठिन पड़ती है न, फिर क्या करे? भाई! परन्तु तेरा कर्तव्य तो यह है, यदि हित करना हो तो, भटकना बन्द करना हो तो; बाकी भटकने के काम तो अनादि से कर ही रहा है, वह कोई नयी चीज नहीं है। आहाहा! एक-एक दिन की लाखों की आमदनी, आहाहा! करोड़ों की आमदनी – ऐसे भव अनन्त बार हुए हैं, आहाहा! परन्तु यह (आत्महित) करने की ओर झुकाव नहीं है। आहाहा! ओहोहो!

अपने हृदय सरोवर में.. आहाहा! **तेज-प्रताप-प्रकाश..** यह धाम्नः के अर्थ हैं तीनों। **पुद्गल से भिन्न ऐसे पुंसः पुंसः** पुरुष आत्मा, आहाहा! ऐसा जो पुंसः अर्थात् पुरुष अर्थात् आत्मा, अन्दर पूर्णानन्द से भरा हुआ भगवान, पूर्णानन्दस्वरूप भरा हुआ, **ऐसे उस आत्मा की अनुपलब्धि भाते..** न पावे – ऐसी उसकी शोभा है? आहाहा! पावे ऐसी उसकी शोभा है। **अनुपलब्धि प्राप्ति नहीं होती है या होती है ?..** इसका अर्थ ऐसा है कि अन्तर वस्तु भगवान पूर्णानन्द का नाथ, उसे देखे तो प्राप्ति न हो – ऐसा कैसे बने, कहते हैं। परवस्तु को अपनी करनी हो तो न बने, परन्तु जो स्वयं है, उसकी अप्राप्ति-अनुपलब्धि कोई शोभे इसे!

वस्तु भगवान पूर्ण आनन्दस्वरूप चैतन्यवस्तु को देख, छह मास अभ्यास कर। न प्राप्ति की शोभा इसे नहीं होती; प्राप्त हो, यह इसकी शोभा है। प्राप्त होती ही है – ऐसा कहते हैं। आहाहा! जिसके साथ छह-छह महीने देखने की नजरें की; नजर की नजर छोड़कर। नजर ने नजर से निधान को देखा। ऐसी बातें हैं, बापू! दुनिया से पूरी फेरफार... सब पता है न, बापू! यहाँ तो। आहाहा! आहाहा! **भिन्न है..** ये राग के परिणाम पुद्गल हैं। आहाहा! इनसे चैतन्य प्रकाश **धाम्नः** अर्थात् प्रकाश पुंज अत्यन्त भिन्न है, वह प्राप्त होगा ही।

अनुपलब्धि भाते: न प्राप्त हो, यह शोभा नहीं वहाँ। प्राप्त हो, यही उसकी शोभा है। आहाहा! आहाहा! भाषा तो है परन्तु भाव, बापू! कठिन है। आहाहा! यह **धाम्नः पुद्गलात** चैतन्य का तेज प्रभु, इस राग के पुद्गल से अत्यन्त भिन्न..। राग है, यह दया, दान का विकल्प, प्रभु! आहाहा! एक ओर आत्माराम और एक ओर पुद्गल हराम, आहाहा! ऐसे शुभभाव जो हैं, वे पुद्गल हैं; भगवान आत्मा उनसे भिन्न चैतन्य के तेज से भरपूर प्रभु तुझे प्राप्त होगा। उसमें ही उसकी शोभा है। आहाहा! वस्तु है, उस पर ऐसी नजर छह-छह महीने करे, वह उसकी शोभा है, प्राप्त होगी ही। आहाहा! ऐसा उपदेश अब! अनजाने नये व्यक्ति को तो, (लगे कि) क्या कहते हैं! यह पागल जैसी बातें हैं ये सब। सत्य बापा! आहाहा!

अरे! इसे देखने को छह महीने तो समय ले - ऐसा कहते हैं। इसका स्पष्टीकरण करेंगे (कि) यह तो अन्तर्मुहूर्त में प्राप्त होता है, परन्तु किसी को कठिन लगे तो छह महीने की अवधि दी। आहाहा! अरे! संसार के लिये अनन्त काल दिया न, प्रभु तूने! भटकने के रास्ते में तो तूने अनन्त काल दिया; अब छूटने के रास्ते में - परमात्मा की तरफ जाने के रास्ते में छह महीने तो निकाल! पोपटभाई! ऐसी बात है। उपलब्धि होगी ही होगी - ऐसा यहाँ कहते हैं। आहाहा! अरे! पंचम काल है न? पंचम काल में तो शुभभाव ही होता है - ऐसा कहते हैं, शुभयोग! अरे भगवान! क्या हुआ, भाई! श्रुतसागर है न, एक बड़े साधु, उनने बाहर प्रसिद्ध किया है - पंचम काल में तो शुभयोग ही होता है। अरे भगवान! भगवान! तुझे यह कहना शोभा देता है? यहाँ शुभयोग को तो पुद्गल कहा है। है? और यहाँ पंचम काल के श्रोता को कहा है, पंचम काल के सन्तों ने पंचम काल के श्रोता को कहा है। यह अड़तीस गाथा में आ गया है न, भाई! अड़तीस में। पंचम काल के साधु ने पंचम काल के श्रोता को कहा, गुरु ने बारम्बार समझाया। केवली ने समझाया, वह-अभी यहाँ नहीं है, इसलिए वह बात यहाँ कहाँ? यहाँ कोई केवली नहीं, अभी तो यह मुनि की बात है। आहाहा!

सन्त, जिन्हें भव का आ गया अन्त; और जिन्हें मोक्ष वर्तता है समीप - ऐसा सन्तों ने श्रोता को समझाया। अनादि से अप्रतिबद्ध-अज्ञानी था। पहली लाईन (गाथा ३८ की टीका) है - अनादि से अप्रतिबुद्ध मूढ़ था, आहाहा! ऐसे पंचम काल के श्रोता को पंचम काल के सन्त ने समझाया। आहाहा! तब अपने वहाँ (गाथा) अड़तीस में आया था - वह

श्रोता स्वयं समझ गया पंचम काल में। आहाहा! मैं शुद्ध चैतन्यघन, उसका दर्शन-ज्ञान और चारित्र का आचरण किया.. आहाहा! और वह श्रोता ऐसा कहता है कि अब मैं इस प्रकार जो प्राप्त हुआ, उसमें अब मैं गिरनेवाला नहीं हूँ। चारित्र की बात अलग, परन्तु वस्तु जो प्राप्त हुई.. वह कोलकरार, श्रोता ऐसी कोलकरार करता है.. आहाहा! – हम गिरनेवाले नहीं हैं। हम आगमकुशल और स्वरूप की प्राप्ति जो की, आहाहा! वह पंचम (काल) में शुभयोग की प्राप्ति की? शुभयोग को तो पुद्गल कह दिया है। इसे काल कहाँ बाधक है! त्रिकाली चीज में जहाँ परिणाम का प्रवेश नहीं, वहाँ फिर काल-फाल की कहाँ बात करना! पंचम काल हो या नरक का क्षेत्र हो, क्षेत्र-क्षेत्र,.. आहाहा! और शरीर की रोग से घिरी हुई अवस्था हो; काल, नरक क्षेत्र और यह (रोग से घिरी दशा), इस चीज (आत्मा) को प्राप्त करने में विघ्न करे – ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बात है। आहाहा!

भगवान त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव ने यह उपदेश किया है। आहाहा! वहाँ तो ऐसा कहा था, और यहाँ भी यह ही कहा – 'विरम्' पा जाएगा, कहते हैं। अरे! पंचम काल में शुभभाव से आगे नहीं जा सकता न, प्रभु! ऐसा नहीं है, भाई! रहने दे। आहाहा! इस पंचम काल में शुभभाव जो बन्ध का कारण और पुद्गल, उससे भिन्न पड़कर प्राप्त हो, यह पंचम काल के आत्मा का एक प्रकार और प्रभाव है। उसे काल रोकता नहीं। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! ऐसी बात कहाँ है? आहाहा!

श्रोता : कहीं न हो तो यहाँ तो है न!

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान में पड़ी है न अन्दर। आहाहा! ऐसे **आत्मा की प्राप्ति नहीं होती है या होती है?...** यह तो एक शब्द लिया है अर्थात् कि इस प्रकार होती नहीं – ऐसा बनता ही नहीं। और यहाँ तो यह भी उसका वर्णन करते हैं। वह प्राप्ति हुई, वह अप्रतिहतभाव से हुई है, कहते हैं। आहाहा! उसका भाव प्राप्त हुआ, वह कभी गिरेगा – यह बात तीन काल में है न। आहाहा! देखा? यह श्लोक, इस श्लोक की शलाका, इस श्लोक में स्तुति आयी है। आहाहा! थोड़ा हो, समझे, उसका कुछ नहीं परन्तु मूल वस्तु चाहिए न? आहाहा! जिसे आत्मा, जो मूल-मोक्ष का मूल जिसमें पड़ा है। आहाहा! अरे! जो मुक्तस्वरूप प्रभु है। आहाहा!

श्रोता : प्रभु! अभ्यास करे और प्रकाश करे – इसमें क्या अन्तर है?

पूज्य गुरुदेवश्री : अभ्यास अर्थात् अन्तर देखने का; यह पढ़ने का, वह नहीं। त्रिकाली ज्ञायक को देखने का छह महीने तो अभ्यास कर। अभ्यास अर्थात् यह वाँचना, पढ़ना, यह कुछ नहीं। आहाहा! ऐसी बात है।

अनजान व्यक्ति को तो ऐसा लगे कि यह क्या कहते हैं? बापू! तुम कौन हो और क्या हो? – यह हमें पता नहीं? पूरी दुनिया को हम जानते हैं, कैसी जाति है। आहाहा! बापू! वीतरागस्वरूप ऐसा कहते हैं, भाई! तुझे सुनने को नहीं मिला, इसलिए उसे विशिष्टता लगे। – ऐसा नहीं है।

भगवान–अनन्त तीर्थंकरों के समवसरण की सभा में ऐसी पुकार करते हैं। वह पुकार, सन्त लेकर आये और जगत का प्रसिद्ध किया (कि) परमात्मा ऐसा कहते हैं। आहाहा! तेरा प्रभु अन्दर विराजता है, उसका यदि छह महीने अभ्यास करे.. जघन्य अन्तर्मुहूर्त में ही वह प्राप्त होता है, आहाहा! परन्तु कोई कठिन लगे और पंचम काल तथा तेरी बुद्धि थोड़ी है – ऐसा लगे तो छह महीने लगेंगे। आहाहा!

भावार्थ... लोगों की दलील क्या है? कि यह सब दया, दान, व्रत, भक्ति, तप – यह कोई उपाय है या नहीं? यहाँ तो कहते हैं कि ये सब भाव तो पुद्गल के हैं न, प्रभु? आहाहा! तुझे इन्हें उपाय में डालना है? आहाहा! क्या हो भाई?

यदि अपने स्वरूप का अभ्यास करे.. अर्थात् स्वयं है, चैतन्यस्वरूप भगवान है, उसका यदि अभ्यास करे, **तो उसकी प्राप्ति अवश्य होती है..** आहाहा! प्राप्त की प्राप्ति है; है, उसे प्राप्त करना है। वह तो है, है उसे प्राप्त करना है और वह तो है। आहाहा! ऐसी बाते हैं। **अपने स्वरूप का अभ्यास..** अपने स्वरूप जो चैतन्यस्वरूप – जो कायमी त्रिकाली है.. है.. है, उसका अभ्यास करे, उस ओर की एकाग्रता का अभ्यास करे तो उसकी प्राप्ति अवश्य होती ही है। प्राप्त की प्राप्ति है। है, उसकी प्राप्ति होती है। आहाहा!

आहाहा! **यदि परवस्तु हो तो उसकी तो प्राप्ति नहीं होती..** वास्तव में तो कहते हैं कि राग का तेरा करना चाहे, तो नहीं होता। शरीर को करना चाहे, तब तो नहीं होता परन्तु राग को तेरा करना चाहे अन्दर नित्य में, तो राग तो है विकृत और पुद्गलस्वभाव, आहाहा!

वह नहीं होगा। परन्तु है, उसे प्राप्त करना, प्रभु! इसमें कहाँ नहीं हो – ऐसा होगा। आहाहा! आहाहा! क्या सन्तों की भाषा! दिगम्बर मुनि, केवली के पथानुगामी, एक-दो भव में केवल(ज्ञान) लेनेवाले, कितने ही तो। मोक्ष जानेवाले मोक्ष, सिद्धपद! उनकी यह वाणी – ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। आहाहा! वाणी में उनका निमित्त था, इसलिए (कहा जाता है।) निमित्त का अर्थ – वे वाणी के कर्ता नहीं, तब निमित्त कहलाया न? आहाहा! उसमें (वाणी में) यह आया, आहाहा! भगवान! तेरी चीज अन्दर विराजमान है न! अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप प्रभु, अतीन्द्रिय ज्ञान, अतीन्द्रिय वीतरागता, अतीन्द्रिय प्रभुता, अतीन्द्रिय स्वच्छता – ऐसे स्वभावस्वरूप प्रभु है न तू! उसकी प्राप्ति तो अवश्य होती है। परवस्तु हो तो उसकी न हो। राग को तू तेरा करना चाहे तो नहीं, कभी नहीं हो। आहाहा! शरीर, वाणी, स्त्री, पुत्र तो कहीं धूल रह गये। वे तो कहीं हैं, वे कहाँ तेरे थे? आहाहा!

परन्तु अन्दर राग जो है, पर्याय में निमित्त के आधीन हुआ राग, वह तेरे गुणस्वभाव में उसे करना चाहे तो नहीं होगा, क्योंकि इसके (आत्मा के) गुण सब पवित्र हैं। उस पवित्र में राग इसका किसी प्रकार नहीं होगा। आहाहा! समझ में आया? परमात्मप्रकाश में व्यवहाररत्नत्रय को शुभयोग कहा है। वह शुभयोग है। शुभयोग तो पुद्गल है। यहाँ तो उसे (पुद्गल) कहा। वीतराग केवली परमेश्वर ने उसे पुद्गल कहा है; तो उसे अपना करना चाहे तो नहीं होगा। आहाहा! चैतन्य भगवान में उस पुद्गल के परिणाम को अपना करना चाहे तो वह नहीं हो सकेगा; परन्तु भगवान आनन्दस्वरूप प्रभु की अन्दर धगश और लगनी लगी हो तो वह प्राप्त होगा ही। आहाहा!

अपना स्वरूप तो विद्यमान है... न? देखा! भगवान अन्तर चैतन्यस्वरूप से विद्यमान है न? अस्ति है न? आहाहा! मौजूद है न? अस्ति धरता है न? अस्तिरूप है न? अस्तिरूप सत् सत् अस्तिरूप स्वयं है न? आहाहा! परन्तु भूल रहा है। आहाहा! भगवत् आत्मस्वरूप, चैतन्यस्वरूप, अन्दर विद्यमान है, परन्तु उस ओर की नजर नहीं की और उसका अनादर करके, राग को, पुण्य और पाप को, यह और यह,.. आहाहा! यह मेरे – करके माना, परन्तु मेरा हुए नहीं। समझ में आया? आहाहा!

किन्तु उसे भूल रहा है; यदि सावधान होकर देखे... सावधान होकर देखे,

आहाहा! ज्ञायकभाव है, उसे सावधान होकर जाननहार भाव से देखे। आहाहा! जो जाननस्वभाव है, उसे जाननभाव से सावधान होकर देखे। आहाहा! भाषा तो थोड़ी / संक्षिप्त है, बापू! आहाहा! वह विचारा भव्यसागर लिखते हैं न! अरे रे! हमने आत्मज्ञान के बिना साधुपना ले लिया। कल पढ़ा था न भाई पत्र? कल दोपहर का तुम नहीं थे। आत्मज्ञान बिना हमने साधुपना ले लिया - ऐसा विचारा। हमें वहाँ बुलाओ। बहुत लिखता है, कल पत्र आया है। ऐसे तो बहुत पत्र आते हैं। कल अन्तिम पत्र आया है, पूरा पत्र.. बुलाओ.. बुलाओ.. कौन बापू! यहाँ कहाँ बुलावें? यहाँ किसी को बुलाते नहीं और यहाँ तो वापस अभी रहने का भी नहीं है, बाहर जाने का होगा। हम आत्मज्ञान पाये नहीं और आत्मज्ञान बिना हमें साधुपना दे दिया, ले लिया। यह विचारा! यह कल्याण का पंथ! हम वहाँ लेने-सुनने के इच्छुक हैं। साधु विचारा, बीस वर्ष की दीक्षा, दिगम्बर! शीघ्र कवि है। बारम्बार लिखते हैं। परन्तु वास्तव में तो आना हो तो अपने आप आवे, यहाँ जिम्मेदारी किसी की (नहीं लेते)! आहाहा!

सावधान होकर देखे तो निकट ही है.. जागृत होकर जागृत को देखे तो वहाँ ही है। जागृत होकर देखे तो वहाँ ही है जागृत, पूरा चैतन्यस्वरूप वहाँ ही है। आहाहा! भाषा बहुत सरल, भाव बहुत गम्भीर, बहुत ऊँचे। आहाहा! यह कोई विद्वता की वस्तु नहीं है। आहाहा! **सावधान होकर देखे तो निकट ही है..** पण्डित जयचन्द तो देखो! राग को देखते-देखते, मेरा मानकर अनन्त काल गया, परन्तु हुआ नहीं तेरा, किन्तु सावधान होकर अन्दर राग से भिन्न पड़कर सावधान होकर देख, तो वस्तु तू स्वयं ही है। सावधान होकर देखे तो चेतनेवाला जागृत स्वभाव तू ही है। आहाहा!

यहाँ छह मास के अभ्यास की बात कही है, इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि इतना ही समय लगेगा.. ऐसा कुछ नहीं है। आहाहा! **उसका होना तो अन्तर्मुहूर्त मात्र में ही है।** 'अन्तर्मुहूर्त' उपयोग है न ऐसा, इसलिए कहते हैं, बाकी तो एक समयमात्र में होता है, परन्तु उपयोग छद्मस्थ के ख्याल में आवे, वह अन्तर्मुहूर्त में ही ख्याल में आता है; आहाहा! इसलिए अन्तर्मुहूर्त अर्थात् अड़तालीस मिनिट में, दो घड़ी के अन्दर। मुहूर्त है और दो घड़ी का, इसलिए उसके अन्तर अन्दर। आहाहा! बी.ए. का अभ्यास और एल.एल.बी. का अभ्यास दो घड़ी में नहीं होता। हें! और यह अभ्यास तो दो घड़ी में-

अन्तर्मुहूर्त में हो जाता है। आहाहा! चैतन्य भगवान पूर्णानन्दस्वरूप.. अन्यमत में कहते हैं 'में नजर ने आलसे रे में निरख्या न नयने हरि' 'मेरी नजर के आलसे रे में निरख्य नयने हरि।' हरि अर्थात् भगवान। राग-द्वेष और अज्ञान को हरे, वह हरि - ऐसा प्रभु, वह आत्मा। आहाहा! मेरे नयन के आल से.. आता है, पोपटभाई! आहाहा! मेरे नयन पर में रह गये, परन्तु नयन के आलसे मैंने अन्दर के भगवान को नहीं देखा.. आहाहा! और देखने को अन्तर्मुहूर्त ही काल लगता है। आहाहा!

परन्तु यदि शिष्य को बहुत कठिन मालूम हो तो उसका निषेध किया है। यदि समझने में **बहुत काल लगे तो छह मास से अधिक नहीं लगेगा।** प्रभु! लगनी लगा इसकी। आहाहा! ज्ञायक भगवान की लगनी लगा। आहाहा! **इसलिए अन्य निष्प्रयोजन कोलाहल का त्याग करके..** यह शुभभाव भी निष्प्रयोजन कोलाहल है। आहाहा! इस शुभभाव में प्रयोजन नहीं है। **निष्प्रयोजन कोलाहल का त्याग करके इसमें लग जाने से...** भगवान पूर्णानन्द वस्तु है, मौजूद है, असित है, आहाहा! **इसमें लग जाने से शीघ्र ही स्वरूप ही प्राप्ति हो जाएगी..** शीघ्र स्वरूप की प्राप्ति होगी ही। आहाहा! कहो, ऐसा उपदेश है। वर्तमान श्रोता को भी ऐसा कहते हैं। आहाहा! पंचम काल के श्रोता को पंचम काल के सन्त कहते हैं कि अवश्य तुझे (प्राप्ति होगी)। उस चैतन्यमूर्ति का अभ्यास कर अन्दर देखने का, अवश्य मिलेगा तुझे। शुभयोग से तुझे शीघ्र मिलेगा (- ऐसा नहीं कहा)।

श्रोता : विश्वास दिलाते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : हें! तब यह कहे - पंचम काल में शुभयोग ही होता है। अरे! प्रभु.. प्रभु! क्या किया तूने? प्रभु! यह तूने? वीतरागमार्ग लज्जापद पाता है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि मौजूद चीज है न, प्रभु! वीतरागस्वरूपी चैतन्य प्रभु जिनबिम्ब मौजूद है न? आहाहा! है, उसे प्राप्त करना है न? मौजूद है न? परन्तु इसे विश्वास में कहाँ आता है? आहाहा! राग होने पर भी, पर्याय में पर्याय होने पर भी, यह वस्तु पूर्ण है - ऐसा इसे विश्वास नहीं आता.. आहाहा! क्योंकि काम लेना है पर्याय से; और विश्वास लेना है त्रिकाली का। आहाहा! हें! तो पर्याय में इसके स्वभावसन्मुख होवे, तब इसे विश्वास आवे कि यह वस्तु पूर्ण आनन्दस्वरूप भगवान है। आहाहा! **स्वरूप की प्राप्ति हो जाएगी-ऐसा उपदेश है।** देखो! ऐसा उपदेश है।

यह तो गृहस्थाश्रम में रहनेवाले पण्डित जयचन्दजी लिखते हैं। वह तो मुनिराज की बात है। आहाहा! ऐसा नहीं कहते कि तुमको शुभयोग ही रहेगा। आहाहा! तुम पंचम काल में भी यदि शुभयोग से भिन्न पड़कर यदि सावधान होओगे तो शुभयोग से भिन्न तुम्हें प्राप्त होगा ही; शुभयोग ही रहेगा – ऐसा नहीं है, पुद्गल ही रहेगा – ऐसा नहीं है; चैतन्य आयेगा। प्रवीणभाई! ऐसी पुकार है।

श्रोता : जागता जीव खड़ा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : जागता जीव खड़ा है। बहिन की बात है न! जागता जीव खड़ा है न! कहाँ जाए? बहिन का वाक्य पहला है न? जागता (जीव), जागृतस्वरूप जीव खड़ा है न! खड़ा अर्थात् ध्रुव है न! खड़े की व्याख्या ऐसी है। जागता जीव ध्रुव है न! वह कहाँ जाए? जरूर प्राप्त होगा। आहा! आहाहा!

अब ऐसा उपदेश! उन क्रियाकाण्डियों को कठिन लगता है। भगवान! बापू! तेरे स्वरूप की बात है न, प्रभु! क्रियाकाण्ड में तो राग है। वह तो पुद्गल है, भाई! तुझे पता नहीं। आहाहा! उससे भिन्न '**धाम्नो**' शुभयोग पुद्गल है, उससे भिन्न **धाम्नो**–चैतन्य का तेज तुझे प्राप्त होगा। आहाहा! चैतन्य का तेज–प्रकाश.. आहाहा! है न? प्रताप–तीन बोल लिये है – तेज, प्रताप और प्रकाश। आहाहा! यह चौतीस कलश हुआ।

गाथा ४५

कथंचिदन्वयप्रतिभासेप्यध्यवसानादयः पुद्गलस्वभावा इति चेत्–

अट्ठविहं पि य कम्मं सव्व पोग्गलमयं जिणा बेंति।
जस्स फल तं वुच्चदि दुक्खं ति विपच्चमाणस्स।।४५।।

अष्टविधमपि च कर्म सर्वं पुद्गलमयं जिना ब्रुवन्ति।
यस्य फलं तदुच्यते दुःखमिति विपच्यमानस्य।।

अध्यवसानादिभावनिर्वर्तकमष्टविधमपि च कर्म समस्तमेव पुद्गलमयमिति किल सकलज्ञज्ञप्तिः। तस्य तु यद्विपाककाष्ठामधिरूढस्य फलत्वेनाभिलप्यते तदनाकुलत्वलक्षण–सौख्याख्यात्मस्वभवविलक्षणत्वात्किल दुःखं, तदंतःपातिन एव किलाकुलत्वलक्षणा अध्यवसानादिभावाः। ततो न ते चिदन्वयविभ्रमेप्यात्मस्वभावाः किंतु पुद्गलस्वभावाः।

अब शिष्य पूछता है कि इन अध्यवसानादि भावों को जीव नहीं कहा, अन्य चैतन्यस्वभाव को जीव कहा; तो यह भाव भी कथञ्चित् चैतन्य के साथ सम्बन्ध रखनेवाले प्रतिभासित होते हैं, (वे चैतन्य के अतिरिक्त जड़ के तो दिखाई नहीं देते), तथापि उन्हें पुद्गल के स्वभाव क्यों कहा ? उसके उत्तरस्वरूप गाथासूत्र कहते हैं—

रे! कर्म अष्ट प्रकार का, जिन सर्व पुद्गलमय कहे।
परिपाक में, जिस कर्म का फल दुःख नाम प्रसिद्ध है।।४५।।

गाथार्थ - [अष्टविधम् अपि च] आठों प्रकार का [कर्म] कर्म [सर्वं] सब [पुद्गलमयं] पुद्गलमय है ऐसा [जिनाः] जिनेन्द्रभगवान सर्वज्ञदेव [ब्रुवन्ति] कहते हैं - [यस्य विपच्यमानस्य] जो पक्व होकर उदय में आनेवाले कर्म का [फलं] फल [तत्] प्रसिद्ध [दुःखम्] दुःख है [इति उच्यते] ऐसा कहा है।

टीका - अध्यवसानादि समस्त भावों को उत्पन्न करनेवाला जो आठों प्रकार का ज्ञानावरणादि कर्म है, वह सभी पुद्‌गलमय है—ऐसा सर्वज्ञ का वचन है। विपाक की मर्यादा को प्राप्त उस कर्म के फलरूप से जो कहा जाता है वह, (अर्थात् कर्मफल) अनाकुलतालक्षण-सुखनामक आत्मस्वभाव से विलक्षण है, इसलिए दुःख है। उस दुःख में ही आकुलतालक्षण अध्यवसानादि भाव समाविष्ट हो जाते हैं; इसलिए यद्यपि वे चैतन्य के साथ सम्बन्ध होने का भ्रम उत्पन्न करते हैं, तथापि वे आत्मस्वभाव नहीं हैं किन्तु पुद्‌गलस्वभाव हैं।

भावार्थ - जब कर्मोदय आता है, तब यह आत्मा दुःखरूप परिणमित होता है और दुःखरूप भाव है, वह अध्यवसान है। इसलिए दुःखरूप भावों में (अध्यवसान में) चेतनता का भ्रम उत्पन्न होता है। परमार्थ से दुःखरूप भाव, चेतन नहीं है, कर्मजन्य है, इसलिए जड़ ही है।

गाथा - ४५ पर प्रवचन

अब, शिष्य पूछता है कि इन अध्यवसानादि भावों को जीव नहीं कहा.. भगवान ने इन्हें जीव नहीं कहा; दया, दान का शुभभाव हो, उसे जीव नहीं कहा, और **अन्य चैतन्यस्वभाव को जीव कहा - तो यह भाव चैतन्य के साथ सम्बन्ध रखनेवाले प्रतिभासित होते हैं..** आहाहा! यह शुभभाव-राग, यह दया, दान का विकल्प-राग, यह चैतन्य के साथ सम्बन्ध दिखता है, यह कहीं परमाणु के साथ सम्बन्ध है-ऐसा नहीं दिखता। समझ में आया? **चैतन्य के साथ सम्बन्ध रखनेवाले प्रतिभासित होते हैं..** आहाहा! **(चैतन्य के अतिरिक्त जड़ को तो दिखते नहीं), तथापि उन्हें पुद्‌गल स्वभाव क्यों कहा ?** भगवान आनन्द का नाथ प्रभु, उसकी पर्याय में पुण्य-पाप का भाव तो दिखता है, चैतन्य के साथ सम्बन्धवाला दिखता है; वे पुद्‌गल-जड़ के साथ सम्बन्धवाले तो दिखते नहीं, तो भी प्रभु! उन्हें तुमने पुद्‌गल का स्वभाव क्यों कहा? चैतन्य की पर्याय में सम्बन्धवाले शुभ-अशुभ दिखते हैं और आप कहते हो कि वे जड़ हैं; यह हमें किस प्रकार समझाया? आहाहा!

ऐसा शिष्य का अन्तर का समझने का प्रश्न है। शंका नहीं, आशंका है। प्रभु! आप इसमें क्या कहते हो? शुभ-अशुभभाव, वह जड़! हमें तो शुभ-अशुभभाव, चैतन्य की पर्याय के सम्बन्ध में होते हैं; वे शुभ-अशुभभाव, वे परमाणु में या कर्म में-जड़ में होते नहीं। आहाहा! देखो! यहाँ योग्यतावाला श्रोता लिया है। वह श्रोता ऐसा है कि अन्दर पकड़ा है कि यह आप क्या कहते हो, प्रभु? आहाहा! शुभ-अशुभभाव तो चैतन्य की पर्याय में सम्बन्धवाले दिखते हैं न? वे कहीं कर्म और जड़ और शरीर के सम्बन्ध में वे नहीं है, तथापि आप उन्हें जड़ कहो; आहाहा! **उसके उत्तरस्वरूप गाथासूत्र कहते हैं..** उसका उत्तर है। यह संस्कृत है, हों! है न ऊपर **कथंचिदन्वयप्रतिभासेप्यध्यवसानादयः पुद्गलस्वभावा इति चेत्–** संस्कृत है ऊपर। स्वयं अमृतचन्द्राचार्य स्वयं ही प्रश्न रखकर शिष्य का प्रश्न कहा है। शिष्य ऐसा हो, जिसे समझना हो यह। प्रभु! तुमने, चैतन्य के साथ पुण्य-पाप के भाव का सम्बन्ध होने पर भी, तुमने उन्हें पुद्गल कहा, वह किस प्रकार? – हमें पकड़ में नहीं आता। आहाहा! इसका उत्तर आयेगा।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ११८ गाथा-४५ दिनाङ्क २६-१०-१९७८, गुरुवार
आसोज कृष्ण १०, वीर निर्वाण संवत् २५०४

समयसार, ४५ गाथा। शिष्य पूछता है कि जो अध्यवसान आदि भाव अर्थात् क्या? राग की एकता का जो अभिप्राय-अध्यवसान और शुभ-अशुभराग, ये सब चैतन्यस्वभाव नहीं है। शब्द का अर्थ तो यह है कि उपोद्घात है **कथंचिदन्वयप्रतिभासेप्यध्यवसानादयः पुद्गलस्वभावा इति चेत्** इसका अर्थ यह हुआ कि शिष्य का यह प्रश्न है कि राग—दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा आदि का भाव या उसकी एकताबुद्धि का भाव, ये सब जीव नहीं कहे; चैतन्यस्वभाव जीव कहा—इतना इसमें से निकाला; पुद्गलस्वभाव कहा न, इसलिए जीवस्वभाव नहीं—ऐसा इसमें से निकाला। शान्ति से समझने जैसी चीज है यह तो, भाई! आहाहा!

यह **अन्य चैतन्यस्वभाव को जीव कहा..** अन्य चैतन्य अर्थात्? ये काम-क्रोध,

शुभाशुभभाव, इनसे अन्य जीवस्वभाव कहा। जीव स्वभाव, चैतन्यस्वभाव, इन विभावभाव से अन्य चैतन्यस्वभाव आपने कहा। समझ में आया? आहाहा! **तो ये भाव भी चैतन्य के साथ सम्बन्ध रखनेवाले प्रतिभासित होते हैं..** ये राग-द्वेष, पुण्य-पाप के भाव, मिथ्या अध्यवसाय, ये जीव की पर्याय के साथ सम्बन्ध दिखता है; ये जड़ के साथ तो सम्बन्ध नहीं दिखते। **(चैतन्य के अतिरिक्त जड़ के तो दिखाई नहीं देते), तथापि उन्हें पुद्गल के स्वभाव क्यों कहा?** ऐसे स्वभाव। राग शुभ हो या अशुभ हो, वह चैतन्यस्वभाव उससे अन्य है और चैतन्यस्वभाव से वह रागभाव अन्य है, इसलिए तुमने उसे जीवस्वभाव नहीं कहा; उसे पुद्गलस्वभाव कहा, परन्तु जीव के साथ सम्बन्ध तो रखते हैं, वे कहीं जड़ में नहीं होते। आहाहा!

जीव की पर्याय में सम्बन्ध तो रखते हैं तो आपने उन्हें पुद्गल स्वभाव कैसे कहा? उन्हें चैतन्यस्वभाव क्यों नहीं कहा? आहाहा! बहुत सूक्ष्म बाते हैं। **तथापि उन्हें पुद्गल के स्वभाव क्यों कहा? उसके उत्तरस्वरूप गाथासूत्र कहते हैं।**

अट्ठविहं पि य कम्मं सव्व पोग्गलमयं जिणा बेंति।
जस्स फल तं वुच्चदि दुक्खं ति विपच्चमाणस्स।।४५।।

रे! कर्म अष्ट प्रकार का, जिन सर्व पुद्गलमय कहे।
परिपाक में, जिस कर्म का फल दु:ख नाम प्रसिद्ध है ।।४५ ।।

टीका - अध्यवसानादि समस्त भावों.. आठ कहे थे न? आठ बोल। **भावों को उत्पन्न करनेवाला..** राग की एकताबुद्धि और राग, इन समस्त भावों को, आहाहा! राग की एकताबुद्धि उत्पन्न करनेवाला और राग को उत्पन्न करनेवाला, **जो आठों प्रकार का ज्ञानावरणादि कर्म है,...** आहाहा! मिथ्यात्व और राग-द्वेष को उत्पन्न करनेवाला कोई जीव चैतन्यस्वभाव नहीं है। आहाहा! चैतन्यस्वभाव भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द, अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय वीतरागता स्वभाव, वह विकार को उत्पन्न करे, ऐसा कोई स्वभाव नहीं है; इसलिए जो आठों ही कर्म का जो फल उत्पन्न करनेवाला आठों ही प्रकार का कर्म, **वह सभी पुद्गलमय है—ऐसा सर्वज्ञ का वचन है।** आहाहा!

शुभ और अशुभभाव.. यहाँ तो अभी शुभभाव की अधिक मुख्यता है और उसकी एकता, बस, दो। तो शुभभाव की एकता, वह भी कर्म वस्तु है, वह जब उदयरूप आता

है, आहाहा! **विपाक की मर्यादा को प्राप्त..** ऐसा है न? कर्म तो अन्दर पड़े हैं, जड़, आठ, परन्तु उसके पाकरूप विपाकफल की मर्यादा में जब आता है... समझ में आया? आठ कर्म हैं, वे तो अजीव द्रव्य-गुण-पर्यायरूप पड़े हैं, अब उनकी सत्तारूप से... परन्तु उनके विपाक की मर्यादा से जब उसका पाक आया, आहाहा! आठ कर्म तो सब पुद्गलमय है – ऐसा सर्वज्ञ का वचन है, आहाहा! क्योंकि **विपाक की मर्यादा को प्राप्त उस कर्म के फलरूप से जो कहा जाता है..** आहाहा!

भगवान आत्मा में ऐसा कोई गुण या शक्ति नहीं है कि उसका पाक हो, सत्ता में जो स्वभाव है, उसका पाक हो, तो विकार हो – ऐसा कोई स्वभाव नहीं है, आहाहा! परन्तु जो कर्म है, उसकी मर्यादा में जब पाक की मर्यादा से आया, आहाहा! तब आत्मा की पर्याय में.. आहाहा! कैसा है? **(अर्थात् कर्मफल)** आहाहा! **अनाकुलतालक्षण-सुखनामक आत्मस्वभाव..** क्या कहते हैं? कि उस कर्म का पाक हुआ.. सत्ता में तो भले पड़ा था, परन्तु पाक हुआ, तब जीव में जो राग-द्वेष और दया, दान, विकल्प और एकताबुद्धि या रागादि.. ये पुद्गलमय कहे। क्यों? कि कर्मफल, यह आहाहा! अनाकुल लक्षण जो सुख, भगवान आत्मा का तो अनाकुल लक्षण सुख है। भगवान आत्मा उसे ऐसा कहा जाता है न कि भाई! उसे पकड़ना, ग्रहण करना, आलम्बन लो – इसका अर्थ इतना कि जो वस्तु है, उसमें अहंपना करो। यहाँ जो अहंपना है-राग में अहंपना है; और ज्ञान का क्षयोपशम जैसे बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे वहाँ उसका अहंपना / अभिमान बढ़ता जाता है, क्योंकि वहाँ अहंपना है न? आहाहा!

भगवान आत्मा चैतन्यस्वभावी अनाकुल आनन्दस्वरूप, ऐसा जो सुख, इस नाम का आत्मस्वभाव.. आहाहा! देखा? अनाकुल जो आत्मस्वभाव सुख, उस चैतन्यस्वभाव का पाक.. चैतन्यस्वभाव का अनाकुल आनन्दस्वरूप (है तो) उसका पाक तो अनाकुल / सुख, पर्याय में आना चाहिए। आहाहा! समझ में आया? **अनाकुल सुख नामक आत्मस्वभाव से विलक्षण है...** कौन? कर्म के पाक की मर्यादा से हुए भाव – ये राग, पुण्य, दया, दान, काम-क्रोधादि। आहाहा! यह आत्मस्वभाव, जो सुखरूप होने से, उससे विलक्षण.. क्या शैली! भगवान आत्मा अनाकुल आनन्द लक्षण स्वरूप, अनाकुल स्वरूप का पाक भी अनाकुल सुख होना चाहिए। ऐसे सुख से विपरीत.. आहाहा! कर्म एक

पदार्थ-वस्तु है। यहाँ तो आठों कर्मों को दु:ख का फल कहते हैं, आठों कर्मों का फल दु:ख है-ऐसा कहते हैं। प्रतिजीवी गुण को भी इस अपेक्षा से कहते हैं। समझ में आया? प्रतिजीवी गुण हैं, वे कहीं आनन्द को रोकते नहीं, परन्तु उस आनन्द को चार घाति (कर्म) का फल आनन्द का अभाव करता है, फल में। स्वभाव की दृष्टि नहीं और उसकी दृष्टि वहाँ पर के ऊपर है, तो कर्म आठ, (में से) चार घाति (कर्म) के फलरूप से तो वहाँ अनाकुल सुख से विलक्षण दु:ख की उत्पत्ति होती है। आहाहा!

कहो, यह शुभराग—दया, दान, व्रत, भक्ति का राग, वह दु:ख है - ऐसा कहते हैं। क्यों? कि अनाकुल आत्मा का सुख जो स्वभाव, उससे विलक्षण (अर्थात्) विपरीत लक्षणवाला, वह दु:ख है, विलक्षण होने से दु:ख है। जिसे अतीन्द्रिय अनाकुल आनन्दस्वरूप में जिसका अहंपना - 'यह मैं' - ऐसा आया नहीं, ग्रहा नहीं कहो, परन्तु उसका अहंपना 'यह मैं' - ऐसा आया नहीं; उसे यह कर्म के पाक को विपाक से चढ़े हुए भाव शुभ और अशुभ आदि 'वह मैं हूँ' - ऐसा वह दु:ख है, तथापि 'वह मैं हूँ' - यह कर्म का पाक है, यह जीव का पाक नहीं। आहाहा! बात बहुत ऐसी है, बापू! फिर स्पष्टीकरण करेंगे आगे छयालीस में। आहाहा!

यहाँ तो भगवान आत्मा, अनाकुल लक्षण ऐसा जो सुख, उसस्वरूप प्रभु है और उस सुख का अहंपना अन्दर आने पर, 'यह मैं हूँ' - ऐसा होने पर, इसकी पर्याय में अनाकुल सुख की दशा आती है। ऐसे सुख से विपरीत लक्षण, कर्म के पाक की मर्यादा को प्राप्त पाक-विकार, वह अनाकुल सुख से विपरीत दु:ख है। आहाहा! कहो, यह बातें है। ज्ञानी को भी जो कुछ राग आता है, कहते हैं कि वह भावक का भाव दु:ख है। कर्म भावक है, उसके लक्ष्य से हुआ पुण्य-पाप का भाव, वह दु:खरूप है, दु:ख है। आहाहा!

उस दु:ख में ही आकुलतालक्षण अध्यवसानादि भाव समाविष्ट हो जाते हैं;.. आहाहा! अब ऐसी बात कहाँ? यह तो दया करो, व्रत पालो और भक्ति करो तथा यह करो और वह करो... अरेरे! और एक ऐसा कहता है कि अभी शुभयोग ही है... प्रभु... प्रभु... प्रभु...! आत्मा है ही नहीं अभी? जो शुभयोग है, वह अनाकुल लक्षण जो सुख, उससे विलक्षण कर्म के पाक का फल तो दु:ख है। वह दु:ख ही है अभी? धर्म है ही नहीं?

आहाहा! कठिन काम! इस प्रकार की सूझ है न? इसलिए (ऐसा कहता है)। यहाँ परमात्मा तीर्थंकरदेव जिनेश्वरदेव की वाणी में यह आया, वह सन्त जगत को प्रसिद्ध करते हैं। ऐसा आया न? सर्वज्ञ का वचन-आया न? सर्वज्ञ के वचन ऐसे हैं। कहो भाई! त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव धर्मपिता-ऐसे सर्वज्ञदेव का यह वचन है कि कर्म की हद में-मर्यादा में.. पाक की उसकी मर्यादा है न? आहाहा! उसमें आया हुआ जो राग शुभ, वह अनाकुल लक्षण सुख प्रभु से विलक्षण दु:ख में जाता है, वह तो। आहाहा!

आकुलतालक्षण आदि भावों.. सब आठों कहे न? आहाहा! राग की एकतारूप अध्यवसाय, राग-तीव्र-मन्द भाववाला राग या कर्म या आठों कर्म होकर आत्मा और कर्म व आत्मा होकर आत्मा, ऐसे जो आठों भाव, वे तो अध्यवसान आदि भाव दु:ख-आकुलता लक्षण **दु:ख में ही समाविष्ट होते हैं,** वे दु:ख में ही जाते हैं। ऐसी बात! हें! आहाहा! अनाकुल लक्षण आनन्द का जिसे अहंपना आया नहीं, आहाहा! उसे इस ज्ञान के क्षयोपशम में अहंपना आये बिना रहता ही नहीं; आहाहा! वैसे-वैसे उसे अभिमान बढ़ता जाता है - ऐसा कहते हैं। आहाहा! आहाहा! यह तो कर्म का पाक, हों! यह क्षयोपशम है, आहाहा! वह परलक्ष्यी है न? कठिन बात है, भाई! जैसे रागादि दु:ख में समाविष्ट होते हैं, वैसे स्व उपयोग के अतिरिक्त पर में उपयोग जाता है; इसलिए उसका अर्थ यह हुआ कि जितना पर में उपयोग जाता है - राग का, आदि का भाव, आहाहा! वह भी अनात्मा है। पण्डितजी! ऐसी बातें हैं, बापू! आहाहा! वह अनात्मा है। वह कर्म के फलरूपी दु:ख में जाता है। आहाहा!

अब कहाँ जगत्! दया करो, दान करो, भक्ति करो, व्रत करो, अपवास करो - यह सब शुभविकल्प, यह तो कहते हैं कि दु:ख में जाता है, कर्म के पाकरूप से दु:ख में जाता है। अनाकुल सुख से विलक्षण यह है। आहाहा! ऐसा मार्ग कठिन लगे लोगों को! अरे! जिसने आत्मा को पकड़ा अर्थात् अहंपना - 'मैं शुद्ध चैतन्यघन हूँ' - यह मैं हूँ - ऐसा जिसे हुआ-आया, उसे भी अभी जितना राग होता है, आहाहा! वहकर्म के पाक का फल दु:ख है। कर्म जड़ है, उसका पाक तो जड़ होगा और यह तो दु:ख का, दु:ख कहा उसे। दु:ख तो आत्मा की सुख से उल्टी पर्याय है, परन्तु इसका अर्थ यह हुआ कि चैतन्यस्वभाव दु:खरूप परिणमें - ऐसा कोई स्वभाव ही नहीं है। तब वह दु:खरूप जो दशा है, वह कर्म

के पाक के फलरूप दु:ख में जाती है, वह सब। आहाहा! कहो, नवरंगभाई! ऐसी बातें हैं। आहाहा! यह 'प्रभु का मारग है शूरों का, कायर का वहाँ काम नहीं है।' आहाहा!

यहाँ कहते हैं, आहाहा! अभिमानी का एक बार पानी उतर जाये वैसा है। हम दया पालते हैं, और व्रत करते हैं, हमें ज्ञान का क्षयोपशम हुआ है, यह सब तो जड़ का क्षयोपशम है-पर का। ऐई! ज्ञानावरणीय आया न? ज्ञानावरणीय का पाक आवे न मन्द, यहाँ क्षयोपशम हो। आहाहा! यहाँ कहते हैं, प्रभु आत्मा तो अनाकुल सुखस्वरूप प्रभु, उसे जिसे अहंपना 'यह मेरा यह स्वरूप है' - ऐसा अहं आया, उसे तो पर्याय में आनन्द का पाक होता है, वह जीवस्वभाव है। आहाहा! समझ में आया? और उसने पूछा था न, उसने शिष्य ने? पुद्गलस्वभाव इतिकिं? ऐसा अर्थात् चैतन्यस्वभाव नहीं - ऐसा फिर उसमें से निकाला। आहाहा!

भगवान! यह पुण्य और पाप के शुभ-अशुभभाव, इन्हें पुद्गलस्वभाव कहा, इन्हें चैतन्यस्वभाव से अन्य कहा अथवा इस स्वभाव से जीव चैतन्यस्वभाव अन्य कहा.. आहाहा! तो हमें तो प्रभु पर्याय में इनका सम्बन्ध-पुण्य-पाप के विकारीभाव का सम्बन्ध दिखता है न? उसे तुम पुद्गल का स्वभाव कैसे कहते हो? पर्याय में इसके दिखते हैं, उन्हें पुद्गल का स्वभाव कैसे कहते हो? तब कहा प्रभु! एक बार सुन! आहाहा! चैतन्यस्वभाव ऐसा जो अनाकुल आनन्द, आहाहा! उसका जो अहंपना 'यह मैं' ऐसी जो अन्दर दृढ़ प्रतीति / अनुभव हुआ, उसके फलरूप तो उसे अनाकुल आनन्द का वेदन आता है। आहाहा! तो यह वह वेदन नहीं और उस वस्तु की ओर का अहंपना 'यह मैं जीव स्वभाव' ऐसा नहीं और है, उसे भी जरा जो राग होता है, वह भी कर्म के पाक का दु:ख है। आहाहा!

प्रवचनसार में नय अधिकार में ऐसा कहते हैं कि रागादि है, उसका परिणमन मेरा, इसलिए मैं कर्ता हूँ। ज्ञानी ऐसा कहता है, हों! आहाहा! और रागादि होते हैं, वे मुझमें हैं, उनका मैं स्वामी हूँ, उनका मैं भोक्ता हूँ - ऐसे गणधर भी ऐसा कहते हैं। आहाहा! यह ज्ञान की शक्ति के विकास की अपेक्षा से बात की है और यहाँ दृष्टि के स्वभाव की अपेक्षा से लेकर, (कहा कि) उसका पाक वह कर्म का पाक है, वह जीव / तेरा नहीं। कहो, शान्तिभाई! यह सब वहाँ कुछ समझ में आये ऐसा नहीं, वहाँ जरिया में। अरे मार्ग, वह मार्ग! आहाहा!

यह अध्यवसान आदि कहे न ? आदि अर्थात् वे आठों भाव कहे, भाव हैं वे, परन्तु वे दु:ख में समाविष्ट होते हैं, बापू ! आहाहा ! भगवान अनाकुल आनन्द के फल में उनका समावेश नहीं। आहाहा ! प्रभु तो-आत्मा तो अतीन्द्रिय आनन्द का सागर है न ! यहाँ तो वह दु:ख कहना है, इसलिए आनन्द लिया यहाँ। आहाहा ! आहाहा ! प्रभु ! तू तो अतीन्द्रिय अनन्त अपरिमित हदरहित आनन्द का सागर है न प्रभु ! आहाहा ! ऐसे आनन्द के सागर का उछाला आवे - आहाहा ! मीठे पानी का उछाला आवे। जैसे इक्षुरस समुद्र है न ! इक्षुरस का समुद्र है, उसका उछाला आवे तो इक्षुरस अन्दर आवे या खारा पानी आवे ? लवण समुद्र का उछाला आवे तो खारे पानी का उछाला आवे; आहाहा ! इसी प्रकार प्रभु ! तेरा अनाकुल आनन्दस्वभाव है न ? यहाँ तो वह दु:ख कहना है न, इसलिए आनन्दस्वभाव लिया है। ज्ञान की परिणति कहनी हो तो अन्तर ज्ञानस्वभाव तू है। आहाहा ! भगवन्त ! तेरा स्वरूप तो प्रभु अनाकुल आनन्दस्वरूप है न ? उस अनाकुल आनन्दस्वरूप का पाक तो अनाकुल आनन्द आवे, ऐसा जो स्वरूप (है), उससे यह दु:ख-रागादिभाव, वे विलक्षण हैं। वे दु:ख में समाविष्ट होते हैं; भगवान आत्मा के आनन्द में समाविष्ट नहीं होते। आहाहा ! समझ में आया ? आहाहा !

समाविष्ट हो जाते हैं;.. आहाहा ! **इसलिए यद्यपि वे चैतन्य के साथ सम्बन्ध होने का भ्रम उत्पन्न करते हैं..** आहाहा ! भगवान आत्मा चैतन्यज्योतस्वरूप आनन्दस्वरूप प्रभु के साथ ये रागादि मेरे, यह तो भ्रम उत्पन्न करते हैं, कहते हैं। आहाहा ! अब शरीर, वाणी, मन तो कहीं रह गये। यह सब धूल, आहाहा ! परन्तु अन्दर दया, दान, व्रत, भक्ति, तप और यात्रा का भाव आवे, राग (आवे), आहाहा ! भगवान का वचन है, सर्वज्ञ का कि वह भावकर्म का पाक दु:ख में जाता है। आहाहा ! है न इसमें ? सर्वज्ञ का वचन है। स्वयं मुनि, मुनि कहते हैं तो स्वयं परन्तु उनका-भगवान का आश्रय लेकर कहते हैं, भाई ! सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ परमेश्वर जिनेश्वरदेव ने इस राग को-यह दया, दान, व्रत, भक्ति आदि का भाव-राग आता है, उस राग को भगवान ने तो दु:ख में डाला है। पोपटभाई ! यह तो चिल्लावे ऐसा है। आहाहा !

यहाँ मुनिराज, दिगम्बर सन्त ऐसा कहते हैं कि सर्वज्ञ परमेश्वर का तो यह वचन

है, प्रभु! आहाहा! कि जितना यह शुभ-अशुभभाव होता है, वह कर्म का पाक है; वह जीव के स्वभाव का पाक नहीं है। कर्म के स्वभाव का पाक है और इसीलिए उसे दु:ख कहा जाता है। आहाहा! ऐई! गोविन्दरामजी! बापू! मार्ग ऐसा है, भाई! आहाहा! यहाँ तो राग के साथ क्षयोपशम उपयोग-परलक्षी है न, उसमें भी दु:ख आता है कहते हैं, वहाँ आनन्द नहीं आता। आहाहा! कहो, घीया? कहते हैं (कि) घी के स्वाद में जहर का स्वाद नहीं होता – ऐसा यहाँ कहते हैं। आहाहा!

भगवान आत्मा का तो अनाकुल स्वभाव स्वाद है, वह क्योंकि वह अनाकुल आनन्दस्वरूप से भरपूर भगवान है, वह सच्चिदानन्द प्रभु है। सत् अर्थात् शाश्वत्, चित् अर्थात् ज्ञान और आनन्द से शाश्वत् भरपूर प्रभु है। आहाहा! उसके पाक में-जीव के स्वभाव के पाक में तो अतीन्द्रिय आनन्द पकता है। आहाहा! इसलिए आठ कर्म के पाक में हुए जो पुण्य-पाप के भाव, वे दु:ख में जाते हैं – दु:ख में जाते हैं। अनाकुल आनन्द में जाते-आते नहीं हैं। अब यह व्यवहाररत्नत्रय का राग है, वह दु:ख में जाता है-ऐसा कहते हैं यहाँ। गजब बातें हैं! भगवान वीतराग का मार्ग.. आहाहा! सर्वज्ञ का ऐसा वचन है – ऐसे सन्त, सर्वज्ञ की साक्षी लेकर बात करते हैं कि जितना व्यवहाररत्नत्रय का जो देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा, शास्त्र का पठन अथवा नव तत्त्व की श्रद्धा का विकल्प.. आहाहा! अथवा पंच महाव्रत के परिणाम, ये सब दु:ख में जाते हैं।

श्रोता : देव-गुरु की श्रद्धा.....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कहा नहीं? वह दु:ख में जाता है, यह कहा पहले। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! इसलिए कहा न उसमें?

मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायौ।
पै निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायौ॥

—तो इसका अर्थ क्या हुआ? यह पंच महाव्रत के परिणाम, देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का राग, नव तत्त्व के भेदवाला राग और छह काय की दया का भाव,.. आहाहा! यह सब दु:खरूप है। ए... छोटाभाई! वहाँ कलकत्ता-फलकत्ता में यह कुछ नहीं मिलता। ऐसी बात ही नहीं। अजितभाई! भगवान! क्या परन्तु.. कुन्दकुन्दाचार्य! अमृतचन्द्राचार्य!

सन्त-भावलिंगी सन्त, जिन्हें आनन्द का वेदन वर्तता है। आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द का उग्र वेदन वर्तता है, उन्हें यहाँ मुनि कहते हैं। आहाहा! वे मुनिराज ऐसा कहते हैं कि सर्वज्ञ प्रभु ऐसा कहते हैं न भाई! हम गुरु हैं तो ऐसा कहते हैं, और सर्वज्ञ ऐसा कहते हैं और वाणी कहती है-वह शास्त्र भी ऐसा कहते हैं। यह आ गया न पहले, ४४ (गाथा में) आ गया। आहाहा!

वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ ऐसा कहते हैं, उनका आगम ऐसा कहता है और स्वयं ऐसा कहते हैं कि हम गुरु हैं, वह हम सर्वज्ञ की आज्ञा लेकर बात करते हैं। आहाहा! हमें भी जितना पंच महाव्रत का विकल्प उठता है, वह दु:खरूप है। आहाहा! वह हमारे ज्ञाता का परज्ञेयरूप है; मेरे स्वज्ञेयरूप वह नहीं। आहाहा! ऐसी बात है, हैं? ऐसी बातें हैं। आहाहा!

आठों कर्म का फल.. मैंने एक बार तो कहा था, एक बार पहले (कहा था) कि यहाँ चार अघातिकर्म का फल दु:ख क्यों कहा? वरना अघातिकर्म है.. जैसे भगवान को वहाँ तो अनन्त आनन्द आया है, अनन्त आनन्द आ गया है परन्तु वहाँ अपेक्षित अव्याबाध आनन्द नहीं है। अनन्त सुख है, उसकी पूर्णता बारहवें (गुणस्थान में) होती है; अनन्त सुख की प्राप्ति तेरहवें (गुणस्थान में होती) है और सिद्ध होने पर उन्हें अनन्त अव्याबाध सुख की प्राप्ति है अर्थात् अव्याबाध का जहाँ अन्दर अभी विरोध है, इस अपेक्षा से यहाँ बात की है। आहाहा! यह कहा था थोड़े दिन पहले। आहाहा! समझ में आया?

अरे प्रभु! भाई! यह कहीं बड़ी पण्डिताई कर डाले, बातें कुछ ऐसी बातें नहीं हैं कुछ बापू! आहाहा! अन्तर का भगवान आत्मा अनाकुल आनन्द का नाथ को जिसने मैंपने -मेरेपने मानकर अनुभव किया, आहाहा! उसे तो अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद का अनुभव आता है। आहाहा! यह उसका विपाक है.. आहाहा! परन्तु पर्याय में जितना आठ कर्म के लक्ष्य से-उसके पाक के फल में जो जुड़ जाता है, रागादि में (जुड़ जाता है) वह सब दु:ख है। समझ में आया? आहाहा!

चार अघातिकर्म को प्रतिजीवी गुण को रोकते हैं। निमित्तरूप से। प्रतिजीवी गुण रुकते हैं अपनी पर्याय से; केवली को भी प्रतिजीवी गुण का उदयभाव है तो उसके कारण

से वह अटका है, यद्यपि केवली को तो वह ज्ञान का ज्ञेय है। केवलज्ञान में जैसा जाना है, वैसा यह जाना है कि यह है, परन्तु वहाँ तक उन्हें अभी असिद्धभाव है, सिद्ध नहीं। आहाहा! चौदहवें गुणस्थान तक असिद्धभाव, वह उतना भाव उदय है। अघातिकर्म, अभी परिणति में उतनी अभी उल्टी दशा है। समझ में आया? केवली को, हों! उन्हें दु:ख भले ही नहीं, परन्तु अव्याबाधपना जहाँ नहीं है, संयोग का जो अभाव होकर अव्याबाधपना आना चाहिए, वह नहीं है, इस अपेक्षा से उन्हें उपचार से दु:ख कहा गया है। वास्तव तो दु:ख है नहीं। आहाहा!

अब इसमें कितना याद रखना? सब बातें अलग प्रकार की है। हैं! आहाहा! तीन लोक के नाथ जिनेश्वरदेव परमात्मा ऐसा कहते हैं कि तुझमें जितना दया, दान, व्रत, भक्ति, देव-गुरु-शास्त्र का प्रेम और राग है, वह सब.. आहाहा! वह सब दु:ख है। अब यह कहता है कि ये सब साधन हैं। अरे! प्रभु.. प्रभु.. प्रभु! भाई! थोड़े अन्तर से बड़ा अन्तर है, पूर्व-पश्चिम का अन्तर है। आहाहा! यह रागभाव, दया, दान, व्रत, भक्ति आदि का भाव, पूजा, यात्रा आदि का भाव, देव-भगवान के दर्शन, देव-मन्दिर, उसकी रथयात्रा निकालना, यह सब भाव राग है, वह दु:ख है। आहाहा!

श्रोता : अभ्यास करना वह दु:ख है, ऐसा...

पूज्य गुरुदेवश्री : अभ्यास में विकल्प, वह दु:ख है। यहाँ तो अन-उपयोग कहा, उसे दु:ख कहा है। परसत्तावलम्बी ज्ञान में सुख नहीं है, इसलिए उसे मोक्ष का मार्ग नहीं कहते। आया है न भाई? परमार्थवचनिका में है; है न, सब है। आहाहा!

जहाँ निज सत्ता में से ज्ञान आया नहीं, आहाहा! इतना सब भले ग्यारह अंग और नौ पूर्व का ज्ञान खिल गया हो, आहाहा! उसे वहाँ अहंपना वर्तता है कि यह मुझे हुआ और यह मेरा है। आहाहा! सूक्ष्म बात है प्रभु! आहाहा! जिसमें अनाकुल आनन्द की दशा न आवे, वह ज्ञान कैसा? आहाहा! भले लाखों लोगों को समझाने के लिये क्षयोपशम बहुत विकसित हुआ परन्तु वह कोई ज्ञान नहीं है। ज्ञान तो उसे कहते हैं कि जहाँ स्वभाव चैतन्यस्वभाव पूर्णानन्द प्रभु 'वह मैं हूँ' - ऐसा जहाँ आया। समझाने में क्या आवे? 'यह मैं हूँ' - ऐसा भी तो भेद है परन्तु जो पर्याय की बुद्धि अनादि की है, एक समय की पर्याय खिली है और राग, उसकी बुद्धि अहंपने है, आहाहा! वह मिथ्याबुद्धि है, मिथ्यात्व है,

आहाहा! और एक समय में भगवान परिपूर्ण शुद्ध चैतन्यघन ध्रुव, अखण्ड, अभेद में अहंपना, 'यह मैं' - ऐसी प्रतीति आना.. आहाहा! 'यह मैं!' पर्याय नहीं, राग नहीं, निमित्त नहीं। आहाहा! ऐसा जो भगवान आत्मा के ज्ञायकभाव का अहंपने की प्रतीति का भाव, तो उसकी पर्याय में उसके साथ उसे आनन्द आता है। क्योंकि अनाकुलस्वरूप प्रभु है। आहाहा! और जितने रागादिभाव होते हैं; अज्ञानी को एकत्वबुद्धि होती है, ज्ञानी को अस्थिरता बुद्धि से होते हैं। आहाहा! परन्तु फिर भी वह दुःख है। आहाहा! ऐसा पकड़ में नहीं आता, इसलिए फिर ऐई! एकान्त है-एकान्त है। एकान्त है.. (ऐसा वे कहते हैं)। कहो, प्रभु! यह तो सम्यक् एकान्त है। तुम जो मिथ्या एकान्त मानते हो, वह अनेकान्त मिथ्या है। यह राग की क्रिया करते-करते कल्याण होगा और निश्चय से भी होगा यह अनेकान्त अज्ञानी मानता है। आहाहा! समझ में आया?

एक ओर आत्माराम तथा एक ओर आठ कर्म के फलरूप से दुःख। आहाहा! अरे! वीतराग के सिवाय यह बात कहाँ है, बापू! वह भी दिगम्बर जैनदर्शन के अतिरिक्त कहीं अन्यत्र ऐसी बात नहीं है। आहाहा! 'नागा बादशाह से आघा' अन्तर में आनन्द में झूलनेवाले! यह ऐसा शब्दों में विकल्प आया है, उसे दुःखरूप जानते हैं। ओहो! टीका तो शब्दों से हो गयी है। आहाहा! वह दुःख में समाविष्ट होता है - प्रभु ऐसा कहते हैं। सर्वज्ञदेव ऐसा कहते हैं और गुरु स्वयं, सर्वज्ञ कहते हैं, ऐसा कहते हैं। इसलिए गुरु भी साथ आ गये और कहते हैं कि यह वाणी अर्थात् आगम भी साथ आ गया। वीतराग का आगम ऐसा कहता है कि वीतरागी सर्वज्ञदेव ऐसा कहते हैं। या वीतरागी सच्चे सन्त-मुनि ऐसा कहते हैं कि.. आहाहा! यह जितना अन्दर में राग होता है, वह सब कर्म का विपाक दुःख है। भगवान पका नहीं, वहाँ तो कर्म पका है। आहाहा! यह आम पका नहीं, यह निंबोली पकी है। आहाहा! निंबोली कड़वी होती है न? आम तो मीठा होता है। भगवान पके वहाँ तो मिठास आती है। आहाहा!

लोगों को ऐसा सूक्ष्म पड़ता है और फुरसत नहीं मिलती तथा मार्ग बहुत सूक्ष्म और अभी तो वह चलता नहीं, अभी तो सब उल्टा ही चलता है। प्ररूपणा भी ऐसी चलती है, अरे प्रभु! क्या हो भाई? सर्वज्ञ का वचन-यहाँ कहते हैं। तीन लोक के नाथ तीर्थंकर ऐसा

कहते हैं कि पर्याय में जितना राग होता है, वह सब कर्म का पाक दु:खरूप है। भगवान! तेरे आनन्द का विपाक फल वह नहीं है। वह तो कर्म के जहर के वृक्ष का फल है। १४८ प्रकृति को जहर का वृक्ष कहा है न, पीछे अन्त में? आहाहा! वह नीम पर निंबोलियाँ पकी है, कहते हैं। कर्म जो आठ कर्म हैं, उनके फल में जहर पका है। राग हुआ है, वह जहर का पाक आया है। आहाहा! मोक्ष अधिकार में कहा है शुभभाव है, वह जहर का घड़ा है। भगवान अमृत का घड़ा है। आहाहा! उस अमृत के कुम्भ के समक्ष कर्म के-जड़ के पाक के विकल्प को / राग को दु:ख कहकर जहर कहकर उसे समझाया है। आहाहा! एक-एक गाथा, एक-एक पद, पूरा शासन खड़ा कर देता है। आहाहा!

इसलिए यद्यपि वे चैतन्य के साथ सम्बन्ध होने का भ्रम उत्पन्न करते हैं.. यह जो राग आता है, वह मानो चैतन्य का है, चैतन्य के साथ है - ऐसा कहा न? चैतन्य के साथ सम्बन्ध होने का, हों! सम्बन्ध होने का.. आहाहा! वास्तव में तो कर्म के साथ उसका सम्बन्ध है। है अन्त में। **यद्यपि वे चैतन्य के साथ..** चैतन्य स्वभाव जो भगवान अनाकुल आनन्दस्वभाव, उसके साथ राग का-दु:ख का सम्बन्ध वह भ्रम उत्पन्न करता है, कहते हैं। आहाहा! **तथापि वे आत्मस्वभाव नहीं हैं..** बस! यह चैतन्यस्वभाव जो आनन्दस्वभाव, वहाँ राग, वह आत्मा का स्वभाव नहीं है। भले ही चैतन्य के साथ सम्बन्ध का भ्रम-सम्बन्ध का भ्रम उत्पन्न करे।

श्रोता : परपदार्थ भ्रम किस प्रकार उपजाये?

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वयं भ्रम करता है - ऐसा कहते हैं। भ्रम स्वयं करता है। यह कर्म का पाक है, वह भी भ्रम है, वस्तु में नहीं। आहाहा!

भगवान तो सच्चिदानन्द प्रभु (है)। आहाहा! उसमें भ्रम नहीं है, परन्तु भ्रम उत्पन्न करता है वह कि यह मेरे हैं। यह भ्रम वास्तव में तो पुद्गल का परिणाम है, कहते हैं। आहाहा! एक-एक गाथा! आहाहा! यह तो परम सत्य प्रभु की बात है, भाई! लोग कल्पना से बातें करें - व्यवहार करते-करते निश्चय होता है, यह देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति करते-करते आत्मा (प्राप्त) होता है और समकित होता है, (लोगों की यह बात) अत्यन्त मिथ्याभ्रम है।

श्रोता : शास्त्र में ऐसा आता है कि भगवान की प्रतिमा देखने से सम्यग्दर्शन होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो स्वयं जिनबिम्ब देखे, यह जिनबिम्ब देखे – ऐसा कहते हैं। इस प्रकार भगवान को देखे कि निष्क्रिय बिम्ब स्थिर हो गये हैं, इस प्रकार ऐसा अन्दर में हो कि ओहो! प्रभु! मेरा स्वभाव भी निष्क्रिय बिम्ब है, जिसमें राग भी नहीं और परिणमन भी नहीं – ऐसी निष्क्रिय चीज है। आहाहा! समझ में आया? वह जिनबिम्ब यह (अर्थात् स्वयं भगवान आत्मा)। आता है धवल में। वह है वह तो पर रहे और उन पर लक्ष्य जाने से तो राग होगा, राग होगा अर्थात् दु:ख होगा – यहाँ तो ऐसा कहते हैं। परमात्मा तीन लोक के नाथ ऐसा कहते हैं, जिनेश्वरदेव का इन्द्रों के समक्ष पुकार ऐसा है। आहाहा! जो इन्द्र भक्ति करते थे, समझ में आया? आहाहा! अष्टाह्निका में नन्दीश्वर में देव भक्ति करने जाते हैं न? तो भगवान कहते हैं कि यह भक्ति करने का राग है, वह दु:ख है। आहाहा! आता है, परन्तु है दु:ख। वह दु:ख में समाविष्ट होता है – ऐसा कहा न? दु:ख में उसका संग्रह होता है। आत्मा की पर्याय में या आत्मा के गुण में उसका समावेश है नहीं। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

इसलिए यद्यपि वे चैतन्य के साथ सम्बन्ध.. चैतन्य के साथ सम्बन्ध.. सम्बन्ध नहीं। वास्तव में उसे भावबन्ध भी नहीं। सम्बन्ध अर्थात् बन्धभाव, वह उसमें – आत्मा में नहीं है। आहाहा! राग का सम्बन्ध-बन्ध, भावबन्ध, वह होने का भ्रम उत्पन्न करता है। आहाहा! **तथापि वे आत्मस्वभाव..** भले भ्रम हो, परन्तु आत्मा के स्वभाव नहीं हैं। **किन्तु पुद्गलस्वभाव हैं।** स्वभाव नहीं न, ऐसा त्रिकाली ज्ञायक आनन्दस्वभाव वह नहीं; इसलिए वह पुद्गलस्वभाव है। यह अजीव अधिकार है; इसलिए यह अजीव स्वभाव है। आहाहा! (लोग) चिल्लाते हैं एकान्त है-ऐसा कहते हैं लोग बेचारे, पता नहीं न, पता नहीं। उन्होंने यह सुना नहीं। अरे प्रभु! तेरी महिमा! और तेरी हीनता की दशा क्यों है, यह तूने सुना नहीं। आहाहा!

'होशींडा मत हौंश न कीजै' एक सज्झाय आती है। इस राग और पर के उघाड़ में होंश मत कर प्रभु! आहाहा! मैं कुछ बढ़ गया हूँ – ऐसा मत मान। आहाहा! कठिन काम

है, प्रभु! इसे तो चैतन्य के साथ सम्बन्ध होने का भ्रम उत्पन्न करते हैं। वे आत्मस्वभाव नहीं; पुद्गलस्वभाव है। आहाहा! मिथ्यात्वभाव, पुण्यभाव, पापभाव, इन सबको तो भगवान ने पुद्गलस्वभाव कहा है। स्वभाव शब्द लिया है न? पुद्गल के परिणाम – ऐसा नहीं लिया। यहाँ जीवस्वभाव नहीं, इसलिए पुद्गलस्वभाव – ऐसी भाषा प्रयोग की है। समझ में आया? सूक्ष्म है, भाई! आहाहा!

भावार्थ – जब कर्मोदय आता है, तब यह आत्मा दुःखरूप परिणमित होता है.. देखा? उसके कारण नहीं परन्तु स्वयं दुःखरूप परिणमित होता है। चाहे तो राग शुभ हो – दया, दान का हो या चाहे तो पाप हो परन्तु दोनों दुःखरूप हैं। आहाहा! **और दुःखरूप भाव है, वह अध्यवसान है।** एकताबुद्धि है। **इसलिए दुःखरूप भावों में (अध्यवसान में) चेतनता का भ्रम उत्पन्न होता है।** आहाहा! भगवान आनन्दस्वरूप प्रभु..

श्रोता : वहाँ कहते हैं उत्पन्न करते हैं और यहाँ कहते हैं उत्पन्न होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह एक ही हुआ। भ्रम उत्पन्न होता है और स्वयं उत्पन्न करता है। भ्रम उत्पन्न होता है इसे, ऐसा। **परमार्थ से दुःखरूप भाव..** ये शुभाशुभभाव, आहाहा! **परमार्थ से दुःखरूप भाव चेतन नहीं है,..** चेतन का दुःखरूप भाव नहीं होता, आहाहा! क्योंकि चेतन तो अतीन्द्रिय आनन्द स्वभावी वस्तु है। आहाहा! ऐसी बात! **परमार्थ से दुःखरूप भाव चेतन नहीं है,..** यह शुभभाव जो राग, दया, दान, व्रत, भक्ति आदि का भाव, वह परमार्थ से दुःखरूप भाव.. आहाहा! यह चेतन नहीं है। चेतन को नुकसान उत्पन्न करते हैं, कहते हैं। अब इससे लाभ हो – ऐसा माने.. अरे प्रभु! क्या कहता है? भाई! तू कहाँ जायेगा, बापू! आहाहा!

अनाकुल आनन्द का नाथ नित्यानन्द प्रभु ध्रुव का स्वीकार नहीं करके, इसके – दुःख का स्वीकार, वह मेरा लाभ करे, वह राग की क्रिया मुझे लाभदायक है, दुःख की क्रिया मुझे मेरे आनन्द के नाथ में लाभकारी है (–ऐसा) अज्ञानी को भ्रम है। आहाहा! यह भ्रम तोड़ने के लिये तो यह बात करते हैं; बात इसका भ्रम रखने के लिये नहीं; भ्रम है, उसे तोड़ने के लिये बात है। वे! **कर्मजन्य है, इसलिए जड़ ही है।** वे रागादि दया, दान, व्रत, भक्ति का राग जड़ है; चैतन्यस्वभाव नहीं। आहाहा! विशेष कहेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा ४६

यद्यध्यवसानादयः पुद्गलस्वभावास्तदा कथं जीवत्वेन सूचिता इति चेत्–

ववहारस्स दरीसणमुवएसो वण्णिदो जिणवरेहिं।
जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावा।।४६।।

व्यवहारसय दर्शनमुपदेशो वर्णितो जिनवरैः।
जीवा एते सर्वेऽध्यवसानादयो भावाः।।

सर्वे एवैतेऽध्यवसानादयो भावाः जीवा इति यद्भगवद्भिः सकलज्ञैः प्रज्ञप्तं तदभूतार्थ –स्यापि व्यवहारस्यापि दर्शनम्। व्यवहारो हि व्यवहारिणां म्लेच्छभाषेव म्लेच्छानां परमार्थप्रतिपादकत्वादपरमार्थोपि तीर्थप्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयितुं न्याय्य एव। तमंतरेण तु शरीराज्जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनात्त्रसस्थावराणां भस्मन इव निःशंकमुपमर्दनेन हिंसा –भावाद्भवत्येव बंधस्याभावः। तथा रक्तद्विष्टविमूढो जीवो बध्यमानो मोचनीय इति रागद्वेषमोहेभ्यो जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनेन मोक्षोपायपरिग्रहणभावात् भवत्येव मोक्षस्याभावः।

अब प्रश्न होता है कि यदि अध्यवसानादि भाव हैं, वे पुद्गलस्वभाव हैं तो सर्वज्ञ के आगम में उन्हें जीवरूप क्यों कहा गया है ? उसके उत्तरस्वरूप गाथासूत्र कहते हैं –

व्यवहार ये दिखला दिया, जिनदेव के उपदेश में।
ये सर्व अध्यवसान आदिक, भाव को जँह जिव कहे ॥ ४६ ॥

गाथार्थ – [एते सर्वे] यह सब [अध्यवसानादयः भावाः] अध्यवसानादि भाव [जीवाः] जीव हैं, इस प्रकार [जिनवरैः] जिनेन्द्रदेव ने [उपदेशः वर्णितः] जो उपदेश दिया है, सो [व्यवहारस्य दर्शनम्] व्यवहारनय दिखाया है।

टीका - यह सब अध्यवसानादि भाव जीव हैं—ऐसा जो भगवान सर्वज्ञदेव ने कहा है वह, यद्यपि व्यवहारनय अभूतार्थ है तथापि, व्यवहारनय को भी बताया है; क्योंकि जैसे म्लेच्छों की म्लेच्छभाषा वस्तुस्वरूप बतलाती है, उसी प्रकार व्यवहारनय व्यवहारी जीवों को परमार्थ का कहनेवाला है, इसलिए अपरमार्थभूत होने पर भी, धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति करने के लिए वह (व्यवहारनय) बतलाना न्यायसंगत ही है। परन्तु यदि व्यवहारनय न बताया जाये तो, परमार्थ से (-निश्चयनय से) शरीर से जीव को भिन्न बताया जाने पर भी, जैसे भस्म को मसल देने से हिंसा का अभाव है, उसी प्रकार त्रसस्थावर जीवों को निःशंकतया मसल देने-कुचल देने (घात करने) में भी हिंसा का अभाव ठहरेगा और इस कारण बंध का ही अभाव सिद्ध होगा; तथा परमार्थ के द्वारा जीव राग-द्वेष-मोह से भिन्न बताया जाने पर भी, 'रागी, द्वेषी, मोही जीव कर्म से बँधता है उसे छुड़ाना - इस प्रकार मोक्ष के उपाय के ग्रहण का अभाव हो जाएगा और इससे मोक्ष का ही अभाव होगा।' (इस प्रकार यदि व्यवहारनय न बताया जाय तो बन्ध-मोक्ष का ही अभाव ठहरता है।)

भावार्थ - परमार्थनय तो जीव को शरीर तथा राग-द्वेष-मोह से भिन्न कहता है। यदि इसी का एकान्त ग्रहण किया जाये तो शरीर तथा राग-द्वेष-मोह पुद्गलमय सिद्ध होंगे तो फिर पुद्गल का घात करने से हिंसा नहीं होगी तथा राग-द्वेष-मोह से बन्ध नहीं होगा। इस प्रकार, परमार्थ से जो संसार-मोक्ष दोनों का अभाव कहा है, एकान्त से यह ही ठहरेगा, किन्तु, ऐसा एकान्तरूप वस्तु का स्वरूप नहीं है; अवस्तु का श्रद्धान, ज्ञान, आचरण अवस्तुरूप ही है। इसलिए व्यवहारनय का उपदेश न्यायप्राप्त है। इस प्रकार स्याद्वाद से दोनों नयों का विरोध मिटाकर श्रद्धान करना, सो सम्यक्त्व है।

प्रवचन नं. ११९ गाथा-४६, दिनाङ्क २७-१०-१९७८, शुक्रवार
आसोज कृष्ण ११, वीर निर्वाण संवत् २५०४

हिम्मतभाई! पहले जो कहा था न? रागादि अध्यवसान जीव के नहीं है - यह सर्वज्ञ ने कहा है; वहाँ संस्कृत में इतना शब्द प्रयोग किया है '**सकलज्ञ ज्ञप्ति**' - इतना बस! और यहाँ व्यवहार में ऐसा प्रयोग किया है कि '**सकलज्ञैः प्रज्ञप्तं**' कथन-कथनी। संस्कृत

में दोनों के शब्दों में अन्तर डाला है। क्या कहा, समझ में आया ? **ज्ञप्तिः** और **प्रज्ञप्तं** – यह दोनों में अन्तर डाला है कि आत्मा में राग नहीं है, वह पुद्‌गल है – यह **सकलज्ञ-ज्ञप्तिः** बतलाया कथन, कथन। **ज्ञप्ति** वचन है और रागादि जीव के हैं – ऐसा आगम में कहा है, वह '**प्रज्ञप्तं**' कहा है – ऐसे शब्द में दोनों में जरा अन्तर है। यह अधिकार-४६ गाथा, बहुत सूक्ष्म है। आहाहा!

गाथा छयालीस। **अब प्रश्न होता है कि अध्यवसानादि भाव** अर्थात् क्या ? कि राग की एकताबुद्धि – ऐसा अध्यवसाय जो मिथ्यात्व और दया, दान का भाव जो राग, **वे पुद्‌गल स्वभाव है...** ऐसा तुमने कहा, **तो सर्वज्ञ के आगम में उन्हें जीवरूप क्यों कहा गया है ?** जीवरूप क्यों कहा गया है ? – ऐसा वजन है। उसमें वचन मात्र **सर्वज्ञ ज्ञप्तिः** वचन है उनका और यह है, वह कथन किया है, ऐसा दोनों में अन्तर है दोनों में।

श्रोता : कहने मात्र यह है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कहनेमात्र ऐसा, बस यह है, जानने मात्र है; वस्तु है वास्तविक तो भगवान आत्मा...; शुभाशुभराग, वह चैतन्यस्वभाव नहीं; वह पुद्‌गल स्वभाव है, यह तो '**सर्वज्ञेज्ञप्तिः**' इतना कहा है और यहाँ अब शिष्य कहता है कि तब अध्यवसानादि को आगम में जीवरूप क्यों कहा गया है ? है न ? जरा सूक्ष्म बात है थोड़ी, उसके उत्तर की गाथा है।

ववहारस्स दरीसणमुवएसो वण्णिदो जिणवरेहिं।
जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावा॥४६॥

हरिगीत–

व्यवहार ये दिखला दिया, जिनदेव के उपदेश में।
ये सर्व अध्यवसान आदिक, भाव को जँह जिव कहे॥४६॥

इसकी टीका। शान्ति से... यह व्यवहार का अधिकार है, यह जाननेयोग्य है, यह न हो तो सब फेरफार हो जाए, इतनी बात कही। बन्ध भी व्यवहार से है; निश्चय से— परमशुद्ध में तो बन्ध भी नहीं और मोक्ष भी नहीं, आहाहा! परन्तु वर्तमान बन्ध रागादि का

सम्बन्ध है, वह व्यवहारनय का विषय है, वह जाननेयोग्य है; वह है ही नहीं कुछ-ऐसा नहीं है। आश्रय करने योग्य कौन है ?—वह प्रश्न दूसरा। समझ में आया ? आहाहा!

श्रोता - आश्रय करने का प्रश्न दूसरा अर्थात् क्या ?

पूज्य गुरुदेवश्री - वह पहले कहा गया है। आत्मा ज्ञायकस्वरूप, ध्रुव, अखण्ड, अभेद, भूतार्थ वह आश्रय करनेयोग्य है। उसका आश्रय करनेयोग्य है। अथवा यह जो त्रिकाली ज्ञायकभाव है, उसमें 'अहंपना' माननेयोग्य है। समझ में आया ? आहाहा!

श्रोता : शास्त्र में तो ऐसा है कि भूतार्थनय के आश्रय से होता है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कहा न! भूतार्थ कहो या अखण्ड ज्ञायक कहो, सब अपेक्षा एक ही है। यह तो वह की वह बात आवे। कहा था - शब्द आया था बीच में, दोनों कहा था। अभी भी कहा था। अखण्उ कहो, भूतार्थ कहो, ज्ञायक कहो - सब शब्द अभी ही लिये थे। ख्याल नहीं रहा। एक त्रिकाली ज्ञायक है, प्रमत्त-अप्रमत्त पर्यायरहित चीज है। जिसमें प्रमत्त-अप्रमत्त पर्याय भी जिसमें नहीं - ऐसा ज्ञायक—यह छठवीं (गाथा) की बात है। ग्यारहवीं गाथा में भूतार्थ कहा—ये सब शब्द अभी ही कहे थे, पहले कहे थे।

सत्यार्थ त्रिकाल जो ज्ञायकभाव-ध्रुवभाव, अकेला ज्ञायकस्वभावभाव अनन्त गुण का एकरूप—वही आश्रय करनेयोग्य है। आश्रय का अर्थ ? वर्तमान पर्याय को वहाँ झुकाने योग्य है। यह भी एक अपेक्षित शब्द है। आहाहा! पर्याय पर लक्ष्य रखकर पर्याय को झुकानेयोग्य है-ऐसा नहीं। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! यह वस्तु है, इसमें अहंपना—'यह मैं हूँ'—ऐसे इसे माननेयोग्य है। मानती है पर्याय-मानती है पर्याय, कार्य है पर्याय में परन्तु वह पर्याय ऐसा मानती है कि मैं त्रिकाली ज्ञायक ध्रुव हूँ, वह मैं हूँ।

श्रोता : पर्याय अपने को द्रव्य माने।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, पर्याय स्वयं अपने को ध्रुव माने, यही वह है—'**भूदत्थं अस्सिदो खलु**' और वहाँ ३२० गाथा में भी ऐसा आया है। ३२० (गाथा) जयसेन आचार्य की टीका। ध्याता पुरुष ऐसा नहीं ध्याता कि मैं, खण्ड-खण्ड ज्ञान प्रगट है, वह मैं हूँ। आहाहा! ध्याता पुरुष किसे ध्याता और मानता है ? ध्याता है अर्थात् ध्यान में उसका विषय क्या है ? जो सकल निरावरण अखण्ड एक प्रत्यक्षप्रतिभासमय अविनश्वर शुद्ध पारिणामिक

–परमभाव लक्षण निजपरमात्मतत्त्व / द्रव्य, वह मैं हूँ। आश्रय और अवलम्बन उसका है। परन्तु अब यहाँ पर्याय की बात है। (कोई) एकान्त ऐसा कहता है कि बन्ध और मोक्ष है ही नहीं, जीव में रागादि है ही नहीं... यह कहा न ? वह तो निश्चय के स्वभाव की दृष्टि की अपेक्षा से व्यवहार, जो रागादि इसमें है–पर्याय में; वे द्रव्य में नहीं, चैतन्यस्वभाव में नहीं – ऐसा कहा था। अब यहाँ कहते हैं कि इसकी पर्याय में है। व्यवहार भी जाना हुआ प्रयोजनवान है—१२ वीं गाथा। अब वह बात यहाँ सिद्ध करते हैं। आहाहा! अटपटी बात है। आहाहा!

टीका - यह सब अध्यवसानादि भाव.. सब अर्थात् आठ बोल लिये थे। आठ बोल हैं न ? राग की एकताबुद्धि, वह अध्यवसाय; कर्म जो पर है, वह मेरे हैं—ऐसा भाव; इन सबको भिन्न कहा था। वे **जीव हैं ऐसा..** यहाँ अब अध्यवसानादि भाव—यह जो शुभभाव है या जो अशुभभाव है, वे जीव हैं पर्याय में; आहाहा! पर्याय, वह जीव है। द्रव्य-जीव वह त्रिकाल हैं, उसमें वे नहीं। अरे! ऐसी बात है। **ऐसा जो भगवान सर्वज्ञदेव ने कहा है..** देखा ? भाषा '**प्रज्ञप्तं**' बस! व्यवहारनय कथनमात्र (है)—ऐसा बहुत जगह आता है न ? कथनमात्र अर्थात् जाननेयोग्य है। आहाहा! उसमें—पहले में कहा था वह तो भगवान ने—सर्वज्ञदेव ने शुभरागादि को पुद्गल का स्वभाव है—ऐसा कहा था। यह चैतन्य का स्वभाव जो है, उस स्वभाव में (रागादि) नहीं; पर्याय में है। यह प्रश्न अभी यह सिद्ध करते हैं। आहाहा!

भगवान आत्मा चैतन्यस्वभावी जो वस्तु, उसमें पर्याय में रागादि जो हैं, वे चैतन्य -स्वभावी नहीं, ऐसा कहकर वहाँ पुद्गलस्वभावी कहा था। इस परमार्थ का—स्व का आश्रय लेनेवाले को, उनका आश्रय लेने योग्य नहीं है; भेद का आश्रय लेने योग्य नहीं, तो राग का भी आश्रय लेने योग्य नहीं—इस अपेक्षा से जीव का चैतन्य स्वभाव, उसमें वे नहीं; आहाहा! वे पुद्गलस्वभावी है। ऐसे उस स्वभाव की / त्रिकाली स्वभाव की शक्ति की अपेक्षा से उन्हें चैतन्यस्वभाव नहीं, तो दया, दान के विकल्प, पुद्गलस्वभावी हैं—ऐसा कहा था। परन्तु कोई ऐसा ही मान ले कि उसकी पर्याय में रागादि ही नहीं.. वस्तु के चैतन्यस्वभाव में नहीं। समझ में आया ? आहाहा! ऐसी बातें अब! इसमें निवृत्ति कहाँ.. गोदिकाजी! मार्ग ऐसा है, बापू! भाई! आहाहा!

भाषा कितनी, संस्कृत टीकाकार ने.. आहाहा! रागादि-पुण्यादि भाव जीव में नहीं है, पुद्गलस्वभावी है, वहाँ 'ज्ञप्ति' बस, सर्वज्ञ ने 'ज्ञप्ति' कहा है, बस इतना; और यहाँ रागादि इसके हैं—ऐसा जो आगम में कहा है, वह सर्वज्ञ ने कहा है; '**प्रज्ञप्तं**।' उसमें '**ज्ञप्ति**' इतना कहा, बस; यह '**प्रज्ञप्तं**' कहा है, कहा है ऐसा। आहाहा! बाबूभाई! ऐसा मार्ग है। सूक्ष्म बहुत, बापू! कहो, नवरंगभाई! आहाहा! भगवान सर्वज्ञ ने वहाँ भी यह कहा था भगवान ने वहाँ कहा, ज्ञप्ति-बस! यह वचन है। यह राग—पुण्य-पाप, दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध भाव या मिथ्यात्वभाव—यह भगवान सर्वज्ञ ने कहा है कि यह 'जीव में है' - यह कहा है, वह व्यवहारनय का कथन है, वह व्यवहारनय का विषय है। कथन है परन्तु उसका 'वाच्य' इसमें है, इसकी पर्याय में रागादि है—ऐसा भगवान ने व्यवहार से कहा है। आहाहा! बहुत कठिन बात है। आहाहा!

यद्यपि व्यवहारनय अभूतार्थ है.. देखा? यह शुभ-अशुभभाव-पूरी पर्यायमात्र को अभूतार्थ कहा है। आहाहा! त्रिकाली वस्तु की दृष्टि कराने को, ज्ञायक की दृष्टि और ध्येय वह है। दृष्टि का विषय गुणभेद या पर्याय या राग या निमित्त नहीं है। आहाहा! सम्यग्दर्शन का विषय वह ज्ञायकभाव अकेला पूर्णस्वरूप, जिसमें गुणभेद भी विषय नहीं, पर्याय विषय नहीं; राग तो नहीं और निमित्त तो नहीं। आहाहा! इतना कहकर उसे - त्रिकाली ज्ञायकभाव है, वहाँ दृष्टि को स्थापित कर। वह ध्यान में स्थापित होती है। आहाहा! इसमें स्थापित कर—ऐसा जहाँ विकल्प भी नहीं है। आहाहा! ऐसा जो कहा था वह तो स्व का-त्रिकाली का आश्रय लेने पर उसे सम्यग्दर्शन होता है परन्तु वह सम्यग्दर्शन पर्याय है, मोक्ष का मार्ग भी पर्याय है। यह पर्याय है, वह व्यवहार है। बन्ध है, वह भी व्यवहार है और बन्ध का छेद करना, वह भी व्यवहार है। व्यवहार से बन्ध छेद होता है, यह यहाँ प्रश्न नहीं है। (बन्ध का) छेद तो इस त्रिकाली ज्ञान के आश्रय से ही होती है परन्तु बन्ध है और उसे छेदने का पर्याय में उपाय है। यदि उस उपाय को न मानो तो मोक्ष ही नहीं होगा। और बन्ध नहीं—ऐसा मानो तो बन्ध को छेदना और मोक्ष का उपाय भी नहीं रहता। आहाहा! समझ में आया?

व्यवहारनय अभूतार्थ है.. अर्थात् पर्याय और रागादि जो इसके कहे, वे वास्तव में तो असत्यार्थ हैं। त्रिकाली ज्ञायकभाव की अपेक्षा से भगवान ज्ञायकभाव वस्तु है, वह

सत्यार्थ है, वह भूतार्थ है। उसकी अपेक्षा से पर्यायमात्र को.. रागादि तो ठीक परन्तु पर्यायमात्र को गौण करके अभूतार्थ कहा गया है। (पर्याय) 'नहीं' कहकर अभूतार्थ ऐसा नहीं। आहाहा! समझ में आया?

यद्यपि व्यवहारनय अभूतार्थ है तथापि, व्यवहारनय को भी.. देखा? 'भी' क्यों कहा? वह जो निश्चय से कहा था कि रागादि जीव के नहीं, इसकी पर्याय का भी आश्रय लेने योग्य नहीं, आहाहा! ऐसा जो सम्यग्दर्शन के विषय को बताते हुए भगवान पूर्णानन्द की जिसने श्रद्धा की उसे तो पूर्णानन्द का ही आश्रय / अवलम्बन है परन्तु अब यह लिया, व्यवहारनय 'भी', वह कहा न इसलिए यह 'भी' 'भी' तो कहा जा चुका है (और) वहाँ दूसरा यह भी.. आहाहा! व्यवहारनय भी दर्शाया-दर्शाया, दिखाया - ऐसा कहा। समझ में आया? सूक्ष्म है, हसमुखभाई! यह तुम्हारे टाईल्स के धन्धे में कहीं मिले ऐसा नहीं धूल में भी वहाँ। वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर, उसका निश्चयस्वभाव क्या और पर्याय तथा राग का भाव क्या? दोनों का यहाँ ज्ञान कराया। विषय तो त्रिकाली एक ही है परन्तु जो विषय करती है, ऐसी पर्याय उसमें है, राग उसमें है, है तो फिर राग का नाश करने का उपाय भी है, यह सब व्यवहार हुआ। व्यवहार से राग छेदा जाता है - ऐसा प्रश्न नहीं। छेदा तो द्रव्य के आश्रय से जो मोक्ष का मार्ग पर्याय हुई उसके आश्रय से, परन्तु त्रिकाली जो है, उसे निश्चय कहते हैं और मोक्षमार्ग पर्याय को व्यवहार कहते हैं। अभूतार्थ होने पर भी उसे व्यवहार कहते हैं। आहाहा! अटपटी बात है। जैसे, **क्योंकि..** क्यों दर्शाया है कहते हैं, व्यवहार भी निश्चय के साथ वह भी दर्शाया है क्यों? आहाहा!

जैसे म्लेच्छों की म्लेच्छभाषा.. म्लेच्छों को, आहाहा! यह आठवीं गाथा में आ गया है। अनार्य को अनार्य भाषा में (उसे समझा सकते हैं।) इन कुन्दकुन्दाचार्य के समय अनार्य भाषा थी और अमृतचन्द्राचार्य के समय उसे म्लेच्छ भाषा हो गयी। समझ में आया? जैसे भाषा अनार्य बिना न समझा सके, तब यहाँ तो म्लेच्छ को म्लेच्छों की— ऐसी भाषा जरा प्रयोग की है, इसलिए जरा हल्का काल हो गया। समझ में आया? **म्लेच्छों की म्लेच्छभाषा...** वहाँ अनार्य भाषा अनार्यों को, मूल कुन्दकुन्दाचार्य। आहाहा! **म्लेच्छों की म्लेच्छभाषा वस्तुस्वरूप बतलाती है..** बतलाती है। आदरणीय कौन है - यह प्रश्न यहाँ नहीं है।

उसी प्रकार व्यवहारनय.. व्यवहारनय अर्थात् म्लेच्छभाषा के स्थान पर, म्लेच्छों का अर्थात् **व्यवहारी जीवों को..** आहाहा! म्लेच्छभाषा म्लेच्छों को **उसी प्रकार व्यवहारनय व्यवहारी जीवों को..** व्यवहारी जीवों को, आहाहा! **परमार्थ का कहनेवाला है इसलिए..** परमार्थ को प्रगट कराता है इसलिए - ऐसा नहीं। **परमार्थ का कहनेवाला है..** कि देखो, यह वस्तु। आहाहा! इसमें भी कहते हैं न बहुत कि देखो, इस व्यवहारनय के बिना परमार्थ नहीं ज्ञात होता, इसलिए व्यवहार से परमार्थ ज्ञात होता है। ऐसा नहीं, यहाँ। आहाहा! पहले वह भाषा की थी। चिमनलाल चकू है न, स्थानकवासी, स्थानकवासी में वहाँ वे यहाँ महीनों रहे थे, ९७ वें साल (में) कहे इसमें यह कहा है देखो कहते हैं व्यवहार के बिना परमार्थ प्राप्त नहीं होता। (कहा) ऐसा नहीं है। व्यवहार के बिना निश्चय ज्ञात नहीं होता। आहाहा! समझ में आया?

तथापि वहाँ—आठवीं गाथा में कहा है न व्यवहारनय से बतलाया है, परन्तु सुननेवाले को और कहनेवाले को वह व्यवहारनय अनुसरण करनेयोग्य नहीं है, जाननेयोग्य है परन्तु अनुसरण करनेयोग्य नहीं है। आहाहा! समझ में आया? गहन विषय है, भाई! यह तो निश्चय और व्यवहार दोनों हैं। परमार्थ को प्राप्त करानेवाला है—ऐसा नहीं परन्तु परमार्थ का कहनेवाला है। दर्शन-ज्ञान-चारित्र को प्राप्त हो वह आत्मा। किन्तु फिर भी व्यवहार से कहा परन्तु श्रोता को और कहनेवाले को वह व्यवहार अनुसरण करनेयोग्य नहीं है, जाननेयोग्य है। आहाहा!

श्रोता : बहुत स्पष्ट।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा है। **व्यवहारनय व्यवहारी जीवों को..** व्यवहारी जीव को (अर्थात्) पर्याय पर लक्ष्य है जानने का, उसे जीवों को **परमार्थ का कहनेवाला है..** तत्त्व की वास्तविक स्थिति बतलानेवाला व्यवहारनय है। वास्तविक स्थिति व्यवहारनय से प्राप्त होती है.. वह अलग वस्तु है - ऐसा नहीं। **व्यवहारनय व्यवहारी जीवों को परमार्थ का कहनेवाला है इसलिए अपरमार्थभूत होने पर भी,..** देखो! कहा है, वह व्यवहारनय व्यवहारी जीवों को परमार्थ का कहनेवाला होने से, अपरमार्थभूत होने पर भी; परमार्थभूत द्रव्य है, उसे तो कहा, परन्तु इसे भी, परमार्थ भगवान त्रिकाली ज्ञायक आनन्दकन्द प्रभु, वहाँ दृष्टि स्थापित कर तो तुझे सम्यग्दर्शन होगा। इसके बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता।

ऐसा परमार्थ जो कहा था, परमार्थ का स्वभाव बताया था, उसमें यह व्यवहार भी.. है न? **अपरमार्थभूत होने पर भी, धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति करने के लिए..** पर्याय में पर्यायपना प्रगट होता है, वह बतलाने के लिये। चौथा, पाँचवाँ, छठा, सातवाँ (गुणस्थान) यह सब भेद है, पर्याय है, यह धर्मतीर्थ अर्थात् इनसे धर्मतीर्थ होता है – ऐसा प्रश्न नहीं, परन्तु यहाँ चौथा, पाँचवाँ, छठवाँ, सातवाँ – ऐसा जो पर्यायभेद है, उस पर्यायभेद को बतलाने के लिये.. आहाहा! धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति के लिये अर्थात्? इस सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र पर्याय है चौथे, पाँचवें, छठे-ऐसी भेदवाली (पर्याय है) उसे, वह धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति है, परिणति है वह। समझ में आया?

क्या कहा परन्तु यहाँ? व्यवहार, परमार्थ को बतलाता है। व्यवहार, परमार्थ को प्राप्त कराता है – ऐसा नहीं है। बड़ा अन्तर है, बात ही यह अन्तर है न पूरा। धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति के लिये अर्थात् धर्मतीर्थ वह व्यवहार से होता है – ऐसा नहीं है। पर्याय का भेद है, उसे धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति कहा है। वह पर्याय का भेद है न? चौथा, पाँचवाँ, छठवाँ... अरे! चौदह गुणस्थान इत्यादि वह पर्याय का भेद है, वह तीर्थ की प्रवृत्ति है, वह तीर्थ / मोक्षमार्ग कैसे हो – यह बात यहाँ अभी नहीं है। वह तो द्रव्य के आश्रय से ही होता है, वह प्रश्न अलग बात है परन्तु यहाँ पर्याय के भेद वर्तते हैं,.. आहाहा! वह धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति वर्तती है, आहाहा! चौथा, पाँचवाँ, छठवाँ (गुणस्थान)। आहाहा!

धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति करने के लिए.. अर्थात् कि, पर्याय का भेद है—यह चौथा, यह पाँचवाँ, यह छठवाँ-ऐसा बतलाने के लिये। **बतलाना न्यायसंगत ही है।** पर्याय में यह चौथा है, यह पाँचवाँ है, यह छठवाँ है, यह सातवाँ है – ऐसा बतलाना वह न्यायसंगत है। क्यों? सम्यग्दर्शन, मोक्ष का मार्ग कैसे प्रगट होता है, यह अभी प्रश्न नहीं है। परन्तु प्रगट हुई पर्यायें जो हैं, उन्हें बतलाना है कि देखो, यह है, यह है, यह है। कहो, प्रवीणभाई! ऐसा है। यहाँ तो कहा था धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति करने के लिए अर्थात् मोक्ष के मार्ग की परिणति करने के लिये अर्थात् जो परिणति होती है] उसे बतलाना है, वह व्यवहारनय बतलाता है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! **(व्यवहारनय) बतलाना न्यायसंगत ही है।** बतलाना, जानना वह न्यायसंगत है – ऐसा कहते हैं। जाननेयोग्य है, वह तो न्यायसंगत है। आदरणीय है या कैसे, यह प्रश्न यहाँ अभी नहीं है। आहाहा!

अब लोगों को ऐसी निवृत्ति / फुरसत कहाँ है ? बेचारे चढ़ गये व्यवहार में यह दया, दान, व्रत, तप और भक्ति करो, ऐसा कौन समझना चाहता है ? धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति व्यवहार से होती है, इसलिए व्यवहार करो।

श्रोता : धर्मतीर्थ नहीं चलेगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : और धर्म तो स्व के आश्रय से होता है, उसकी परिणति का भेद बतलाना है कि परिणति ऐसी-ऐसी है, वह बतलाना न्यायसंगत है। बाबूभाई! आहाहा! ऐसा है।

परन्तु यदि व्यवहारनय न बताया जाये तो,.. आहाहा! ये पर्याय के भेद हैं, वे नहीं ही हैं,.. नहीं बतलाये जायें, दर्शाये जायें,.. उसमें राग है - ऐसा सम्बन्ध-बन्ध है - ऐसा न बतलाया जाये,.. वह राग है, उसे छेदने का उपाय है, वह भी व्यवहार है - ऐसा न बतलाया जाये... उपाय कैसे प्रगट होता है - यह प्रश्न अभी (यहाँ) नहीं है। वह तो निश्चय के आश्रय से ही है। आहाहा! **परन्तु यदि व्यवहारनय न बताया जाये तो, परमार्थ से..** परमार्थनय से **शरीर से जीव को भिन्न बताया जाने पर भी,..** परमार्थ से तो जीव और शरीर भिन्न हैं। आहाहा! निश्चय में तो निमित्त-निमित्त सम्बन्ध भी नहीं - ऐसा कहते हैं। आत्मा नैमित्तिक, शरीर निमित्त; शरीर नैमित्तिक आत्मा की पर्याय निमित्त, हों! पर्याय। वह परमार्थ में तो है ही नहीं। यह जरा कठिन है, इसलिए धीरे से कहा जाता है न ? है ? यह कोई एकदम... आज फिर सब आये हैं मौके से। यह समझने जैसा है। गोदिकाजी! आहाहा!

परमार्थ से शरीर से जीव को भिन्न बताया जाने पर भी, जैसे भस्म को मसल देने से हिंसा का अभाव है उसी प्रकार, त्रसस्थावर जीवों को निःशंकतया.. यहाँ वजन कहाँ है कि त्रस और स्थावर के जीवों को और शरीर को निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, यदि वह न माना जाये.. समझ में आया ? व्यवहार है न इतना। **निःशंकतया मसल देने-कुचल देने (घात करने) में भी..** निःशंकरूप से, मैं शरीर का नाश नहीं करता, शरीर और जीव दोनों इकट्ठे हैं, उनका मैं नाश करता हूँ, इससे दूसरों का नाश कर सकता है, यह यहाँ प्रश्न नहीं है और दूसरे को जिला सकता है, यह यहाँ प्रश्न नहीं है। यहाँ तो शरीर और आत्मा अत्यन्त भिन्न हैं, उन्हें निमित्त-निमित्त सम्बन्ध भी नहीं है, तब तो त्रस स्थावर को

मसल डालने का जो नि:शंकभाव है, नि:शंक से उसे मार डालूँ, यह भाव झूठा है, यह भाव रहता नहीं। आहाहा!

शरीर निमित्त है, नैमित्तिक जीव की पर्याय है और जीव की पर्याय निमित्त है तथा शरीर की पर्याय नैमित्तिक है—ऐसा व्यवहार सम्बन्ध है। यदि ऐसा व्यवहार न होवे तो नि:शंकरूप से जैसे त्रस स्थावर को मार डालने में, मसल डालने में कोई नि:शंकपना, उसे कुछ है ही नहीं, जीव है ही नहीं। जीव और शरीर को कोई सम्बन्ध है ही नहीं..

श्रोता : जीव मरता कहाँ है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : मरने का प्रश्न कहाँ है ? यह तो नि:शंकरूप से दोनों का सम्बन्ध ही कुछ नहीं तब तो उसे मसल डालने में-जीव को मार डालना कुछ रहता नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : हिंसा रहती नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : आज गाथा जरा ऐसी है। आज सब आये हैं। आहाहा! सब बात सच्ची। ऐसी बात बापू! बहुत कठिन है, अभी तो बहुत गड़बड़ उठी है। आहाहा!

श्रोता : आपने गड़बड़ समाप्त कर दी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह भाई, सुना था न भाई! पण्डितजी! श्रुतसागर ने बाहर प्रकाशित किया है, पढ़ा नहीं होगा ? श्रुतसागर, जो धर्मसागर के साथ थे। शान्तिसागर की परम्परा के, उन्होंने बाहर प्रकाशित किया है कि अभी पंचम काल में शुभयोग ही होता है। ए.. रंगूलालजी! श्रुतसागर नहीं ?

श्रोता : मैं जानता हूँ, मालूम है।

पूज्य गुरुदेवश्री : धर्मसागर की परम्परा में आये। शान्तिसागर वीरसागर, शिवसागर, और धर्मसागर और धर्मसागर में साथ थे परन्तु उन्हें कुछ यह पढ़ा, आचार्यपद नहीं दिया तो अलग पढ़ गये। उन्होंने अभी बाहर समाचार-पत्र में प्रसिद्ध किया है। ज्ञानचन्दजी! पढ़ा है या नहीं ?

श्रोता : जैनगजट में....

पूज्य गुरुदेवश्री : कहीं आया है, ख्याल नहीं, जैनगजट में होगा। अभी पंचम काल

में शुभयोग ही है और वह शुभयोग जैसे 'अध:करण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण में जैसे निर्जरा होती है, वहाँ शुभभाव है, वहाँ शुद्ध नहीं; इसलिए शुभभाव में ही निर्जरा है। ऐसा, भाई! आया है। पढ़ा है या नहीं? पढ़ने जैसा है, भले उनने स्पष्ट किया। दूसरा जो गड़बड़ चलती है, वह करते हुए इन्होंने स्पष्ट किया कि भाई अभी शुभयोग ही होता है, उन्हें जो भासित हुआ इतना स्पष्ट किया न, उसने बेचारे ने।

श्रोता : उंधाई का स्पष्टीकरण किया।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा कि शुद्धता अभी होती ही नहीं पंचम काल में, शुभभाव, शुभयोग ही सब होता है। आहाहा!

श्रोता : अभी शुभयोग से धर्म होता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : उस शुभयोग से निर्जरा होती है - ऐसा कहना है न? कहा न? उस-अनिवृत्तिकरण का दृष्टान्त दिया है न? पण्डितजी! अध:करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण होते हैं न? अपूर्वकरण में जिन कहा है। अभी अपूर्वकरण है, तथापि वह शुद्धात्मा के सन्मुख हुआ, इससे जरा शुभभाव है। मिथ्यात्वी है परन्तु समकित के सन्मुख है किन्तु फिर भी सन्मुख हुआ न, इस अपेक्षा से जरा अपूर्वकरणवाले को भी जिन कहा है, वहाँ तो यह ऐसा लेते हैं कि देखो, वहाँ शुभयोग है, अभी शुद्ध तो हुआ नहीं, शुभ से निर्जरा है न? इसलिए हमारे शुभयोग में भी निर्जरा है। अरे! प्रभु! क्या करता है बापू! भगवन्त! आहाहा! भगवान है भाई! भाई! आहाहा! यहाँ तो शुभभाव जीव में नहीं—ऐसा सिद्ध किया है और अब यहाँ पर्याय में है, इतना सिद्ध करना है। है इतना; उससे लाभ होता है, यह प्रश्न यहाँ है ही नहीं। बात समझ में आती है? (है,) बस है इतना, अस्ति सिद्ध करनी है।

मुमुक्षु : सत्ता सिद्ध की है।

पूज्य गुरुदेवश्री : त्रिकाल के अस्तित्व में भगवान ज्ञायकस्वभाव का भाव जहाँ है अकेला, वहाँ तो राग भी नहीं है, पर्याय भी नहीं है और वहाँ तो जो श्रद्धा करती है पर्याय, वह भी वहाँ उसमें नहीं है। पर्याय भिन्न रहकर उसकी श्रद्धा करती है, आहाहा! तो यहाँ शुभयोग-व्यवहार से लाभ हो, यह प्रश्न यहाँ नहीं है। लाभ तो चैतन्य भगवान पूर्णानन्द का

नाथ निश्चय ध्रुव चैतन्य के आश्रय से, उसके अवलम्बन से उसका साक्षात्कार होने से लाभ होता है परन्तु उसकी पर्याय में सम्यग्दर्शन का विषय तो गुणभेद भी नहीं और पर्याय भी नहीं, तो राग तो विषय कहाँ आया ? परन्तु कहते हैं राग विषय नहीं है, तथापि पर्याय में राग है – ऐसा उसे जानना चाहिए। आहाहा ! आहाहा ! समझ में आया ? वह शुभयोग है, इसलिए व्यवहार है और व्यवहार है, इसलिए उससे प्राप्त होता है, यह प्रश्न यहाँ नहीं। आहाहा ! अरेरे ! ऐसा है।

श्रोता : जरा कठिन तो है।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसीलिए तो धीरे-धीरे लिया जाता है। सब आये हैं ये पण्डित, सेठिया आये हैं ये। बापू ! यह धीरे-धीरे समझने जैसी बात है, बापू ! यह कोई पक्ष की बात नहीं, यह तो तत्त्व की बात है। अभी तो जगत को कठिन पड़ती है। आहाहा !

जब ऐसा कहा कि रागादिभाव जीव के नहीं, जीव स्वभाव नहीं; वह तो पुद्गल -स्वभाव है। किस अपेक्षा से ? क्योंकि वे स्वभाव में नहीं और वे निकल जाते हैं, इस अपेक्षा से दृष्टि के विषय को सिद्ध करने को, उसका विषय तो वे नहीं परन्तु उसकी पर्याय में राग भी नहीं, वहाँ तो ऐसा सिद्ध करना है। जीव का स्वभाव नहीं न ? स्वभाव कहा है न वहाँ ? चैतन्य में, ऐसा नहीं लिया, वहाँ चैतन्यस्वभाव में वे नहीं ऐसा है। इसलिए चैतन्यस्वभाव का त्रिकाली ज्ञायक अनन्त गुणों का पिण्ड वह तो अनन्त गुण तो स्वभाव शुद्ध है। अनन्त गुण में कोई ऐसा एक भी गुण नहीं कि विकार करे !

क्या कहा ? अपरम्पार गुण हैं, जिनका अन्त नहीं। यह अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. अन्तिम यह अनन्त – ऐसा है ही नहीं और इस अन्तिम अनन्त में अन्तिम यह, आहाहा ! इतने सब अनन्त.. अनन्त के गुण में कोई गुण ऐसा नहीं कि विकार करे। आहाहा ! इसलिए उसके जीवस्वभाव में राग, वह पुद्गलस्वभाव कहकर उसमें (जीव में) नहीं – ऐसा कहा परन्तु जब इसकी पर्याय का ज्ञान कराना है.. आहाहा ! समझ में आया ? सूक्ष्म पड़े, थोड़ा विचारना। आहाहा !

यदि शरीर और जीव अत्यन्त भिन्न हों, निमित्त-निमित्त सम्बन्ध (भी) न हो, तब तो **जैसे भस्म को मसल देने से हिंसा का अभाव है..** क्योंकि भस्म में कोई जीव का

निमित्तपना या नैमित्तिकपना उसमें है नहीं। समझ में आया? आहाहा! निमित्त-निमित्त सम्बन्ध है, वह व्यवहार है। वह निमित्त-निमित्त सम्बन्ध ही यदि न हो, तब तो जैसे भस्म को मसल दे और शरीर को मसल दे, दोनों एक हो गया, आत्मा साथ है उसे मैंने मार डाला। ऐसा कि यह नहीं आवे। अरे! ऐसी बातें हैं। आहाहा! विशेष न समझ में आये तो रात्रि को प्रश्न करना। देखो! हमारे हुकमचन्दजी आये हैं, हमारे यह ज्ञानचन्दजी हैं, दोनों का प्रभावना में बड़ा भाग है, और तीसरे हमारे ये हैं बाबूभाई हैं। आहाहा! मार्ग प्रभु का ऐसा है, भाई! आहाहा!

व्यवहार से जाना हुआ प्रयोजनवान है—जो बारहवीं (गाथा में) कहा है न, वह यहाँ सिद्ध करते हैं। है या नहीं? जानने का विषय है या नहीं? व्यवहारनय है, नय है तो विषयी है, तो उसका विषय है या नहीं? आहाहा!

परमार्थ से (-निश्चयनय से) शरीर से जीव को भिन्न बताया जाने पर भी, जैसे भस्म को मसल देने से हिंसा का अभाव है उसी प्रकार, त्रसस्थावर जीवों को निःशंकतया मसल देने-कुचल देने (घात करने) में.. क्योंकि शरीर और जीव एक ही है, भिन्न है नहीं—ऐसा मानकर उसे मर्दन करने में **हिंसा का अभाव ठहरेगा और इस कारण बंध का ही अभाव सिद्ध होगा;..** हिंसा का भाव है, वह बन्ध है। इसलिए शरीर को मसल देने में जैसे कुछ नहीं; वैसे शरीर और जीव एक ही है, भिन्न नहीं हो और एक ही माने,.. व्यवहारनय तो निमित्त-निमित्त सम्बन्ध के कारण एक ही कहे। तो उन्हें मसल डालने में भी जीव को कोई नुकसान नहीं होता और निःशंकरूप से उसे मसल दे उसे कुछ पाप नहीं.. आहाहा! प्रभु का मार्ग अलौकिक है बापू! आहाहा!

व्यवहारनय का विषय है। नय है तो उसका विषय है, वह कथनमात्र है, होने पर भी.. व्यवहारनय को कथनमात्र कहा है। यहाँ ऐसा कहा न '**प्रज्ञप्तं**' कलश-टीका में है। यह कलश-टीका है न? व्यवहारनय... पाँचवाँ श्लोक है न? व्यवहारनय, देखो! **व्यवहारनयः स्याद्यद्यपि प्राक्पदव्यामिह निहितपदानां हंत हस्तावलंबः**। वहाँ व्यवहारनय हस्तावलंबः अपिस्याद-व्यवहारनय अर्थात् जितना कथन-कथन। यहाँ **प्रज्ञप्तं,** कैसी शैली है देखो तो! व्यवहारनय अर्थात् कथन। जीव वस्तु निर्विकल्प है, वह ज्ञानगोचर है, वह जिस वस्तु को

कहना चाहता है तो ऐसा ही कहने में आवे जितने गुण—दर्शन, ज्ञान, चारित्र, वह जीव। बहुत साधिक कहना चाहे तो भी ऐसा ही कहना पड़े। ज्ञान-दर्शन-चारित्र वह आत्मा। ऐसा भेद से कहा। व्यवहार से कहा, कथनमात्र से कहा। आहाहा! राजमलजी ने बहुत अच्छी टीका की है। उसमें आता है न? द्रव्यसंग्रह में आता है - द्रव्यसंग्रह! व्यवहारनय अर्थात् लौकिकमात्र। भाई! द्रव्यसंग्रह में (आता है) व्यवहारनय अर्थात् लौकिकमात्र, 'लोक मूके फोक' ऐसी बात करता है-कहते हैं, परन्तु जानने लायक है, कहते हैं। द्रव्यसंग्रह में है। शुरुआत में, व्यवहार की व्याख्या की है न, वहाँ (है)। आहाहा!

यहाँ (कलश टीका) व्यवहार कथनमात्र कहा, यहाँ व्यवहार प्रज्ञप्त कहा। आहाहा! अब ऐसी बात! यह तो (अज्ञानी) कहते हैं दया पालो, व्रत करो हो गया जाओ। यह पैसा खर्च किये-कोई पाँच-पच्चीस लाख, गजरथ निकालो.. धूल में भी नहीं कुछ वहाँ, सुन न! आहा! वहाँ इसका भाव होवे तो शुभ है परन्तु उस शुभ का ज्ञान किसे होता है? जिसे शुद्धता का आश्रय लेकर सम्यग्दर्शन आदि प्रगट हुआ है, उसे पर्याय में शुभ है, उसका ज्ञान उसे होता है। आहाहा! भाई! ऐसा है। इस गाथा में-अर्थ में बहुत गड़बड़ करते हैं। पता है न! देखो, यह व्यवहार कहा। 'कि देखो! यह व्यवहार परमार्थ को प्राप्त कराता है... ये कहाँ कहा है बापू? वह तो परमार्थ का यह स्वरूप अभेद है, उसे ज्ञान-दर्शन-चारित्र से बतलाना, वह भेद है, वह व्यवहार का कथन है। आहाहा!'

हिंसा का अभाव ठहरेगा और इस कारण बंध का ही अभाव सिद्ध होगा;..— एक बात। दूसरी **तथा परमार्थ के द्वारा जीव राग-द्वेष-मोह से भिन्न बताया जाने पर भी,..** परमार्थ से तो भगवान ने ऐसा कहा कि राग-द्वेष-मोह से तो भगवान भिन्न है। '**रागी, द्वेषी, मोही जीव कर्म से बँधता है, उसे छुड़ाना - इस प्रकार मोक्ष के उपाय के ग्रहण का अभाव हो जाएगा..**' क्योंकि जब परमार्थ से राग-द्वेष-मोह से जीव भिन्न बतलाया गया है, उसे राग-द्वेष-मोह पर्याय में है ही नहीं, ऐसा यदि माने, है? **परमार्थ के द्वारा जीव राग-द्वेष-मोह से भिन्न बताया जाने पर भी, 'रागी, द्वेषी, मोही जीव कर्म से बँधता है..** बँधता है, ऐसा पहले तो कहा, हिंसा में, बन्धभाव। अब **उसे छुड़ाना - इस प्रकार मोक्ष के उपाय के ग्रहण का अभाव हो जाएगा..** क्योंकि राग है बन्धन है; वह है नहीं तो उसका अभाव करने की पर्याय है वह भी 'नहीं' सिद्ध होगी। क्योंकि अभाव करना वह

भी पर्याय है, बन्ध भी पर्याय है और उसका अभाव का मोक्षमार्ग, वह भी पर्याय है, वह व्यवहार है। आहाहा! आहाहा!

जब परमार्थ से राग, द्वेष, मोह से भिन्न कहा गया है और यदि ऐसा ही हो तो पर्याय में बन्ध है, वह सिद्ध नहीं होगा। वह तो वस्तु की दृष्टि से कहा परन्तु पर्याय में उसका राग-द्वेष-मोह नहीं, तब तो राग-द्वेष-मोह से छूटना अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय से उनका नाश करना, वह उपाय रहता नहीं। आहाहा! व्यवहार है, राग-द्वेष-मोह है, इसलिए छेदने का उपाय—मोक्ष का मार्ग, वह पर्याय है। अत: यदि बन्ध की पर्याय नहीं तो मोक्ष की पर्याय भी वहाँ है नहीं। ऐसा इसे ऐसा हुआ। आहाहा! मोक्षमार्ग की पर्याय भी व्यवहार है। त्रिकाली ज्ञानवस्तु है, वह निश्चय है। आहाहा! बन्ध और मोक्ष वह जीव में कहना, यह व्यवहारनय का विषय है। आहाहा! दृष्टि तो इस बन्ध मोक्ष की पर्याय को स्वीकार नहीं करती। आहाहा! पर्याय है न? दो भेद पड़े न? समझ में आया?

ऐसा नहीं स्वीकारती, तथापि यदि बन्ध-मोक्ष जो पर्याय में न हो तो बन्ध नहीं तो छेदने का उपाय भी नहीं, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र जो पर्याय है, उससे उस बन्ध का नाश होता है, वह पर्याय सिद्ध नहीं होगी, बन्ध सिद्ध नहीं होगा। आज का सूक्ष्म तो है। ए...ई... गोदिकाजी! तुम्हारी बहियों में यह कुछ वहाँ नहीं आता। तुम्हारे सेठ के नामा में कहाँ था यह कोई नामा? आहाहा!

प्रभु! तू कौन है? कहते हैं कि मैं हूँ तो त्रिकाली ज्ञायक चैतन्य, परन्तु अब तेरी पर्याय में कुछ है या नहीं? या पर्याय में राग ही नहीं? राग है, ऐसा जानना चाहिए और राग को छेदने का उपाय.. यदि राग नहीं तो राग को छेदने का उपाय भी नहीं आता। अत: उसे जानना चाहिए कि राग है, उसे मोक्ष के मार्ग की पर्याय से बन्ध की पर्याय का नाश होता है, दोनों व्यवहार है। समझ में आया? बहुत पहलू, ऐसे कितने याद रखना, कहते हैं। आहाहा!

'रागी, द्वेषी, मोही जीव कर्म से बँधता है, उसे छुड़ाना - इस प्रकार मोक्ष के उपाय के ग्रहण का अभाव हो जाएगा.. आहाहा! मोक्ष का उपाय करना, उसका अभाव होगा। मोक्ष का उपाय किसके आश्रय से होता है, वह दूसरी बात है। वह तो निश्चय / द्रव्य के आश्रय से होता है परन्तु इस पर्याय में मोक्ष का उपाय होता है। यदि बन्ध नहीं तो उपाय

कहाँ से आया ? बन्ध भी व्यवहारनय है और मोक्ष का उपाय भी व्यवहारनय है। अरे! मोक्ष स्वयं व्यवहार है। यह दो भेद की अपेक्षा से, हों! बाकी तो सिद्ध में व्यवहार नहीं-ऐसा आता है न? परमार्थ वचनिका में। परमार्थ वचनिका है न? उसमें आता है। यहाँ तो चौदहवें गुणस्थान तक असिद्धपना कहना, फिर वहाँ सिद्ध में व्यवहार कहना नहीं। पूर्ण दशा हो गयी न! परमार्थ वचनिका में है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं रागी, द्वेषी, मोही—परतरफ की जितनी सावधानी है, वह कर्म से बँधता है, उसे छुड़ाना अर्थात् मोक्ष के उपाय के ग्रहण का अर्थ छुड़ाना। उस मोक्ष के उपाय के ग्रहण का अभाव होगा। व्यवहारनय का विषय है। पर्याय में राग है, उसे छुड़ाने का उपाय भी है। व्यवहारनय का विषय है। आहाहा! नय है न? नय है तो वह तो विषयी है तो उसका विषय होगा न? निश्चयनय है, वह विषयी है तो उसका विषय त्रिकाली ज्ञायकभाव है। समझ में आया?

यह प्रश्न चला था, हमारे बहुत वर्ष पहले—८३, ८३, ८३ अभी कितने वर्ष हुए? ५१। हुकमीचंदजी के जन्म से पहले, इन्हें ४१ चलता है, उसके दस वर्ष पहले, ऐसा प्रश्न चला कि मिथ्यादृष्टि हो, वहाँ तक मूर्ति की पूजा होती है - ऐसा प्रश्न चला। स्थानकवासी थे न! फिर एक सेठ थे। सम्यग्दर्शन होने के बाद पूजा और मूर्ति ऐसा नहीं होता प्रतिमा को, तब मैंने कहा, सुनो, सुनो! कहा उन्हें तो नहीं जँचे, वे तो अभिमानी थे परन्तु दूसरे लोगों को कहकर उनके द्वारा बात पहुँचायी। कहा—जब सम्यग्दर्शन होता है, तब उसके साथ भावश्रुतज्ञान होता है। भावश्रुतज्ञान होने पर उसके दो भेद पड़ते हैं निश्चय और व्यवहार; अत: जो भावश्रुतज्ञानी है, उसे व्यवहार आता है, व्यवहार विकल्प होता है, तब उसे ज्ञेय का जो भेद है-नाम, स्थापनाभेद उस ज्ञान का भेद नय है और ज्ञेय का भेद स्थापना है। इसलिए वास्तव में तो श्रुतज्ञानी को ही व्यवहारनय का विषय होता है। तुम एकदम उड़ा दो, ऐसा नहीं चलता, कहा। ए..ई.. नवरंगभाई! उसमें थे सही न, (सम्प्रदाय में थे न) इसलिए वे माने (नहीं ऐसा नहीं।) इसमें आ गये, इसलिए यह मानते हैं - ऐसा नहीं। यहाँ तो सत्य हो, वह मानेंगे। ज्ञानचन्दजी! सम्यग्दर्शन / स्वरूप की दृष्टि हुई, तब उसके साथ भावश्रुतज्ञान हुआ, भावश्रुतज्ञान। भावश्रुतज्ञान के दो भेद, भावश्रुतज्ञान-प्रमाण अवयवी है,

उसका अवयव वह भेद है। निश्चय और व्यवहार उसके अवयव हैं तो उसे व्यवहारनय होता है। अज्ञानी को व्यवहारनय कैसा? और उस व्यवहारनय का विषय भगवान की मूर्ति आदि उसे होते हैं। नवरंगभाई! है व्यवहार, है शुभराग, उसका विषय परन्तु उस निश्चयवाले को वह होता है। पूर्ण न हो, तब तक वह होता है, उसे तुम उड़ा डालो - ऐसा नहीं चलता, कहा।

यहाँ ऐसा कहते हैं, यदि बन्ध ही नहीं तो फिर छूटने का उपाय भी नहीं। इसलिए बन्ध है, ऐसा जानना चाहिए और उसके छूटने का उपाय है, वह भी इसे जानना चाहिए। यह विशेष कहेंगे। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १२० गाथा-४६, दिनाङ्क २८-१०-१९७८, शनिवार
आसोज कृष्ण १३, वीर निर्वाण संवत् २५०४

भावार्थ - परमार्थनय तो जीव को शरीर तथा राग-द्वेष-मोह से भिन्न कहता है। परमार्थनय तो जीव को - ऐसा लेना। निश्चयनय यथार्थदृष्टि (तो) जीव को शरीर तथा राग-द्वेष-मोह से भिन्न कहता है। **यदि इसी का एकान्त ग्रहण किया जाये..** शरीर और जीव को निमित्त-निमित्त सम्बन्ध है, वह न माने तो एकान्त हो जाता है। व्यवहारनय का विषय शरीर और जीव को एक माने, वह व्यवहारनय का विषय है, जाननेयोग्य है। **शरीर तथा राग-द्वेष-मोह पुद्‌गलमय सिद्ध होंगे..** तब तो शरीर और राग-द्वेष-मोह पुद्‌गल / जड़ सिद्ध होंगे। आहाहा! यह क्या कहा? शरीर में आत्मा है और आत्मा तथा शरीर अत्यन्त भिन्न है—ऐसा कहो तो वह तो निश्चय से वह सत्य है। सम्यग्दर्शन का विषय, धर्म की पहली शुरुआत का विषय तो भगवान आत्मा, शरीर से भिन्न, राग-द्वेष-मोह, दया-दान आदि विकल्प से भी भिन्न और जिसका विषय तो पर्याय भी नहीं। सम्यग्दर्शन-धर्म की पहली सीढ़ी, उसका विषय तो सम्यग्दर्शन की पर्याय भी उसका विषय नहीं है। सूक्ष्म बात है, बापू! आहाहा!

सम्यग्दर्शन का विषय-ध्येय तो अखण्ड ज्ञायकभाव पूर्णानन्द प्रभु द्रव्यस्वभाव जो पूर्ण है, वह सम्यक् का विषय है, वह निश्चयनय का विषय है। अब यदि उसे एकान्त ही

किया जावे कि उसे शरीर और जीव को व्यवहार से भी सम्बन्ध नहीं है, तब तो उसका ज्ञान व्यवहार से झूठा है। आहाहा! सूक्ष्म बात है थोड़ी। शरीर और आत्मा एक ही है – ऐसा माने, तब तो शरीर को मारने से जीव मरे, उसमें कुछ पाप नहीं लगता। परन्तु ऐसा है नहीं। शरीर और जीव व्यवहार से एक है, इस कारण शरीर को मसल देने से जीव साथ में आता है; इसलिए उसे पाप का परिणाम होता है। आहाहा! और उसे एकान्त ही माने कि शरीर से प्रभु अत्यन्त भिन्न है, यह निश्चय से सत्य है परन्तु व्यवहार से शरीर को और जीव को निमित्त-निमित्त सम्बन्ध भी न हो तो शरीर को मसल देने से पुद्गल को मारने से जैसे पाप नहीं, वैसे शरीर को मसल देने से भी जीव का मरण हो तो उसका पाप नहीं – ऐसा होगा। सूक्ष्म बात है, भाई! वीतरागमार्ग समझना बहुत कठिन है, भाई! आहाहा!

शरीर तथा राग-द्वेष-मोह पुद्गलमय सिद्ध होंगे.. क्यों (कि) कहा है तो ऐसा ही। परमार्थ से तो शरीर को जड़ कहा और अन्दर दया, दान, व्रत, भक्ति, काम-क्रोध, शुभाशुभभाव होते हैं, उन्हें भी चैतन्य की दृष्टि से अजीव और जड़ कहा है। आहाहा! जिसे सम्यग्दर्शन का आश्रय द्रव्य है; उस द्रव्य में तो पुण्य-पाप के भाव भी नहीं है। शरीर तो नहीं, परन्तु दया, दान, काम, क्रोध के विकल्प भी उसमें नहीं है। उसमें ये तो नहीं, परन्तु एक समय की जो सम्यग्दर्शन की पर्याय है, वह वस्तु में नहीं। आहाहा! ऐसा कठिन काम है, प्रभु! आहाहा!

जैनदर्शन समझना, वह कोई अलौकिक बात है। समझ में आया? भगवान आत्मा, शरीर से तो भिन्न (है), शरीर को पुद्गल / जड़ कहा और शुभ-अशुभराग—जो दया और वांचन और श्रवण-मनन का होता है, आहाहा! उस राग को भी परमार्थदृष्टि से तो पुद्गल कहा है। क्योंकि इस जीव का कोई स्वभाव—अनन्त गुण हैं; भगवान आत्मा में अनन्त-अनन्त गुण हैं, भगवान आत्मा में..। कितने अनन्त? जिस अनन्त का अन्त नहीं कि यह अनन्त और अब यह अन्तिम अनन्त और इसका अन्तिम गुण। आहाहा! इतने अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. को अनन्त से गुणा करो तो भी अनन्त बाकी रहते हैं, इतने अनन्त गुण आत्मा में है; परन्तु उनमें का कोई गुण विकृत या विकार करे—ऐसा गुण नहीं है। आहाहा!

इसलिए जो विकार होता है, वह पुद्गलकर्म जो भावक है, उसके लक्ष्य से हुआ विकारी भाव; उसे भी यहाँ तो पुद्गल कहा है, आहाहा! क्योंकि वह जो राग का विकल्प है—यह श्रवण, वांचना, कहना—ऐसा जो विकल्प उत्पन्न होता है, वह अचेतन है-जड़ है.. आहाहा! क्योंकि उसमें चैतन्यस्वभाव का अंश नहीं है। वह राग स्वयं अपने को नहीं जानता तथा राग, स्वयं भगवान साथ में है, उसे नहीं जानता; वह राग, चैतन्य द्वारा ज्ञात होता है; इसलिए उस राग को पुद्गल-अचेतन और जड़ कहा है; आहाहा! आहाहा! परन्तु यदि उसे एकान्त ही मान ले कि राग-द्वेष-मोह, वे पुद्गल के हैं और जीव की पर्याय में व्यवहार से नहीं, तो एकान्त होता है, एकान्त मिथ्यात्व होता है। आहाहा!

भगवान जीवस्वभाव, जो शुद्ध चैतन्यघन (है), उसमें भी राग को मानना, तो भी मिथ्यात्व होता है।

श्रोता : तीनों में ही मानना, मिथ्यात्व ?

पूज्य गुरुदेवश्री : द्रव्य में मानना वह। स्वभाव में कहा न ? स्वभाव में। परन्तु पर्याय में राग नहीं - ऐसा मानना, वह भी एकान्त है। पण्डितजी! कठिन बाते हैं। भगवान आत्मा पूर्णानन्द का नाथ प्रभु, चैतन्यस्वभाव से भरपूर, यह चैतन्यरत्नाकर है। चैतन्यरत्नाकर है। यह प्रभु तो चैतन्य के रत्नों का समुद्र है। उसमें राग मानना, वह मिथ्यात्व है, आहाहा! परन्तु उसकी पर्याय में भी राग न मानना, आहाहा! वह भी मिथ्यात्व-एकान्त है। ऐसी बात है, प्रभु! प्रभु का मार्ग सूक्ष्म, भाई!

यह जीव का—प्रभु का स्वरूप ही ऐसा है। आहाहा! यहाँ तो कहते हैं कि परमार्थ से तो प्रभु को, शरीर, राग और द्वेष को पुद्गल कहकर, उससे प्रभु को भिन्न कहा है। सम्यग्दर्शन का विषय! आहाहा! परन्तु इतने से कोई ऐसा ही मान ले कि उसके द्रव्यस्वभाव में-वस्तु की दृष्टि का विषय है, उसमें राग-द्वेष और शरीर नहीं, परन्तु उसकी पर्याय में भी राग-द्वेष नहीं, तब तो बन्ध का ही अभाव होगा; और बन्ध का अभाव होने पर, उसे छोड़ने का मोक्ष का उपाय यह भी व्यवहार है। आहाहा! यह क्या कहा ? यदि राग-द्वेष-मोह इसकी पर्याय में भावबन्धरूप से न हो, तो बन्ध का अभाव होता है और उसे छोड़ने का (अर्थात्) बन्ध है, उसे छोड़ने का उपाय, वह भी मोक्ष का उपाय है, वह भी पर्याय है; वह

व्यवहार है। मोक्ष का उपाय किसके आश्रय से होता है-यह अलग वस्तु (बात) है। यह तो त्रिकाली भगवान परमानन्द का नाथ प्रभु, आहाहा! शुद्ध चैतन्यघन के अवलम्बन से मोक्ष का मार्ग होता है; किन्तु यहाँ जो कहना है, वह (यह है) कि मोक्ष का मार्ग जो है, वह तो पर्याय है। यदि बन्ध ही नहीं मानो, पर्याय में बन्ध नहीं मानो... वस्तु में बन्ध और मुक्ति दोनों नहीं है। आहाहा! जो सम्यग्दर्शन का विषय-जो भगवान पूर्णानन्द का नाथ अनुभव में आवे, ऐसे द्रव्य में तो बन्ध और मोक्ष की पर्याय भी उसमें नहीं है, आहाहा! क्योंकि बन्ध और मोक्ष तो पर्याय है और भगवान तो बन्ध और मोक्ष की पर्याय से रहित त्रिकाली ज्ञायकस्वरूप आत्मा है। आहाहा!

जिसने उसका विषय करके सम्यग्दर्शन प्रगट किया, उसे भी राग-द्वेष के—बन्ध के परिणाम, पर्याय में हैं—ऐसा उसे जानना चाहिए। आदरना या नहीं - यह प्रश्न यहाँ नहीं है; और उन राग-द्वेष के परिणाम और बन्धरूप से अटकती दशा को न माने तो उन्हें छोड़ने का जो उपाय-मोक्ष का मार्ग है, वह भी सिद्ध नहीं होता। अरे.. अरे..! ऐसा अटपटा है!

श्रोता : बहुत अच्छा है!

पूज्य गुरुदेवश्री : अधिकार ही ऐसा है, बापू! क्या हो? अरे रे! लोग साधारण जानकारी करके मान बैठते हैं कि हम समझ गये। बापू! यह मार्ग कोई अलग है, भाई! अनन्त-अनन्त काल में जिसने वास्तविक-एक सैकेण्ड भी वास्तविक तत्त्व-द्रव्य और पर्याय-दो वास्तविक क्या है—इसका ज्ञान इसने यथार्थ किया ही नहीं। आहाहा!

एकान्त ऐसा माने कि राग और द्वेष जीव में है, वह भी मिथ्यादृष्टि है तथा एकान्त ऐसा माने कि जीव में-वस्तु में नहीं, इसलिए पर्याय में भी नहीं, ऐसा (यह) भी एकान्त मिथ्यात्व है। आहाहा! हसुभाई! यह सूक्ष्म है। वहाँ तुम्हारे करोड़ रुपयों में-धूल में कुछ हाथ आवे, ऐसा नहीं है। ऐ ई! सब करोड़पति कल आये थे न! रतनलालजी कलकत्ता के, पाँच-छह करोड़! आज सबेरे गये। उनके पास पाँच-छह करोड़ रुपये हैं। कोई तो कहता था एक-एक लड़के के पास एक-एक करोड़ रुपये हैं। छह लड़के हैं न पोपटभाई के, उन्हें एक-एक के पास एक-एक करोड़, और इनके पिता के अलग, कोई कहता था। यहाँ कहाँ हम गिनने जाते हैं! परन्तु वह धूल कहाँ आत्मा की थी, बापू! आहाहा! जिसमें

राग-द्वेष हो, वह भी जीव का नहीं; आहाहा! और (माने कि) पैसा, स्त्री और पुत्र मेरा, मूढ़ है। उसकी दृष्टि मूर्खतापूर्ण है। चिमनभाई! बड़े कारखाने और सब बड़े, आहाहा! यह तो नहीं; राग दया का, दान का; अरे! गुण-गुणी भेद का जो विकल्प होता है; गुणी ऐसा जो भगवान, उसमें जो अनन्त गुण—ऐसा भेद का विकल्प उठे... आहाहा! सूक्ष्म बात है, प्रभु! वह विकल्प भी स्वरूप में नहीं है। इस परमार्थदृष्टि से, परमार्थदृष्टि स्वीकार करने को ऐसा कहा, परन्तु उस दृष्टि में एकान्त मान ले कि मेरी पर्याय में भी राग नहीं तो अटका हुआ—भावबन्ध तो है और भावबन्ध न होवे तो उसे छोड़ने का मोक्ष का उपाय भी निरर्थक जाता है।

वास्तव में तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र—यह जो मोक्ष का मार्ग है, वह त्रिकाली द्रव्य के आश्रय से प्रगट होता है, परन्तु प्रगट हुई पर्याय है, वह व्यवहार है। आहाहा! ज्ञानचन्दजी! आहाहा! यदि तुम राग को, पर्याय में (है) ही नहीं—ऐसा मानो, तो फिर राग छेदने का मोक्ष का उपाय भी नहीं। बन्ध और मोक्ष की पर्याय / दशा है ही नहीं—ऐसा पर्याय में होगा। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म! अब निवृत्ति कहाँ इसमें लोगों को; पूरे दिन स्त्री-पुत्र पाप, अकेला पाप का धन्धा; धर्म तो नहीं, परन्तु वहाँ तो पुण्य भी नहीं। आहाहा! कहो, हसुभाई! बड़े पैसेवालों को अधिक उपाधि का पार नहीं होता। आहाहा!

अब इसे कहना कि प्रभु! सुन भाई! यह शरीर, वाणी, मन, स्त्री, कुटुम्ब-परिवार तो परद्रव्य हैं, ये तो तुझमें नहीं, तेरे नहीं; और उनमें तू नहीं, परन्तु अन्दर राग-द्वेष होते हैं, वे तुझमें नहीं, तू उनमें नहीं—द्रव्य/वस्तुदृष्टि से। आहाहा! समझ में आया? परन्तु इतना मानकर भी यदि फिर पर्याय में राग नहीं और शरीर को तथा जीव को निमित्त-निमित्त सम्बन्ध भी नहीं, तो जीव को और शरीर को निमित्त सम्बन्ध व्यवहार है, आहाहा!—इतना यदि न माने तो शरीर को मसलने से, जैसे भस्म को मसलने से पाप नहीं; वैसे शरीर और आत्मा अन्दर इकट्ठे हैं, वे दोनों एक माने, भिन्न अन्दर न माने, पर्याय में भिन्न है परन्तु शरीर और (पर्याय) व्यवहार दोनों (के बीच) निमित्त सम्बन्ध है, इतना न माने तो उसे मारने से—निःशंकरूप से मारने से इसे पाप नहीं लगे। आहाहा! क्या कहते हैं? यह कठिन है, भाई!

श्रोता : कठिन तो था, परन्तु अब आपने कठिन नहीं रहने दिया।

पूज्य गुरुदेवश्री : वस्तु तो ऐसी है, बापू! आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं, **तो फिर पुद्गल का घात करने से हिंसा नहीं होगी..** क्योंकि शरीर पुद्गल; राग-द्वेष के परिणाम, वे पुद्गल; वैसे तो निश्चय से तो ऐसा है, परन्तु पर्याय में इसके नहीं और व्यवहारनय का विषय ही नहीं.. । निश्चयनय का विषय जो परमात्मस्वरूप भगवान, वह पूर्णानन्द का नाथ, जो सम्यग्दर्शन का विषय, और जिसके आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है—इतना ही माने और पर्याय में रागादि न माने तथा शरीर को और जीव को निमित्त-निमित्त सम्बन्ध न माने, **तो फिर पुद्गल का घात करने से हिंसा नहीं होंगी तथा राग-द्वेष-मोह से बन्ध नहीं होगा। इस प्रकार, परमार्थ से जो बन्ध-मोक्ष दोनों का अभाव कहा है..** क्या कहा यह ?

वास्तव में जो परमार्थ से राग-द्वेष से भिन्न कहा है और मोक्ष की पर्याय से भी अन्दर भगवान भिन्न है; सिद्ध की पर्याय है और केवल (ज्ञान) की पर्याय है, वह तो वर्तमान में है, परन्तु उस पर्याय का द्रव्य में अभाव है, आहाहा! यह जो परमार्थ से कहा है तो यह सिद्ध हो, पश्चात् वह व्यवहार तो रहेगा ही नहीं इसे। जो राग-द्वेष-मोह है पर्याय में—ऐसा न मानो और शरीर तथा जीव को निमित्त-निमित्त सम्बन्ध है—ऐसा न मानो तो **परमार्थ से जो बन्ध-मोक्ष दोनों का अभाव कहा है, वह ही ठहरेगा..** व्यवहार से बन्ध और मोक्ष पर्याय में है—यह सिद्ध नहीं होगा। ऐसा मार्ग है। समझ में आया कुछ ? 'कुछ' अर्थात् किस पद्धति से कहा जाता है, ऐसा। समझ जाए, तब तो ठीक, परन्तु किस पद्धति से कहा जाता है.. आहाहा! ऐई! हसमुखभाई! यह अलग पद्धति है, प्रभु! आहाहा! भगवान का मार्ग स्याद्वाद है। अपेक्षित कथन है। त्रिकाल में (स्वभाव में) राग नहीं। दया, दान का विकल्प भी नहीं; शरीर तो नहीं। वर्तमान प्रगट पर्याय है—व्यक्त है, वह भी त्रिकाल में तो नहीं; वह तो भिन्न द्रव्य पूरा अखण्डानन्द प्रभु है और वही सम्यग्दर्शन का विषय है। परन्तु उसका एकान्त करने जाए; शरीर को और जीव को निमित्त-निमित्त सम्बन्ध है, उसे न माने, तब तो जैसे शरीर को मारने से-पुद्गल को मारने से कहीं आत्मा को पाप नहीं लगता.. आहाहा! और राग-द्वेष-मोह है, वह बन्ध, पर्याय में सिद्ध नहीं होगा, तो उसे मोक्षमार्ग की

पर्याय भी सिद्ध नहीं होगी उसे (बन्ध को) छेदनेवाली। आहाहा! ऐसा है! इसमें कोई विद्वता की आवश्यकता नहीं है। इसमें वास्तविक तत्त्व क्या है, दृष्टि का विषय क्या है और व्यवहारनय का विषय क्या है-दोनों को यहाँ भलीभाँति जानना चाहिए। आहाहा! समझ में आया? गाथा ऐसी ही आ गयी, कल भी ऐसी आयी थी। आहाहा!

इस प्रकार परमार्थ से जो बन्ध-मोक्ष दोनों का अभाव कहा है.. क्या कहा यह? निश्चय से-परमार्थ से तो बन्ध और मोक्ष का जीव में अभाव ही है। द्रव्यस्वभाव की दृष्टि से तो भावबन्ध और भावमोक्ष—इनसे तो रहित ही भगवान है। आहाहा! परमार्थ से संसार-मोक्ष दोनों का अभाव कहा है, **एकान्त से यही ठहरेगा..** एकान्त से सिद्ध होगा। फिर पर्याय में राग-द्वेष है और शरीर का निमित्त-निमित्त सम्बन्ध है, यह बात इसे नहीं रहेगी। आहाहा!

यह तीनों बैठे बड़े हमारे अभी, धर्म की प्रभावना में बड़े हथियार हैं ये। यह हुकमचन्दजी, १५-१५ हजार लड़कों की परीक्षायें लेते हैं। ४३-४३ वर्ष की उम्र लिखी है उसमें। ४३ है? ऐसा! उसमें ४३ लिखा है, मैं ४१ समझता था, ४३ वर्ष है, क्षयोपशम बहुत अधिक है।

श्रोता : सब ऐसा कहते हैं आपका प्रभाव और प्रताप है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो ठीक है।

श्रोता : यह तो निमित्त का कथन है, उपादान इनका।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! क्या कहा यह? कि **परमार्थ से..** निश्चय से तो जीव को भावबन्ध और भावमोक्ष है नहीं। भावमोक्ष भी पर्याय है, भावबन्ध भी विकारी पर्याय है, तो वस्तु की दृष्टि से देखने पर वस्तु में तो वह भावबन्ध और भावमोक्ष दोनों नहीं है, यह कहा।

परमार्थ से जो संसार-मोक्ष दोनों का अभाव कहा है, एकान्त से यह ही ठहरेगा,.. राग का बन्ध है और उसे छूटने का (उपाय) मोक्ष का मार्ग पर्याय में है, वह सिद्ध नहीं होगा। आहाहा! **किन्तु, ऐसा एकान्तरूप वस्तु का स्वरूप नहीं है;..** आहाहा! व्यवहारनय का विषय है परन्तु इससे व्यवहारनय साधन है और निश्चय साध्य है - ऐसा

नहीं। यह फिर क्या कहा ? व्यवहारनय का विषय है—भावबन्ध और मोक्ष की पर्याय भाव दोनों पर्यायें हैं न ? व्यवहार का विषय है परन्तु व्यवहार साधन है और निश्चय साध्य है – ऐसा नहीं। आहाहा ! उसमें तो नहीं न पुस्तक ? उसमें तो ऐसा लिखा है... यह नया आया है न समयसार, साधक को तो व्यवहार ही होता है, सिद्ध को निश्चय होता है। ऐसी (उनकी) बात एकदम मिथ्या है।

श्रोता : सिद्ध को कहीं व्यवहार होगा ?

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे ! यह तो सिद्धपर्याय है, वह सम्यग्ज्ञान / श्रुतज्ञान की अपेक्षा से तो सिद्ध और संसार दोनों व्यवहारनय का विषय है। उन्हें (सिद्ध को) नहीं, परन्तु जो साधक जीव है, जिसे श्रुतज्ञान प्रगट हुआ है, द्रव्य त्रिकाली ज्ञायक के आश्रय से– ज्ञायकस्वभाव भगवान जो पूर्णानन्द का नाथ है, उसके आश्रय से जो सम्यग्दर्शन हुआ है, उसके साथ जो भावश्रुतज्ञान हुआ है, उस भावश्रुतज्ञान के दो भेद / अवयव हैं। भावश्रुतज्ञान है, वह प्रमाण है। अब नय है, वह प्रमाण का अंश / अवयव है। अब उस प्रमाण के अंश दो—निश्चय और व्यवहार, तो उस श्रुतज्ञान में निश्चय जो है, वह तो त्रिकाली को स्वीकारता है परन्तु श्रुतज्ञान में व्यवहारनय जो है, वह बन्ध-मोक्ष दोनों को स्वीकारता है; इसलिए ऐसा नहीं कि व्यवहार साधन है और निश्चय साध्य है – ऐसा नहीं। यहाँ व्यवहार जाननेयोग्य है – ऐसी दो पर्यायें हैं। आहाहा ! ऐसा है। जरा सा बदले तो सब बदल जाये ऐसा है। आहाहा ! समझ में आया ?

अब बनियों को फुरसत नहीं मिलती। उस बेचारे ने लिखा है न ? ऐतिहासिक जापान का बड़ा है, बड़ा ऐतिहासिक, बड़ी उम्र का है और एक लड़का छोटा है। उस लड़के (और उसके पिता को) को दोनों को इतिहास का रस, बहुत पुस्तकें देखी हजारों-लाखों, फिर उसने लिखा है कि जैनधर्म (अर्थात्) 'अनुभूति' है। जैनधर्म वह अनुभूति, आत्मा के आनन्द का अनुभव होना वह जैनधर्म है। पर्याय है न। जैनधर्म, किसके आश्रय से होता है, वह फिर अलग वस्तु। जैनधर्म वह अनुभूति अर्थात् त्रिकाली आनन्द का नाथ भगवान का पर्याय में अनुभव होना, वह जैनधर्म है परन्तु उसने लिखा है.. डॉक्टर ! उदाणी ! बड़े डॉक्टर हैं राजकोट के, मुम्बई में बड़े पहले नम्बर के डॉक्टर ये दाँत के हैं।

उसने ऐसा कहा कि परन्तु यह धर्म – ऐसा धर्म बनियों को मिला। ऐसा उसने लिखा है। और बनिये व्यापार से निवृत्त नहीं होते। ए... चिमनभाई! उसने लिखा है समाचार-पत्र में आया है। ऐसी अनुभूति मार्ग जो जैनदर्शन, परन्तु बनियों को मिला और बनिये व्यापार में रुक गये। आहाहा! इसका निर्णय करने की फुरसत नहीं मिलती, थोड़ा बहुत पढ़कर करे तो भी वह कोई वस्तु नहीं। आहाहा!

शास्त्र का ज्ञान हुआ, शास्त्र से कि यह ऐसा है और वैसा है। वह शास्त्रज्ञान कोई ज्ञान नहीं, वह तो अज्ञान है।

श्रोता : आपकी उपस्थिति में तो व्यापार नहीं होता और आप हमारी दुकान पर कुछ आओ नहीं, अब हमें करना क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : वकालत करके स्पष्टीकरण कराते हैं। आहाहा! प्रभु का मार्ग है शूरों का ए कायर का नहीं काम वहाँ। अन्यमत में भी कहते हैं न 'हरि का मारग है शूरों का ए कायर का नहीं काम जो न।' हरि अर्थात् आत्मा। राग-द्वेष और अज्ञान को हरे ऐसा प्रभु हरि, उसका मार्ग शूरवीरों का है, वह कायर का-नपुंसक का काम वहाँ नहीं है। जो कोई पुण्य-पाप को रचता है, वह नपुंसक / पावैया / हिंजड़ा है। पर को तो कर सकता नहीं। अरे प्रभु! सुन तो सही एक बार!

श्रोता : पड़ोसी का मठ याद आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : भाई के वहाँ पावैया का था न? गोंडल में पावैया की गली थी, वहाँ रहते थे, हिंजड़ों की गली थी। हमारे, उस समय हमारे वहाँ पालेज में था। पालेज में हिंजड़ों का मठ था और पहले पावैया बहुत थे। हमारे दुकान थी, वहाँ पावैया आते वह लेने-भिक्षा लेने। सब देखा है, पाँच वर्ष दुकान चलायी थी न! सत्रह वर्ष से बाईस (वर्ष तक)। सब देखा है – एक-एक बात! वे हिजड़े आते यदि (उन्हें भिक्षा देने में) देरी लगावे तो कपड़े ऊँचे कर दें। अररर! दे दो, दे दो। पावैया माँगने क्या कहलाये वह? हर रोज आवें और भिक्षा माँगे। आहाहा!

यहाँ तो प्रभु ऐसा कहते हैं कि आत्मा का वीर्य उसे कहते हैं कि जो अन्दर शान्ति और आनन्द की रचना करे, उसे वीर्य कहते हैं; पर की रचना (कर सकता हूँ)—ऐसा माने

वह तो नपुंसक / पावैया / हिजड़ा है। हम यह करते हैं, व्यवस्था व्यापार की और धन्धे की.. परन्तु अन्दर में होनेवाले पुण्य-पाप के भाव को रचे, उसे भगवान कहते हैं कि वह नपुंसक है क्योंकि जैसे नपुंसक को प्रजा नहीं होती, वैसे शुभ-अशुभभाव की रचना करनेवाले को धर्म की प्रजा नहीं होती - ऐसी बात है इस वीतरागमार्ग में, बापू! वीतरागमार्ग कोई अलग चीज है। आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं कि वस्तुस्थिति से तो स्वरूप की रचना करे वह वीर्य, परन्तु उसकी पर्याय में राग की रचना हीन दशा से हो वह न माने तो उसे एकान्त कहा जाता है। आहाहा! जानने के लिये, हों! आदरने का यहाँ प्रश्न नहीं है। आहाहा!

यह विवाद है न? बारहवीं गाथा में ऐसा कहा न कि व्यवहारनय जाना हुआ प्रयोजनवान है। संस्कृत टीका में '**तदात्वे**' है। '**तदात्वे**' शब्द संस्कृत में पड़ा है। '**तदात्वे**' अर्थात् उस-उस काल में। भगवान आनन्द का नाथ प्रभु पूर्णानन्द का, जिसे अन्तर स्वीकार दृष्टि की हुई और सम्यग्दर्शन हुआ है—ऐसे जीव को निश्चय का विषय तो उसका अखण्ड अभेद आत्मा है परन्तु पर्याय में अभी शुद्धता थोड़ी है, अशुद्धता है, समकिती को, ज्ञानी को—उसे वह जानना, यह प्रयोजनवान है। है ऐसा जानना। '**तदात्वे**' अर्थात् उस-उस समय में उस-उस प्रकार की शुद्धता का अंश और अशुद्धता का अंश प्रतिसमय भिन्न-भिन्न है; इसलिए उस-उस काल में वह जानना प्रयोजनवान है। आहाहा! '**तदात्वे**' शब्द संस्कृत में है न! यह तो एक-एक अक्षर की बात है, यह तो सब। आहाहा!

यह जाना हुआ प्रयोजनवान है परन्तु आदर किया हुआ प्रयोजनवान है - ऐसा नहीं। ऐसे यहाँ पर्याय में राग है, वैसा जानना चाहिए और वह उसे छेदने का उपाय मोक्ष की पर्याय है, मोक्ष का मार्ग (है) - ऐसा जानना चाहिए। जानना चाहिए। इस जानने का निषेध करे और एकान्त करे कि मुझे भावबन्ध भी नहीं और मोक्ष का उपाय भी नहीं, क्योंकि भावबन्ध नहीं; इसलिए मोक्ष का उपाय नहीं। मिथ्यात्व है - एकान्त से मिथ्यात्व है। आहाहा!

श्रोता : व्यवहार को न माने यह भी मिथ्यात्व।

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार को-पर्याय को न माने तो एकान्त हो गया न? तो अज्ञानी है और व्यवहार को आदरणीय माने तो भी मिथ्यात्वी है, व्यवहारनय का विषय है

और वह जाननेयोग्य है – ऐसा न माने तो भी मिथ्यात्व है। आहाहा! बापू! मार्ग बहुत परिचय करे तो समझ में आये ऐसा है। यह ऐसी चीज है। आहाहा!

यह यहाँ कहा कि परमार्थ से जो संसार-मोक्ष का अभाव कहा है और ऐसा परमार्थ से है, वही एकान्त से सिद्ध होगा। भावबन्ध और भावमोक्ष की पर्याय है, यह बात सिद्ध नहीं होगी। पर्यायनय में भावबन्ध और भावमोक्ष वह व्यवहारनय का विषय है, वह जानना नहीं सिद्ध होगा। आहाहा! अब इसमें बेचारी महिलाओं को पूरे दिन कहाँ फुरसत है, रोटियाँ बनाना, रोटियाँ करना और बच्चों को सम्हालना। ऐसी बातें। आहाहा! ऐसा कि बहिनों को रोटी के अलावा समय मिले और इन धन्धेवालों को समय नहीं मिलता। आहाहा! अरे! बहिनों को तो भाग्यवान मिले हैं न, बहिन भगवतीस्वरूप, धर्मरत्न, जगत में स्त्रियों में पका है, आहाहा! यह स्त्रियों का भाग्य है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं **किन्तु, ऐसा एकान्तरूप वस्तु का स्वरूप नहीं है;..** अर्थात् क्या कहा? कि परमार्थ से राग और शरीर से भगवान को भिन्न बतलाया—ऐसा एक ही माने और पर्याय में राग तथा शरीर का सम्बन्ध है—ऐसा न माने, तब तो एकान्तरूप वस्तु का स्वरूप नहीं है। यह वस्तु का स्वरूप एकान्त ऐसा नहीं है।

अवस्तु का श्रद्धान,.. आहाहा! त्रिकाली परमार्थ को माने और व्यवहार का विषय वर्तमान पर्याय में राग और उससे छूटना है, वह न माने तो अवस्तु का श्रद्धान-वह तो अवस्तु हुई। आहाहा! वस्तु तो त्रिकाली ज्ञायक को जाने सम्यक् और वर्तमान भावबन्ध तथा भावमोक्ष को जाने, वह वस्तु का स्वरूप। आहाहा! एकान्त, वह वस्तु का स्वरूप नहीं। **अवस्तु का श्रद्धान..** आहाहा! पर्याय में राग का सम्बन्ध है और अभाव होता है, ऐसी पर्यायों को न माने तो वह अवस्तु हुई। आहाहा!

अवस्तु का श्रद्धान,.. बाबूभाई! बहुत सरस गाथा है। आहाहा! नवरंगभाई! ऐसा है। अवस्तु अर्थात्? त्रिकाली ज्ञायकस्वरूप में राग-द्वेष नहीं, शरीर नहीं, यह एक पहलू और पर्याय में रागादि व शरीर है, यह दूसरा पहलू—ऐसा होकर वस्तु है, पूर्ण प्रमाण का विषय। निश्चयनय का विषय तो त्रिकाली ज्ञायकभाव राग और शरीररहित वह वस्तु, परन्तु वह निश्चयनय का विषय हुआ। अब व्यवहारनय का विषय राग है; शरीर का सम्बन्ध-

निमित्त-निमित्त सम्बन्ध है, वह व्यवहारनय का विषय; दो का विषय होकर प्रमाणज्ञान हुआ, वह निश्चय और यह व्यवहार (दोनों मिलकर प्रमाण का विषय हुआ)।

अत: प्रमाण ज्ञान की वस्तु है द्रव्य और पर्याय, इस प्रकार यदि न माने तो वह अवस्तु को मानता है। अब इसमें फुरसत कहाँ बेचारे व्यापारी को.. घण्टे-दो घण्टे मिलते हैं बाकी तो स्त्री, पुत्र सम्हालने में और धन्धा अकेला पाप; धर्म तो नहीं परन्तु वहाँ तो पुण्य भी नहीं।

श्रोता : पाप करके पैसा मिले ऐसा होता है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : पैसा, धूल मिले। पैसा तो पुण्य होता है तो मिलता है। पाप तो लाख कर न ? वह तो पूर्व का पुण्य हो तो पैसा मिलता है; मिलता है अर्थात् क्या ? इसे मिलता है ? इसे दिखता है, इसलिए मुझे मिला ऐसी ममता इसे मिलती है। आहाहा ! कठिन बात है, प्रभु ! मार्ग अलग है बापू !

यह जैनदर्शन कोई अलौकिक वस्तु है। यहाँ कहा कि अवस्तु का श्रद्धान अर्थात् वस्तु त्रिकाली शुद्ध है और पर्याय में अशुद्धता और मोक्ष का मार्ग है; इस प्रकार वस्तु है। अब इस प्रकार से वस्तु का न मानकर **अवस्तु का श्रद्धान,..** आहाहा ! अवस्तु का **ज्ञान,..** अवस्तु का **आचरण अवस्तुरूप ही है।** मिथ्यात्वरूप अज्ञानरूप है। आहाहा ! ऐसा सूक्ष्म है। इसकी एक-एक गाथा गजब है ! केवलज्ञानी के पथानुगामी सन्तों ने जगत के लिये प्रसिद्ध किया है। दिगम्बर सन्त, उनके बिना अन्यत्र कहीं यह बात नहीं है। अन्यमत में तो नहीं परन्तु श्वेताम्बर और स्थानकवासी में यह बात नहीं। ए.. ! अब तो ४४ वर्ष हुए। अब उसका बाह्य.. है ? यहाँ ४४ हुए, ४५ वर्ष में आये थे, शरीर को, हों ! और ४४ वर्ष हुए, ८९ वर्ष हुए, एक ओर ४५ एक ओर ४४। अब प्रसिद्ध तो करना चाहिए न कि भाई ! यह है। स्थानकवासी और श्वेताम्बर को तो मोक्षमार्गप्रकाशक में जैन ही नहीं है - ऐसा कहा है। अजैन हैं, अन्यमती हैं क्योंकि जैन की पद्धति की रीति ही उनमें नहीं है। ए.. विमलचन्दजी ! निश्चय-व्यवहार की बात ही वहाँ कहाँ है ? वह तो दया पालो और व्रत करो, भक्ति करो और पूजा करो, सामायिक करो, प्रौषध करो और प्रतिक्रमण करो.. तुझे किसकी सामायिक ? मिथ्यादृष्टि को सामायिक कैसी और प्रौषध कैसे ? ऐई ! बहुत से तो स्थानकवासी आये हैं न, स्थानकवासी में था न, इसलिए स्थानकवासी आये हैं।

श्रोता : स्थानकवासी में लायक जीव अधिक थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : बात तो सच्ची है, बात तो सच्ची है भाई की। आहाहा! ऐसा मार्ग बापू! पण्डित जयचन्दजी ने स्वयं ऐसा टीका का स्पष्टीकरण किया है। है!

अवस्तु अर्थात् क्या? त्रिकाली ज्ञायकस्वरूप जो है, उसमें राग-द्वेष नहीं, उसमें बन्ध / भावबन्ध आदि नहीं, मोक्ष भी नहीं, वह वस्तु है, नय का एक विषय। दूसरे नय का विषय पर्याय में राग है, बन्ध है, शरीर को और जीव को निमित्त-निमित्त सम्बन्ध है, वह व्यवहारनय का विषय, दोनों होकर पूरी वस्तु का विषय हुआ; इस प्रकार जो वस्तु को न माने, वह अवस्तु को मानता है। आहाहा! है? वस्तु नहीं उस प्रकार उसने मानी है। आहाहा! शान्तिभाई! यह ऐसी बात है। यह दूध, दही में रखा जाये ऐसा नहीं इसमें। इसमें भी थोड़ा भाग लो और उसमें भी थोड़ा भाग लो.. आहाहा! स्पष्टीकरण कैसा किया है देखो न! पण्डित जयचन्दजी हैं, गृहस्थ हैं, सादी भाषा में प्रचलित भाषा में (स्पष्टीकरण किया है)। इसके बिना समझ में नहीं आ सकता। बात तो सच्ची है। आहाहा!

द्रव्यरूप से त्रिकाली एकरूप शुद्ध है और पर्यायरूप से पर्याय है। राग और राग के अभावरूप पर्याय है। दोनों होकर प्रमाण का विषय पूरी वस्तु है। निश्चयनय का द्रव्य, वह ध्रुव है, निश्चयनय का द्रव्य, वह ध्रुव है और प्रमाण का द्रव्य, ध्रुव तथा पर्याय दो होकर द्रव्य कहा जाता है, वह प्रमाण का द्रव्य है। पण्डितजी!

श्रोता : द्रव्य दो प्रकार के।

पूज्य गुरुदेवश्री : जो ध्रुव है भगवान नित्यानन्द प्रभु, वह निश्चयनय का द्रव्य कहलाता है; है तो एक अंश परन्तु नय है, वह अंश को ही बताता है। नय, प्रमाण की पूरी चीज को नहीं बतलाता। आहाहा! अरे! यह क्या होगा? निश्चयनय है, नय है वह अंश को बताता है तो जो त्रिकाली द्रव्य है—ज्ञायक ध्रुव, है तो एक अंश, प्रमाण में का एक अंश है। पर्याय के अतिरिक्त का एक अंश है परन्तु उसे निश्चयनय का द्रव्य कहा है और व्यवहारनय का विषय पर्याय है, बन्धादि है, वह उसका विषय है। दोनों का विषय होकर प्रमाण का विषय है परन्तु प्रमाण उस निश्चय को रखकर.. यह रखा है मस्तिष्क में, नहीं तो प्रमाण नहीं होगा। क्या कहा यह? प्रमाण, प्रमाणज्ञान ने दोनों को लक्ष्य में लिया परन्तु

प्रमाण ने वह निश्चय है, अभेद है, उसे तो लक्ष्य में रखा है और तदुपरान्त पर्याय को मिलाया है; इसलिए उसे प्रमाणज्ञान कहने में आता है। प्रमाणज्ञान करने से जो अभेद है, उसका निषेध उसमें हो गया – ऐसा नहीं है। अरे.. अरे! ऐसी बातें अब! है ?

श्रोता : बहुत सरस!

पूज्य गुरुदेवश्री : यह नय और यह प्रमाण और क्या है यह कुछ। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि वस्तु जो आत्मा है, वह द्रव्यस्वरूप ध्रुव भी है और पर्यायस्वरूप अध्रुव भी है। अब जो त्रिकाली ध्रुव है, उसका निर्णय अध्रुव करता है। सम्यग्दर्शन आदि अनित्य हैं, वे नित्य का निर्णय करते हैं, परन्तु नित्य का निर्णय करने पर भी वह पर्याय, पर्यायरूप है—ऐसा यदि न जाने तो वस्तु का स्वरूप त्रिकाली और वर्तमान दोनों को उसने नहीं जाना। आहाहा! यह तो सूक्ष्म अभ्यास करे तो समझ में आये ऐसा है। ऊपर-ऊपर से नहीं कि दो-चार दिन आवे और जाये, चले-भागे। आहाहा!

श्रोता : कभी कहते हो अन्तर्मुहूर्त में होता है। कभी कहते हो पुरुषार्थ एक समय में होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : उग्र पुरुषार्थ एक समय में ही होता है परन्तु यहाँ तो अभी तो शिथिलता और विपरीतता के बहुत शल्य गिर गये हैं न ? आहाहा! वे बहुत निकालने के लिये इसे बहुत अभ्यास चाहिए। ऐसा थोड़ा बहुत समझ लिया और मानो आ जाये, ऐसा नहीं है। वेदान्त है, वह अकेले निश्चय को मानता है; बौद्ध है, वह अकेली पर्याय को मानता है। जैनदर्शन है, वह दोनों को मानता है—द्रव्य और पर्याय दोनों होकर वस्तु है। उसमें जैनदर्शन में भी निश्चय सम्यग्दर्शन का विषय तो ध्रुव और अभेद अखण्डानन्द प्रभु है। उसके अवलम्बन से सम्यग्दर्शन होता है, बाकी पर्याय के लक्ष्य से नहीं होता, निमित्त के लक्ष्य से नहीं होता, राग के लक्ष्य से नहीं होता, पर्याय के लक्ष्य से सम्यग्दर्शन नहीं होता। आहाहा! यह तो अभी धर्म की पहली सीढ़ी। इससे वह निश्चयनय का विषय ध्रुव, उसे द्रव्य अर्थात् नय का द्रव्य। अब यदि पूरी चीज लें द्रव्य, प्रमाण का विषय तो पर्याय साथ में मिलती है, तब वह प्रमाण का द्रव्य होता है। इससे जो वस्तु इस प्रकार जो वस्तु है, उस प्रकार न माने तो अवस्तु को मानता है। कहा न ? **अवस्तु का श्रद्धान,..** अवस्तु का

अर्थात् यह द्रव्य और पर्याय दो रूप वस्तु है, उस प्रकार से न माने तो अवस्तु हुई। आहाहा! कहो, समझ में आता है या नहीं?

अवस्तु का श्रद्धान, (ज्ञान) आचरण अवस्तुरूप ही है। वह तो मिथ्यात्वरूप ही है। भावार्थ भी कितना अच्छा किया है। पण्डितजी ने भी, पहले के पण्डित! आहा! **इसलिए व्यवहारनय का उपदेश..** व्यवहार का उपदेश। **न्यायप्राप्त है।..** उपदेश न्यायप्राप्त है। पर्याय है, बन्ध है, मोक्ष का मार्ग है—ऐसा व्यवहारनय का उपदेश न्यायप्राप्त है। आदरणीय है, यह यहाँ प्रश्न नहीं। आहाहा! व्यवहारनय का जो विषय है, भेद और पर्याय (है), उसे बतलाने से वह न्यायप्राप्त है - ऐसा कहते हैं। समझ में आया? आहाहा! सोगानी तो ऐसा कहे, उनके 'द्रव्यदृष्टिप्रकाश' में (कहे) हम तो द्रव्य-ध्रुव हैं, पर्याय हमारा ध्यान करे तो करो, हमें क्या है। है? द्रव्यदृष्टिप्रकाश, सोगानी! पर्याय हमारा ध्यान करे तो करे—ऐसा कहकर पर्याय की अस्ति तो रखी; हम किसका ध्यान करें, हम तो ध्रुव हैं न? आहाहा! हमारा ध्यान पर्याय करे तो करो। इससे ध्यान पर्याय करे तो पर्याय में हम आ जाते हैं - ऐसा नहीं है। है न भाई! द्रव्यदृष्टिप्रकाश यहाँ नहीं? नहीं, पुस्तक होती तो निकालकर बताते। आहाहा!

इसलिए व्यवहारनय का उपदेश न्यायप्राप्त है। इस प्रकार.. इस प्रकार अर्थात् जो प्रकार कहा, उस प्रकार **स्याद्वाद से..** परमार्थ से वह राग-द्वेष और शरीररहित है, पर्यायनय से / व्यवहारनय से वह राग-द्वेष और शरीरसहित है - ऐसा स्याद्वाद है। अपेक्षा से उसका कथन है। एकान्त कथन भगवान का नहीं है। आहाहा! समझ में आया? **स्याद्वाद से दोनों नयों का विरोध मिटाकर श्रद्धान करना..** दोनों नयों का विरोध मिटाकर (अर्थात्) निश्चय कहे कि राग-द्वेष और बन्ध आदि हैं ही नहीं; पर्याय कहे कि मुझमें राग-द्वेष और मोक्ष का उपाय है—ऐसा दोनों का विरोध है, उसे मिटा देना है। निश्चय से यह ठीक है, पर्याय से यह ठीक है। आहाहा! उसमें आया है न, कलश-टीका में, नहीं? '**उभयनय विरोध ध्वंसिनी जिनवचनसी रमन्ते**' यह आया है कलश में। वहाँ ऐसा अर्थ किया अभी के उन लोगों ने—'**जिनवचनसी रमन्ते**' अर्थात्? जिनवचन में दो नय कहे न? इसलिए दो नय में रमना—ऐसा अर्थ अभी वे करते हैं। समयसार का चौथा श्लोक है।

यहाँ तो जिनवचन में रमन्ते का अर्थ यह कि जिनवचन में यह कहा है कि भगवान पूर्णानन्द का नाथ वह पूज्य शुद्ध चैतन्यघन है, वह उपादेय है—ऐसा जिनवचन में कहा है, उसमें रमना; रमना वह पर्याय हुई परन्तु रमना त्रिकाल में, वह द्रव्य हुआ। है न, आ गया है न? कलश में है। यह कलश-टीका है न? उसमें है, '**जिनवचनसी रमन्ते**' अर्थात् कहीं वाणी में रमना है? परन्तु जिनवचन ने कहा जो उपादेय त्रिकाली आनन्द का नाथ भगवान शुद्ध चैतन्यघन, अभेद, अखण्ड, उसे दृष्टि में लेकर वहाँ रमना, उसे उपादेय जानना। जानना, वह पर्याय हुई और जानने में आया, वह द्रव्य है। आ गये दोनों। व्यवहार में रमना—ऐसा नहीं आता वहाँ, पर्याय में रमना, यह नहीं आता। तथापि उसमें रमे, वहाँ पर्याय आ गयी। आहाहा! ऐसा है। ऐसा मार्ग सम्प्रदाय में तो कहीं सुनने को मिले ऐसा नहीं है। आहाहा! इसलिए सोनगढ़ का है ऐसा कहते हैं न? सोनगढ़ का एकान्त है-एकान्त है.. व्यवहार से होता है - ऐसा नहीं मानते। परन्तु व्यवहार है किन्तु व्यवहार से होता है यह बात नहीं है। व्यवहारनय है, उसका विषय है। समझ में आया?

यह कल कहा था न, नहीं कहा था? ८३ के साल, कितने वर्ष हो गये? बहुत, हमारे दामोदर सेठ थे न, हठाग्रही बहुत थे। ८३ की बात है, हों! ५१ वर्ष हुए। वे कहते कि भगवान की मूर्ति को मानना, वह मिथ्यादृष्टि हो तब तक माने, सम्यग्दृष्टि नहीं। ऐसा कहे दूसरों को, हों! मेरे पास नहीं, मुझसे डरते, क्योंकि मैं कुछ कहने जाऊँगा तो छोड़ देंगे। मैं कहीं बाड़ा में आ गया, इसलिए तुम्हारा मानूँ - ऐसा नहीं। कहा—यहाँ तो सत्य होगा वह मानेंगे। तब वह बारम्बार ऐसा कहने लगा। तब मैंने उसे नहीं परन्तु दूसरे को कहा, उसने वहाँ पहुँचाया होगा। सुनो कहा—आत्मा को सम्यग्दर्शन होता है, शुद्ध चैतन्य अखण्डानन्द प्रभु की प्रतीति और अनुभव होता है, तब उसे भावश्रुतज्ञान होता है। यह ८३ की बात है। सम्यग्दर्शन होने पर भावश्रुतज्ञान होता है और भावश्रुतज्ञान होने पर वह भावश्रुतज्ञान प्रमाण है और नय हैं, वे प्रमाण का अंश हैं; इसलिए जिसे भावश्रुत हुआ, उसे निश्चय और व्यवहार दो नय होते हैं। उस व्यवहारनय का विषय भगवान की मूर्ति वहाँ है; इसलिए वास्तव में तो श्रुतज्ञानी को ही ऐसा व्यवहार होता है, समकिती को ही भगवान की पूजा होती है और ऐसा व्यवहार होता है। मिथ्यादृष्टि को नहीं होता।

यहाँ तो भाई! वस्तु सत्य हो वह मानेंगे। हम बाड़ा में (सम्प्रदाय में) आ गये, इसलिए तुम्हारा मानेंगे - ऐसा यहाँ नहीं है। श्रुतज्ञान होने पर, सम्यग्दर्शन होने पर उसका-श्रुत का भेद व्यवहार और निश्चय, उसे व्यवहारनय होता है और सामने ज्ञेय का भेद—नाम, स्थापना, द्रव्य—यह ज्ञेय का भेद है। नय है, वह ज्ञान का भेद है। उसे होता है। है व्यवहार, है शुभभाव परन्तु सम्यग्दृष्टि को ही ऐसी पूजा का भाव शुभ होता है। आहाहा! वही वास्तविक मूर्ति को मानता है, शुभभाव को मानता है, व्यवहार को मानता है। आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं **स्याद्वाद से दोनों नयों का विरोध मिटाकर..** निश्चय से तो है वैसा है और पर्याय से जैसा है वैसा है—ऐसा जानना चाहिए। **श्रद्धान करना, सो सम्यक्त्व है।** इसका नाम समकित कहा जाता है।

विशेष कहेंगे। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा ४७-४८

अथ केन दृष्टांतेन प्रवृत्तो व्यवहार इति चेत्–

राया हु णिग्गदो त्ति य एसो बलसमुदयस्स आदेसो।
ववहारेण दु उच्चदि तत्थेक्को णिग्गदो राया।।४७।।
एमेव य ववहारो अज्झवसाणादिअण्णभावाणं।
जीवो त्ति कदो सुत्ते तत्थेक्को णिच्छिदो जीवो।।४८।।

राजा खलु निर्गत इत्येष बलसमुदयस्यादेश:।
व्यवहारेण तूच्यते तत्रैको निर्गतो राजा।।
एवमेव च व्यवहारोऽध्यवसानाद्यन्यभावानाम्।
जीव इति कृत: सूत्रे तत्रैको निश्चितो जीव:।।

यथैष राजा पंच योजनान्यभिव्याप्य निष्क्रामतीत्येकस्य पंचयोजनान्यभिव्याप्तु-मशक्यत्वाद्व्यवहारिणां बलसमुदाये राजेति व्यवहार:, परमार्थतस्त्वेक एव राजा; तथैष जीव: समग्रं रागग्राममभिव्याप्य प्रवर्तत इत्येकस्य समग्रं रागग्राममभिव्याप्तुशक्यत्वाद्व्यव-हारिणामध्यवसानादिष्वन्यभावेषु जीव इति व्यवहार:, परमार्थतस्त्वेक एव जीव:।

अब शिष्य पूछता है कि व्यवहारनय किस दृष्टान्त से प्रवृत्त हुआ है ? उसका उत्तर कहते हैं :—

'निर्गमन इस नृप का हुआ', - निर्देश सैन्यसमूह में।
व्यवहार से कहलाय यह, पर भूप इसमें एक है ।।४७।।
त्यों सर्व अध्यवसान आदिक, अन्य भाव जु जीव है।
-शास्त्रन किया व्यवहार, पर वहां जीव निश्चय एक है ।।४८।।

गाथार्थ - जैसे कोई राजा सेनासहित निकला वहाँ [राजा खलु निर्गतः] 'यह राजा निकला' [इति एषः] इस प्रकार जो यह [बलसमुदयस्य] सेना के समुदाय को [आदेशः] कहा जाता है सो वह [व्यवहारेण तु उच्यते] व्यवहार से कहा जाता है, [तत्र] उस सेना में (वास्तव में) [एकः निर्गतः राजा] राजा तो एक ही निकला है; [एवम् एव च] इसी प्रकार [अध्यवसानाद्यन्यभावानाम्] अध्यवसानादि अन्य भावों को [जीवः इति] '(यह) जीव है' इस प्रकार [सूत्रे] परमागम में कहा है सो [व्यवहारः कृतः] व्यवहार किया है, [तत्र निश्चितः] यदि निश्चय से विचार किया जाये तो उनमें [जीवः एकः] जीव तो एक ही है।

टीका - जैसे यह कहना कि यह राजा पाँच योजन के विस्तार में निकल रहा है, सो यह व्यवहारीजनों का सेना समुदाय में राजा कह देने का व्यवहार है क्योंकि एक राजा का पाँच योजन में फैलना अशक्य है; परमार्थ से तो राजा एक ही है, (सेना राजा नहीं है); उसी प्रकार यह जीव समग्र (समस्त) रागग्राम में (- राग के स्थानों में) व्याप्त होकर प्रवृत्त हो रहा है, ऐसा कहना वह, व्यवहारीजनों का अध्यवसानादिक अन्य भावों में जीव कहने का व्यवहार है, क्योंकि एक जीव का समग्र रागग्राम में व्याप्त होना अशक्य है; परमार्थ से तो जीव एक ही है, (अध्यवसानादिक भाव जीव नहीं हैं)।

प्रवचन नं. १२१ गाथा-४७-४८, दिनाङ्क २९-१०-१९७८, रविवार
आसोज कृष्ण १४, वीर निर्वाण संवत् २५०४

---

४६ गाथा हो गयी। ४७-४८

अब शिष्य पूछता है कि व्यवहारनय किस दृष्टान्त से प्रवृत्त हुआ है ? तुमने जब ऐसा कहा कि निश्चय से तो द्रव्य का आश्रय, वह वस्तु बराबर है, परन्तु पर्याय में राग-द्वेष और मोह है; वह निश्चय से नहीं कहा, परन्तु पर्याय में है—ऐसा इसे जानना चाहिए। यदि पर्याय में राग-द्वेष और मोह न होवे तो उन्हें छेदने का—मोक्ष का उपाय भी न हो। निश्चय में तो मोक्ष का उपाय और बन्ध दोनों नहीं है। अन्तर वस्तुदृष्टि करने पर, वस्तु में तो मोक्ष की पर्याय भी नहीं है, मोक्ष का मार्ग भी नहीं है; बन्ध भी नहीं है, बन्ध का मार्ग भी नहीं है। जब ऐसा कहा, तब फिर तुमने ऐसा कहा, सब एकान्त मानोगे, पर्याय में राग-

द्वेष है तथा शरीर और जीव को निमित्त-निमित्त सम्बन्ध है—यदि इतना नहीं होवे तो भस्म को मसलने से जैसे शरीर को मसलने से जीव मरे नहीं तो नि:शंकरूप से शरीर को मसल डालना, तो उसमें पाप नहीं—ऐसा सिद्ध होगा; और पाप नहीं तो बन्ध नहीं—ऐसा सिद्ध होगा, अत: बन्ध नहीं तो इसे बन्ध को छेदना—ऐसा यह मोक्ष का उपाय, वह भी व्यवहार है। पर्याय है न? इसलिए व्यवहारनय का विषय इसे बराबर जानना चाहिए। एकान्त करे कि है ही नहीं इसमें, इसलिए पर्याय में भी नहीं, तब तो एकान्त मिथ्यात्व होता है, अवस्तु सिद्ध होता है। वह अवस्तु सिद्ध होता है, वस्तु नहीं। वस्तु तो त्रिकाली द्रव्य के स्वभाव में वह नहीं—एक (बात) और पर्याय में है—दूसरी बात, दोनों होकर प्रमाण और उसका विषय सिद्ध होता है। आहाहा!

इसलिए एकान्त ऐसा कह दो कि आत्मा में नहीं, इसलिए पर्याय में भी राग-द्वेष, पुण्य-पाप नहीं, तथा शरीर को और जीव को निमित्त-निमित्त सम्बन्ध भी नहीं, तब तो व्यवहारनय का निषेध होता है। समझ में आया? सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा! वस्तु का स्वभाव जो चैतन्य ज्योति, वह दृष्टि का विषय जो वस्तु है, उसमें तो राग भी नहीं और उसमें तो क्षयोपशम और क्षायिक की पर्याय भी नहीं, परन्तु उसका एकान्त खींचोगे कि उसमें नहीं, इसलिए पर्याय में भी नहीं, तो एकान्त हो जाएगा।

श्रोता : एकान्त हो जाएगा, अर्थात् क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : अर्थात् कहा न? कि वस्तु में नहीं, परन्तु पर्याय में नहीं तो एकान्त हो जाएगा, तो एकान्त सिद्ध होगा-अवस्तु सिद्ध होगा। वस्तु ऐसी है नहीं। वस्तु है, वह द्रव्य और पर्याय - इन दो रूप से मिलकर वस्तु है और तुम द्रव्य को, उसमें नहीं ऐसा अकेला मानो तो अवस्तु सिद्ध होगा। आहाहा! टीका में है और भावार्थ में है 'अवस्तु'। आहाहा! वह तो जैसे ११ वीं गाथा में ऐसा कहा कि '**भूयत्थंमस्सिदो खलु**' त्रिकाली ज्ञायकभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है। आश्रय का अर्थ—उसमें अहंपना 'मैं पना' मेरापना माने, उसे सम्यग्दर्शन होता है, परन्तु फिर १२ वीं गाथा में कहा... किन्तु यह तो निश्चयनय का विषय कहा (परन्तु) अब उसकी पर्याय में कुछ अपूर्णता और शुद्धता का अंश वह है या नहीं? और है तो वह क्या? वह कुछ निश्चय का विषय नहीं।

निश्चय से पर्याय को स्वीकारता (नहीं)। दृष्टि तो पर्याय को ही नहीं स्वीकारती, गुणभेद को भी नहीं स्वीकारती। आहाहा!

पर्याय में है या नहीं? पर्याय में है। राग-द्वेष है और बन्ध को छेदकर मोक्ष का उपाय भी है। उपाय है और बन्ध है—ये दोनों व्यवहारनय का विषय है। ऐसी सूक्ष्म बातें हैं! समझ में आया? इससे इसे पर्याय में राग-द्वेष है—ऐसा इसे जानना चाहिए। आदरणीय की यहाँ बात नहीं है। यह व्यवहारनय आदरणीय है—ऐसा नहीं, परन्तु व्यवहारनय का,.. नय है तो उसका विषय है, नय का विषय (है।) नय है और उसका विषय न हो तो वह नय ही नहीं कहलाता। आहाहा! समझ में आया? तब तो वेदान्त हो जाएगा एकान्त। पर्याय नहीं, पर्याय में पर्याय नहीं, पर्याय में बन्ध नहीं, पर्याय में मोक्ष का उपाय ही नहीं, (तब तो एकान्त हो जाएगा)।

पर्याय को जो अभूतार्थ कहा है, वह तो गौण करके कहा था। उसके बदले तुम (पर्याय) है ही नहीं—ऐसा मान लो तो एकान्त मिथ्यात्व ठहरेगा।

श्रोता : समझना बहुत कठिन है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कठिन है बापू! भाई! वस्तु ऐसी है। अधिक स्पष्ट कराते हैं। आहाहा!

भगवान आत्मा! द्रव्य स्वरूप से.... द्रव्य अर्थात्? यह निश्चयनय का द्रव्य; प्रमाण का द्रव्य तो द्रव्य और पर्याय दो मिलकर द्रव्य होता है। परन्तु निश्चयनय का जो द्रव्य, वह अंश है, वह त्रिकाल ध्रुव है। आहाहा! द्रव्य के दो प्रकार—एक निश्चयनय का द्रव्य, वह ध्रुव अंश है, पर्यायरहित; और प्रमाण का विषय है, वह ध्रुव और पर्याय—यह दो होकर द्रव्य, वह प्रमाण का विषय है। आहा! ऐसा सब जानने को कहाँ फुर्सत में बैठे हैं!

श्रोता : सरल कर दो सरल।

पूज्य गुरुदेवश्री : भाषा अत्यन्त सादी तो है। भाषा तो सादी है परन्तु भाव तो जो है वह है। आहाहा!

तब शिष्य को प्रश्न उत्पन्न हुआ कि तुमने जब व्यवहार और उसका विषय है—

ऐसा जो कहा तो उसका दृष्टान्त क्या है ? जब तुमने ऐसा कहा कि निश्चय का विषय तो ध्रुव ज्ञायकमूर्ति प्रभु कि जिसमें तो उदयभावरूपी राग तो नहीं, परन्तु जिसमें क्षयोपशम, क्षायिक और उपशम की पर्याय भी जिसमें नहीं। तब फिर यह पर्याय में है, उसका क्या ? कि पर्याय में है—ऐसा इसे जानना चाहिए। पर्याय में राग है, विकार है और उसे छेदने का उपाय भी है। वह उपाय है, वह भी पर्याय है और वह व्यवहार है। आहाहा! समझ में आया ? तब ये सब-पर्यायों में विकार है, वह विकार छेदा जाए तो मोक्ष का उपाय भी है और मोक्ष भी है। यह सब व्यवहारनय का विषय हुआ। तो शिष्य को प्रश्न उत्पन्न हुआ कि यह **व्यवहारनय किस दृष्टान्त से प्रवृत्त हुआ है ?..** उसका कोई दृष्टान्त है कि हमें शीघ्र समझ में आवे। समझ में आया ? आहाहा!

वह कहते हैं—

राया हु णिग्गदो त्ति य एसो बलसमुदयस्स आदेसो।
ववहारेण दु उच्चदि तत्थेक्को णिग्गदो राया।।४७।।

'**आदेसो**' है न भाई! '**आदेसो**' मस्तिष्क में एक ऐसा उठा कि राजा को कहा न, कि इस समुदाय को, यहाँ तो '**आदेस**' अर्थात् कथन है, परन्तु इतना सम्बन्ध हुआ न ? राजा, सेना को कहा, यह व्यवहार हुआ। सेना में राजा आता नहीं; आहाहा! वैसे ही भगवान आत्मा की पर्याय में द्रव्य आता नहीं, परन्तु पर्याय, पर्यायरूप से है—ऐसा कथन, व्यवहारनय के कथन से कहा है। यह तो कल द्रव्यसंग्रह में देखा, किन्तु हाथ नहीं आया। पुरानी द्रव्यसंग्रह है न, उसमें 'व्यवहार' अर्थात् 'लौकिक कथन'-ऐसा पाठ है। पुरानी द्रव्यसंग्रह है न, पुराना ग्रन्थ है उसमें (पाठ है।) नये में हाथ नहीं आया। दो-तीन देखे; भाई ने—हिम्मतभाई ने, सबने। व्यवहार अर्थात् लौकिक कथन, व्यर्थ। अपने आता है न! 'कलश टीका' में आता है न! पाँचवें कलश में 'व्यवहारनय अर्थात् कथनमात्र'—परन्तु कथन का अर्थ ? वह तो वाचक है, परन्तु उसका वाच्य (क्या) है ? पर्याय में उसका वाच्य है। आहाहा! ऐसी बातें अब! वह यहाँ कहते हैं। दो गाथायें हैं न ?

राया हु णिग्गदो त्ति य एसो बलसमुदयस्स आदेसो।
ववहारेण दु उच्चदि तत्थेक्को णिग्गदो राया।।४७।।

एमेव य ववहारो अज्झवसाणादिअण्णभावाणं।
जीवो त्ति कदो सुत्ते तत्थेक्को णिच्छिदो जीवो॥४८॥

हरिगीत—

'निर्गमन इस नृप का हुआ', - निर्देश सैन्यसमूह में।
व्यवहार से कहलाय यह, पर भूप इसमें एक है॥४७॥
त्यों सर्व अध्यवसान आदिक, अन्य भाव जु जीव है।
-शास्त्रन किया व्यवहार, पर वहां जीव निश्चय एक है॥४८॥

टीका - आज धनतेरस है। आहाहा! मैंने सबेरे यह कहा कि लौकिक में धनतेरस कहते हैं, परन्तु अपने आत्मा में धन तेरस अर्थात् क्या? अर्थात् सर्वज्ञ भगवान अमावस्या को मोक्ष पधारनेवाले हैं न? श्वेताम्बर में ऐसा है कि राजा छठ करके रहे थे, अपने दिगम्बर में नहीं है, इसलिए यह बात एक। परन्तु उसके पहले ऐसा कहे कि इस ज्ञान की पूजा, सर्वज्ञ परमात्मा मोक्ष पधारनेवाले हैं, इससे यह लक्ष्मी—सर्वज्ञस्वरूप भगवान आत्मा की पूजा। सर्वज्ञस्वभावी यह आत्मा, हों! आहाहा! उसकी पूजा का यह दिवस है। आहाहा! भगवान सर्वज्ञस्वरूप लक्ष्मी... लक्ष्मी की पूजा करते हैं न? रतिभाई! यह तुम्हारे सब लक्ष्मी की पूजा करते हैं धनतेरस के दिन। वह कौन सी लक्ष्मी प्रभु? आहाहा! अनन्त-अनन्त सर्वज्ञ 'ज्ञ' स्वभाव, जिसका अनन्त.. अनन्त.. अनन्त..—ऐसा जो सर्वज्ञस्वभाव, उसका स्वीकार करना, आदर करना, उसका बहुमान करना, उसकी पूजा अर्थात् उसमें एकाग्र होना, उसका नाम यहाँ धनतेरस है। यहाँ धूल की धनतेरस नहीं। आहाहा! वह यहाँ कहते हैं, देखो!

(टीका) **जैसे यह कहना कि यह राजा पाँच योजन के विस्तार में निकल रहा है,..** इतना कहा यहाँ तो। राजा को कहा है कि इतना यहाँ नहीं, परन्तु मात्र ऐसा कहना। क्या कहा समझ में आया? वह सम्बन्ध क्यों व्यवहार कहा? कि राजा को कहा था कि समुदाय है ऐसा परन्तु वह कहीं राजा नहीं कहीं सेना समुदाय.. यहाँ ऐसा कहा कि **पाँच योजन के विस्तार में निकल रहा है,..** वह भी पाँच योजन, पाँच लिये! राजा का समुदाय / सेना पाँच योजन के विस्तार से निकल रही है। आहाहा! ज्ञान के पाँच भेद हैं न? मति,

श्रुत, अवधि इत्यादि, वे भी व्यवहारनय का विषय है; अकेला ज्ञायकस्वरूप त्रिकाल, वह निश्चय का विषय है.. आहाहा! यहाँ कहते हैं कि **राजा पाँच योजन के विस्तार में निकल रहा है,..** ऐसा कहना - ऐसा कहना। **एक राजा का पाँच योजन में फैलना अशक्य है।** राजा एक, दो, पाँच योजन के समुदाय में आ जाये और उसका विस्तार पाना अशक्य है। स्वयं एक राजा पाँच योजन में, सेना में कहाँ जाता है? आहाहा! समझ में आया? **व्यवहारीजनों का सेना समुदाय में राजा कह देने का व्यवहार है..** भाषा कैसी है? व्यवहारीजनों का, व्यवहार कहने का व्यवहार है। आहाहा! **परमार्थ से तो राजा एक ही है,..** आहाहा! **(सेना राजा नहीं है);..** यह तो दृष्टान्त हुआ।

अब यह भगवान आत्मा.. **उसी प्रकार यह जीव समग्र (समस्त) रागग्राम..** भाषा देखो! समग्र राग का समूह, द्वेष का-पुण्य-पाप आदि सब समुदाय, शरीर, वाणी, कर्म, आहाहा! ये सब राग के जो स्थान हैं, आहाहा! उनमें **व्याप्त होकर प्रवृत्त हो रहा है..** भगवान जीवद्रव्यस्वरूप ज्ञायक एकरूप प्रभु इस रागादि के विस्तार में विकार की व्यवस्था की अनेकता में वह जीवद्रव्य व्याप्त है। **ऐसा कहना वह,..** भाषा देखो! यहाँ अकेला राग लिया है, क्योंकि राग अन्त में नष्ट होता है, पहले द्वेष नष्ट होता है, फिर राग नष्ट होता है; इसलिए यहाँ राग की आदि सभी सामग्री—राग, दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, काम, क्रोध, कर्म, शरीर, वाणी, मन पूरा एक ओर भगवान आत्माराम और एक ओर राग का गाँव, आहाहा! रागग्राम, ग्राम अर्थात् समूह-स्थान है। आहाहा! उसमें व्याप्त होकर प्रवर्त रहा है। भगवान आत्मा, चैतन्यध्रुव ज्ञायकस्वभाव परमानन्द की मूर्ति प्रभु जीवद्रव्य उसे कहते हैं, वह जीवद्रव्य ज्ञायकस्वरूप भगवान अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. ज्ञानादि लक्ष्मी का भण्डार भगवान ध्रुव। आहाहा! **एक जीव का समग्र रागग्राम में व्याप्त होना अशक्य है;..** जो द्रव्यस्वभाव है, (उसका) रागादि में व्याप्त होना अशक्य है। आहाहा! समझ में आया?

परन्तु जैसे राजा ने हुक्म किया था, उतना सम्बन्ध समुदाय का है। इसी प्रकार आत्मा में रागादि पर्याय में हैं, इतना वहाँ निमित्त का सम्बन्ध है। शुद्ध उपादान में तो वह वस्तु नहीं। जो त्रिकाली ज्ञायकभाव परमानन्द प्रभु वह राजा / जीव, रागादि में व्याप्त है, उस

समुदाय में, वह तो व्यवहार का कथन है। द्रव्य तो द्रव्य में है। पर्याय में व्याप्त नहीं है। पर्याय में तो उसकी है इतनी अवस्था कहकर व्यवहार से उसे उसका है, ऐसा कहने में आया है। आहाहा! जिसे ग्यारहवीं गाथा में अभूतार्थ कहा है। पर्यायमात्र असत्यार्थ है। उसे यहाँ सत्यार्थरूप से पर्याय में वर्णन किया है। आहाहा! वह त्रिकाल की अपेक्षा से असत्यार्थ और त्रिकाली उसमें व्यापक नहीं परन्तु उसका एक अंश है, रागादि का समुदाय, उसमें-उसकी दशा में है, वह वस्तु तो वस्तु, वस्तु वहाँ जाती नहीं, आहाहा! परन्तु उसकी दशा में रागादि है, इसलिए ग्राम में व्यापक अशक्य होने से **व्यवहारीजनों का..** आहाहा! **अध्यवसानादिक..** अन्य **भावों में जीव कहने का..** राग-द्वेष-पुण्य-पाप ऐसे जो अन्य भाव, अन्य भाव वे स्वयं अन्य भाव, आहाहा! जिन्हें पुद्गल कहा है, ये दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध को पुद्गल कहा है। जीव चैतन्यस्वभाव से अन्य भाव है। चैतन्यस्वभाव से-चैतन्यस्वभाव-ज्ञायकस्वभाव से अन्यभाव है, इसलिए उन्हें पुद्गल कहा परन्तु यहाँ जीव उनमें व्याप्त हो रहा है, यह व्यवहारनय से कहा है। आहा! उसकी पर्याय है न, इस अपेक्षा से कहा है। द्रव्य की व्यवहार से पर्याय है न? निश्चय से तो द्रव्य में वह पर्याय है ही नहीं। आहाहा!

यह अध्यवसान आठ बोल हैं न, आठ? (गाथा) ४४ में आठ बोल आ गये हैं। अध्यवसान आदि। तीव्र-मन्द भाव, कर्म, आठ कर्मों का समूह - ऐसा कहकर जीव है, ऐसा कहा है। वह तो व्यवहारनय से व्यवहारी लोगों को व्यवहार से बतलाया जाता है, पर्याय में है इसलिए। इसलिए व्यवहार से जानने में आते हुए, व्यवहार में आये हुए को ये मुझे जाननेयोग्य है - ऐसे कहा है। आहाहा!

श्रोता : व्यवहार को जानना, यह तो बहिर्लक्ष्य हुआ।

पूज्य गुरुदेवश्री : है; बहिर्लक्ष्य नहीं। पर्याय इसकी है न! त्रिकाल की अपेक्षा से बहिर्लक्ष्य है परन्तु पर्याय इसकी है, इसलिए इसका लक्ष्य है। व्यवहारी कहा न? त्रिकाल द्रव्य की दृष्टि की अपेक्षा से तो बहिर है परन्तु उसकी पर्याय की अपेक्षा से जैसे बाह्य चीज है, वैसे नहीं; इसकी पर्याय में वह है। आहाहा!

श्रोता : अशुद्ध निश्चयनय से है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अशुद्ध निश्चयनय से कहो या व्यवहारनय से कहो, ये दोनों एक ही हैं। आहाहा!

श्रोता : पर्याय में अशुद्धता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह है इसमें, इतना ज्ञान इसे बराबर करना पड़ेगा। वह आत्मा द्रव्यरूप से वहाँ व्यापक नहीं है परन्तु पर्यायरूप से है—ऐसा उसका ज्ञान उसे बराबर जानना चाहिए, आहाहा! ऐसा है।

श्रोता : व्यवहार ज्ञान को हेय जानकर छोड़ देने योग्य है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह छोड़ देने योग्य है, परन्तु है या नहीं? है उसे छोड़नेयोग्य होगा या न हो उसे? कठिन बात है! वह है अंश में, त्रिकाल में नहीं; इसलिए जीवद्रव्य जो त्रिकाली है, वह सब पर्याय में व्यापक नहीं है, आहाहा! परन्तु उसकी उसके अंश में एक भाग में वह सब वस्तु रही हुई है, इसलिए व्यवहारी जीव का जानना, कहते हैं, पर्याय में है – ऐसा उसे जानना चाहिए। आहाहा!

श्रोता : त्रिकाली द्रव्य में ऐसा कौन सा भाग है?

पूज्य गुरुदेवश्री : भाग है एक अंश! त्रिकाली द्रव्य नहीं, प्रमाण का अंश जो द्रव्य, उसका एक भाग है। वह तो पहले कहा न, प्रमाण का द्रव्य और निश्चय का द्रव्य, ये दोनों अलग चीज है। निश्चयनय का द्रव्य तो ध्रुव है, है तो एक अंश। नय का विषय ही अंश है। चाहे तो निश्चय हो या परमार्थ शुद्ध का विषय, परन्तु है एक अंश, सम्पूर्ण द्रव्य नहीं। नय है न? आहाहा! ऐसा फिर जानना। प्रमाण जो है, वह पर्याय को भी साथ मिलाकर, यह द्रव्य है—ऐसा जानता है; तथापि प्रमाण भी निश्चय यह है, इसमें नहीं–ऐसा रखकर, पर्याय में है – ऐसे मिलाता है। उसको उड़ा देकर मिलाता है, ऐसा नहीं। भाई! तब तो प्रमाण कहलाता है। निश्चय से द्रव्य तो द्रव्य ही है, वह पर्याय में व्यापक नहीं – आहाहा! ऐसा प्रमाण में एक अंश का भाव तो प्रतीति में है, ज्ञान में है, परन्तु अब पर्याय में वह द्रव्य व्यापक नहीं परन्तु पर्याय है—ऐसे अंश को प्रमाणज्ञान, निश्चय के साथ मिलाकर प्रमाण का द्रव्य सिद्ध करते हैं। ऐसा है प्रभु! क्या हो? ऐसा मार्ग वीतराग का है कि वह अन्यत्र कहीं नहीं है।

श्रोता : अन्यत्र कहीं नहीं, अकेले सोनगढ़ में है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सोनगढ़ में, भगवान के पास है, बापू! वहाँ से यहाँ आया है। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि पर्याय के भेदों में अकेला ज्ञान व्यापे, वह वस्तु नहीं, परन्तु वह द्रव्य तो द्रव्यरूप ही वहाँ रहा है। अब साथ में पर्याय को मिलाकर प्रमाण कराते हैं। अरे! अब ऐसी बातें! तत्त्वज्ञान का विषय और फिर पर्याय का अस्तित्व, दोनों सिद्ध करना है। ऐसे ही—पर्याय है ही नहीं – ऐसा मान ले, तब तो एकान्त वेदान्त हो जाता है। वेदान्त निश्चयाभासी है ऐसा हो जायेगा और एकान्त पर्याय ही माने और द्रव्य नहीं माने तो एकान्त बौद्धमती हो जायेगा।

श्रोता : पर्याय को सर्वथा भेदरूप माने तो?

पूज्य गुरुदेवश्री : भेद है। द्रव्य से सर्वथा भेद है परन्तु है या नहीं उसमें? द्रव्य है, वह सर्वथा नित्य है और पर्याय है, वह सर्वथा अनित्य है, सर्वथा अनित्य है। यह क्या कहा? यह फिर नित्य... वस्तु जो है, वह सर्वथा नित्य है। कथंचित् नित्य है और कथंचित् अनित्य है – ऐसा नहीं है। और पर्याय है वह सर्वथा अनित्य है और कथंचित् अनित्य है – ऐसा नहीं है, सर्वथा अनित्य है। आहाहा! ए..ई.. चमनभाई! और उसमें आया है न? चिद्विलास में, नहीं? अनित्य, नित्य का निर्णय करता है। पर्याय ने ऐसा कहा, वहाँ आता है न, ३२० गाथा में कि 'मैं तो ध्रुव हूँ' परन्तु मैं ध्रुव हूँ, यह जाना किसने? यह पर्याय ने जाना। 'मैं ध्रुव हूँ' – ऐसा जानता कौन है? ध्रुव जानता है? पर्याय जानती है। आहाहा! पर्याय ऐसा कहती है 'मैं त्रिकाली ध्रुव, वह मैं हूँ।' इसका अर्थ दोनों साथ आ गये। ध्रुव मैं हूँ – ऐसा पर्याय ने जाना, इसलिए पर्याय आ गयी, परन्तु पर्याय ऐसा कहती है कि यह मैं हूँ। आहाहा!

श्रोता : पर्याय ऐसा कहती है कि मैं द्रव्य ही हूँ।

पूज्य गुरुदेवश्री : मैं द्रव्य हूँ–इसलिए पर्याय साथ आ गयी। मैं ध्रुव हूँ, उसमें पर्याय मिल नहीं गयी, परन्तु द्रव्य ऐसा नहीं, उसका लक्ष्य वहाँ है। इस कारण भी लक्ष्य जहाँ है, वहाँ पर्याय नहीं परन्तु पर्याय में यह मैं हूँ – ऐसी पर्याय में है वस्तु.. समझ में आता

है ? आहाहा ! ऐसा। वह तो सोगानी में आता है पर्याय मेरा ध्यान करे तो करो मैं किसका ध्यान करूँ ? परन्तु वह जानता कौन है ? आता है ? ये सब तुम्हारी लिखावट है। लालभाई और शशिभाई के, नहीं ?

श्रोता : पर्याय को साथ मिलाये बिना छुटकारा नहीं और पर्याय द्रव्य में नहीं ऐसा भी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसमें नहीं – वस्तु में नहीं। त्रिकाली जो निश्चय का विषय है उसमें नहीं, और वह नहीं ऐसा निर्णय कौन करता है ? नहीं, वह निर्णय ध्रुव करता है ? समझ में आया ? यह धर्म ऐसा है।

मैं त्रिकाली हूँ – ऐसा सम्यग्दर्शन करना। उस सम्यग्दर्शन का विषय पूर्ण एक ही है, तथापि सम्यग्दर्शन.. उसका निर्णय करती है वह पर्याय है। आहाहा ! ऐसा कहाँ ? अब अन्य तो 'इच्छामि पडिकमणं इरिया वहियाए गमणागमणे तस्सऊतरीकरणेणं हो गयी सामायिक तस्सऊतरी करणेणं' ए...ई... जयन्तीभाई संघवी ! यह सामायिक करके प्रौषध किया, अरे भगवान, बापू ! यह वीतराग त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव ने कहा द्रव्य और इनने कहा पर्याय, वह कोई अलौकिक बातें हैं। आहाहा ! एकान्त द्रव्य को ही मानें और पर्याय को न मानें तो निश्चयाभासी हो जायेगा और एकान्त पर्याय को माने और द्रव्य को न माने तो व्यवहाराभासी बौद्ध हो जायेगा, क्षणिक मत हो जायेगा। आहाहा ! यह यहाँ कहते हैं, **एक जीव का..** भाषा देखो ! वह एक राजा का समुदाय में व्यापना अशक्य है; वैसे एक जीव द्रव्य का–जो त्रिकाली है उसे, **समग्र (रागग्राम में व्याप्त होना अशक्य है;)..**

भाई ! उस ३८ गाथा में आया है न (शुद्धभाव अधिकार की) पहली गाथा–३८ वीं, नियमसार—'**जीवादिबहित्तच्चं हेय**' इन जीवादिबहित्तच्चं में जीव की पर्याय लेनी है। ३८ वीं गाथा है, शुद्धभाव अधिकार। शुद्धभाव कहो या ध्रुवभाव कहो, एकरूप त्रिकाली भगवान आत्मा, वह शुद्धभाव है। शुद्धभाव कहो, भूतार्थ कहो, ज्ञायक कहो, सदृश कहो, निष्क्रिय कहो, पर्यायरहित है और निष्क्रिय ! आहाहा !

यह '**जीवादिबहित्तच्चं हेय**' यह जीव की एक समय की पर्याय–राग–द्वेष आदि जीवादि वे हेय हैं। त्रिकाली जीवद्रव्य है, वह उपादेय है। जीवादि में पर्याय को वहाँ जीव तो कहा, समझ में आया ?

'**जीवादिबहित्तच्चं**' तो जीवादिबहित्तच्चं जीव द्रव्य वहाँ लेना अब ? एक समय की जीव की पर्याय उसे जीव कहा। अजीव का ज्ञान किया, उसे अजीव कहा। अजीव कहाँ यहाँ आ जाता है ? आहाहा! और यह पुण्य-पाप। पुण्य-पाप और आस्रव आदि की पर्याय, ये सब बहिरतत्त्व हैं। आहाहा! मोक्ष भी बहिरतत्त्व है; अन्त:तत्त्व में तो मोक्षतत्त्व भी नहीं है परन्तु फिर भी मोक्षतत्त्व, तत्त्वरूप से है। आहाहा! समझ में आया ? संवर, निर्जरा, मोक्ष का मार्ग, मार्गरूप से है, पर्यायरूप से है। मोक्षरूप से है। वहाँ तो ऐसा भी कहा कि जीवद्रव्य है, वह मोक्ष को नहीं करता। वह द्रव्य कौन ? वह ध्रुव! मोक्ष के मार्ग को भी द्रव्य / ध्रुव नहीं करता; बन्ध को नहीं करता और बन्ध के अभाव को नहीं करता, वह तो परिणाम करता है, उसका अंश द्रव्य से भिन्न करके वह करे - पर्याय करे तो करो मुझे क्या है ? आहाहा! कहो शशिभाई! यह तुमने लिखा है इसमें.. दो भाईयों ने मिलकर लिखा है। लालभाई और (शशिभाई) ने, इसमें मेहनत अच्छी की है भाई ने। आहाहा!

वहाँ भी ऐसा कहा है कि पर्याय है ही नहीं, इसमें ऐसा कहो तो वेदान्त हो जायेगा; इसलिए पर्याय है, इतना सिद्ध किया है। वहाँ आता है उसमें, वरना वेदान्त हो जायेगा। इसके लिये है, इसमें पर्याय है—इतना सिद्ध किया परन्तु वह पर्याय है, वह वस्तु का-द्रव्य का विषय है, सम्यग्दर्शन का विषय है या द्रव्य है, वह पर्याय में आ जाता है ? (ऐसा नहीं है) सम्यग्दर्शन में त्रिकाली द्रव्य की प्रतीति हुई, परन्तु प्रतीति में वह द्रव्य आ जाता है - ऐसा नहीं। आहाहा! ऐसी बातें!

पर्याय, पर्यायरूप से रहकर द्रव्य की प्रतीति होती है। आहाहा! वह पर्यायरूप से लो तो पर्याय ही सर्वस्व है, क्योंकि पर्याय ने द्रव्य को जाना, गुण को जाना, स्वयं को जाना, छह द्रव्य आदि जो हैं, उन्हें भी जाना। एक समय की पर्याय में क्या बाकी रह गया ? ज्ञान की पर्याय.. तथापि वह पर्याय, द्रव्यरूप नहीं, तथापि वह पर्याय,.. द्रव्य स्वयं द्रव्य वहाँ व्यापक है पर्याय में, ऐसा नहीं है। द्रव्य तो द्रव्य में है। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म है। आहाहा!

एक जीव का.. जीव अर्थात् वह त्रिकाल ऐसे जीव का, ध्रुव ऐसा '**जीवादिबहित्तच्चं**' है उस जीव का नहीं, वह तो पर्याय का जीव है। **एक जीव का..** जो त्रिकाली एकरूप

रहनेवाला है। आहाहा! ऐसे एक जीव का, **समग्र रागग्राम में..** समस्त राग के समूह के प्रकार, असंख्य प्रकार राग के-शुभ-अशुभ के, उनमें **व्याप्त होना अशक्य है;..** स्वभाव वस्तु है, वह विकार में कैसे व्याप्त हो? अरे, विकार में क्या, निर्विकारी पर्याय में भी ध्रुव कैसे व्याप्त हो? आहाहा! ऐसा है। **(समस्त) रागग्राम में व्याप्त होकर प्रवृत्त हो रहा है..** देखा? द्रव्य स्वयं पर्याय में व्याप्त होकर प्रवर्त रहा है—ऐसा कहना, वह एक जीव का समस्त राग में व्याप्त होना अशक्य है। ध्रुवद्रव्य, जो भगवान चैतन्य परमपारिणामिक -स्वभावभाव, वह पर्याय में आता नहीं। अब ऐसी सब भाषा! कहाँ की भाषा यह सब? सम्प्रदाय में कहीं सुनने को मिले ऐसा नहीं है। यह व्रत करो और तप करो और दया पालो, सामायिक करो और प्रौषध करो... मर गया कर-करके। राग की क्रिया है। रागरहित पूरा कौन है, उस जीवद्रव्य का तो पता नहीं होता। आहाहा!

अशक्य होने से, **व्यवहारीजनों का..** यह व्यवहारी लोगों का **अध्यवसानादिक अन्य भावों में जीव कहनेरूप व्यवहार है,..** आहाहा! तब वह कहता है 'समयसार' अभी बाहर आया है, विद्यानन्दजी हैं न? उन्होंने बनाया है, बनाया है बलभद्र ने, उनने कहा है कि व्यवहार साधक को होता है, निश्चय सिद्ध को होता है। फिर मेरे पास पत्र आया है कि स्वामीजी इसके लिये क्या कहते हैं? यह पुस्तक मैंने बनायी है। यहाँ नहीं न? नहीं। यह रहा यह। और भाई पूनमभाई लाये। ऐसा कि सबने महिमा की है मेरे पुस्तक की, स्थानकवासी ने, तेरापंथी ने, श्वेताम्बर ने और दिगम्बर ने.. परन्तु सबकी दृष्टि ही विपरीत है, वे इसकी महिमा करेंगे। निश्चय तो सिद्ध को होता है, इससे पहले साधक जीव को तो व्यवहार ही होता है। अरे! और उन्होंने दृष्टान्त क्या दिया है? उन जयसेन आचार्य की टीका में आता है न? व्यवहार जाना हुआ प्रयोजनवान है, उसमें आता है कि श्रावक को शुभभाव आदि और प्रमत्त और अप्रमत्त अवस्था है तब तक.. ऐसा करके.. तब ऐसा कि उसे व्यवहार ही होता है, उसे बस! परन्तु निश्चय स्व के आश्रय बिना पर्याय के भेद का व्यवहार आया कहाँ से? तब निश्चय सिद्ध को होता है... गजब कर डाला और यह विद्यानन्दस्वामी ने उसकी महिमा की, जिनकी सभा में दस-दस हजार लोग, बीस-बीस हजार लोग आते हैं। उसमें धूल में क्या चींटियों के नगर इकट्ठे हों। आहाहा!

यह तो तीन लोक का नाथ जिनेन्द्र परमेश्वर वीतराग की वाणी क्या है, उसका पता नहीं। आहाहा! यहाँ तो कहते हैं कि प्रभु! एक बार सुन! आहाहा! दूसरे प्रकार से कहें तो जो स्वरूप की दृष्टि हुई है, उसे भी पर्याय में व्यवहार है, वह व्यवहार जाननेयोग्य है। वह व्यवहारी जीव हुआ। क्या कहा? समझ में आया?

व्यवहार पर लक्ष्य हुआ और जाना, इसलिए वह व्यवहारी जीव हुआ। आहाहा! आठवीं गाथा में कहा है न, कि गुरु कहते हैं कि हमने तुझे समझाया कि आत्मा कौन? दर्शन-ज्ञान-चारित्र को '**अततिगच्छति**' प्राप्त हो वह आत्मा है परन्तु हम व्यवहार में विकल्प में आये हैं, इसलिए यह कहा परन्तु वह व्यवहार हमें भी अनुसरण करनेयोग्य नहीं, श्रोता को भी अनुसरण करनेयोग्य नहीं। कहा है न भाई? आहाहा! कहते हैं श्रोता को.. आहाहा! तथापि हमने जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र के भेद से 'यह आत्मा है'—ऐसा कहा तो श्रोता को भी उसके भेद पर आश्रय नहीं करना, आहाहा! उसे दृष्टि अभेद पर करना। आहाहा! और श्रोता को भी ३८ वीं गाथा में ऐसा लिया, ३८, अप्रतिबुद्ध-अज्ञानी था। उसे गुरु ने समझाया और वह समझा, पंचम काल का श्रोता, पंचम काल के गुरु ने उसे समझाया, यहाँ यह बात है। केवली ने कहा नहीं, इसमें नहीं लिया, इसमें गुरु ने समझाया है—ऐसा लेने जायें हम तो ऐसा कहते हैं - हम तो जो कहते हैं, वह बात है यहाँ। केवली कहते हैं, वह अभी कहाँ है हमारे पास। परन्तु गुरु ने उसे समझाया कि 'प्रभु! तेरा परमेश्वर पद अलौकिक भिन्न है।' आहाहा! वह पंचम काल का श्रोता फिर ऐसा कहता है आहाहा! 'हम तो दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमित हुए हैं, वह आत्मा है।' आहाहा! है न उसमें? भाई! वह श्रोता कहता है, हों! गुरु कहते हैं वह नहीं। गुरु ने तो समझाया इतना ही। श्रोता है, वह पंचम काल का श्रोता, आहाहा! वह अन्दर राग से भिन्न और पर से भिन्न जाना, दर्शन-ज्ञान-चारित्र हुआ, वह ऐसा कहता है कि मैं तो आत्मा हूँ और जो मैंने आत्मा जाना, वह अब हमारे अप्रतिहत है। पंचम काल का श्रोता ऐसा कहता है। गुरु कहते हैं और केवली कहते हैं, वह तो अलग बात। हमें यह जो भान हुआ है-अनुभव सम्यग्दर्शन-ज्ञान (हुआ है वह) गिरनेवाला नहीं है। भले ही हमें अभी केवली का विरह हो परन्तु हमारे आत्मा का विरह हमें नहीं है। आहाहा! चन्दुभाई! यह किसकी बात चलती है? श्रोता की। ऐसे तो श्रोता लिये हैं। आहाहा! हमारे श्रोता ऐसे होते हैं। आहाहा!

पाँचवीं (गाथा) में कहा न, कि हम विभक्त कहेंगे, वह प्रमाण करना प्रभु, हों! वह प्रमाण अनुभव करके करना - ऐसा कहा। पंचम काल के श्रोता को ऐसा कहा। आहाहा! उसे काल कहाँ बाधक है, वहाँ काल.. आहाहा! प्रमाण करना। ३८वीं में कहा हमने प्रमाण किया। आहाहा! हम आत्मा दर्शन-ज्ञान-चारित्र को प्राप्त हुए प्रभु! आहाहा! हम ऐसा कहते हैं कि यह हमारा मिथ्यात्व का नाश हुआ, हमें फिर से आनेवाला नहीं है, होनेवाला नहीं है—ऐसी हम पंचम काल के श्रोता भी पुकार करके कहते हैं। चन्दुभाई! आहाहा!

गजब बातें हैं बापू! अरेरे! समयसार अर्थात् क्या चीज भाई! आहाहा! केवलज्ञानी का विरह भुलाया है इसने! इसका एक-एक न्याय और एक-एक भाव, आहाहा! गजब है न! यहाँ वह श्रोता जो है, वह जब ज्ञान समझा है, भान (हुआ है), बाद में उसे रागादि है, वह व्यवहार में आया है, वह जाननेयोग्य है, ऐसा जाने। व्यवहारी अर्थात् यह ? भाई! आया था न, आठवीं (गाथा) में आचार्य ने कहा था, भाई! कि हम दो रथ को चलानेवाले-निश्चय-व्यवहार उसमें कहने के लिये हमें विकल्प उठा है, हम व्यवहार में आये हैं, जानते हैं भले, परन्तु आये हैं। आहाहा! तुम्हें समझाते हैं, वह व्यवहार और सुननेवाले भी विकल्प से सुनते हैं, वह भी व्यवहार। आहाहा! ऐसी बातें भाई! बापू! यह तो वीतराग परमात्मा..! आहाहा!

यहाँ से याद आया क्या ? कि अन्तरदर्शन निश्चय का हुआ, अब पर्याय में ज्ञान की ओर के लक्ष्यवाला है, वह व्यवहारी जीव है, वह व्यवहारी कहता है कि पर्याय में रागादि है, मैं जानता हूँ। आहाहा! आहाहा!

श्रोता : मेरी पर्याय में है - ऐसा जानता हूँ।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह पर्याय, पर्याय है, उसमें जानता हूँ। वह पर्याय मेरी अर्थात् ? वह द्रव्य की नहीं परन्तु पर्याय, पर्याय की है, उसमें वह मेरी है। आहाहा!

धन्य अवतार! आहाहा! ऐसी बातें हैं। प्रभु! ऐसी बातें कहाँ है ? आहाहा!

श्रोता : प्रभु का विरह भुलावे ऐसी..

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसी चीज है, प्रभु! क्या कहें ? **व्यवहारीजनों को..** व्यवहारी

अर्थात् इसमें क्या याद आया? समझ में आया? वह आठवीं में, कि हम विकल्प में व्यवहार में आये हैं। है तो समकिती मुनि, आहाहा! ऐसे यहाँ आत्मा का ज्ञान-स्व का चैतन्यमूर्ति निश्चय का हुआ है परन्तु अब उसे राग का ज्ञान करने के लिये लक्ष्य गया, वह व्यवहारी हुआ। सूक्ष्म पड़े प्रभु! परन्तु यह सुनने जैसा है। बापू! यह वीतराग का मार्ग है भाई! आहाहा! अरे! ऐसे काल में इस मनुष्य देह में यह नहीं समझे, प्रभु तो कब समझेगा, कहाँ जायेगा? आहाहा!

अध्यवसानादिक अन्य भावों में जीव कहने का व्यवहार है,.. रागादि मेरे हैं - ऐसा जानने का व्यवहार है। **परमार्थ से तो जीव एक ही है,..** निश्चय की दृष्टि में तो जो वस्तु आयी है, वह जीव एक ही है। आहाहा! कल बहुत आया था, कल भावार्थ में! भावार्थ में सब अवस्तु और वस्तु,.. पण्डित जयचन्द, पण्डित, पहले के पण्डित भी! आहाहा!

अब शिष्य पूछता है.. आयी अलौकिक गाथा ४९। देखो! यह दिन सब अच्छे आये और गाथा आयी ४९। यह गाथा प्रत्येक शास्त्र में हैं। समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, अष्टपाहुड़, धवल इत्यादि में यह गाथा है। कोई ऐसी गाथा है यह, प्रत्येक शास्त्र में जितने सिद्धान्त यह हैं, धवल में तो फिर एक ही जगह परन्तु धवल में भी यह गाथा है और जितने अध्यात्म के (शास्त्र) हैं—यह समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, अष्टपाहुड़ (पंचास्तिकाय) सब में हैं। आहाहा! **अब शिष्य पूछता है कि यह अध्यवसानादि भाव जीव नहीं हैं..** त्रिकाली वस्तु नहीं है **तो एक, टंकोत्कीर्ण,..** आहाहा! ऐसे भेद के प्रकार से रहित ऐसा एक टंकोत्कीर्ण शुद्धरूप, पवित्ररूप, भेदरहित, पर्याय में भंग भेदरहित—ऐसा जो भगवान आत्मा.. आहाहा! शिष्य इतना पूछता है तो इतना सुना इसलिए शिष्य को इतना पूछने का प्रयत्न आया, इतना तो तैयार हुआ। आहाहा! भाई! गये जमूभाई? है? बैठे हैं ठीक.. यह कहीं अपने आप पढ़े तो कुछ समझ में आवे ऐसा नहीं। सब है वह है। हमने मानो पढ़ा और समझ गये हैं। सूक्ष्म बातें बापू! बहुत सूक्ष्म बातें हैं। आहाहा! बहुत परिचय और अभ्यास होवे, तब इसे ख्याल में आवे कि क्या कहना चाहते हैं?

यह शिष्य पूछता है कि रागादिभाव हैं, वे जीव नहीं हैं... यहाँ तो अध्यवसान से लिया था। राग की एकताबुद्धि अध्यवसान-वहाँ से लिया है परन्तु एकताबुद्धि टूट गयी,

फिर भी रागादि रहे हैं, वह जीव का नहीं है तो **एक, टंकोत्कीर्ण, परमार्थस्वरूप जीव कैसा है ?** प्रभु! तब जीव कैसा है ? जीवद्रव्य जीव, हों! आहाहा! वह सम्यग्दर्शन का विषय परमात्मस्वरूप भगवान आत्मा नित्यानन्द प्रभु, जिनबिम्ब, जिनस्वरूप ऐसा जो आत्मा, आहाहा! परमार्थस्वरूप जीव कैसा है ? **उसका लक्षण क्या है ?** उसका लक्षण क्या है ? कि जिससे वह ज्ञात हो ? आहाहा! **इस प्रश्न का उत्तर कहते हैं।** लो, शुरुआत कर देते हैं। अन्दर ऊपर है संस्कृत **यद्येवं तर्हि किं लक्षणोऽसावेकष्टंकोत्कीर्णः परमार्थजीव इति पृष्टः प्राह–** अमृतचन्द्राचार्य स्वयं इस प्रकार शिष्य के मुख में प्रश्न रखते हैं। आहाहा!

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं।।४९।।

जीव चेतनागुण, शब्द-रस-रूप-गंध-व्यक्तिविहीन है।
निर्दिष्ट नहिं संस्थान उसका, ग्रहण नहिं है लिंग से।।४९।।

इसकी टीका आयेगी।　　　　　　　　　　　　(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा ४९

यद्येवं तर्हि किं लक्षणोऽसावेकष्टंकोत्कीर्णः परमार्थजीव इति पृष्टः प्राह–

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं।।४९।।

अरसमरूपमगंधमव्यक्तं चेतनागुणमशब्दम्।
जानीह्यलिंगग्रहणं जीवमनिर्दिष्टसंस्थानम्।।४९।।

यः खलु पुद्गलद्रव्यादन्यत्वेनाविद्यमानरसगुणत्वात्, पुद्गलद्रव्यगुणेभ्यो भिन्नत्वेन स्वयमरसगुणत्वात्, परमार्थतः पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावाद्द्रव्येन्द्रियावष्टंभेनारसनात्, स्वभावतः क्षायोपशमिकभावाभावाद्भावेन्द्रियावलंबेनारसनात् सकलसाधारणैकसंवेदन –परिणामस्वभावत्वात्केवलरसवेदनापरिणामापन्नत्वेनारसनात्, सकलज्ञेयज्ञायकतादात्म्यस्य निषेधाद्रसपरिच्छेदपरिणतत्वेपि स्वयं रसरूपेणापरिणमनाच्चारसः। तथा पुद्गलद्रव्या –दन्यत्वेनाविद्यमानरूपगुणत्वात्, पुद्गलद्रव्यगुणोभ्यो भिन्नत्वेन स्वयमरूपगुणत्वात्, परमार्थतः पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावाद्द्रव्येन्द्रियावष्टंभेनारूपणात्, स्वभावतः क्षायोपशमिकभावाभावाद्भावेन्द्रियावलंबेनारूपणात्, सकलसाधारणैकसंवेदनपरिणाम –स्वभावत्वात्केवलरूपवेदनापरिणामपन्नत्वेनारूपणात्, सकलज्ञेयाायकतादात्म्यस्य निषेधाद्रूपपरिच्छेदपरिणतत्वेपि स्वयं रूपरूपेणापरिणमनाच्चारूपः। तथा पुद्गलद्रव्या –दन्यत्वेनाविद्यमानगंधगुणत्वात्, पुद्गलद्रव्यगुणेभ्यो भिन्नत्वेन स्वयमगंधगुणत्वात्, परमार्थतः पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावाद्द्रव्येन्द्रियावष्टंभेनागंधनात्, स्वभावतः क्षायोपशमिकभावाभावाद्भावेन्द्रियावलंबेनागंधनात्, सकलसाधारणैकसंवेदनपरिणाम –स्वभावत्वात्केवलगंधवेदनापरिणामपन्नत्वेनागंधनात्, सकलज्ञेयज्ञायकतादात्म्यस्य निषेधाद्गन्धपरिच्छेदपरिणतत्वेपि स्वयं गंधरूपेणापरिणमनाच्चागंधः। तथा पुद्गलद्रव्यादन्य –त्वेनाविद्यमानस्पर्शगुणत्वात्, पुद्गलद्रव्यगुणेभ्यो भिन्नत्वेन स्वयमस्पर्शगुणत्वात्,

परमार्थत: पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावाद्द्रव्येन्द्रियावष्टंभेनास्पर्शनात्, स्वभावत: क्षायोपशमिकभावाभावाद्भावेंद्रियावलंबेनास्पर्शनात्, सकलसाधारणैकसंवेदनपरिणाम -स्वभावत्वात्केवलस्पर्शवेदनापरिणामापन्नत्वेनास्पर्शनात्, सकलज्ञेयज्ञायकतादात्म्यस्य निषेधात्स्पर्शपरिच्छेदपरिणतत्वेऽपि स्वयं स्पर्शरूपेणापरिणमनाच्चास्पर्श:। तथा पुद्गलद्रव्या -दन्यत्वेनाविद्यमानशब्दपर्यायत्वात्, पुद्गलद्रव्यपर्यायेभ्यो भिन्नत्वेन स्वयमशब्दपर्याय -त्वात्, परमार्थत: पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावाद्द्रव्येंद्रियावष्टंभेन शब्दाश्रवणात्, स्वभावात: क्षायोपशमिकभावाभावाद्भावेंद्रियावलंबेन शब्दाश्रवणात् सकलसाधारणैक -संवेदनपरिणामसवभावत्वात्केवलशब्दवेदनापरिणामापन्नत्वेन शब्दाश्रवणात्, सकलज्ञेय -ज्ञायकतादात्म्यस्य निषेधाच्छब्दपरिच्छेदपरिणतत्वेपि स्वयं शब्दरूपेणापरिणमनाच्चाशब्द:। द्रव्यांतरारब्धशरीरसंस्थानेनैव संस्थान इति निर्देष्टुमशक्यत्वात्, नियतसवभावेनानियत -संस्थानानंतशरीरवर्तित्वात्, संस्थाननामकर्मविपाकस्य पुद्गलेषु निर्दिश्यमानत्वात्, प्रतिविशिष्टसंस्थानपरिणतसमस्तवस्तुतत्त्वसंवलितसहजसंवेदनशक्तित्वेऽपि स्वयमखिल -लोकसंवलनशून्योपजायमाननिर्मलानुभूतितयात्यंतमसंस्थानत्वाच्चानिर्दिष्टसंस्थान:। षड्द्रव्यात्मकलोकाज्ज्ञेयाद्व्यक्तादन्यत्वात्, कषायचक्राद्भावकाद्व्यकतादन्यत्वात्, चित्सामान्यनिमग्नसमस्तव्यक्तित्वात्, क्षणिकव्यक्तिमात्राभावात्, व्यक्ताव्यक्तविमिश्र -प्रतिभासेपि व्यक्तास्पर्शत्वात्, स्वयमेव हि बहिरंत:स्फुटमनुभूयमानत्वेपि व्यक्तोपेक्षणेन प्रद्योतमानत्वाच्चाव्यक्त:। रसरूपगंधस्पर्शशब्दसंस्थानव्यक्तत्वाभावेपि स्वसंवेदनबलेन नित्यमात्मप्रत्यक्षत्वे सत्यनुमेयमात्रत्वाभावादलिंगग्रहण:। समस्तविप्रतिपत्तिप्रमाथिना विवेचकजनसमर्पितसर्वस्वेन सकलमपि लोकालोकं कवलीकृत्यात्यंतसौहित्यमंथरेणेव सकलकालमेव मनागप्यविचलितानन्यसाधारणतया स्वभावभूतेन स्वयमनुभूयमानेन चेतनागुणेन नित्यमेवांत:प्रकाशमानत्वात् चेतनागुणश्च। च खलु भगवानमलालोक इहैकष्टंकोत्कीर्ण: प्रत्यग्ज्योतिर्जीव:।

अब शिष्य पूछता है कि यह अध्यवसानादि भाव जीव नहीं हैं तो एक, टंकोत्कीर्ण, परमार्थस्वरूप जीव कैसा है ? उसका लक्षण क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर कहते हैं:—

जीव चेतनागुण, शब्द-रस-रूप-गंध-व्यक्तिविहीन है।
निर्दिष्ट नहिं संस्थान उसका, ग्रहण नहिं है लिंग से ॥४९॥

गाथार्थ - हे भव्य! तू [जीवम्] जीव को [अरसम्] रससहित, [अरूपम्]

रूपरहित, [अगन्धम्] गन्धरहित, [अव्यक्तम्] अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियगोचर नहीं ऐसा, [चेतनागुणम्] चेतना जिसका गुण है, ऐसा, [अशब्दम्] शब्दरहित, [अलिंगग्रहणं] किसी चिह्न से ग्रहण न होनेवाला और [अनिर्दिष्टसंस्थानम्] जिसका कोई आकार नहीं कहा जाता ऐसा [जानीहि] जान।

टीका - जीव निश्चय से पुद्गलद्रव्य से भिन्न है, इसलिए उसमें रसगुण विद्यमान नहीं है; अतः वह अरस है ॥१ ॥ पुद्गलद्रव्य के गुणों से भी भिन्न होने से स्वयं भी रसगुण नहीं है, इसलिए अरस है ॥२ ॥ परमार्थ से पुद्गलद्रव्य का स्वामित्व भी उसके नहीं है, इसलिए वह द्रव्येन्द्रिय के आलम्बन से भी रस नहीं चखता; अतः अरस है ॥३ ॥ अपने स्वभाव की दृष्टि से देखा जाय तो उसके क्षायोपशमिकभाव का भी अभाव होने से वह भावेन्द्रिय के आलम्बन से भी रस नहीं चखता, इसलिए अरस है ॥४ ॥ समस्त विषयों के विशेषों में साधारण ऐसे एक ही संवेदनपरिणामरूप उसका स्वभाव होने से वह केवल एक रसवेदना-परिणाम को पाकर रस नहीं चखता, इसलिए अरस है ॥५ ॥ (उसे समस्त ज्ञेयों का ज्ञान होता है परन्तु) सकल ज्ञेयज्ञायक के तादात्म्य का (एकरूप होने का) निषेध होने से रस के ज्ञानरूप में परिणमित होने पर भी स्वयं रसरूप परिणमित नहीं होता, इसलिए अरस है ॥६ ॥ इस प्रकार छह तरह के रस के निषेध से वह अरस है।

इस प्रकार, जीव वास्तव में पुद्गलद्रव्य से अन्य होने के कारण उसमें रूपगुण विद्यमान नहीं है, इसलिए अरूप है ॥१ ॥ पुद्गलद्रव्य के गुणों से भी भिन्न होने के कारण स्वयं भी रूपगुण नहीं है, इसलिए अरूप है ॥२ ॥ परमार्थ से पुद्गलद्रव्य का स्वामीपना भी उसे नहीं होने से द्रव्येन्द्रिय के आलम्बन द्वारा भी रूप नहीं देखता, इसलिए अरूप है ॥३ ॥ अपने स्वभाव की दृष्टि से देखने में आवे तो क्षायोपशमिक भाव का भी उसे अभाव होने से वह भावेन्द्रिय के आलम्बन द्वारा भी रूप नहीं देखता, इसलिए अरूप है ॥४ ॥ सकल विषयों के विशेषों में साधारण ऐसे एक ही संवेदनपरिणामरूप उसका स्वभाव होने से वह केवल एक रूपवेदनापरिणाम को प्राप्त होकर रूप नहीं देखता, इसलिए अरूप है ॥५ ॥ (उसे समस्त ज्ञेयों का ज्ञान होता है परन्तु) सकल ज्ञेयज्ञायक के तादात्म्य का निषेध होने से रूप के ज्ञानरूप परिणमित होने पर भी स्वयं रूप, रूप से नहीं परिणमता, इसलिए अरूप है ॥६ ॥ इस तरह छह प्रकार से रूप के निषेध से वह अरूप है।

इस प्रकार, जीव वास्तव में पुद्गलद्रव्य से अन्य होने के कारण उसमें गन्धगुण विद्यमान नहीं है, इसलिए अगन्ध है ॥१ ॥ पुद्गलद्रव्य के गुणों से भी भिन्न होने के कारण स्वयं भी गन्धगुण नहीं है, इसलिए अगन्ध है ॥२ ॥ परमार्थ से पुद्गलद्रव्य का स्वामीपना भी उसे नहीं होने से वह द्रव्येन्द्रिय के आलम्बन द्वारा भी गन्ध नहीं सूँघता, इसलिए अगन्ध है ॥३ ॥ अपने स्वभाव की दृष्टि से देखने में आवे तो क्षायोपशमिकभाव का भी उसे अभाव होने से वह भावेन्द्रिय के आलम्बन द्वारा भी गन्ध नहीं सूँघता; अतः अगन्ध है ॥४ ॥ सकल विषयों के विशेषों में साधारण ऐसे एक ही संवेदनपरिणामरूप उसका स्वभाव होने से वह केवल एक गंधवेदनापरिणाम को प्राप्त होकर गन्ध नहीं सूँघता, अतः अगन्ध है ॥५ ॥ (उसे समस्त ज्ञेयों का ज्ञान होता है परन्तु) सकल ज्ञेयज्ञायक के तादात्म्य का निषेध होने से गन्ध के ज्ञानरूप परिणमित होने पर भी स्वयं गन्धरूप नहीं परिणमता, अतः अगन्ध है ॥६ ॥ इस तरह छह प्रकार से गन्ध के निषेध से वह अगन्ध है।

इस प्रकार जीव वास्तव में पुद्गलद्रव्य से अन्य होने के कारण उसमें स्पर्शगुण विद्यमान नहीं है, इसलिए अस्पर्श है ॥१ ॥ पुद्गलद्रव्य के गुणों से भी भिन्न होने के कारण स्वयं भी स्पर्शगुण नहीं है, अतः अस्पर्श है ॥२ ॥ परमार्थ से पुद्गलद्रव्य का स्वामीपना भी उसे नहीं होने से वह द्रव्येन्द्रिय के आलम्बन द्वारा भी स्पर्श को नहीं स्पर्शता, अतः अस्पर्श है ॥३ ॥ अपने स्वभाव की दृष्टि से देखने में आवे तो क्षायोपशमिक-भाव का भी उसे अभाव होने से वह भावेन्द्रिय के आलम्बन द्वारा भी स्पर्श को नहीं स्पर्शता, अतः अस्पर्श है ॥४ ॥ सकल विषयों के विशेषों में साधारण ऐसे एक ही संवेदनपरिणामरूप उसका स्वभाव होने से वह केवल एक स्पर्शवेदनापरिणाम को प्राप्त होकर स्पर्श को नहीं स्पर्शता, अतः अस्पर्श है ॥५ ॥ (उसे समस्त ज्ञेयों का ज्ञान होता है परन्तु) सकल ज्ञेयज्ञायक के तादात्म्य का निषेध होने से स्पर्श के ज्ञानरूप परिणमित होने पर भी स्वयं स्पर्शरूप नहीं परिणमता; अतः अस्पर्श है ॥६ ॥ इस तरह छह प्रकार से स्पर्श के निषेध से वह अस्पर्श है।

इस प्रकार, जीव वास्तव में पुद्गलद्रव्य से अन्य होने के कारण उसमें शब्दपर्याय विद्यमान नहीं है, अतः अशब्द है ॥१ ॥ पुद्गलद्रव्य की पर्यायों से भी भिन्न होने के कारण स्वयं भी शब्दपर्याय नहीं है, अतः अशब्द है ॥२ ॥ परमार्थ से पुद्गलद्रव्य का

स्वामीपना भी उसे नहीं होने से वह द्रव्येन्द्रिय के आलम्बन द्वारा भी शब्द नहीं सुनता, अत: अशब्द है ॥३॥ अपने स्वभाव की दृष्टि से देखने में आवे तो क्षायोपशमिक भाव का भी उसे अभाव होने से वह भावेन्द्रिय के आलम्बन द्वारा भी शब्द नहीं सुनता, अत: अशब्द है ॥४॥ सकल विषयों के विशेषों में साधारण ऐसे एक ही संवेदनपरिणामरूप उसका स्वभाव होने से वह केवल एक शब्दवेदनापरिणाम को प्राप्त होकर शब्द नहीं सुनता, अत: अशब्द है ॥५॥ (उसे समस्त ज्ञेयों का ज्ञान होता है परन्तु) सकल ज्ञेयज्ञायक के तादात्म्य का निषेध होने से शब्द के ज्ञानरूप परिणमित होने पर भी स्वयं शब्दरूप नहीं परिणमता, अत: अशब्द है ॥६॥ इस तरह छह प्रकार से शब्द के निषेध से वह अशब्द है।

(अब 'अनिर्दिष्टसंस्थान' विशेषण को समझाते हैं —) पुद्‌गलद्रव्यरचित शरीर के संस्थान (आकार) से जीव को संस्थानवाला नहीं कहा जा सकता; इसलिए जीव अनिर्दिष्टसंस्थान है ॥१॥ अपने नियत स्वभाव से अनियत संस्थानवाले अनन्त शरीरों में रहता है, इसलिए अनिर्दिष्टसंस्थान है ॥२॥ संस्थान नामकर्म का विपाक (फल) पुद्‌गलों में ही कहा जाता है (इसलिए उसके निमित्त से भी आकार नहीं है) इसलिए अनिर्दिष्टसंस्थान है ॥३॥ भिन्न-भिन्न संस्थानरूप से परिणमित समस्त वस्तुओं के स्वरूप के साथ जिसकी स्वाभाविक संवेदनशक्ति सम्बन्धित (अर्थात् तदाकार) है, ऐसा होने पर भी जिसे समस्त लोक के मिलाप से (सम्बन्ध से) रहित निर्मल (ज्ञानमात्र) अनुभूति हो रही है, ऐसा होने से स्वयं अत्यन्तरूप से संस्थान रहित है, इसलिए अनिर्दिष्टसंस्थान है ॥४॥ इस प्रकार चार हेतुओं से संस्थान का निषेध कहा।

(अब 'अव्यक्त' विशेषण को सिद्ध करते हैं—) छह द्रव्यस्वरूप लोक जो ज्ञेय है और व्यक्त है, उससे जीव अन्य है, इसलिए अव्यक्त है ॥१॥ कषायों का समूह जो भावकभाव व्यक्त है, उससे जीव अन्य है, इसलिए अव्यक्त है ॥२॥ चित्सामान्य में चैतन्य की समस्त व्यक्तियाँ निमग्न (अन्तर्भूत) हैं, इसलिए अव्यक्त है ॥३॥ क्षणिक व्यक्तिमात्र नहीं है, इसलिए अव्यक्त है ॥४॥ व्यक्तता और अव्यक्तता एकमेक मिश्रितरूप से प्रतिभासित होने पर भी वह केवल व्यक्तता को ही स्पर्श नहीं करता इसलिए अव्यक्त है ॥५॥ स्वयं अपने से ही बाह्याभ्यन्तर स्पष्ट अनुभव में आ रहा है,

तथापि व्यक्तता के प्रति उदासीनरूप से प्रकाशमान है, इसलिए अव्यक्त है ॥६ ॥ इस प्रकार छह हेतुओं से अव्यक्तता सिद्ध की है।

इस प्रकार रस, रूप, गन्ध, स्पर्श, शब्द, संस्थान और व्यक्तता का अभाव होने पर भी स्वसंवेदन के बल से स्वयं सदा प्रत्यक्ष होने से अनुमानगोचरमात्रता के अभाव के कारण (जीव को) अलिंगग्रहण कहा जाता है।

अपने अनुभव में आनेवाले चेतनागुण के द्वारा सदा अन्तरंग में प्रकाशमान है, इसलिए (जीव) चेतनागुणवाला है। चेतनागुण कैसा है ? जो समस्त विप्रतिपत्तियों को (जीव को अन्य प्रकार से माननेरूप झगड़ों को) नाश करनेवाला है, जिसने अपना सर्वस्व भेदज्ञानी जीवों को सौंप दिया है, जो समस्त लोकालोक को ग्रासीभूत करके मानों अत्यन्त तृप्ति से उपशान्त हो गया हो, इस प्रकार (अर्थात् अत्यन्त स्वरूप-सौख्य से तृप्त-तृप्त होने के कारण स्वरूप में से बाहर निकलने का अनुद्यमी हो इस प्रकार) सर्व काल में किंचित्मात्र भी चलायमान नहीं होता और इस तरह सदा ही लेशमात्र भी नहीं चलित ऐसी अन्य द्रव्य से असाधारणता होने से जो (असाधारण) स्वभावभूत है।

— ऐसा चैतन्यरूप परमार्थस्वरूप जीव है। जिसका प्रकाश निर्मल है ऐसा यह भगवान इस लोक में एक, टंकोत्कीर्ण, भिन्न ज्योतिरूप विराजमान है।

प्रवचन नं. १२२ गाथा-४९, दिनाङ्क ३०-१०-१९७८, सोमवार
आसोज कृष्ण १४, वीर निर्वाण संवत् २५०४

समयसार, गाथा ४९। गाथा तो चल गयी है।

टीका - जो यह जीव है, ज्ञानानन्द सहजात्मस्वरूप, यह है वह **निश्चय से पुद्गलद्रव्य से भिन्न है..** यह पुद्गलद्रव्य से अन्य होने से, भगवान आत्मा..

श्रोता : निश्चय से अर्थात् क्या ?

पूज्य गुरुदेवश्री : निश्चय से अर्थात् यथार्थ। निमित्तरूप से सम्बन्ध है, व्यवहाररूप से सम्बन्ध है; परमार्थ से वह है नहीं - ऐसा कहना है। सर्व सम्बन्ध निषिद्ध, २०० कलश

में है। ऐसा तो आ गया न कल, व्यवहार से जीव को (और) शरीर को निमित्त-निमित्त सम्बन्ध है, कर्म को और जीव को भी निमित्त-निमित्त सम्बन्ध है, वह व्यवहार है, वह जानना / ज्ञान करनेयोग्य है, परन्तु वह आदरणीय नहीं है; आहाहा! आदरणीय तो यह भगवान आत्मा.. आहाहा! जीव है। पहले तो अस्ति सिद्ध की है।

भगवान आत्मा ज्ञायकस्वरूप.. यह तो जब इन्द्रों ने भगवान की स्तुति की है, तब तो एक हजार आठ नाम से उन्हें पुकारा है। एक हजार आठ! यह कहकर भी ऐसा कहा कि यह तो सामान्य बात है, वरना आप तो अनन्त गुणों से (शोभायमान हो)। आहाहा! यह तो ऐसा जीव है। एक हजार आठ नाम के लक्षण दिये हैं, आदिपुराण में (दिये हैं)। आदिपुराण निकाला था, दूसरे में है परन्तु तीनों ही अलग हैं। एक हजार आठ नाम जिनसेनाचार्य के हैं, एक हजार आठ नाम आशाधर के हैं, एक हजार आठ नाम हेमचन्द्राचार्य के हैं, बहुत करके तीन हैं या पाँच हैं। दूसरे एक दो हों तो पता नहीं। बनारसीदास के थोड़े नाम हैं इसमें, नाम ऐसे हैं एक पुस्तक अलग है परन्तु वह तो भाई ने—हिम्मतभाई ने कहा था परन्तु हाथ आया नहीं। आहाहा!

प्रभु! आपके एक हजार आठ नाम, आत्मा ज्ञान सम्पन्न है, दर्शन सम्पन्न है, आनन्द सम्पन्न है, जीवत्वशक्ति सम्पन्न है, चिति-दृशि, ज्ञान, सैंतालीस शक्ति आहाहा! ऐसा भगवान आत्मा अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. ऐसे गुणों से सम्पन्न है, उसमें एक-एक गुण से कहे तो अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. (गुण) होते हैं। आहाहा! ऐसा यह जीव है, ऐसा अभी पहले सिद्ध करते हैं। आहाहा!

भगवान आत्मा अनन्त-अनन्त जीवत्वशक्ति सम्पन्न, अनन्त-अनन्त चितिशक्ति सम्पन्न, अनन्त-अनन्त दृशिशक्ति, ज्ञानशक्ति, सुखशक्ति, वीर्यशक्ति, प्रभुशक्ति, विभुत्वशक्ति, सर्वदर्शि, सर्वज्ञ इत्यादि अनन्त-अनन्त जिनकी सामर्थ्य है—ऐसे अनन्त शक्ति सम्पन्न प्रभु वह जीव है। अभी इतनी बात की है। आहाहा! समझ में आया?

जीव है अर्थात् जीव कहो या आत्मा कहो। आहाहा! दूसरों में ऐसा है कि आत्मा तो निर्लेप है परन्तु जीव को अन्तरकर्म सहित दोष है, ऐसे दो भिन्न करते हैं - ऐसा नहीं है। आहाहा! यह तो पहली अपनी जीवत्वशक्ति निकाली है न भाई! पहले जीवत्वशक्ति

निकाली है न पहली ! क्योंकि '**जीवो चरित्रदर्शनज्ञानठिदो**' वहाँ से उठाया है। दूसरी गाथा में कहा है। आहाहा ! क्या शैली प्रभु की ! यह तेरी शैली क्या ? '**जीवो**'—दूसरी गाथा '**चरित्रदर्शनणाणठिद्दो**' उसमें से पहली जीवत्वशक्ति निकाली है ! भगवान आत्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, और अनन्त सत्ता से जिसका-प्रभु का जीवन है.. आहाहा ! ऐसी जीवत्वशक्ति, ऐसी चितिशक्ति... देखो ! इन सबमें ज्ञान तो सबमें आयेगा। जीवत्व में भी ज्ञान आया - दर्शन आनन्द, चिति में भी ज्ञान और दर्शन दोनों आये। प्रभु ! तू तो चितिशक्ति सम्पन्न है न प्रभु ! जीव है वह चिति, दर्शन, ज्ञान का पिण्ड प्रभु वह चितिशक्ति है, आहाहा ! फिर उसके भेद किये। दर्शनशक्ति, फिर ज्ञानशक्ति। देखो ! फिर आया जीवत्व में दर्शनज्ञान आया था, चिति में दर्शनज्ञान आया था, फिर दर्शन और ज्ञान भिन्न किये। आहाहा !

पश्चात् वीर्यशक्ति, प्रभुत्वशक्ति, परन्तु यह प्रभुत्वशक्ति भी जीव है, ऐसे जो अनन्त गुण हैं, उनमें एक-एक (प्रत्येक) शक्ति का रूप है, ऐसा जीव है। आहाहा ! यह पहली जीव है, उसकी व्याख्या चलती है। फिर तो नहीं उसमें अर्थात् 'नास्ति' ऐसा कहते हैं। आहाहा ! भगवान आत्मा अनन्त.. अनन्त ज्ञान, दर्शनसहित चिति, दर्शि, ज्ञानसहित, प्रभुत्व-विभुत्व सहित और यह प्रभुत्वशक्ति भी अनन्त शक्ति में इसका रूप है और प्रत्येक शक्ति प्रभुत्वशक्तिस्वरूप है। आहाहा ! ऐसी विभुत्वशक्ति, सर्वदर्शीशक्ति, उसमें फिर दर्शन आया। सर्वज्ञशक्ति में ज्ञान आया, स्वच्छत्वशक्ति में ज्ञान आया, प्रकाशशक्ति में वापस स्वसंवेदनज्ञान.. आहाहा ! ऐसे अनन्त-अनन्त गुण असंकुचित, अकार्यकारणशक्ति अनन्त, परिणम्य-परिणाम्यशक्ति अनन्त, त्याग-उपादानशून्यत्वशक्ति अनन्त, अगुरुलघुगुणशक्ति अनन्त, उत्पादव्ययध्रुवशक्ति अनन्त—प्रत्येक शक्ति में अनन्त का रूप, इसलिए अनन्त—ऐसा कहा। आहाहा !

ऐसे अगुरुलघुशक्ति अनन्त, आहाहा ! उत्पादव्ययशक्ति अनन्त, अस्तित्वपरिणाम की शक्ति अनन्त, इसमें एक-एक में अनन्त का रूप, ओहो ! ऐसा जीव है, यहाँ तो कहते हैं। अमूर्तशक्ति अनन्त, अकर्तृत्वशक्ति अनन्त, अभोक्तृत्वशक्ति अनन्त। एक-एक शक्ति में वापस प्रत्येक में अकर्तृत्वपना-अभोक्तृत्वपना प्रत्येक गुण के रूप में है। आहाहा !

भगवान तो अनन्त गुण का सागर, अनन्त-अनन्त गुण परन्तु वे अनन्त-अनन्त जिसका अन्त नहीं इतने गुण, परन्तु उन अनन्त गुण का एक-एक गुण में उनका रूप सब। आहाहा! अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. अनन्त गुण हैं। इतने अनन्तानन्त, जिनका वापस अन्त नहीं, इसके इतने गुणों का एक-एक गुण में उनका रूप। ओहोहो! एक गुण उसमें नहीं—एक गुण में दूसरा गुण नहीं—परन्तु गुण का स्वरूप अन्दर है। जैसे कि कर्तृत्वगुण है परन्तु अन्दर कर्तृत्वगुण नहीं परन्तु कर्तृत्व नाम का उसमें रूप है! आहाहा! एक-एक ज्ञान, एक-एक दर्शन, एक-एक आनन्द, ऐसे अनन्त गुण में एक-एक गुण में अनन्त-अनन्त का रूप। आहाहा! ऐसा जीव है।

श्रोता : ऐसा तो छहों में है द्रव्य।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा है! इसलिए ऐसा कहते हैं ऐसा है। अब पर से नहीं, वह स्व से है, ऐसे गुणों से। आहाहा! अरे! यहाँ तो दृष्टि का विषय जो जीव है, उसे पहले वर्णन किया है। आहाहा! जीव है, उसमें बड़ी व्याख्या बहुत है। यह थोड़ी-थोड़ी ली है, आहाहा! बाकी तो जीव है। आहाहा!

श्रोता : 'जीव' दो अक्षर में अनन्त भरा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अनन्त। 'जगत' तीन अक्षर में तीनों एकाकार हैं। 'ज..' 'ग..' 'त..' जगत में कितना भरा है! अनन्त निगोद, अनन्त सिद्ध, आहाहा! अनन्त द्रव्य, अनन्त गुण, अनन्त पर्याय, जगत... 'ज' 'ग' ज के बाद झ। क ख ग 'ग' तीसरा आता है यह उसमें—पाँच बोल में पहला 'ज', क ख ग घ फिर ज आता है न, पहले ज और फिर तीसरा ग के बाद वे त थ द ध न में पहला त, पाँच-पाँच बोल हैं न! आहाहा! 'जगत' तीन अक्षर में तो चौदह ब्रह्माण्ड / लोकालोक जगत शब्द में आ जाता है। आहाहा! ऐसे जीव है उसमें। भाई! हमारे चन्दुभाई कहते हैं, दो अक्षर है। 'जीव' दो अक्षर हैं। 'है' यह उसका विशेषण हुआ। आहाहा!

'जीव' भगवान परमानन्द का नाथ, अनन्त-अनन्त गुणों में एक-एक गुण में अनन्त-अनन्त गुणों का रूप। विशेष वर्णन किया है उसमें, 'अध्यात्म पंच संग्रह' है न! उसमें पीछे बहुत वर्णन किया है भाई ने, अपने को तो बहुत पकड़ में नहीं आये इतना वर्णन

किया है। आहाहा! भाई ने–दीपचन्दजी ने। गुण और उसका रूप और उसमें तत्त्व और विशेष उसके प्रकार पाड़–पाड़कर उसके एक–एक गुण में अनन्त–अनन्त शक्ति का वर्णन किया है। एक–एक गुण में, हों! यहाँ पुस्तक नहीं? अध्यात्म पंच संग्रह है। दीपचन्दजी कृत। परन्तु उन्होंने तो गजब काम किया है। शक्ति के वर्णन का विस्तार उन्होंने जैसा किया है, वैसा अन्यत्र कहीं नहीं है। इतनी–इतनी शक्ति का वर्णन उन्होंने पंच संग्रह में किया है। आहाहा! यहाँ तो वर्णन करना है जीव–जीव–जीव है। आहाहा! वह अनन्त अनन्त गुणों का स्वरूप प्रभु ऐसा जीव है, प्रभु! आहाहा! वह, है वह! आहाहा! भगवान यह तेरे घर की बात है। आहाहा! वास्तव में निमित्त से सम्बन्ध हो तो वह कहीं वास्तविक वस्तु नहीं है। वास्तव में पुद्गलद्रव्य से अर्थात् जड़ द्रव्य से रजकण हैं, पुद्गल द्रव्य से अर्थात् जड़ द्रव्य से जो पुद्गल के अनन्त रजकण हैं उनसे वह अन्य होने से–द्रव्य से अन्य होने से–पहला शब्द यह है। फिर दूसरा आयेगा गुण से अन्य होने से। आहाहा!

जो जीवद्रव्य है वह **पुद्गलद्रव्य से भिन्न है, इसलिए उसमें रसगुण विद्यमान नहीं है..** क्योंकि पुद्गल का, पुद्गलद्रव्य से भिन्न है, इसलिए इसके – आत्मा में रसगुण नहीं है। वर्ण, गंध, स्पर्श न लेकर पहले यह (रस) क्यों लिया? आहाहा! भगवान अतीन्द्रिय आनन्द का रस प्रभु है। आहाहा! भाई! यह जयसेनाचार्य की टीका है न...

निज निर्विकल्प समाधि संजात उत्पन्न स्वानुभूति—ऐसी जो स्वानुभूति गिरिगुफा, उस स्वानुभूतिरूप गिरिगुफा में प्रवेश करके... यह गिरिगुफा में वह बाहर की बात है। आहाहा! समझ में आया? है यहाँ, पुस्तक नहीं? समयसार नहीं, देखो! ४९ गाथा देखो! यहाँ तो बहुत बार बात आ गयी है। भगवान आत्मा पूर्णानन्द का नाथ उपादेयरूप से दृष्टि में लेकर, आहाहा! '**मत्वा**' ऐसा जानकर, निर्विकल्प / विकल्परहित प्रभु, निर्मोह / मोहरहित प्रभु, निरंजन – जिसका कोई अंजन नहीं, मेल–आवरण नहीं, निज शुद्धात्म, निज शुद्धात्मा अपना जो शुद्ध आत्मा त्रिकाली, उसकी समाधि संजात–उसके आश्रय से समाधि अर्थात् आनन्द की उत्पत्ति हुई। 'समाधि' लोगस्स में आता है न 'समाधिवर मुत्तमंदन्तु' लोगस्स में आता है परन्तु इसके अर्थ का कहाँ पता है? गाड़ी हाँक रखते हैं (पाठ रटा करते हैं)। यहाँ तो निर्विकल्प समाधि शान्ति जो आनन्द–अतीन्द्रिय समाधि

आनन्द, उससे संजात सुखामृत से उत्पन्न हुआ सुखरूपी अमृत-उसकी जो रसानुभूति-अनुभूति का रस का अनुभव '**ऐवे लक्षणे गिरिगृहा गुहरे**'—ऐसे लक्षणवाली गिरिगुफा में प्रवेश करके... पत्थर की गिरिगुफा में नहीं। आहाहा!

ऐसी सूक्ष्म बातें हैं, बापू! आहाहा! स्वानुभूति, सुखामृत रसानुभूति लक्षण आनन्द का नाथ, उसकी अनुभूतिरूपी रसायन, अरस-उसमें प्रवेश करके-गिरिगुफा में प्रवेश किया। आहाहा! '**सर्वतात्पर्यम धातुयं**' सर्वतात्पर्य का तात्पर्य उसे ध्यान करना, उसे ध्याना। गिरिगुफा आता है। समझ में आया? आहाहा!

ऐसा जो जीव भगवान है, वह **पुद्गलद्रव्य से भिन्न है; इसलिए उसमें रसगुण विद्यमान नहीं है, अतः** प्रभु **अरस है**। अनुभूति के रस की अपेक्षा से इस रसरहित है ऐसा कहा, उसमें आया न अनुभूति।

श्रोता : छह द्रव्यों में से अकेले पुद्गलद्रव्य के साथ ही क्यों कहा?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह फिर दूसरा डाल देंगे। यह मूल तो उसके साथ दिक्कत है न? दिखता है और उसके साथ पूरा सम्बन्ध है। अन्य दिखते नहीं—धर्म, अधर्म, आकाश, काल। आहाहा! देखो न! बेचारे खीमचन्दभाई असाध्य में पड़े हैं। बाह्य असाध्य, हों! वह असाध्य, वह तो फिर अलग चीज। ऐसा का ऐसा पड़ा है। भगवान! पुद्गलद्रव्य के इससे अधिक सम्बन्ध तो वह है न? यह शरीर मैं हूँ, वाणी मैं हूँ और मन मैं हूँ, मन-वचन-काया, कृत-कारित-अनुमोदना से भगवान तो रहित है। भावना में आता है, अन्त में बन्ध अधिकार और सर्वविशुद्ध में। तात्पर्य आता है, पूरा बड़ा अधिकार है। बहुत बार कहा गया है।

मैं तो पुद्गलद्रव्य से अन्यद्रव्य होने से उसका रसगुण मुझमें नहीं। मेरा आत्मा तो आनन्दरस है-ऐसा कहते हैं। मैं तो अतीन्द्रिय आनन्दरसमय जीव हूँ। आहाहा! यह जो पुद्गल का रसगुण है, वह मुझमें नहीं है-एक बात। यह रस पहले क्यों लिया, यह आया। अनुभूति के आनन्द के रस से यह रस नहीं इसमें, ऐसा है। आहाहा!

अरेरे! देह छूटने के काल में इसने देह और अपना एकत्व माना होगा.. आहाहा! वे लड़के नीम की डालियों में खेलते हैं, वहाँ नीम को छूकर (खेलते हैं)। वह वनस्पति

है, उसे दु:ख होता है, हाथ लगे तो असंख्य जीव मर जाते हैं। यदि नीम की डालियों को छूकर घूमते हैं, चक्कर मारते हैं। उन्हें पता नहीं, यहाँ सुनने आये और वनस्पति को.. खेलते हैं चारों ओर। बड़ी डालियाँ.. देखो, चक्कर मारते हैं। पागलपन है कुछ.. अब आये हैं सोनगढ़! नीम को एक हाथ लगाने पर असंख्य जीव मर जाते हैं। तुरन्त ही पत्तों को छूने से असंख्य जीव मर जाते हैं। आहाहा! वास्तव में वे छूते नहीं, परन्तु उस समय उन्हें जीव को छूटने का प्रसंग हो, तब वह निमित्त ऐसा होता है। आहाहा!

दूसरा बोल—यह रस क्यों लिया? - इसका अर्थ किया। भगवान आत्मा का अतीन्द्रिय आत्मा का अनुभूति रस है, उसे जीव कहते हैं। ऐसे इस पुद्गल का पुद्गलद्रव्य से अन्य होने से, पुद्गलद्रव्य का रसगुण इसमें नहीं है। आत्मा के आनन्द का रस इसमें है। आहाहा! कठिन बातें भाई! आहाहा!

दूसरा—**पुद्गलद्रव्य के गुणों से..** लिया। पहला द्रव्य से लिया था। **पुद्गलद्रव्य के गुणों से भी भिन्न..** भी है न वापस भी - पुद्गलद्रव्य से अन्य होने से रसगुण नहीं है और **पुद्गलद्रव्य के गुणों से भी..** एक-एक अक्षर.. वह **भिन्न होने से स्वयं भी..** स्वयं भी ऐसा। आहाहा! है न? **रसगुण नहीं है..** पुद्गलद्रव्य के गुणों से भगवान आत्मा भिन्न होने से। भगवान स्वयं भी रसगुण नहीं है इसमें। आहाहा! है? स्वयं भी रसगुण नहीं है। **इसलिए अरस है**। आहाहा!

(तीसरा बोल—) **परमार्थ से पुद्गलद्रव्य का स्वामित्व भी उसके नहीं है,** आहाहा! **इसलिए वह द्रव्येन्द्रिय..** यह द्रव्य इन्द्रियाँ हैं न! यह जड़ शरीर परिणाम को प्राप्त, शरीर परिणाम को प्राप्त, चक्षु, नाक-गंध, रस, स्पर्श, इस **पुद्गलद्रव्य का स्वामित्व भी उसके नहीं है..** इन जड़ इन्द्रियों का मालिक आत्मा नहीं है। आहाहा! **इसलिए वह द्रव्येन्द्रिय के आलम्बन से भी रस नहीं चखता..** वह जड़-मिट्टी है, यह जीभ द्रव्येन्द्रिय। इसका-जीभेन्द्रिय का स्वामी कहीं जीव नहीं है कि जीभ को हिलावे और रस को चखे। आहाहा! गाथा बहुत अच्छी आ गयी है। आहाहा!

वास्तव में, पहले तो इसमें वास्तव में कहा था। इसमें परमार्थ से कहा। पुद्गलद्रव्य का स्वामित्व भी, ऐसा। इन जड़ इन्द्रियों का वह स्वामी नहीं। इस जीभेन्द्रिय का वह आत्मा मालिक नहीं। इसका यह स्वामी नहीं।

श्रोता : पैसे का स्वामी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पैसे का स्वामी यह कब (था)। मूर्ख हो, वह मानता है कि पैसे मेरे, यह मूर्ख हो वह मानता है। यह निर्जरा अधिकार में आया है न, भाई! जो यह है, उसे मेरा मानूँ तो मैं अजीव हो जाऊँ। निर्जरा अधिकार है न! आहाहा! यदि मैं यह शरीर, वाणी, मन, पैसा, स्त्री का शरीर इत्यादि मेरा मानूँ, तब तो मैं जड़ हो जाऊँ। आहाहा! ऐसा कठिन काम है। यहाँ तो जहाँ हो वहाँ मैंने किया.. मैंने किया.. मैंने किया.. और मैं करता हूँ। यह स्वामी होकर मिथ्यात्व का अभिमान सेवन करता है। आहाहा!

वास्तव में यह द्रव्येन्द्रियाँ जो यह जीभ, उसके अवलम्बन द्वारा, उसके अवलम्बन के आश्रय से ही चख नहीं चखता। भगवान इस जीभेन्द्रिय के आलम्बन से रस को नहीं चखता, क्योंकि जीभेन्द्रिय-इस जड़ का वह कहीं स्वामी नहीं है, वह कहीं मालिक नहीं है। आहाहा! एक व्यक्ति कहता है कि यह समयसार मैं पन्द्रह दिन में पढ़ गया.. बहुत अच्छा, बहुत अच्छा, अच्छी बात है, बापू! अरे बापू, भाई! यह बातें कोई दूसरी हैं। आहाहा! जीभ का स्वामी जीव नहीं। वह जड़ है; इसलिए उसके द्वारा इस रस को आत्मा नहीं चखता। आहाहा! तीन हुए न?

अब चौथा बोल—**अपने स्वभाव की दृष्टि से देखा जाय तो..** जो जीव है, वह ज्ञानानन्दस्वभाव से देखा जाये, त्रिकाली स्वभाव की दृष्टि से उसे देखें - भगवान आत्मा को, शाश्वत्-टिकते, शाश्वत् स्वभाव से उसे देखें, आहाहा! तो **उसके क्षायोपशमिक भाव का भी अभाव होने से वह भावेन्द्रिय के आलम्बन से भी..** भावेन्द्रिय है न क्षयोपशम! उस भावेन्द्रिय का अवलम्बन है, वह भी जीव का स्वरूप नहीं है। आहाहा!

अरे! ऐसी बातें अब! द्रव्येन्द्रिय का स्वामी नहीं, इसलिए उसके स्वामीपने रस नहीं चखता और भावेन्द्रिय का स्वरूप है, वह इसके स्वभाव में नहीं। आहाहा! यह तो परमपारिणामिक सहज स्वभावरूपी अपिरणामी तत्त्व... ऐसे भगवान के स्वभाव से देखें तो भावेन्द्रिय के क्षयोपशम से ऐसे रस जो ज्ञात होता है, उससे रस नहीं चखता। आत्मा, भावेन्द्रिय से रस नहीं जानता। आहाहा! रसेन्द्रिय तो जड़, मिट्टी, धूल, उससे तो रस नहीं चखता, उसका स्वामी नहीं इसलिए। किन्तु भावेन्द्रिय का ज्ञान का जो क्षयोपशम पर्याय

में है, उसे भावेन्द्रिय से जो यह रस है ऐसा जानता है। इस स्वभाव की दृष्टि से देखें तो भावेन्द्रिय से भी रस नहीं जानता। आहाहा! ऐसा है।

वीतराग का तत्त्व, परमात्मा के द्वारा कथित (तत्त्व) वह कोई अलग प्रकार है। आहाहा! भगवान आत्मा का चैतन्यस्वभाव, परमपारिणामिक त्रिकाली स्वभाव, सहजात्मस्वरूप, उसके स्वभाव से देखें तो इस रस को जो भावेन्द्रिय जाने, ख्याल में आता है कि यह मीठा है इत्यादि, उस भावेन्द्रिय के द्वारा भी जीव नहीं जानता। आहाहा! क्योंकि **क्षायोपशमिकभाव का भी..** उसका तो (द्रव्येन्द्रिय का) अभाव है परन्तु क्षयोपशमभाव का भी उसे अभाव है। आहाहा! उसकी पर्याय में जो कुछ भावेन्द्रिय के / उघाड़ के अंश से जो रस ज्ञात होता है तो वास्तव में तो भावेन्द्रिय का जो क्षयोपशमभाव है, उसका तो स्वभाव में अभाव है। इसके स्वभाव में वह है ही नहीं। आहाहा!

क्षायोपशमिकभाव का भी अभाव होने से वह भावेन्द्रिय के आलम्बन से.. क्षयोपशम में भावेन्द्रिय के अवलम्बन से भी **रस नहीं चखता, इसलिए अरस है।**

पाँचवाँ—**समस्त विषयों के विशेषों में साधारण ऐसे..** कहते हैं कि पाँचों इन्द्रियों के विषयों में साधारण ऐसा जो आत्मा का ज्ञान। सर्व विषयों के विशेषों, सर्व विषयों के विशेषों, सर्व विषयों के भेदभाव, पाँच (इन्द्रिय के) उसके साथ में साधारण **एक ही संवेदनपरिणाम..** है। आहाहा! एक-एक इन्द्रिय को जानने का ऐसा नहीं। वह तो सबको एकरूप संवेदन-जानने का अपना स्वभाव है। आहाहा! थोड़ी सूक्ष्म बात है भाई! यह गाथा बहुत ऊँची है। यह गाथा बहुत प्राचीन है-प्रत्येक ग्रन्थ में है—समयसार, नियमसार, प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, पंचास्तिकाय और धवल (सब में है।) बहुत पुरानी गाथा है-वीतराग के, सर्वज्ञ परमेश्वर के पंथ में.. आहाहा! यह गाथा आज आ गयी है।

यह कहते हैं **समस्त विषयों के विशेषों में..** पाँचों के, उन प्रत्येक में एकरूप अपना ज्ञान **ऐसे एक ही संवेदनपरिणामरूप उसका स्वभाव होने से वह केवल एक रसवेदना-परिणाम को पाकर..** केवल एक रस के वेदन को पाकर **रस नहीं चखता..** वह तो सबका ज्ञातादृष्टारूप से अपना एकरूप परिणाम है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म! यहाँ क्या कहते हैं ? पाँच इन्द्रिय के विशेषों-जो प्रकार हैं, उनका इसके स्वभाव में तो अभाव है, यह

तो एक ही रूप से जानना-देखना, जानने-देखने के परिणाम को यह तो स्वयं करता है। स्व-संवेदन कहा न? संवेदन परिणाम, जानना-देखना ऐसा वेदन, बस। पाँच इन्द्रिय के विषय में एक-एक में खण्ड खण्डरूप से जानकर पाँचों को खण्ड-खण्ड को जाने, ऐसा यह नहीं है। आहाहा! भगवान आत्मा, पाँच इन्द्रिय के विषयों के विशेषों में भी, एकरूप से संवेदन / जाननेवाला-देखनेवाला ज्ञाता है; इसलिए वह जानता है। आहाहा! ऐसा स्वभाव **वह केवल एक रसवेदना-परिणाम को पाकर..** रस को जानकर, रस के वेदन को पाकर **रस नहीं चखता..** अरे.. आहाहा! यहाँ तो यह क्यों लिया कि मनुष्य ऐसे रस चखता है और यह रस जो होवे न, उस रस का ज्ञान होता है, तब वह जानता है कि इस रस से मुझे ज्ञान हुआ। खट्टा है और यह खट्टा मुझे ज्ञात हुआ। खट्टा ज्ञात नहीं हुआ, खट्टा ज्ञात हो जाये, खट्टा ज्ञात हो यहाँ अकेला तो, तब तो ज्ञान खट्टा हो जाये परन्तु ज्ञान स्वयं अपने में रहकर खट्टे को भिन्नरूप से जानकर संवेदन परिणाम से वह तो जानता है। आहा! ऐसे सब नियम, यह शर्तें। समझ में आया?

केवल एक रसवेदना-परिणाम को पाकर रस नहीं चखता, इसलिए अरस है। (उसे समस्त ज्ञेयों का ज्ञान होता है परन्तु) सकल ज्ञेयज्ञायक के तादात्म्य का.. सकल ज्ञेयों को जाने। यह क्या कहा? रस है, वह ज्ञेय है। वैसे सभी ज्ञेयों को भगवान जाने, तथापि उस ज्ञेयज्ञायक का **तादात्म्य का..** सम्बन्ध **निषेध होने से..** आहाहा! ये परज्ञेय हैं, उन्हें यह जाने, तथापि ज्ञेय और ज्ञायक एकरूप होता है—ऐसा तीन काल में नहीं है। आहाहा!

यह समयसार! भगवान ज्ञायकस्वरूप और अनन्त ज्ञेय। यह ज्ञेय, ज्ञायक को.. ज्ञायक, ज्ञेय को जाने, तथापि ज्ञेय में ज्ञान का यहाँ ज्ञान किया परन्तु ज्ञेय में तन्मय नहीं होता, वह ज्ञान, ज्ञेय में तन्मय नहीं होता। ज्ञेय का ज्ञान किया, उसमें वह तन्मय है परन्तु ज्ञेय -ज्ञायक का व्यवहार सम्बन्ध जो कहा, उससे वह ज्ञेय को जाना, इसलिए ज्ञेयरूप ज्ञान हुआ, जाननेयोग्य पदार्थ में ज्ञान तादात्म्यरूप हुआ, उसरूप हुआ - ऐसा नहीं है।

ज्ञेय को जानते हुए भी ज्ञान, ज्ञानरूप रहकर जानता है। आहाहा! अब ऐसा कहाँ निवृत्ति इसमें? निवृत्ति नहीं मिलती, धन्धे के पाप के कारण पूरे दिन। आहाहा! उसमें ऐसा समझने का धारने का इसे कठिन पड़ता है। भाई! मार्ग ऐसा है, बापू! आहाहा! चौदस की

भारी तिथि कहलाती है लोक में, हों! इस रोग के रोग लिये – ऐसा सुना है, भाई ऐसा कहते हैं न, यह बहुत रोगादि होवे न, उसे यह ऐसा सुना है अपन ने तो। मरण की शैय्या पर पड़े हों, उसे यह चौदस भारी कहलाती है – ऐसा कहते हैं। आहाहा!

यहाँ तो जीवत्व के जीवन में जो आया, उसे यह चौदस भारी है, काली रात नहीं परन्तु उजयाली रात्रि है यह। आहाहा! क्या कहा यह?

सकल ज्ञेयज्ञायक के तादात्म्य का (एकरूप होने का) निषेध होने से.. वह रस, गंध, शरीर, वाणी, मन, धर्मास्ति आदि अनन्त द्रव्य, इन सबको ज्ञेयरूप से ज्ञायक जानने पर भी, वह ज्ञायक, ज्ञायकरूप रहता है, परन्तु वह ज्ञायक ज्ञेय को जानते हुए ज्ञेय में तादात्म्य अर्थात् उसरूप नहीं होता। आहाहा! मोटाणी! यह सूक्ष्म है आज। यह ४९ वीं गाथा आयी है न जरा! यह सूक्ष्म है न भगवान! सूक्ष्म है यह कहेंगे अन्दर अव्यक्त में, टीकाकार ने सूक्ष्म लिया है। यह तो छह बोल लेंगे परन्तु जयसेनाचार्य ने तो यह लिया है कि मन का जो विकल्प है, काम-क्रोधादि का (विकल्प) उससे अव्यक्त अर्थात् सूक्ष्म है। आहाहा! मन के विषय से और मन से भी ज्ञात हो, ऐसा प्रभु नहीं है। इसलिए अव्यक्त है। वहाँ उन्होंने ऐसा लिया है। यह बोल बहुत सूक्ष्म लेंगे। अमृतचन्द्राचार्य तो गजब करेंगे। आहाहा!

अब जीव ऐसा जैसा है, वैसा भी अभी इसके जानने में न आवे और जानने में आवे तो भी वह कहीं वास्तविक ज्ञान नहीं है। आहाहा! ऐसा तो परलक्षी यथार्थ ज्ञान जब होता है तो भी वह कहीं सम्यग्ज्ञान नहीं है। आहाहा! परन्तु अभी ऐसा परलक्षी सत्यार्थ है, उसका अभी पता नहीं, उसे स्वलक्षी ज्ञान तो कहाँ से होगा प्रभु! आहाहा! और स्वलक्षी ज्ञान हुए बिना भव का अन्त कहीं नहीं है। आहाहा!

सकल ज्ञेयों का ज्ञान होता है। लोकालोक का ज्ञान होता है, तथापि उस ज्ञेय-ज्ञायक का एक होने का निषेध है। इसलिए भी **रस के ज्ञानरूप में परिणमित होने पर भी..** रस है, उसके ज्ञानरूप परिणमित होने पर भी, **स्वयं रसरूप परिणमित नहीं होता..** आहाहा! यहाँ रस का ज्ञान करे, वह ज्ञेय है इसलिए; तथापि उस रसरूप नहीं होता। रस के ज्ञानरूप से (जो) स्वयं का ज्ञान है उसरूप होता है। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

यह तो पहले निवृत्ति लेकर अन्तर में अभ्यास करे, तब बहिर्लक्षी ज्ञान हो, वह तो अभी बहिर्लक्षी; वह अन्तर का नहीं। आहाहा! जो भव के अन्त का ज्ञान है, वह तो.. आहाहा! ऐसा जो जानपना हो लक्ष्य में-मस्तिष्क में, उससे भी पार परमात्मा स्वयं जो भिन्न है। आहाहा! ऐसा ज्ञायकभाव, उसे स्पर्शकर अथवा उसमें अपनापन मान्यता होकर जो ज्ञान होता है, वह ज्ञान भव के अन्त का कारण है। यह तो वह बाह्य है, इस प्रकार है, उसका स्वरूप ऐसा है-ऐसा है, ऐसा इसके ख्याल में-बहिर्लक्षी ज्ञान में जहाँ अभी नहीं आया, आहाहा! उसे अन्तर्लक्षी वास्तविक ज्ञान तो कहाँ से होगा? आहाहा! मान ले कि मुझे कुछ ज्ञान हुआ है! आहाहा! वह तो एक मस्तिष्क में आया। हम पढ़ते थे, तब कवि दलपतराम के (गीत) में एक शब्द था 'प्रभुता प्रभु तारी तो खरी, मुजरो मुज रोग ले हरी' ऐसा हमारे समय में दलपतराम में आता था। सत्तर वर्ष पहले की बात है। पौने सौ वर्ष पहले की बात है। कवि दलपतराम का गायन था, पुस्तक में आता था। दलपतराय स्वयं परीक्षा लेने आते, हमारे समय। उन्हें तो बहुत वर्ष हो गये। पौने सौ वर्ष हुए।

'प्रभुता प्रभु तारी तो खरी, मुजरो-मुजरो अर्थात् विनती, मुजरो मुज रोग ले हरी! कवि हैं न ये तो। आहाहा!

मैं आनन्द का नाथ प्रभु, मैं जब स्वरूप में अनुभव करके राग और द्वेष के अज्ञान को हरकर नाश करूँ, तब मैं हरि और आत्मा कहलाऊँ। तब मेरी प्रभुता पसरी और प्रगट हुई तब कहलायेगी। आहाहा!

यहाँ कहते हैं **रस के ज्ञानरूप में परिणमित होने पर भी..** ज्ञानरूप से परिणमते हों! यह रस का ज्ञान नहीं, वह तो-ज्ञान तो स्व पर प्रकाशक स्वयं का है परन्तु इसे समझाना किस प्रकार? रस का ज्ञान कहा, वह रस का ज्ञान नहीं; वह ज्ञान स्व-पर प्रकाशक स्वयं की सामर्थ्य है, उसका है परन्तु लोगों को समझाना किस प्रकार? आहाहा! रस के ज्ञानरूप परिणमते हुए, इसमें क्या कहा? कि जो रस है, उसे जानता है। इसलिए रस के ज्ञानरूप परिणमते होने पर भी.. यह निमित्त से कथन किया परन्तु वास्तव में तो उस समय का ज्ञान, स्वयं को जानता है और स्वयं को जानते हुए रस को जानने का, रस है इसलिए नहीं; स्वयं स्व-पर प्रकाशकरूप से परिणमने पर वह परिणति जानता है। यह क्या कहा? यह क्या

कहा ? कि रस है, उसका जो यहाँ जानने का ज्ञान हुआ, वह रस के कारण नहीं। रसरूप तो हुआ नहीं परन्तु रस के कारण वह ज्ञान नहीं। रसरूप तो-ज्ञेयरूप तो हुआ नहीं परन्तु ज्ञेय का ज्ञान हुआ, वह रस का ज्ञान नहीं परन्तु इसे समझना है तो किस प्रकार समझाना ? नवरंगभाई ! आहाहा ! (गाथा) बहुत सूक्ष्म है, बापू ! प्रभु ! भाई कहते थे न ! अरे ऐसा अवसर कब आये, बापू ! आहाहा !

कहते हैं कि रस को द्रव्येन्द्रिय द्वारा तो चखे नहीं क्योंकि उनका स्वामी नहीं। भावेन्द्रिय द्वारा चखे नहीं क्योंकि वह उसका स्वभाव नहीं परन्तु रस को अपने में, अपने में रहकर, यह रस है उसका ज्ञान किया, वह भी रस के कारण ज्ञान हुआ है - ऐसा नहीं है। रसरूप से तो ज्ञान नहीं हुआ परन्तु ज्ञान, रस के ज्ञानरूप हुआ - ऐसा भी नहीं। यह क्या कहा ? आहाहा ! वह ज्ञान स्वयं अपने में स्व-पर प्रकाशक के स्वभाव के कारण अपनेरूप हुआ है। भाई ! आहाहा !

ईश्वरभाई ! यह सब ईश्वरता का वर्णन चलता है। सम्पूर्ण ईश्वर प्रभु, प्रभुत्वगुण से भरपूर, एक प्रभुत्वगुण आता है न भाई उसमें ? 'स्वतंत्रता से शोभित कहीं अपने प्रताप से दूसरे से खण्डित न हो ऐसा' यह प्रतापगुण की व्याख्या है। आहाहा ! जो किसी से खण्डित न हो और स्वतंत्रता से शोभित ऐसा प्रभुत्व नाम का गुण भगवान में है। ऐसा ही गुण प्रत्येक गुण में है। आहाहा ! ज्ञानगुण भी अपने प्रताप से खण्डित न हो और उसे कोई खण्डित करनेवाला है नहीं और स्वतंत्रता से ज्ञान की पर्याय स्वयं से स्वयं को हो, ऐसा उस प्रभुत्वगुण से भरपूर ज्ञान है। आहाहा ! ऐसा उपदेश किस प्रकार का ! इसमें क्या करना, कुछ सूझ पड़ती नहीं ! भाई ! तू कौन है, वहाँ उसे देख तो तुझे सब पता पड़ेगा। आहाहा !

आहाहा ! यहाँ तो परमात्मा, तीन लोक के नाथ कहते हैं, वह सन्त आढ़तिया होकर जगत को प्रसिद्ध करते हैं। तीन लोक के नाथ, सीमन्धर परमात्मा सर्वज्ञदेव के पास गये थे। महावीर प्रभु से तो कुन्दकुन्दाचार्यदेव से छह सौ वर्ष बाद हुए थे। अन्दर में थे। महावीर का जो कहना था, वह परन्तु भगवान से तो विरह, इसलिए वहाँ जाकर, सुनकर आकर, यह कहा। भगवान ऐसा कहते हैं, हम तो भगवान का माल है (उसे) आढ़तिया होकर जगत को बतलाते हैं। आहाहा ! जिन्हें प्रत्यक्ष तीन काल-तीन लोक हो गये हैं, यह कहना

भी व्यवहार है। उनकी पर्याय में स्व-पर प्रकाशक की पूर्णता प्रगट हो गयी है। आहाहा! ऐसा जो भगवान तीन लोक का नाथ.. आहाहा! सीमन्धर प्रभु विराजमान है, महाविदेह में मौजूद हैं, आहाहा! उनके पास.... अनुभव तो था, चारित्र था परन्तु विशेष स्पष्टता करके आये और जगत को प्रसिद्ध किया। भगवन्त! तुझे रस का ज्ञान होता है, वह तेरा ज्ञान रसरूप नहीं होता। रस के साथ तादात्म्य तो नहीं परन्तु जो रस का यहाँ ज्ञान होता है, इसलिए रस है, अत: यहाँ ज्ञान होता है - ऐसा नहीं है। वह रस को जानता है, इसलिए रस का ज्ञान, रस है इसलिए उसका ज्ञान हुआ - ऐसा नहीं है। उस समय में स्व के ज्ञानसहित पर के ज्ञानरूप अपना परिणमन का स्वभाव है, इसलिए स्व-पर प्रकाशकरूप से जीव परिणमता है। अरे! ऐसी सब शर्तें हैं। समझ में आया?

इसलिए अरस है। इस प्रकार छह तरह के रस के निषेध से वह अरस है। इसी प्रकार रूप ले लेना। छहों बोल में; ऐसे गन्ध ले लेना, इसी प्रकार लेना छहों कहे न! छह प्रकार-अभी कहा उस प्रकार। इसी प्रकार स्पर्श ले लेना। स्पर्श वह पुद्गल का गुण है, इसलिए जीव में वह स्पर्शगुण नहीं है, इसलिए गुण, स्पर्श से रहित है, पुद्गल का गुण होने से वह गुण इसमें नहीं है, उस द्रव्य का गुण होने से और यह पुद्गल का गुण होने से नहीं है और द्रव्येन्द्रिय के द्वारा वह स्पर्श को छूता है, दूसरे स्पर्श को छुये-वह द्रव्येन्द्रिय का कोई स्वामी नहीं कि पर को छुये। आहाहा! भोग के समय द्रव्येन्द्रिय पर को स्पर्श करती है - ऐसा कहा जाता है, कि 'नहीं' उस द्रव्येन्द्रिय का स्वामी नहीं, उस द्रव्येन्द्रिय से वह स्पर्श करे - ऐसा कैसे कहा जाये? और भावेन्द्रिय में जो भाव / स्पर्श ज्ञात होता है। भावेन्द्रिय से, वह इसका स्वरूप नहीं। स्वभाव की दृष्टि से देखें तो भावेन्द्रिय से यह स्पर्श को जाने, वह इसका स्वरूप नहीं है। आहाहा! है न छह बोल?

इसी प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय के विषयों में एक ही ज्ञान का परिणमन स्वतंत्र है। इसलिए स्पर्श के ज्ञान को अवलम्बता है - ऐसा नहीं है। फिर स्पर्श है, (वह) ज्ञेय है और भगवान आत्मा उसका जाननेवाला है, तथापि वह जाननेवाला स्पर्श के ज्ञेयरूप होकर उसे नहीं जानता, उसे तादात्म्य होकर उसे नहीं जानता तथा स्पर्श को जानते हुए स्पर्श है, इसलिए यहाँ स्पर्श का ज्ञान हुआ - ऐसा भी नहीं है। आहाहा! उस समय में ज्ञान की पर्याय का स्व-पर प्रकाशक अपनेरूप से है; इसलिए वह स्पर्श को जानता है - ऐसा कहना भी

व्यवहार है। जानता है, यह कहना वह व्यवहार है। उसका तो / स्पर्श का तो ज्ञान नहीं, स्पर्शरूप होकर जानता नहीं, परन्तु स्पर्शरूप रहकर स्वयं ज्ञानरूप स्पर्श को जानता है। स्पर्श, स्पर्शरूप रहा यहाँ ज्ञानपना रहकर स्पर्श को जानता है, तथापि स्पर्शरूप नहीं हुआ। तथापि वह स्पर्श है, इसलिए यहाँ ज्ञान का परिणमन हुआ – ऐसा भी नहीं है। ऐसा है! भाषा तो सादी है, प्रभु! भाषा कहीं बहुत कठिन नहीं है। कोई व्याकरण संस्कृत (ऐसी कठिन नहीं है) । वस्तु तो ऐसी है। इस प्रकार स्पर्श के छह बोल लेना। ऐसे शब्द के लेना। है न? शब्द में यह लेना। यह शब्द है, वह जड़ की पर्याय है। वह उसका गुण लिया था, भाई! यह रस, गंध, स्पर्श गुण था। अब यह शब्द तो पुद्गल की पर्याय है। शब्द वह है? देखो! **जीव वास्तव में पुद्गलद्रव्य से अन्य होने से उसमें शब्दपर्याय**—ऐसी भाषा है। पहले में गुण था (इतना) अन्तर है। आहाहा!

जीव वास्तव में पुद्गलद्रव्य से अन्य होने के कारण उसमें शब्दपर्याय.. भगवान आत्मा में **विद्यमान नहीं है, अतः..** प्रभु तो **अशब्द है। पुद्गलद्रव्य की पर्यायों से भी भिन्न..** पहला पुद्गलद्रव्य से अन्य होने से शब्दपर्याय, अब यहाँ पुद्गलद्रव्य की पर्याय से भी भिन्न होने से स्वयं भी शब्दपर्याय नहीं है। भगवान आत्मा में शब्द की दशा ही नहीं है। आहाहा! जरा उन चार कर्ता में विस्तार है न? स्वयं शब्दपर्याय नहीं है। **परमार्थ से पुद्गलद्रव्य का स्वामीपना भी इसे नहीं होने से, द्रव्येन्द्रिय के अवलम्बन द्वारा शब्द सुनता ही नहीं**। इस कान के अवलम्बन से आत्मा शब्द को नहीं सुनता। आहाहा! गजब बात है! क्योंकि कान तो जड़ है, वह सब, इस जड़ का कहीं आत्मा स्वामी नहीं कि इसके अवलम्बन से सुने। आहाहा! गजब बात है भाई! जगत से उलटी। क्या कहा यह? पुद्गलद्रव्य का स्वामी भी तू नहीं है परन्तु द्रव्येन्द्रिय के अवलम्बन द्वारा–कान के अवलम्बन द्वारा आत्मा शब्द को नहीं सुनता, इसलिए अशब्द है। आहाहा!

अपने स्वभाव की दृष्टि से देखा जाये तो क्षायोपशमिकभाव का भी उसे अभाव.. है, भावेन्द्रिय के अवलम्बन द्वारा भी शब्द को नहीं सुनता। उसके द्वारा तो नहीं, परन्तु जो क्षयोपशमज्ञान है जो भावेन्द्रिय का है, उसके द्वारा भी आत्मा शब्द को नहीं सुनता। है? **इसलिए वह अशब्द है**। विशेष है दो बोल।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १२३ गाथा-४९, दिनाङ्क ३१-१०-१९७८, मंगलवार
आसोज कृष्ण अमावस्या, वीर निर्वाण संवत् २५०४

आज दीपावली का दिन है। भगवान महावीर परमात्मा को आज पूर्ण आनन्द की पर्याय प्रगट हुई थी पहले भी। अनन्त गुण में जो प्रतिजीवी गुण का विकार था, उसका भी नाश करके आज मोक्ष पधारे हैं। आहाहा! जिन्हें अनन्त आनन्द, अनन्त शान्ति, ज्ञान (सर्व गुणों की) सिद्धपद की पर्याय प्राप्त हुई। आहाहा! चौदहवें गुणस्थान में थे, वहाँ तक अभी उदयभाव था, वहाँ तक तो अभी सांसारिक कहलाते थे। आहाहा!

श्रोता : चौदहवें गुणस्थान में भी असिद्ध ?

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रतिजीवी गुण... जितने अपने में अनन्तानन्त गुण हैं, उन सबकी पूर्ण पर्याय प्रगट हो और प्राप्त हो, उसका नाम मोक्ष और सिद्धपद-प्रभु कहलाता है। अनादि संसार (पर्याय का) अन्त किया और सिद्धपद की शुरुआत की। 'सादि अनन्त अनन्त समाधि सुख में!' आहाहा! उस मोक्ष का दिन आज है। वास्तव में तो दीपावली है (दीपावली अर्थात्) वास्तव में तो जिसने दिन वाल्या - जिसकी जिसे आत्मा की पूर्ण दशा प्रगट की, उसे यहाँ दीपावली कहा जाता है।

समयसार (टीका के) शब्द में आया है न! चार बोल। (अब) पाँचवाँ बोल, जरा संक्षिप्त संक्षिप्त से लेंगे और फिर अव्यक्त के बोल पर जायेंगे।

पाँचवाँ बोल है। जो आत्मा है, वह शब्द की पर्याय को करनेवाला नहीं है। आहाहा! जो आवाज है, वह पुद्गल की पर्याय है तो यह आत्मा उसका करनेवाला तो नहीं परन्तु उसकी द्रव्येन्द्रिय से स्वामी होकर सुननेवाला भी नहीं और भावेन्द्रिय से भी सुननेवाला नहीं। ऐसा आत्मा! पता नहीं क्या चीज़ है ? यह चार बोल तो आ गये हैं।

यह पाँचवाँ बोल - **सकल विषयों के विशेषों में साधारण...** जगत् में जितने विषय हैं, उन्हें भगवान का-आत्मा का ज्ञानसाधारण (होने से) सबका जाननेवाला एक है। अमुक को जाने और अमुक को न जाने ऐसा नहीं है। आहाहा! अभी, वर्तमान, हों! आहाहा! **सकल विषयों के विशेषों में साधारण ऐसे एक ही संवेदनपरिणामरूप**

(उसका स्वभाव होने से)... उसका स्वभाव जानना-देखना, अकेला स्वभाव उसका-आत्मा का है - ऐसा सम्यग्दर्शन में प्रतीति करना, उसका नाम धर्म की पहली सीढ़ी कहा जाता है। यह पाँचवाँ बोल, यह (आत्मा) ऐसा होकर शब्द को नहीं सुनता।

अब **(उसे समस्त ज्ञेयों का ज्ञान होता है...)** भगवान आत्मा, यह ज्ञान है, समस्त ज्ञेयों का ज्ञान करता है। किसी ज्ञेय को बनाता नहीं और (किसी) ज्ञेय को अपने में लाता नहीं और (सर्व) ज्ञेयों का ज्ञान होता है, तो ज्ञेयरूप होकर ज्ञान होता है - ऐसा नहीं। आहाहा! ऐसा मार्ग है। है? **सकल ज्ञेयज्ञायक के तादात्म्य का निषेध होने से...** शब्द की पर्याय को जानता है आत्मा अभी, तथापि शब्द की पर्याय में (ज्ञान) तादात्म्य नहीं-एकरूप नहीं। आहाहा! उसे यहाँ आत्मा कहने में आता है। आहाहा! यह छठा बोल है। **इस तरह छह प्रकार से शब्द...** (छह बोल) हुए।

आहा! **(अब 'अनिर्दिष्टसंस्थान' विशेषण को समझाते हैं —)**

(पुद्गलद्रव्यरचित शरीर के संस्थान (आकार) से जीव को संस्थानवाला नहीं कहा जा सकता, इसलिए जीव अनिर्दिष्टसंस्थान है।)

यह आत्मा जो है, आत्मा अन्दर! वर्तमान हों! **पुद्गलद्रव्यरचित शरीर...** यह शरीर पुद्गलद्रव्य से रचित है, जड़ / मिट्टी यह धूल है, मिट्टी है, पुद्गल है, यह पुद्गल से रचित शरीर है। आहाहा! इसलिए **जीव को संस्थानवाला नहीं कहा जा सकता...** शरीर के आकार के कारण... वह तो जड़ का आकार है, इसलिए उसे वह आत्मा का आकार है - ऐसा नहीं कहा जाता। शरीर के आकार से भिन्न भगवान है। आहाहा! शरीर की पर्याय जड़ है, भगवान आत्मा अन्दर ज्ञानस्वरूप है। उसका आकार है परन्तु शरीर के आकार से उसका (आत्मा का) आकार है - ऐसा नहीं। प्रदेशत्वगुण है न, तो (आत्मा को) आकार तो है। आहाहा! बहुत कठिन बात!

आकाश नाम का (अरूपी) पदार्थ है, उसका अन्त नहीं तो भी उसका भी आकार तो है। आहाहा! क्या कहा? कहते हैं ऐसे भगवान आत्मा अनन्त अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु, इस शरीर से तो भिन्न है, कर्म से अभी भिन्न है और दया, दान, व्रत, भक्ति के भाव-पुण्य-पाप के भाव से भी यह (भगवान आत्मा) भिन्न है। उनसे तो भिन्न है परन्तु शरीर

के आकार से भी भिन्न है। आहाहा! एक बोल (-देखो टीका में) यहाँ है, इसलिए **जीव को संस्थानवाला नहीं कहा जा सकता....**

(**अपने नियत स्वभाव से** अनियत संस्थानवाले अनन्त शरीरों में रहता है, इसलिए अनिर्दिष्टसंस्थान है ॥२॥)

आहा! **अपने नियत स्वभाव से...** भगवान आत्मा नियत (स्वभावी) असंख्य प्रदेशी जो अपना नियत स्वभाव-आकार है, वह (आत्मा) अनियत संस्थान को अनुसर कर रहता है। जिसे एकरूप आकार है, ऐसा अनन्त अनन्त शरीरों में रहता है, फिर भी वह नियत, उसे कोई संस्थान नहीं होता। अनन्त शरीर में होवे तो भी संस्थान-शरीर आत्मा में है - ऐसा नहीं कहा जाता। वह तो अनिर्दिष्टसंस्थान है। आहाहा! सम्यग्दृष्टि को शरीर का आकार, वह आत्मा का आकार है - ऐसा भासित नहीं होता। आहाहा! धर्मी जीव-धर्म करनेवाले धर्मी जीव को शरीर का आकार, वह मेरा आकार है - ऐसा भासित नहीं होता। आहाहा! उसे (धर्मी को) मुझमें पुण्य-पाप (भावकर्म है) - ऐसा भी भासित नहीं होता। मैं तो पुण्य-पाप और शरीर के आकार से भिन्न हूँ। आहाहा! दो बोल हुए।

(संस्थान नामकर्म का विपाक (फल) पुद्गलों में ही कहा जाता है (इसलिए उसके निमित्त से भी आकार नहीं है) इसलिए अनिर्दिष्टसंस्थान है ॥३॥

भिन्न-भिन्न संस्थानरूप से परिणमित समस्त वस्तुओं के स्वरूप के साथ जिसकी स्वाभाविक संवेदनशक्ति सम्बन्धित (अर्थात् तदाकार) है ऐसा होने पर भी जिसे समस्त लोक के मिलाप से (सम्बन्ध से) रहित निर्मल (ज्ञानमात्र) अनुभूति हो रही है ऐसा होने से स्वयं अत्यन्तरूप से संस्थान रहित है, इसलिए अनिर्दिष्टसंस्थान है ॥४॥)

(क्या कहते हैं) **भिन्न-भिन्न संस्थानरूप से परिणमित समस्त वस्तुओं के स्वरूप के साथ...** (अर्थात्) अनेक आकारवाली चीजें हैं, उन्हें जानता है, जानने पर भी पर के आकार के सम्बन्ध से (मिलाप से) रहित है! (देखो न!) यह आकार है-पुस्तक का आकार है। अनेक आकार हैं, उन सब आकारों को आत्मा जानता है परन्तु पर के आकारों से मिलाप / सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! ऐसे आत्मा का अन्दर में अनुभव होना, उसका नाम सम्यग्दर्शन-धर्म की पहली सीढ़ी है। आहाहा!

संस्थान नामकर्म का विपाक (फल) पुद्गलों में ही कहा जाता है... यह एक आकार में कह दिया – यह कर्म जो नामकर्म हुआ तो वह शरीर में आया है, आत्मा में तो वह है नहीं। संस्थान (आकार) से परिणमित समस्त वस्तु का वह रूप नहीं। चार ही (बोल हैं)। इन चार हेतुओं से सर्वथा अनिर्दिष्ट संस्थान है। **इस प्रकार चार हेतुओं से संस्थान का निषेध कहा।**

अब 'अव्यक्त' (विशेषण)... – जानने की महा चीज है। आहाहा! भगवान आत्मा, अन्दर जो आत्मा है, वह छह द्रव्यस्वरूप लोक **(छह द्रव्यस्वरूप लोक जो ज्ञेय है और व्यक्त है उससे जीव अन्य है, इसलिए अव्यक्त है ॥१ ॥)**

इस जगत में भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर ने छह द्रव्य देखे हैं। (उनमें) अनन्त आत्माएँ अनन्त परमाणु, असंख्य कालाणु, एक धर्मास्ति (काय), एक अधर्मास्ति (काय) और एक आकाश, इन छह द्रव्यस्वरूप जो लोक है। आहाहा! वह तो ज्ञेय है। अनन्त सिद्ध भी ज्ञान में परज्ञेय हैं। आहाहा! (वे ज्ञेय हैं) व्यक्त हैं–बाह्य हैं; उनसे जीव (अन्य) है। छह द्रव्यस्वरूप लोक से तो भगवान आत्मा अन्य (भिन्न) है। क्या कहते हैं ? सुनो, सूक्ष्म बात है, भाई!

जो छहद्रव्यस्वरूप लोक है। एक ओर पूरा लोक और अलोक, वह ज्ञेय है और व्यक्त है, अपने से (आत्मा से) पर, इससे भगवान आत्मा अव्यक्त है (अर्थात्) उससे (लोक से) भिन्न है। धर्मदास क्षुल्लक ने (कहा है कि) सप्तम हो जाता है। ऐसा कहा! सूक्ष्म बात है, भाई! यह आत्मा सप्तम (सातवाँ द्रव्य) हो जाता है। छह द्रव्य हैं तो (आत्मा) छह द्रव्य में ही है, परन्तु छह द्रव्य जो हैं, अनन्त सिद्ध, अनन्त निगोद, अनन्त परमाणु के स्कन्ध आदि, ये सब ज्ञान के परज्ञेय हैं, एक बात; और अपने से (आत्मा से) बाह्य चीज है, इसलिए व्यक्त है, दो बात... परन्तु इससे भगवान आत्मा अभी (भिन्न है), हों! आहाहा!

जीव अन्य (भिन्न) है, यह छह द्रव्यस्वरूप लोक जो ज्ञेय है–जो बाह्य है, प्रगट (है), उससे भगवान आत्मा भिन्न है। आहाहा! ऐसे आत्मा की दृष्टि, अनुभव होना, उसका नाम धर्म की पहली सीढ़ी सम्यग्दर्शन है। आहाहा! समझ में आया ?

बाकी तो... व्रत, तप, भक्ति, पूजा और यात्रा करे, वह कहीं धर्म नहीं है, वह तो

शुभभाव-राग है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! एक तरफ राम और एक तरफ गाँव। एक ओर राम (अर्थात्) भगवान आत्मा ज्ञायकस्वभाव से भरपूर पड़ा है प्रभु! (और) एक ओर गाँव अर्थात् ज्ञेय-अनन्त सिद्ध, अनन्त निगोद आदि छह द्रव्यस्वरूप (सम्पूर्ण लोक)। आहाहा! वह आत्मा का-ज्ञायक का परज्ञेय है और पर, व्यक्त है; उससे भगवान (आत्मा) तो भिन्न है। उन ज्ञेयों से-व्यक्त से आत्मा स्वज्ञेय और स्व, पर से (ज्ञेयों से) भिन्न अव्यक्त! आहाहा! ऐसा उसका (आत्मा का स्वरूप है) छह द्रव्यस्वरूप ज्ञेय, उससे भिन्न ज्ञायक! छह द्रव्यस्वरूप व्यक्त है, उनसे भिन्न अव्यक्त (आत्मा)! आहाहा!

ऐसे द्रव्य का आश्रय लेकर सम्यग्दर्शन होता है। वह सप्तम द्रव्य (स्वरूप) आत्मा पर से भिन्न है (उसकी अनुभूति हो), तब उसके भव का अन्त आता है, वरना तो लाख क्रियाकाण्ड करे, पूजा और भक्ति, दया और दान, व्रत और जात्रा (करे), उससे कहीं भव का अन्त नहीं होता। यह शुभभाव स्वयं भवस्वरूप है। जगत को ऐसी बातें कठिन (लगती हैं)।

यहाँ तो भगवान आत्मा (को) अनन्त सिद्ध भी ज्ञेय हैं और आत्मा उन्हें जाननेवाला भिन्न है। आहाहा! अनन्त-अनन्त पंच परमेष्ठी जो त्रिकाली हैं, त्रिकाली जो अरहन्त-भूत (काल में) जो हो गये, वर्तमान में हैं और भविष्य में होंगे, वे सभी अरिहन्त, वे सब ज्ञायक में ज्ञेयरूप से भिन्न हैं। आहाहा! ऐसे अनन्त सिद्ध हो गये, वर्तमान में होते हैं, और भविष्य में होंगे, वे त्रिकाली सिद्ध जो हैं, वे अपने आत्मा को परज्ञेयरूप से हैं-ज्ञान करनेयोग्य हैं (सर्व का) अपने ज्ञान में ज्ञान होता है तो उसरूप आत्मा हो जाता है - ऐसा नहीं है। आहाहा!

छह द्रव्य की व्यवस्था आत्मा कर सके—मन्दिर बना सके, शास्त्र बना सके, यह वस्तु में है नहीं, यह आत्मा में है नहीं - ऐसा कहते हैं। बनाते हैं तो? बना सकते तो नहीं परन्तु वह चीज अपने में-अपने से परज्ञेयरूप से मौजूद है। अपना भगवान (आत्मा) तो ज्ञानस्वरूप चैतन्यमूर्ति प्रभु अपने में रहकर अनन्त ज्ञेयों को जानने का अपना स्वभाव होने से, ज्ञान का स्वभाव स्व-पर प्रकाशक होने से जानता है, बस! आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई!

जैनदर्शन का वास्तविक तत्त्व समझना, यह तो अलौकिक बात है। आहाहा! वह यहाँ कहते हैं। आहाहा! भगवान आत्मा-अपनी पर्याय का लक्ष्य द्रव्य पर जाता है, तब उसे छह द्रव्य का ज्ञेय से भी स्वयं भिन्न मालूम पड़ता है और जो द्रव्य-जो व्यक्त हैं, उनसे भी मेरी चीज (स्वात्मा) अव्यक्त (अर्थात्) पर्याय में आये नहीं, इस अपेक्षा से (आत्मा को) अव्यक्त (कहते हैं) परन्तु वस्तुरूप से व्यक्त / प्रगट है। आहाहा!

ऐसा जो भगवान (आत्मा) अन्दर चैतन्य परमात्मस्वरूप वर्तमान में, हों! उस ओर की दृष्टि की तो आत्मा पर से-(ज्ञेय से) भिन्न हो गया! सप्तम (सातवाँ) हो गया। धर्मदास क्षुल्लक ने ऐसा लिखा है, इस गाथा का अर्थ ऐसा निकाला है। नाम नहीं लिखा परन्तु उसका अर्थ यहाँ से निकाला है। आहाहा!

भगवान आत्मा में रागादिभाव होते हैं, वे भी छह द्रव्य में हैं, दया-दान-व्रत-भक्ति के भाव होते हैं, वे अपने आत्मा में नहीं आते, वे तो पर में जाते हैं, वे ज्ञेयरूप से हैं। (उन्हें) जाननेवाला ज्ञायक, ज्ञेय से भिन्न है-एक बात! और रागादि परपदार्थ व्यक्त हैं, बाह्य हैं-प्रगट हैं। आहाहा! उनसे भगवान आत्मा अव्यक्त अर्थात् पर्याय में-बाह्य में आया नहीं। बाह्य में आया नहीं (अर्थात्) पर्याय में आया नहीं। आहाहा! (यह) एक बोल समझना कठिन है, भाई! आहाहा!

ऐसा जो भगवान आत्मा ऐसा, उसकी अन्तर में दृष्टि करना और पर्याय में जो (निर्विकल्प) आनन्द का अनुभव होना, वह व्यक्त (अर्थात् प्रगट) है। उसे भी ज्ञेयरूप से जानना... द्रव्य तो उसे भी जाननेयोग्य नहीं, भिन्न है। अपनी पर्याय में सम्यग्दर्शन-ज्ञानादि हुए, अपने चैतन्य (द्रव्य के) अवलम्बन से तो उसे भी-पर्याय को भी ज्ञेयरूप से जानकर, आत्मा ज्ञाता है। आहाहा! सूक्ष्म बात है बापू!

आज यह दीवाली का दिन है, भाई! भगवान (महावीरस्वामी) मोक्ष पधारे हैं आज। आहा! आहाहा! प्रभु! तेरी चीज (आत्मद्रव्य) जो अन्दर है, उसे त्रिलोकनाथ ऐसा फरमाते हैं-आहाहा! सन्त कहते हैं यह उनकी ही बात करते हैं। आहाहा! भगवान! आहाहा! तेरा जो ज्ञायकस्वरूप प्रभु है... आहाहा!

वह पर से-ज्ञेय से (भिन्न) ज्ञान करनेवाला-भिन्न रहकर अपने में, उसके कारण

से नहीं; अपने में अपने कारण से स्व-पर प्रकाशक ज्ञान करनेवाला यह आत्मा पर से अत्यन्त भिन्न है। आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म बात है, भाई! लोगों ने तो कुछ का कुछ बाहर दया, दान, व्रत, पूजा, यात्रा में धर्म मनवा लिया है। उसे धर्म मानना वह तो मिथ्यात्व-अज्ञान है। आत्मा ऐसा है ही नहीं। आहाहा!

आत्मा तो... आहाहा! ये रागादि परिणाम आते हैं, वे (और) छह द्रव्य में जाते हैं-(पर) ज्ञेयरूप से जाते हैं। आहाहा! और ये रागादिभाव हैं, वे भगवान आत्मा से बाह्य में प्रगट हैं-बाह्य में प्रगट हैं। भगवान आत्मा अन्तर में अभी राग के ज्ञेय से भिन्न है और राग प्रगट है, उससे भी भिन्न है। आहाहा! बाह्य पदार्थ की प्रसिद्धि दिखती है, राग आदि, दया-दान आदि, व्यवहाररत्नत्रय आदि जो बाह्य पदार्थ की प्रसिद्धि दिखती है, उस ज्ञेय से भगवान (आत्मा तो) ज्ञायक (तो) प्रसिद्ध भिन्न है। आहाहा!

रागादि बाह्य पदार्थ, अनन्त सिद्ध हैं, अनन्त परमेष्ठी हैं, वे व्यक्त हैं। व्यक्त अर्थात् प्रगट / बाह्य हैं। आहाहा! और यह आत्मा उस प्रगट बाह्य चीज से अव्यक्त अर्थात् इसमें (पर्याय में) आया नहीं। पर्याय में आया नहीं। इसमें आया नहीं, इसलिए अव्यक्त कहते हैं (परन्तु) अपनी अपेक्षा से व्यक्त (प्रगट) है। आहाहा! सूक्ष्म बात बापू! वीतराग परमेश्वर ने आत्मा कहा, उन्होंने किसे (आत्मा कहा)? समझ में आया?

'प्रभु तुम जाणग रीति', गुजराती है। 'प्रभु तुम जाणग रीति' 'सौ जगत देखता हो लाल'-हे नाथ! आप सम्पूर्ण जगत को देखते हैं। 'निज सत्ताए शुद्ध'-अपना अस्तित्व-भगवान आत्मा का, उसे तो आप हे नाथ! शुद्ध (सत्ता)रूप से-ज्ञायकरूप से-परज्ञेय के जाननेवाले रूप से-व्यक्त और प्रगट (बाह्य से) भिन्न अप्रगटरूप से, पर की अपेक्षारहित ऐसे अव्यक्तरूप से आप (हे सर्वज्ञ)! आत्मा को देखते हो। आहाहा! ऐसा ही हम देखें, तब आत्मा देखा और सम्यग्दर्शन हुआ। आहाहा! समझ में आया?

भगवान (सर्वज्ञ-तीर्थंकर) जैसा प्रभु आत्मा को देखते हैं, वह पूर्णानन्द का नाथ, पर ज्ञेय से भिन्न—व्यक्त से भिन्न—अव्यक्त है। बाह्य में आया ही नहीं। आहाहा! सर्वज्ञ आदि (जो-जो) पदार्थ हैं, उनमें एक आत्मा आया नहीं, अरे! अपनी एक समय की पर्याय जो है, उसमें भी आत्मा आया नहीं। आहाहा! ऐसा भगवान आत्मा जो ध्रुव चैतन्य

(बिम्ब) है, उसे यहाँ पर की प्रसिद्धि की अपेक्षा से अप्रसिद्ध-अव्यक्त-ऐसा कहा गया है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म है। समझ में आया?

जयसेनाचार्य ने इसका अर्थ जरा दूसरा किया है। यह अमृतचन्द्राचार्य का अर्थ है। जयसेनाचार्य ने, अव्यक्त अर्थात् मन का विषय जो रागादि-क्रोधादि है, उनसे भिन्न सूक्ष्म-अतिसूक्ष्म है। मन के विषय राग आदि हैं। आहाहा! दया, दान, व्रत, भक्ति, यात्रा (आदि के भाव) वे मन का विषय हैं। वे आत्मा का विषय हैं नहीं। वे तो स्थूल का विषय है, उनसे भिन्न भगवान (आत्मा) अन्दर अति सूक्ष्म है। वह (अति सूक्ष्म आत्मा) मन से भी जानने में नहीं आता, विकल्प से भी जानने में नहीं आता, आहाहा! देव-गुरु और शास्त्र की मदद से भी जानने में नहीं आता। आहाहा! समझ में आया?

'अकिंचित्कर' कहते हैं, कहा था न! बन्ध अधिकार में (समयसार गाथा २६७ भावार्थ :- जो हेतु कुछ भी न करे वह अकिंचित्कर कहलाता है।) ऐसा कि दूसरा दूसरे को बन्ध करा दे, दूसरे को मोक्ष करा दे! किस प्रकार करा दे? उसे बन्ध तो उसकी दशा से-अध्यवसान से, अज्ञानदशा से बन्ध होता है और उसकी वीतरागदशा से उसका मोक्ष होता है, तू क्या कर सकता है पर की (दशा को)? पर का करने में तो तू अकिंचित्कर है-ऐसा पाठ है। संस्कृत टीका में २६७ गाथा बन्ध अधिकार की (है) तू दूसरे को मोक्ष करा देता है? दूसरे को सम्यग्दर्शन करा देता है? आहाहा! दूसरे को सम्यग्ज्ञान करा देता है? (दूसरे को) चारित्र करा देता है? यह बात बिल्कुल झूठ है। आहाहा!

दूसरे को सम्यग्ज्ञान तू करा देता है? उपदेश द्वारा ज्ञान होता है या नहीं उसे? उपदेश से जानने में जो आता है ज्ञान! है तो अपनी पर्याय। वह कहीं शब्द से आयी नहीं। वह पर्याय भी सम्यग्ज्ञान नहीं है। वह (शब्द ज्ञान) बाह्य में जाता है-व्यक्त में जाता है। आहाहा! और ज्ञेय में जाता है। शास्त्र का ज्ञान और सुनने से अपनी पर्याय में अपने उपादान से जो ज्ञान हुआ, वह भी बाह्य में-व्यक्त में-ज्ञेय में-परज्ञेय में जाता है - ऐसी बात है। आहाहा!

श्रोता : यह प्रवचन होता है, वह क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रवचन जड़ की भाषा है यह। कौन करे प्रवचन?

श्रोता : सुने तो सही न!

पूज्य गुरुदेवश्री : सुने कौन? यह तो पहले निषेध किया, इन शब्दों में-यह द्रव्येन्द्रिय जो जड़ है, उसका स्वामी आत्मा नहीं है, आत्मा ने वह नहीं किया। (उन शब्दों को) द्रव्येन्द्रिय से जाने और माने? और भावेन्द्रिय जो अन्दर है-जो ज्ञान की पर्याय शब्द को जाने ऐसी भावेन्द्रिय... तो भावेन्द्रिय का स्वामी आत्मा नहीं है। भावेन्द्रिय उसका वास्तविक स्वरूप नहीं है। त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव की अपेक्षा से भावेन्द्रिय उसका वास्तविकस्वभाव ही नहीं है, तो भावेन्द्रिय से जानता है - ऐसा है नहीं देखो! आहाहा! यह दीवाली! तो भावेन्द्रिय से जानता है, यह भी नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

लोग कुछ का कुछ मानकर बैठ गये हैं। हम कुछ धर्म समझे हैं और धर्म करते हैं! बापू! आहाहा! जैनधर्म की पद्धति वह कोई अलौकिक है। आहाहा! पद्धति अर्थात् रीति (रीति अर्थात्) विधि... आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं। आहाहा! **छह द्रव्यस्वरूप लोक...** देखो! वस्तु-द्रव्य छह हैं जगत में। श्वेताम्बर ने छह द्रव्य नहीं माने, भाई! उन्होंने तो पाँच द्रव्य ही माने हैं, काल द्रव्य तो माना नहीं। अत: अभी तो उनकी छह द्रव्यस्वरूप (लोक) ज्ञेय है, उसमें भी उनकी भूल है। आहाहा! सूक्ष्म बात है।

छह द्रव्यस्वरूप लोक... (विश्व)—अनन्त आत्माएँ, अनन्त परमाणु, असंख्य कालाणु, एक धर्मास्ति, एक अधर्मास्ति और एक आकाश-व्यापक सर्व व्यापक (आकाश) जिसका अन्त नहीं है - ऐसा जो द्रव्य। (कहीं) आकाश का अन्त नहीं है। वह छह द्रव्यस्वरूप लोक ज्ञेय, उसका आत्मा ज्ञायक-जाननेवाला; ज्ञेय के अवलम्बन बिना (जानता है)। आहाहा! समझ में आया?

वर्तमान ज्ञान की पर्याय में.. आहाहा! लोक और अलोक—जिसका अन्त नहीं, उसे भी ज्ञेय / परज्ञेयरूप से, स्वज्ञेय में-अपना ज्ञान करने से पर का ज्ञान—स्वपर प्रकाशक हो जाता है। वह पर का ज्ञान नहीं, वह ज्ञेय का ज्ञान नहीं; वह ज्ञान का ज्ञान है। आहाहा! समझ में आया?

छह द्रव्यस्वरूप लोक... लोक, लोक! लोक शब्द में अलोक भी आ गया है, हों! अन्दर। जो ज्ञेय है, मात्र परज्ञेयरूप से ज्ञेय है। (वास्तव में) स्वज्ञेयस्वरूप भगवान

(निजात्मा), उसे (लोक) परज्ञेयरूप से ज्ञेय है। आहाहा! भगवान की मूर्ति और प्रतिमा और मन्दिर (अरे!) साक्षात् भगवान (तीर्थंकरदेव) तीन लोक के नाथ, वे भी परज्ञेयरूप से हैं। समझ में आया? आहाहा! और वह (परज्ञेय) व्यक्त है। अपना जो स्वरूप अव्यक्त, (क्योंकि) बाह्य आया नहीं; इस अपेक्षा से सर्व बाह्य है—पर्याय भी बाह्य है—वस्तु भी बाह्य है; भगवान (आत्मा) अभ्यन्तर चीज अव्यक्तरूप से है, वह पर्याय और पर से भिन्न है। आहाहा!

यह क्या ऐसा उपदेश! कैसा होगा! यह कहीं जैन का होगा! जैन का होवे तब तो सामायिक करो, प्रौषध करो, भक्ति करो, पूजा करो, दान करो, अरे दया करो, यह सब (क्रियाकाण्ड) जैनधर्म नहीं है। यह तो राग (भाव) है। सुन न! समझ में आया भाई! वीतरागमार्ग (अलग है।) आहाहा!

ओहोहो! क्या अमृतचन्द्राचार्य ने अव्यक्त में से अर्थ निकाले हैं! अब कितने ही ऐसा कहते हैं कि गाथा तो बहुत सरल और सीधी है परन्तु अर्थ करनेवाले ने (टीका करनेवाले ने) गूढ़-गूढ़ कर डाली! गूढ़-गम्भीर अर्थात् क्या कहलाता है? दुरूह-दुरूह अर्थ कर डाला है! यह स्पष्ट किया, उसे दुरूह-दुरूह अर्थ कर डाला! अभी आयी है न वह पुस्तक, यहाँ नहीं? अभी आयी है न, विद्यानन्दजी (प्रकाशित) एक विद्यानन्दजी हैं न, उनकी तरफ से एक पुस्तक प्रकाशित हुई है, एकदम उल्टा-विपरीत! ऐसी बात है।

ओहो! आचार्यों का अर्थ (अमृतचन्द्र) आचार्य ने किया है। जैसे कुन्दकुन्दाचार्य, आचार्य थे, महासन्त थे, वैसे यह अमृतचन्द्राचार्य महासन्त आचार्य थे। इन्होंने जो अन्दर में (मूल गाथा में) भाव है, उन्हें स्पष्ट व्यक्त प्रगट करके स्पष्ट किया है। तब वे लोग कहते हैं कि इन्होंने अर्थ करके (टीका रचकर) अर्थ दुरूह कर दिया है। पकड़ में नहीं आवे ऐसा कर दिया है। (उसकी बुद्धि में नहीं पकड़ में आवे) परन्तु नहीं पकड़ में आवे, इसके लिये कहीं.... यह 'इंदिय जीणित्ता' ऐसा भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा! अब इसका अर्थ दुरूह कर दिया! (क्योंकि) द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय और भगवान (तीर्थंकर की) वाणी को भगवान स्वयं इन्द्रिय! यहाँ तक (अर्थ करके) दुरूह कर दिया।

अरे भगवान! सुन न भाई! उन्होंने इसका जो भाव था, उसे स्पष्ट किया है। टीका

बनायी है, तो टीका में अर्थ स्पष्ट किया है। आहा! लोग नहीं कहते तुम मेरी टीका करते हो! वैसे यह अन्दर (जो) भाव हैं, उनकी स्पष्टता करके टीका बनायी है। अमृतचन्द्राचार्य गजब है! आहाहा!

कुन्दकुन्द आचार्य दिगम्बर सन्त, पंचम काल के... तीर्थंकर जैसा काम किया है और अमृतचन्द्राचार्य ने उनके गणधररूप से काम किया है। अब उन्हें कहना कि (दुरूह कर दिया) क्योंकि स्वयं को पकड़ में नहीं आया, अज्ञानभाव है इसलिए।

सीधा कहे इन्द्रिय को जीतना... परन्तु इन्द्रियों को जीतना अर्थात् क्या? समझ में आया? यह तो अन्यमत में भी उन सूरदास में नहीं आता-ऐसा देखकर, वह (न दिखे इसलिए) आँखें फोड़ डालना, इसलिए आँखें फोड़ डाल, यह (कोई) इन्द्रिय जीतना कहलाता है? कान में लकड़ियाँ डाले, न सुनाई दे इसके लिये—क्या यह इन्द्रियाँ जीतना कहलाता है? आहाहा! और (स्पर्श) इन्द्रिय है जो पुरुष की (इन्द्रिय है), उसे काट डाले, वह (इन्द्रिय) जीतना कहलाता है?

बापू! इन्द्रिय जीतना किसे कहा जाता है? कि जो जड़ पदार्थ, ये इन्द्रियाँ शरीर परिणाम को प्राप्त जड़ और भावेन्द्रियाँ जो एक-एक-खण्ड खण्ड (विषय के) ज्ञान को बतलानेवाला जो भाग और जो (इन्द्रियों के विषय) जो परद्रव्य—जो भगवान (तीर्थंकर) तीन लोक के नाथ और उनकी वाणी (दिव्यध्वनि), वह सब इन्द्रिय का विषय होने से वह इन्द्रिय है। आहाहा! उसे भी इन्द्रिय कहा है, उसे जीतना अर्थात् उसका लक्ष्य छोड़ देना। आहाहा! यह ज्ञेय कहा न! परज्ञेय, तो परज्ञेय का लक्ष्य छोड़ देना क्योंकि परज्ञेय में तू नहीं। वह व्यक्त है, उसका लक्ष्य छोड़ देना, क्योंकि व्यक्त में तू अव्यक्त उसमें नहीं - ऐसा स्वरूप है।

यह इन्द्रिय को जीतना अर्थात् शरीर परिणाम को प्राप्त जड़ (द्रव्येन्द्रिय) और भावेन्द्रिय तथा भगवान की वाणी और भगवान, देव-शास्त्र-गुरु और स्त्री-कुटुम्ब-परिवार, इन सबको इन्द्रिय कहा गया है क्योंकि अनीन्द्रिय ऐसा जो प्रभु-आत्मा, उससे भिन्न है; इसलिए उन सबको इन्द्रिय कहा गया है। इस अनीन्द्रिय और इसका लक्ष्य छोड़कर (अन्यत्र लक्ष्य करना, इसलिए वह इन्द्रिय) कहने में आया है।

अतीन्द्रिय ऐसा भगवान आत्मा, आनन्द के नाथ का शरण लेना-उसके आश्रय में जाना, उसका साक्षात्कार करना, उसमें अहंपने का अनुभव होना। अहंपने का (अनुभव)। आहाहा! अहंकार नहीं। आहाहा! यह मैं हूँ - ऐसा अर्थ-परिभाषा ऐसी है। पकड़ना-आत्मा को और ऐसा करना-ऐसा करना, ये सब भाषायें तो समझने के लिये है, बाकी तो वास्तव में तो जो अस्ति तत्त्व महाप्रभु ऐसा जो आत्मा, उसका अहंपना—'यही मैं हूँ' ऐसी मान्यता करना और अनुभव करना। आहाहा! हैं? कैसे करना? यह महाप्रभु-महा अस्तित्व प्रभु है, वहाँ दृष्टि लगाना, वह कोई बात है! वह इन (वचन अगोचर) वह कोई बात कोई समझ में आवे ऐसा है? वाणी में कितना आवे? वास्तव में तो जरा भी नहीं आवे... इशारा आवे इशारा... कथंचित् वक्तव्य कहा है और कथंचित् अवक्तव्य कथंचित् वक्तव्य यह अपेक्षा है। आहाहा!

ज्ञानानन्द, सहजानन्द प्रभु आत्मा का अन्तर में पर्याय से उसका आश्रय लेना अर्थात् उसके अहंपने-यह मेरा है-ऐसा मानना, अनुभव करना, उसका नाम सम्यग्दर्शन और धर्म की पहली सीढ़ी है। आहाह! इसमें तो बहुत डाला है। इस पहले बोल में तो, हों!

ओहोहो! सम्मेदशिखर, गिरनार और शत्रुंजय, ये सब परज्ञेय हैं, कहते हैं। सिद्ध परज्ञेय हैं, अरे! ये शास्त्र हैं न, ये पृष्ठ हैं वे परज्ञेय। उनसे भगवान आत्मा (ज्ञात नहीं होता)। आत्मा उसमें आया नहीं, उससे भिन्न भगवान (आत्मा) है। आहाहा! ये शास्त्र जड़ है, वह परज्ञेय है। उसके वाँचन से ज्ञान होता है, वह ज्ञान नहीं।

श्रोता : आप कहते हो शास्त्र का वाँचन करना, विनय करना। वापस कहते हों वह ज्ञान नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह व्यवहार-विनय तो व्यवहार से है, विकल्प है। यह विनय बाहर का विनय अर्थात् विकल्प; अन्दर का विनय वह निर्विकल्प। आहाहा!

श्रोता : शास्त्र का विनय वह नहीं न?

पूज्य गुरुदेवश्री : शास्त्र का विनय, वह शुभभाव है। भगवान त्रिलोकनाथ (तीर्थंकरदेव) का विनय, वह शुभभाव है, वह आत्मा नहीं। आहाहा! कठिन बातें भाई! नव तत्त्व में वह तो पुण्यतत्त्व में जाता है। भगवान (आत्मा) तो उनसे नव तत्त्व से-पुण्य-

पापतत्त्व से ज्ञायकतत्त्व भिन्न है। वह तो बात यहाँ चलती है। आहाहा! यह छह द्रव्य जो एक ओर-पूरा लोक और अलोक (जिसमें) अनन्त केवली जो ज्ञेयरूप से-परज्ञेयरूप से हैं। आहाहा! मेरे वे देव हैं, इस रूप से वे नहीं - ऐसा कहते हैं।

अनन्त सन्त-गुरु, वे आत्मा के गुरु हैं - ऐसा नहीं। वे मेरे गुरु हैं - ऐसा वस्तु में नहीं - ऐसा कहते हैं। ऐ मीठाभाई! ऐसी मीठी बातें हैं। आहाहा! क्या वीतरागी सन्तों के कथन! कहते हैं हम तेरे गुरु हैं, यह बात तू माने तो यह बात झूठी है; हम तो परज्ञेयरूप से तेरे हैं! आहाहा!

मुमुक्षु : छह पद के पाठ में श्रीमद् ने ऐसा लिखा है!

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ; उन्हें भी पर है न! आहाहा! उसमें ऐसा कहा है कि पाँचों उत्तर से हुआ समाधान सर्वांग होगी मोक्ष उपाय की यह प्रतीत-सहज, सहज पाँचों उत्तर से हुआ समाधान, प्रतीति होगी, मोक्ष उपाय का सहज-सहज किस प्रकार प्रतीति, इस प्रकार से।

भगवान आत्मा अन्तर अतीन्द्रिय आनन्द का (नाथ)! अतीन्द्रिय ज्ञायक की मूर्ति प्रभु है और ये छह द्रव्य जो ज्ञेय हैं, वे तो उसके परज्ञेय हैं, स्वज्ञेय नहीं। वे (परज्ञेय) व्यक्त हैं, वे बाह्य हैं; अन्तर में नहीं। आहाहा!

अहा! अरे! जीव आदि बहिरतत्त्व कहा-वे बहिरतत्त्व हैं कहते हैं। संवर, निर्जरा, और मोक्ष की पर्याय भी बहिरतत्त्व है। अन्तरतत्त्व जो ज्ञायक त्रिकाल है, उससे यह (पर्यायमात्र) बहिर है। आहाहा! केवलज्ञान की अपनी पर्याय और संवर-निर्जरा की पर्याय भी बहिरतत्त्व है। भगवान (आत्मा को) वे परज्ञेयरूप से हैं। स्वज्ञेय (एक ज्ञायकभाव) तो उनसे भिन्न है। आहाहा! ऐसी बात है।

अरे रे! वास्तविक तत्त्व क्या? वह भी कुछ समझने में नहीं आता-कथन में नहीं आता अभी तो... (आहा!) यह प्ररूपणा—ऐसा करो, ऐसा यह करो, ऐसा करो! आहाहा!

भगवान तीन लोक के नाथ, (तीर्थंकरदेव) सर्वज्ञदेव कहते हैं, वही सन्त कहते हैं। सन्त की टीका करनेवाले भी सन्त हैं। दुरूह नहीं किया, स्पष्ट किया है। आहाहा! जैसे गाय और भैंस के आँचल में (आऊ में) दूध होता है तो आऊ में रहे हुए दूध को चतुर

महिला होती है, वह उसमें से निकालती है। ऐसे पाठ के भाव में यह भाव है, उसे (टीका करके) निकालते हैं। स्वयं की (आचार्य की) टीका है, इसलिए वह भिन्न है और भाव में अन्दर नहीं, ऐसा है नहीं। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई!

परिभ्रमण करते-करते अनन्त काल व्यतीत हुआ। आहाहा! अभी जलाकर आये नहीं होंगे? आ गये! है है, कहाँ है? ठीक! आ गये हैं, दूसरे सब नहीं आये होंगे, पौने छह ये कहते हैं निकाले थे। वह मुख्य, दूसरे तो गये आ गये, वहाँ से अवकाश लेकर, जलावे वहाँ तक वहाँ (सब तो) नहीं रुकते! गया वह परगति को चला गया। यहाँ बैठता था, यहाँ सुनने को सबेरे नहीं आ सकता था, दोपहर को आता था... ऐसी देह की स्थिति बापू!

आहा! वह तो ज्ञान का ज्ञेय है। जो जो स्थिति होती है, वह ज्ञान ने परज्ञेय रूप से है। उसमें आत्मा को कोई आघात नहीं है और आत्मा में उसके कारण कोई नुकसान भी नहीं है। आहाहा! देह छूटने के प्रसंग में ज्ञानी को तो उसका ज्ञेयरूप से ज्ञान होता है। छह द्रव्य आये न! (परज्ञेयरूप से)। आहाहा! मेरा मरण होता है-मैं देह से छूटता हूँ - ऐसा नहीं। आहाहा!

श्रोता : देह से भिन्न तो पड़ा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : भिन्न? वह तो भिन्न ही मैं तो त्रिकाल हूँ-भिन्न ही हूँ तो भिन्न होऊँ कहा से?

श्रोता : संयोग है उसका वियोग होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो व्यवहारनय की अपेक्षा से; वरना अन्दर में तो त्रिकाली भिन्न ही है। अरे! राग से भी वह तो भिन्न मुक्तस्वरूप भगवान आत्मा है। जिसे (गाथा) १४-१५वीं में अबद्धस्पृष्ट कहा है! (भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने कहा है)।

भगवान कुन्दकुन्दाचार्य दिगम्बर सन्त! जिनका (मंगलाचरण में तीसरा स्थान है) मंगलं भगवान वीरो, मंगलं गौतमोगणी, मंगलं कुंदकुंदार्यो (जैन धर्मोस्तु मंगलं) पहले भगवान, पश्चात् गणधर, पश्चात् तीसरे कुन्दकुन्द आचार्य। ये कुन्दकुन्द आचार्य कहते हैं। आहाहा! समझ में आया?

(कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं) कि पर्याय मात्र है, वह आत्मा को पर—ज्ञायक का ज्ञेय

है। आहाहा! जगत को बात जँचना कठिन है! अन्त:तत्त्व है, वह बाह्यतत्त्व से भिन्न है। ओहोहो! बाह्य तत्त्व कहा न, भाई! उस नियमसार, शुद्धभाव अधिकार में तो केवलज्ञान बाह्य तत्त्व! आहाहा! और मोक्ष का मार्ग जो प्रगट हुआ है-अन्तरतत्त्व के अवलम्बन से, वह भी बाह्य तत्त्व है। आहाहा! भगवान (आत्मा) तो अन्दर ज्ञायकतत्त्व जो चैतन्यमूर्ति प्रभु वह अन्त:तत्त्व है; बहिरतत्त्व से भिन्न है। ओहो! अन्तरतत्त्व से बहिरतत्त्व भिन्न है। आहाहा! केवलज्ञान की पर्याय भी अन्त:तत्त्व से भिन्न है। आहाहा! अभी शरीर से (आत्मा को) भिन्न मानने में पसीना उतरे! यह देह मेरी, मैं हूँ तो चलती है-बोलती है (परन्तु भाई!) वह तो जड़ की क्रिया, क्या तुझसे हुई? आहाहा! यहाँ तो (कहते हैं) छह द्रव्यस्वरूप (लोक परज्ञेय है) बहुत गजब कर दिया है। आहाहा!

एक ओर सत्य का-ज्ञायकस्वरूप जहाँ दृष्टि हुई, पर्याय जहाँ अन्तर में ढलकर उस छह द्रव्य का ज्ञान-स्वद्रव्य का ज्ञान हुआ, वहाँ तो मैं तो छह द्रव्य से और छह द्रव्यों के गुणों से और छह द्रव्यों की पर्यायों से (भिन्न हूँ) आहाहा! और छह द्रव्य का जो ज्ञान होता है, उस ज्ञान से भी मैं तो भिन्न हूँ। ऐई... नवरंगभाई! ऐसा है। **जीव अन्य है, इसलिए अव्यक्त है**। आहाहा! एक बोल हुआ, छह बोल हैं। यह दिवाली और नूतनवर्ष-दो बड़े (दिन) (बोल) अव्यक्त के ठीक आ गये हैं।

दूसरा बोल! **कषायों का समूह जो भावकभाव व्यक्त है, उससे जीव अन्य है, इसलिए अव्यक्त है॥२॥**

(क्या कहते हैं)? जो कुछ अन्दर में पुण्य और पाप, दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, काम-क्रोध, मान, माया, लोभ उत्पन्न होता है, वह भावक अर्थात् कर्म जो भावक है, उसका यह भाव हैं। आत्मा भावक और उसके वे भाव नहीं हैं। आहाहा! **कषायों का समूह...** चाहे तो दया का भाव, दान का भाव, भक्ति का भाव, पूजा का भाव, यात्रा का भाव, भगवान की भक्ति में लाखों रुपये दान में (देना), वह सब कषायों का समूह है-राग है। कषायों का समूह भावकभाव।

(देखो)! ३२ वीं गाथा में कषाय का समूह भावकभाव आ गया है। एक ३६ वीं गाथा में 'नास्ति नास्ति मम कथन मोह:'—भावकभाव आ गया है। यह तीसरा यहाँ आया,

वह तीन भावकभाव। दूसरा मैंने पहले कहा था, सैंतालीस शक्ति में से, वहाँ भी भावकभाव है। सैंतालीस शक्ति में कर्तृत्वशक्ति है न! उसमें है न! कर्तृत्वशक्ति-४२वीं शक्ति- **होनेपनरूप और सिद्धरूप भाव के भावकत्वमयी कर्तृत्वशक्ति...**

क्या कहते हैं ? कि यह जो भावकभाव अपने अभी चलता है, वह तो पुण्य-पाप के विकारी भाव, भावककर्म का भाव है, अपना (आत्मा का) नहीं। आहाहा! अब अपना भावकभाव क्या ? कि अपने आत्मा में एक कर्तृत्व नाम का त्रिकाली गुण है। आत्मा जो वस्तु है, उसमें ज्ञान-दर्शन, आनन्द आदि अनन्त गुण हैं। उनमें एक कर्तृत्व नाम का गुण है। कर्तृ, हों ? कर्तृ यह शब्द इन भाई को, पण्डित को कहा यह कर्तृ क्यों आया, कर्ता क्यों नहीं आया ? कर्तृ क्यों आया ? तो यह है शब्द संस्कृत की शैली है। कहते हैं। यह प्रश्न मैंने भाई को पूछा था। कर्ता नहीं आया और कर्तृ क्यों आया है ? है न, कर्तृ है न! देखो न! कर्तृत्व है न ? कर्ता नहीं आया, कर्तृत्व आया अर्थात् यह संस्कृत की शैली में आता है।

४२, क्या कहते हैं ? कि आत्मा में एक कर्तृत्व नाम का गुण, अनादि अनन्त पड़ा है। उस कर्तृत्व गुण का कार्य क्या ? कि जो निर्मल पर्यायभाव है, उसका भावक यह कर्तृत्व-शक्ति है। कर्तृत्व शक्ति-(गुण), वह भावक है और उसका (कार्य-भाव) निर्मल पर्याय आदि भाव है और यह जो विकारी भाव अभी चलता है, वह भावक-कर्म का भावक का भाव है। वह गुण का-भावक का भाव है। आहाहा! वीतरागमार्ग बहुत सूक्ष्म है बापू! उसमें भी यह दिगम्बर धर्म, यह जैनधर्म है। बहुत सूक्ष्म! आहाहा!

यहाँ कहा, आत्मा में कर्तृत्व नाम का गुण है तो उस गुण का धारक भगवान आत्मा ज्ञायक, उस ज्ञायक की दृष्टि करने से जो निर्मल पर्याय होती है, उसका भावक वह कर्तृत्व गुण है अथवा भावकद्रव्य अभेद से कहने में आता है। द्रव्य जो भावक है, यह निर्मल पर्याय उसका भाव है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय के भाव का भावक यह द्रव्य है। इसलिए उसमें गुण है ऐसा लेकर...

यह जो निर्विकारी पर्याय होती है सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की शुद्धि, वह पूर्व की पर्याय से नहीं, निमित्त से नहीं, राग का अभाव हुआ इसलिए नहीं; आहाहा! वह कर्तृत्व नाम का भगवान में (आत्मा में) गुण अनादि-अनन्त पड़ा है तो उसके कारण, वह भावक

होकर दृष्टि जब द्रव्य पर है तो उस काल में भाव होकरसम्यग्दर्शन आदि पर्याय के भाव का भाव वह है। पूर्व की पर्याय का भाव नहीं-निमित्त का भाव नहीं। आहाहा! जैसे केवलज्ञान हुआ तो भी मोक्ष के मार्ग की पर्याय से वह भाव नहीं, यह केवलज्ञान की पर्याय हुई, वह कर्तृत्व गुण के-भावक का भाव है ऐसा सीधा...। आहाहा! समझ में आया? यह मार्ग बहुत सूक्ष्म है भाई! अभी तो लोगों को बाहर में एक तो बाईस घण्टे धर्म नहीं और पूरे दिन पाप करते हैं-धन्धा और व्यापार और पाप, स्त्री, पुत्र को सम्हालना... उसमें घण्टा (भर फुरसत मिले) तो इस बाहर की प्रवृत्ति में रुकते हैं। यह करो... यह करो... यह करो... आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि कर्म जो जड़ हैं, वह निमित्त हैं, उसे भावक कहा और भाव उसके विकार परिणाम-दया, दान, व्रत, शुभ-अशुभ (भाव), व्यवहाररत्नत्रय का भाव, वे भावक के भाव हैं। भगवान आत्मा में भावक जो गुण है, उसके वे भाव नहीं हैं। आहाहा! ऐसी बात है। इसमें पड़ा है या नहीं यह सब अन्दर! आहाहा! यह है न!

भावक, उसमय सिद्धरूप भाव के सिद्ध अर्थात् सिद्ध ऐसा नहीं, उस समय होनेवाली पर्याय जो निर्मल है। सिद्ध अर्थात् उस समय में होनेवाली प्राप्य है। वह प्राप्य, विकार्य और निर्वृत्य। आहाहा! वीतरागी आत्मा की पर्याय-शुद्ध की पर्याय, जो भाव है, उस भाव का भावक वह सिद्ध है। सिद्ध अर्थात् उस समय में होनेवाली है। वहाँ यह आया जन्मक्षण है। आहाहा! उस उत्पत्ति का जन्मक्षण क्रमबद्ध में वह है। वह जन्मक्षण में है और सिद्ध अर्थात् उस समय में होनेवाली है। आहाहा! उसका भावक, आत्मा में कर्तृत्व नाम का उपादान-अन्दर शक्ति / गुण है, उससे यह सम्यग्दर्शन-ज्ञान की पर्याय शुद्धि की वृद्धि होती है, वह भी भावक के भाव के कारण, पूर्व की पर्याय के कारण नहीं। आहाहा! समझ में आया?

इस भावकभाव से वह भावकभाव अलग / भिन्न है। **कषायों का समूह जो भावकभाव...** ये पुण्य-पाप के भाव **व्यक्त है, उससे जीव अन्य है,...** ये पुण्य-पाप के भाव, व्यवहाररत्नत्रय का राग जो भावक का भाव है, उससे आत्मा भिन्न है। उसे—आत्मा को यहाँ अव्यक्त अर्थात् सम्यग्दर्शन ज्ञान का विषय (ध्येय) कहा गया है।

विशेष कहेंगे। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १२४ गाथा-४९, दिनाङ्क ०१-११-१९७८, बुधवार
कार्तिक शुक्ल १, वीर निर्वाण संवत् २५०४

श्री समयसार, ४९ गाथा का अव्यक्त बोल है। बहुत सरस! यह मांगलिक का है। पहला बोल तो ऐसा कहा कि जो छह द्रव्य-लोक है, वह तो ज्ञेय है-व्यक्त है, तथापि उससे जीव अन्य है। यह निर्णय कौन करता है? पर्याय ऐसा निर्णय करती है। आहाहा! 'मैं' छह द्रव्य ज्ञेय और व्यक्त हैं, उनसे मैं (भिन्न) ज्ञायक और अव्यक्त अर्थात् वस्तु, वह जीव हूँ। आहाहा! शब्द ऐसा है न? आहाहा! एक बोल हो गया है।

दूसरा (बोल) **कषायों का समूह जो भावकभाव**। आहाहा! जो पर्याय में भावक जो कर्म, उससे होनेवाले विकल्प जो शुभ और अशुभ हैं, वे व्यक्त हैं, प्रगट हैं; उनसे मैं अन्य हूँ। आहाहा! पर्याय ऐसा जानती है कि यह कषायों का समूह जो भावकभाव है, उनसे मैं भिन्न हूँ। दो के बीच पड़ी हुई पर्याय... आहाहा! पर्याय ऐसा जानती है अनुभूति... भाषा तो क्या करे? कि मैं एक जीवद्रव्य हूँ, अव्यक्त अर्थात् पर्याय में आया नहीं और पर में आया नहीं-इस अपेक्षा से; बाकी है तो व्यक्त। आहाहा! इस अपेक्षा से मैं आत्मा, जीव,.. कषायों के समूह विकल्प की जाति चाहे जो हो। आहाहा! गुण-गुणी के भेद का विकल्प-राग हो, शास्त्र को लिखने का विकल्प हो। आहाहा! उस विकल्प के समूह से-वह भावकभाव कर्म का भाव है। आहाहा! शास्त्र लिखते समय विकल्प है न? कर्ता नहीं। यह जो कर्ता होकर लिखते हैं, वे तो मिथ्यादृष्टि हैं। आहाहा! समझ में आया?

यहाँ तो विकल्प आया है, वह कषाय का समूह है और भावक का भाव है; मेरे भावक का भाव वह नहीं। आहाहा! मेरा भाव तो उस विकल्प से (भिन्न है)। आहाहा! हें? लिखते समय भी आचार्य ऐसा कहते हैं कि यह विकल्प जो है, वह तो कर्म के भावक का भाव है, मेरे द्रव्य का भाव वह नहीं; मेरी वस्तु है, उसका वह भाव नहीं। आहाहा! है? ऐसी बात है प्रभु! आहाहा! ओहोहो! **कषायों का समूह जो भावकभाव व्यक्त है,...** प्रभु है तो इससे भिन्न, यहाँ अव्यक्त कहा है। अव्यक्त का अर्थ कि पर्याय में नहीं आता, द्रव्य बाहर में नहीं आता, इस अपेक्षा से (अव्यक्त कहा है)। वस्तुरूप से तो द्रव्य व्यक्त / प्रगट ही है। आहाहा! ये दो बोल तो चल गये हैं।

अब यह तीसरा—**चित्सामान्य में...** बहुत अलौकिक बात है, बापू! आहाहा! ज्ञायकभाव चित्सामान्य अर्थात् दर्शन-ज्ञानरूपी चित्, ऐसा जो सामान्यरूप। चित्सामान्य—चित् अर्थात् ज्ञान और दर्शन, ऐसा जो शाश्वत् सामान्य स्वभाव, उसमें दूसरे सब गुण आ जाते हैं। आहाहा! मैं कौन हूँ—ऐसा निर्णय सम्यग्दर्शन की पर्याय अथवा ज्ञान की पर्याय ऐसा निर्णय करती है। आहाहा! यह **चित्सामान्य में...** ज्ञायक दर्शन और ज्ञान, ऐसा सामान्य अर्थात् ध्रुव, उसमें **चैतन्य की समस्त व्यक्तियाँ...** चैतन्य की सर्व प्रगट अवस्थायें—भूत और भविष्य की, उसमें अन्तर्मग्न है। अर्थात् वह अन्तर्मग्न है अर्थात् कि वे गुणरूप हैं। आहाहा!

पूर्व और पश्चात्... आहाहा! मति-श्रुतज्ञान की पर्याय प्रगटी है, वर्तमान, वह ऐसा कहती है, वर्तमान—बाह्य-वह ऐसा कहती है कि भूतकाल की मेरी मति, श्रुतज्ञान की पर्यायें और भविष्य में भी मति-श्रुत और केवलज्ञान की भी पर्याय... यह तो एक ज्ञान से बात ली है, ऐसी अनन्त गुण की... आहाहा! मैं आत्मा कौन हूँ? कि चित्सामान्य जो वस्तु है, उसमें चैतन्य की सर्व प्रगट दशायें... प्रगट तो पर्याय थी, तब की अपेक्षा से है। भूतकाल में थी, भविष्य में होगी, इस अपेक्षा से प्रगट कहा, परन्तु मेरे स्वरूप में वे अभी नहीं, भेद उसमें नहीं। आहाहा। अकेला ज्ञायकभाव, जिसे यहाँ पर्याय और पर की अपेक्षा से अव्यक्त कहा, परन्तु पर्याय में वह व्यक्त होता है। आहाहा! ऐसी बात है। प्रवीणभाई! आहाहा!

मैं चैतन्य जो सामान्य, जो शाश्वत् चीज हूँ। आहाहा! उसमें जो एक यहाँ तो मैंने मति-श्रुत की-ज्ञान की पर्याय ली है, ऐसे श्रद्धा की, ऐसे चारित्र अर्थात् शान्ति की (जो) हो गयी और होगी। आहाहा! वे सभी पर्यायें—वर्तमान के अतिरिक्त, क्योंकि वर्तमान पर्याय में तो यह निर्णय किया कि मैं यह हूँ, मेरा स्वरूप सामान्य जो है, उसमें सभी अवस्थायें निमग्न हैं। अवस्थारूप से अवस्था अन्दर नहीं है, भाई! यह क्या कहा? कि मति-श्रुतज्ञान की मेरी पर्याय हो गयी, वह तो क्षयोपशमभाव की थी और अमुक तक होगी, वह क्षयोपशम की है और फिर होगी, वह क्षायिक की है। आहाहा! परन्तु मेरा भगवान ये भूत और भविष्य की पर्याय अन्तर्निमग्न अर्थात् पारिणामिकभाव से है। आहाहा! समझ में आया?

श्रोता : पारिणामिकभाव से है अर्थात् क्या ?

पूज्य गुरुदेवश्री : अर्थात् प्रगट पर्याय का जो भाव था, वह भाव अब अन्दर में नहीं। जो त्रिकाली ध्रुवस्वभाव है, उसमें सामान्य स्वभाव उसका हो गया है। पारिणामिक-स्वभाव अर्थात् एकरूप स्वभाव। यह जो व्यक्त पर्याय है, वह तो अनेक प्रकार से भिन्न-भिन्न कोई क्षयोपशम की, कोई क्षायिक की, मति-श्रुत क्षयोपशम की, समकित क्षायिक होता है उसकी, आहाहा! चारित्र के स्वरूप के आचरण की प्रगट अवस्था है वह; हो गयी वह; होगी वह, आहाहा! ऐसी-ऐसी ज्ञान की, दर्शन की, चारित्र की, आनन्द की, आहाहा! आनन्द की पर्याय भी, मैं साधक हूँ तो मेरी जो आनन्द की पर्याय बीत गयी, वह अन्तर में गयी, भले वह आनन्द की पर्याय क्षयोपशमभाव से हो परन्तु अन्तर (में) गयी, वहाँ पारिणामिकभाव से हो गयी। आहाहा! पारिणामिकभाव अर्थात् सहज ज्ञायकभाव, ध्रुवभाव में वह आ गयी। वहाँ आगे वह पर्याय अन्दर क्षयोपशमभाव से रहती है (ऐसा नहीं है)। ऐसी तो भाषा यह **चित्सामान्य में चैतन्य की समस्त व्यक्तियाँ निमग्न (अन्तर्भूत) हैं,...** तब यह जो क्षयोपशमभाव है, वह अन्तर्भूत है ? समझ में आया ? चन्दुभाई ! ऐसा सूक्ष्म है।

अब ऐसा नूतन वर्ष है। आहाहा! २०३५ है। पाँच और तीन-आठ, २००० यह तो अंक दूसरा आया। आठ तो दूसरा रहा, आठ कर्म से और उनके भेदों से भी भिन्न भगवान है, ऐसा कहते हैं। **चित्सामान्य में...** अर्थात् जितनी शक्तियाँ मलिनरूप हो गयी और निर्मलरूप भी हो गयी और अभी भी भविष्य में थोड़ी कितनी ही मलिनरूप से रहेगी और कितनी ही व्यक्त निर्मल होगी, वे सब मेरे स्वरूप में अन्दर में एकाकार है। आहाहा! इसी तरह प्रगट ज्ञान की पर्याय, प्रगट श्रद्धा की पर्याय, प्रगट आनन्द की पर्याय, प्रगट स्वरूप आचरण की स्थिरता की पर्याय, ऐसी अनन्त पर्यायों का एकरूप प्रगट, वह यह जीव हूँ - ऐसा निर्णय करती है। भाषा (में) तो एक पर्याय को लिया परन्तु उसकी पर्याय में अनन्त पर्यायें साथ है न ? आहाहा! एक समय में अनन्त पर्यायें प्रगट / व्यक्त है। वे अन्तर में गयी नहीं। आहाहा! समझ में आया ? अरे! कैसा सम्हाला है, देखो न, संक्षिप्त भाषा में!

मैं एक ज्ञायक सामान्यस्वभाव, ध्रुवस्वभाव, एकरूप स्वभावभाव में भूत और भविष्य की पर्यायें कोई मलिन... मलिन गयी वह भी अन्तर्मग्न हुई, उदयभाव की पर्याय

अन्तर्मग्न हुई, वहाँ अन्तर में उदयभाव से नहीं रही; वहाँ तो पारिणामिक स्वभावभाव हुई। आहाहा! ऐसा मार्ग वीतराग सर्वज्ञ का! ओहोहो! उसमें भी आदिपुराण में १००८ नाम दिये हैं। आहाहा! आज आधे घण्टे स्वाध्याय हो गया, १००८ का! आहाहा! ०६.०० से ०६.३०। ओहोहो! गजब काम किया मुनियों ने! उस समय जो शक्ति के वर्णन का विकल्प आया, आहाहा! वह विकल्प कषाय का समूह है, उससे मेरी चीज भिन्न है और फिर भूतकाल और भविष्य में अनन्त पर्यायें हो गयीं, एक-एक गुण की, ऐसे अनन्त गुण की अनन्त पर्यायें हो गयीं; ऐसे भविष्य में एक-एक गुण की एक पर्याय, ऐसे अनन्त गुण की अनन्त पर्यायें होंगी, उन्हें यहाँ व्यक्तियाँ कहा है। सर्व व्यक्ति कहा न? यह व्यक्ति, यह व्यक्ति नहीं कहते लोग? यह व्यक्ति एक आयी। ऐसे यह प्रगट अवस्थायें, आहाहा! इस **चित्सामान्य में निमग्न हैं,...** अकेला मग्न नहीं कहा। निमग्न-स्वभावभावरूप हो गयी है। क्या कहा, समझ में आया? आहाहा! अलौकिक बात है, बापू! तीसरा बोल आया है। आहाहा!

वर्तमान में अनन्त गुण की पर्याय व्यक्त है। वह व्यक्त पर्याय ऐसा निर्णय करती है कि मेरा स्वरूप जो ज्ञायकभाव जो है, उसमें... समझाने में क्या कहें? मैं ज्ञायक हूँ और यह अन्तर्मग्न है, यह भी सब विकल्प है परन्तु समझावे, (तो) क्या समझावे? आहाहा! वर्तमान में जितने गुण हैं, अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... इन सभी गुणों की वर्तमान पर्याय मुझे व्यक्त प्रगट है। एक ही पर्याय है, ऐसा नहीं; अनन्त पर्याय है। वे अनन्त पर्याय अन्तर में गयी नहीं। आहाहा! एक बार चन्दुभाई को पूछा था न कि सामान्य में अन्तर्मग्न हो गया तो वर्तमान गयी या नहीं अन्तर में? कहते हैं 'नहीं'। यह व्याख्या तो हो गयी न। आहाहा!

श्रोता : मेरे गुरु तो वर्तमान पर्याय से भी अन्तर्निमग्न हो गये हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु यह निमग्न हुआ है, यह निर्णय किसने किया?

श्रोता : निमग्न होकर निर्णय किया / हो गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! क्या बोल आया है न? कि आत्मा एक वस्तु है और उसमें अनन्त-अनन्त गुण, अनन्त-अनन्त गुण अर्थात्? जिसकी संख्या की कोई मर्यादा / हद ही नहीं होती। आहाहा! जैसे लोक का अन्त नहीं। कोई हद है? कि अब आकाश

यहाँ हो गया ? क्या है यह ? आहाहा ! इस चौदह ब्रह्माण्ड का अन्त है, असंख्य योजन बस ! परन्तु फिर खाली जगह का ऐसा कहीं अन्त (नहीं)। ऐसा जो अलोक का आकाश है, उसका कहीं अन्त नहीं। आहाहा। उसके अन्तरहित आकाश के अनन्त-अनन्त प्रदेश, उससे भी एक भगवान आत्मा में अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त से अनन्त... अनन्त गुणों का पिण्ड। आहाहा ! क्या कहते हैं यह ? एक बार नास्तिक होवे तो भी उसे विचार में आ जाये कि यह क्या है ? क्या है यह ? और वह अस्तिरूप है। फिर उसका अन्त नहीं, तथापि उसे प्रदेशत्व गुण के कारण आकार है। यह क्या ? किसे ? आकाश को। आहाहा ! ऐसे आकाश के प्रदेशों का आकार है, वे अनन्त-अनन्त प्रदेश हैं, उससे अनन्त-अनन्तगुने भगवान आत्मा में वर्तमान में गुण हैं और उतनी ही अनन्त गुण की जितने अपार... अपार... अपार गुण हैं, उतनी ही वर्तमान पर्याय में अपार... अपार पर्याय प्रगट है। जो प्रगट पर्याय अनन्त हैं, उसे यह.. यह.. यह.. यह.. यह.. यह.. यह.. यह.. अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... तो इस पर्याय की वर्तमान प्रगटता का कोई पर्याय का छोर है, यह वस्तु नहीं। चन्दुभाई, आहाहा !

जो प्रगट पर्याय है, इतनी अनन्त है। आहाहा ! क्षेत्र से ऐसे अन्त आ गया ऐसे इतने में। है ? आहाहा ! परन्तु उसकी जो संख्या प्रगट दशायें, जो सामान्य में वर्तमान मिली ही नहीं। आहाहा ! अनन्त... अनन्त पर्याय, अनन्त... अनन्त... अनन्त जितने गुण उतनी पर्यायें, आहाहा ! उन अनन्त... अनन्त पर्यायों में प्रधानरूप से ज्ञान की पर्याय ऐसा निर्णय करती है, आहाहा ! कि यह चित्सामान्य वस्तु जो है वस्तु, उसमें ये सभी पर्यायें भले मलिन, मलिन हो गयी, थोड़े समय मलिन रहेगी परन्तु जब तक साधक है इसलिए। आहाहा !

अमृतचन्द्राचार्य ने कहा न ? '**कलमाषिताया**' (कलश-३) मेरी पर्याय में कलुषित भाव है। आहाहा ! मेरी पर्याय में दुःखरूप भाव है। आहाहा ! मैं वह नहीं। मैं तो त्रिकाली आनन्दस्वरूप हूँ परन्तु इसकी (समयसार की) टीका करते हुए... यह विकल्प है, उसका भी मैं कर्ता नहीं, यह तो (विकल्प) आ गया और अक्षर लिख गये। वह तो जड़ के कारण लिख गये, मैंने नहीं लिखे, मेरे अक्षर नहीं। आहाहा ! समझ में आया ?

ऐसी अनन्त... अनन्त पर्यायें हो गयीं, कितनी ही, इसकी वर्तमान अनन्त पर्याय

और यह पर्याय अन्तिम है एक, दो, तीन अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... यह अब अनन्त का अन्तिम अनन्त यह है, अन्तिम अनन्त-ऐसा नहीं है। अन्तिम अनन्त भी नहीं। आहाहा! और अन्तिम अनन्त का अन्तिम भाग, वह उसमें नहीं। (कहते हैं) इतनी तो ये प्रगट अवस्थायें हैं। आहाहा! इन प्रगट अवस्था में ज्ञान और श्रद्धा की पर्याय... सामान्यस्वभाव सन्मुख दृष्टि हुई है, उसमें यह निर्णय हुआ है। आहाहा! वर्तमान पर्याय में (निर्णय हुआ है) कि पूर्व और भविष्य की पर्यायें सब अन्तर्मग्न नहीं, निमग्न। निमग्न अर्थात् वे तो पारिणामिकभाव हो गयी, बस। अरे... अरे...! ऐसी बात है। गहन द्रव्यस्वभाव भाई! स्वयंभू भगवान आत्मा! स्वयंभू-स्वयं से स्वयं है और स्वयं से स्वयं प्रगट होता है। आहाहा! एक-एक आत्मा की बात, हों! ऐसे तो अनन्त आत्मायें... आहाहा!

श्रोता : पर्याय और गुण में अन्तर है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय अवस्था है, गुण त्रिकाली है। बहुत सूक्ष्म बात है। पर्याय अवस्था वर्तमान एक समय की है और गुण है, त्रिकाल ध्रुव है। सूक्ष्म बात, बापू! एक-एक बात... हैं ?

श्रोता : बहुत गहन!

पूज्य गुरुदेवश्री : कितना समाहित कर दिया है। आहाहा! **चित्सामान्य में...** मेरा प्रभु जो सामान्यरूप है जो ध्रुव है। आहाहा! उस ध्रुव में भूत और भविष्य की अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... एक समय की अनन्त, ऐसी-ऐसी अनन्त समय की अनन्त; भविष्य में भी एक समय की अनन्त, ऐसी अनन्त समय की अनन्त। है ? आहाहा!

श्रोता : वह अन्दर में जाननेरूप जानकर रही हुई है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह नहीं, वह जाने गुण जाने उसे। पर्याय तो गुणरूप से जाने। सर्वज्ञ के ज्ञान में आवे कि यह अंश है, वह इसमें परिणामीरूप से हुआ और यह अंश है, वह प्रगट होगा, यह भगवान के ज्ञान में होता है। यहाँ तो गुण गुणरूप से है, सामान्यरूप से है। अन्तर्मग्न हो गयी है। निमग्न हो गयी है। भाषा देखो न! निमग्न है। नि-मग्न। आहाहा!

उन्मग्न और निमग्न नाम की दो नदियाँ हैं, वैचाक पर्वत में। वह चक्रवर्ती-तीर्थंकर साधने जाता है। स्वयं चक्रवर्ती साधने जाता है, बीच में दो नदियाँ आती हैं। एक नदी उन्मग्न है, एक निमग्न है। आहाहा! उस एक नदी में जो कोई वस्तु गिरे उसे अन्दर डूबा दे-निमग्न (कर दे) और एक नदी में अन्दर वस्तु गिरे उसे बाहर निकाल दे-उन्मग्न। वह निमग्न है, यह उन्मग्न है। इसी प्रकार भगवान आत्मा में... आहाहा! भूत और भविष्य की अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... एक समय में अनन्त-अनन्त का पार नहीं—ऐसी अनन्त समय की पर्यायें और भविष्य की अनन्त काल की पर्यायें। आहाहा! केवलज्ञान की पर्यायें व्यक्त होगी, तब वह अनन्त... अनन्त होगी और उस-उस पर्याय में अनन्त-अनन्त केवलियों (को) जाने, इतनी एक समय के अविभाग प्रतिच्छेद की ताकत है। ये सभी पर्यायें... आहाहा! मेरा सामान्यस्वभाव ध्रुव निमग्न है। आहाहा! है? अर्थात् अन्तर्भूत है। परन्तु अन्तर्भूत है, वह पर्यायरूप से अन्तर्भूत नहीं है। अन्तर में भूत है, वह तो गुणरूप से-पारिणामिकभावरूप से सहज... सहज सहजात्मस्वरूप उसरूप से अन्दर है। आहाहा! अरे! ऐसा उपदेश और यह धर्म है।

श्रोता : नयी वस्तु होवे तो नया धर्म होवे न!

पूज्य गुरुदेवश्री : नया अर्थात् कैसा? आहाहा!

अब पूरी जिन्दगी में आज आधे घण्टे १००८ नाम का स्वाध्याय हुआ। आधे घण्टे! वह सन्तों द्वारा बनाये हुये हैं। है? नाम, आहाहा! ऐसे सब नाम से-भाव से भरपूर भगवान है। आहाहा! ऐसे अनन्त नाम हैं। उस प्रत्येक नाम का गुण / स्वभाव है, भाव है। इन सब भाव से भरपूर भगवान है। आहाहा!

वह है, इसलिए अव्यक्त है। क्या कहा? प्रगट अवस्थायें भूतकाल की और भविष्यकाल की अन्तर्निमग्न हैं; इसलिए उसे अव्यक्त कहने में आता है। किसे? त्रिकाली सामान्य को। आहाहा! क्योंकि वह त्रिकाली अव्यक्त है, इन पर्यायों में अनन्त पर्यायें इसका निर्णय करे, श्रद्धा के साथ अनन्त पर्याय ढली है और श्रद्धा, परन्तु फिर भी वह भूत और भविष्य की पर्यायें अन्तर्निमग्न हैं, तथापि उसे अव्यक्त कहने में आता है। किसे? शाश्वत् चीज को, क्योंकि वह स्थायी चीज है, यह निर्णय करती है, उस पर्याय में भी वह चीज

नहीं आती। पर्याय उसे जाने-पर्याय उसे जाने कि यह पूर्ण / पूरा है, फिर भी पूर्णस्वरूप पर्याय में नहीं आता, उसका ज्ञान आता है। आहाहा! श्रद्धा की पर्याय में पूर्ण जितना है, उसकी प्रतीति आवे परन्तु प्रतीति में वह वस्तु है, वह नहीं आती। आहाहा! ओहोहो! ऐसी बात के समक्ष कहाँ दूसरी बातें! है? आहा! संस्कृत में है न यह, देखो! **चित्सामान्य निमग्नम्, समस्त व्यक्तित्त्वात्,** संस्कृत है, इतना शब्द है। **चित्सामान्य, निमग्न, समस्त व्यक्तित्त्वात्, अव्यक्त।** आहाहा! अनन्त-अनन्त पर्यायें प्रगट हैं, व्यक्त हैं और अनन्त-अनन्त पर्यायें इसमें गयी हैं; इसलिए उस वस्तु को अव्यक्त कहने में आता है। व्यक्त थी, वह गयी, उसे यहाँ अव्यक्त कहने में आता है। आहाहा! इसी प्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की पर्याय... यह वस्तु अव्यक्त है अर्थात् सामान्य है, वैसे वहाँ दृढ़रूप से स्थिर होता है, स्थिर चीज में दृष्टि स्थिर होती है। वह स्थिर है, स्थिर सामान्य अन्दर। अन्तर्निमग्न हो गयी, वहाँ यह सब स्थिर है। पर्यायरूप से था, वहाँ अस्थिर था, कम्पन था, सक्रियपना था, पर्यायरूप से जब है, वह सक्रियपना था। आहाहा! चाहे तो सम्यग्दर्शन की पर्याय परन्तु वह सक्रिय है, पर्याय है न? आहाहा! ऐई! उसमें निष्क्रिय गुण है न? सैंतालीस (शक्तियों) में एक निष्क्रिय गुण है। आहाहा! यह पर्यायें सम्यग्दर्शन आदि की वर्तमान के अलावा, वर्तमान पर्याय सक्रिय है। सक्रिय है, वह निष्क्रिय का निर्णय करती है। आहाहा! समझ में आया? वह अनन्त पर्यायें जो प्रगटरूप थीं, अभी है, होगी, इन सबको सक्रिय कहने में आता है परन्तु भगवान आत्मा, वह सक्रिय पर्याय अन्दर गयी, इसलिए (तो भी) उस चीज को तो निष्क्रिय कहने में आता है। आहाहा! ऐसा द्रव्यस्वभाव है। आहाहा! और उसकी दृष्टि करना, वह सम्यग्दर्शन है। आहाहा! समझ में आया? और उसका ज्ञान करना, वह सम्यग्ज्ञान है और वह चित्सामान्य जो अन्तर्निमग्न पूर्व-भविष्य की पर्यायें... उसमें लीनता होना, वह चारित्र है। यह मोक्ष का मार्ग है। यह तीसरा बोल हुआ।

चौथा (बोल—) **क्षणिक व्यक्तिमात्र नहीं है, (इसलिए अव्यक्त है।)** एक समय की अवस्था क्षणिक है। आहाहा! केवलज्ञान की पर्याय भी क्षणिक है-एक समय की है। आहाहा! यह तो बहुत सादी भाषा और वस्तु अलौकिक! वर्तमान में प्रगटरूप अनन्त पर्यायें व्यक्तरूप हैं। आहाहा! उस क्षणिक व्यक्तिमात्र यह वस्तु नहीं। आहाहा! एक समय की अनन्त पर्यायें व्यक्त है, अनन्त गुण की अपार, जिनका पार नहीं, ऐसी क्षणिक

व्यक्तिमात्र प्रभु नहीं है। आहाहा! यह दृष्टि का विषय भगवान आत्मा, वह क्षणिकमात्र व्यक्तिरूप नहीं है। क्षणिक व्यक्ति उसका निर्णय करती है, परन्तु उस निर्णय-पर्यायमात्र आत्मा नहीं है। आहाहा! क्षणिक व्यक्तिमात्र नहीं। क्षणिक व्यक्ति 'मात्र' जोर दिया है, एक समय की भले अनन्त पर्यायें हैं परन्तु क्षणिक हैं। आहाहा! जिन्हें नियमसार शुद्धभाव अधिकार में उन क्षणिक व्यक्तियों को-प्रगट दशाओं को नाशवान कहा है, क्योंकि एक समयमात्र की है न? भले केवलज्ञान (पर्याय) हो परन्तु एक समयमात्र की है, वह नाशवान है। आहाहा! और भगवान आत्मा, वह त्रिकाल जो अव्यक्त यहाँ कहा, वह तो अविनाशी है। पलटन (परिवर्तन) में आता नहीं, बाहर में आता नहीं, स्वयं पलटता नहीं। आहाहा!

क्षणिक व्यक्तिमात्र... सहज ही अव्यक्त का बोल आ गया। इस दीवाली और नूतन वर्ष में। आहाहा! **क्षणिक व्यक्तिमात्र नहीं....** राग तो नहीं, पर तो इसमें नहीं परन्तु इसकी क्षणिक पर्याय—मोक्षमार्ग की—आहाहा! जो क्षणिक पर्याय निर्णय करती है... यह पर्याय निर्णय करती है, इतना यह स्वयं नहीं। आहाहा! ऐसा स्वरूप है। यह किस प्रकार का उपदेश होगा? वह तो ऐसा उपवास करो व्रत करो...

श्रोता : विचार करने की बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो विचार करने की बात है। 'कर विचार तो पाम' यह विचार, वह पर्याय है। श्रीमद् में आता है न? हैं?

श्रोता : स्वविकल्प या निर्विकल्प?

पूज्य गुरुदेवश्री : निर्विकल्प। यद्यपि राजमल टीका में तो विचार को विकल्पवाला लिया है, पता है? टीका में। परन्तु यह विचार ऐसा नहीं, यह विचार अर्थात् ज्ञान की पर्याय निर्विकल्प को यहाँ विचार कहना है और राजमल टीका में विचार वह तो मन्थन अमुक-अमुक वह सब विकल्प है, है न वह सब कहा है, पता है न? आहाहा!

यहाँ तो ऐसा कहते हैं प्रभु! तू रागरूप तो नहीं, पररूप तो नहीं, परन्तु क्षणिक व्यक्तिमात्र भी तू नहीं। आहाहा! मोक्ष के मार्ग की पर्याय है, वह क्षणिक है, केवलज्ञान स्वयं क्षणिक है, फिर उसकी बात क्या करना? आहाहा! उस क्षणिक व्यक्ति-प्रगट दशारूप

अस्तिरूप है, उतना तेरा स्वरूप नहीं, उतना तू अस्ति नहीं। आहाहा! एक पर्याय की अस्तिरूप से प्रगट है, अस्ति है परन्तु उतना तेरा अस्तित्व नहीं।

श्रोता : थोड़ा अस्तित्व पर्याय का है या नहीं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : जरा भी नहीं, यहाँ नहीं। अस्ति है, पर्यायरूप से है परन्तु यह मैं उस अस्तिरूप से उतना नहीं, मेरा अस्तित्व तो एकदम भिन्न है। आहाहा! समझ में आया ?

उस सत्ता का साहेब, स्वयं की सत्ता, क्षणिक सत्ता से भिन्न रखता है। आहाहा! ऐसी अन्तर क्षणिक सत्ता व्यक्तिमात्र नहीं – ऐसा निर्णय कौन करता है ? वह निर्णय तो क्षणिक व्यक्ति ही (पर्याय ही) करती है। चिद्विलास में आया है अनित्य, नित्य का निर्णय करता है; नित्य का निर्णय नित्य कौन करे ? आहाहा! क्षणिक व्यक्ति है, वह अनित्य है, यह त्रिकाल मैं हूँ, इतना नहीं – ऐसा निर्णय क्षणिक व्यक्ति करती है। आहाहा! ऐसा मार्ग है। ऐसा मार्ग वीतराग का कहा श्री वीतराग, आहाहा! इन्द्र की सभा में परमात्मा ऐसा वर्णन करते थे। आहाहा! यह चौथा बोल हुआ।

भले क्षणिक व्यक्ति अनन्त हैं वर्तमान, अनन्त है न ? परन्तु एक समय का अस्तित्व है। उतना अस्तित्वमात्र मैं नहीं हूँ; मेरा अस्तित्व पूर्णानन्द का पूर्ण / पूरा अस्तित्व है, वह पर्याय में नहीं आता; इसलिए उसे अव्यक्त कहा। वस्तुरूप से तो व्यक्त / प्रगट ही है। आहाहा! ऐसा मैं पर्याय की व्यक्तता की अपेक्षा से अव्यक्त अर्थात् मैं हूँ। आहाहा!

अब पाँचवाँ बोल—**व्यक्तता...** अनन्त प्रगट अवस्थायें और **अव्यक्तता...** त्रिकाली ध्रुव जो है। पर्याय में आता नहीं, इस अपेक्षा से अव्यक्तपना। आहाहा! व्यक्त में आता नहीं, इसीलिए अव्यक्तपना। आहाहा! एक क्षणिकमात्र **व्यक्तता और अव्यक्तता एकमेक मिश्रितरूप से प्रतिभासित होने पर भी...** ज्ञान में तो व्यक्तता और अव्यक्तता दोनों ज्ञात होते हैं। 'ज्ञान' प्रगट दशाएँ और दशा में आया नहीं, ऐसी अव्यक्त प्रगट वस्तु दोनों का एक समय में व्यक्त पर्याय में ज्ञान होने पर भी... आहाहा। 'होने पर भी' क्यों कहा ? कि अव्यक्त और व्यक्त का ज्ञान तो दोनों का एकसाथ है। ऐसा होने पर भी **व्यक्तता को ही स्पर्श नहीं करता...** द्रव्य। आहाहा ! है ? गजब बात है। आहाहा!

फिर से... आहाहा! व्यक्त-प्रगट दशायें और अव्यक्त-पर्याय में आया नहीं—ऐसा

अव्यक्त द्रव्य–दोनों का एक समय में मिश्रितरूप से, देखा ? मिश्रितरूप से ज्ञान है। पर्याय का भी ज्ञान है, द्रव्य का भी ज्ञान है, उसे मिश्रित कहा है – ऐसा मिश्रितरूप से उसे प्रतिभासित होने पर भी (अर्थात्) ज्ञान की पर्याय में पर्याय का ज्ञान और द्रव्य का ज्ञान, ऐसा मिश्रितरूप से भास / प्रतिभास – ज्ञान में प्रतिभास, द्रव्य का और पर्याय का ज्ञान में प्रतिभास... आहाहा! वर्तमान ज्ञान की पर्याय में अपनी पर्याय का प्रतिभास और दूसरी पर्याय का प्रतिभास और उस पर्याय में त्रिकाली द्रव्य का प्रतिभास। वस्तु है, वह तो वस्तु में रही परन्तु जैसे सामने बिम्ब है, वैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब। वह प्रतिबिम्बरूप से है, वह दर्पण है। यहाँ बिम्बरूप से वह नहीं। इसी प्रकार यहाँ व्यक्तरूप से पर्याय है और अव्यक्तरूप से वस्तु है अर्थात् इस पर्याय में आया नहीं इसीलिए, इन दोनों का एक क्षण में मिश्रितज्ञान होने पर भी.. आहाहा! उस व्यक्त को द्रव्य स्पर्श नहीं करता। आहा! यह तो अभी दूसरे को छूना और स्पर्श करने की बात चलती है। है ? आहाहा!

वह है न चुम्बन और आलिंगन करना, अरे रे! प्रभु! क्या करता है तू यह ? क्या किया प्रभु ? तू कहाँ गया ? अरे रे!

श्रोता : वह भटकने गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे रे! यह क्या किया भाई! यहाँ तो द्रव्यस्वभाव है, वह पर्याय को स्पर्शता नहीं। अरे रे! तीसरी गाथा में तो ऐसा कहा कि जीवद्रव्य है, वह अपने द्रव्य-गुण-पर्याय तीन को स्पर्शता है, वह तो पर को चुम्बता नहीं इतना बताने के लिये, पर को छूता नहीं, स्पर्शता नहीं इतना बताने के लिये (कहा है)। अपना भगवान आत्मा अपने द्रव्य-गुण-पर्याय को स्पर्शता है। आहाहा! यहाँ जरा सूक्ष्म है परन्तु है यह अलौकिक बात! आहाहा!

लोग भी आये हैं अलग-अलग हैं। सब कुछ आज।

श्रोता : सब बौनी लेने आये हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : सब बौनी लेने आये हैं, सच्ची बात भाई! आहाहा! बात तो सच्ची है भाई! आहाहा!

भगवान आत्मा की पर्याय में लोकालोक का ज्ञान हो और अपने द्रव्य का भी ज्ञान

हो परन्तु यह बात यहाँ नहीं की। मात्र पर्याय का और द्रव्य का ज्ञान... तो पर्याय में लोकालोक का ज्ञान तो है, उसे पर्याय कहते हैं। ज्ञान की पर्याय में, भले श्रुतज्ञान की पर्याय हो परन्तु उस पर्याय का स्व-पर प्रकाशक स्वभाव होने से उस पर्याय में श्रुतज्ञान की पर्याय में भी पर प्रकाशकपना आ जाता है। आहाहा! ऐसी जो एक समय की पर्याय, जिसका ज्ञान स्व-पर प्रकाशकस्वभाव है, १७ वीं गाथा में ऐसा आया है कि वह पर्याय स्व को जानती ही है परन्तु उसकी दृष्टि वहाँ नहीं। यह क्या कहा? कि जो क्षणिक ज्ञान की पर्याय है, उस पर्याय का स्वभाव भी स्व-पर प्रकाशक है; इसलिए वह पर को प्रकाशित करती है ऐसा इसे ज्ञात होता है, परन्तु वह पर्याय स्व को प्रकाशती ही है क्योंकि पर्याय का स्वभाव स्व-पर प्रकाशक है। अकेला पर प्रकाशक है—ऐसा नहीं तथा अकेला स्व प्रकाशक है—ऐसा नहीं। इस पर्याय का सामर्थ्य ही इतना है कि स्व को भी प्रकाशित करे और पर को (भी) अर्थात् स्व को प्रकाशती ही है अज्ञानी की पर्याय भी, परन्तु उसकी नजर वहाँ नहीं। वर्तमान पर्याय त्रिकाल को प्रकाशित करती है, ऐसा पर्याय का स्वभाव होने से वह स्वद्रव्य को पर्याय प्रकाशित करती है परन्तु पर्यायदृष्टिवन्त की दृष्टि पर्याय पर है; अन्तर्मुखदृष्टि पर नहीं। इसलिए उसे जानने में आने पर भी जानता नहीं।

श्रोता : जानने में आने पर भी जानता नहीं!

पूज्य गुरुदेवश्री : जानता नहीं। आहाहा! और यहाँ तो दूसरा सिद्ध करना है कि इसकी जो पर्याय है, वह व्यक्त क्षणिक है और त्रिकाल है, वह ध्रुव है-अव्यक्त है, उसका एक साथ ज्ञान, उस पर्याय में लोकालोक का ज्ञान हुआ, उसे यहाँ पर्याय कहते हैं, पर्याय-उसे यहाँ पर्याय कहते हैं और उस पर्याय का ज्ञान तथा द्रव्य का ज्ञान मिश्रित एक समय में होने पर भी, वह द्रव्य जो अव्यक्त है, वह पर्याय में नहीं आता अर्थात् पर्याय को स्पर्श नहीं करता। आहाहा! उसे जाननेवाली पर्याय को जाननेवाला स्पर्श नहीं करता। आहाहा! समझ में आया?

जानता तो है ऐसा कहा। क्षणिक व्यक्तिमात्र-व्यक्तपना, अव्यक्तपना दोनों मिश्रितरूप से अर्थात् समझाना है मिश्रितपना, बाकी तो पर्याय का धर्म ही ऐसा है, स्व को भी जाने और पर्याय को भी जाने। पर को जाने, यह बात तो पर्याय के ज्ञान में आ गयी अर्थात् पर्याय को

भी जाने और द्रव्य को भी जाने, यह तो पर्याय का स्वत: सिद्ध स्वभाव है तथापि... आहाहा! इतनी जो पर्याय कि जो स्व को जाने, स्वयं को जाने पर को जाने - ऐसी पर्याय को द्रव्य स्पर्शता नहीं। आहाहा! बहुत अच्छा अधिकार आ गया है। है ? आहाहा!

जिसकी एक गुण की पर्याय, ऐसी अनन्त गुण की पर्यायें... आहाहा! जैसे एक पर्याय में लोकालोक को एक पर्याय में जानने की ताकत है। वैसे श्रद्धा की पर्याय में उस सबकी श्रद्धा की ताकत है, ऐसी अनन्त-अनन्त पर्यायों में अनन्त-अनन्त ताकत है-ऐसी अनन्त अनन्त ताकतवाली पर्याय को, पर्याय जानती है और वह पर्याय त्रिकाल को जानती है। आहाहा! जानने पर भी वह ज्ञायकस्वरूप, पर्याय को स्पर्श नहीं करता। आहाहा! पर्याय उसे जाने, पूर्ण जाने, तथापि वह पूर्ण जाननेवाला उस पर्याय में नहीं आता। आहाहा! क्या ऐसी व्याख्या है! आहाहा!

साधारण जानपना हो वहाँ मानो कि अब हम जान गये, बापू! यह मार्ग कोई अलौकिक है। आहाहा! आहाहा! अन्तर का पंथ, उसके पथिक की-पंथ की दशा कोई अलौकिक है। आहाहा! यहाँ यह कहा। आहाहा! पर्याय में मिश्रित-मिश्रित है अर्थात् ? है तो एक समय की इतनी ताकत / शक्ति परन्तु पर्याय का ज्ञान और द्रव्य का ज्ञान ऐसा 'दो' का कहा न, इसलिए मिश्रित कहा। मिश्रित कहीं एक पर्याय है और ज्ञान की पर्याय द्रव्य की है और पर्याय की पर्याय, ऐसा वहाँ मिश्रित हो गया, ऐसा नहीं है परन्तु दोनों का साथ में ज्ञान है; इसलिए मिश्रित कहने में आया है। आहाहा! समझ में आया ?

अब इसमें व्रत पालना और उपवास करना ऐसो को तो मार्ग जँचे किस प्रकार ? भगवान की भक्ति करो, गुरु की भक्ति करो मिल जायेगा। आहाहा! धूल भी नहीं। सुन न! है ?

श्रोता : नहीं है, यह आप कहते हो, वह सरल लगता है परन्तु है वह जरा कठिन।

पूज्य गुरुदेवश्री : है, परन्तु वस्तु है या नहीं ? जिस पर और जिसकी भूमिका पर पर्याय होती है, वह कोई चीज है या नहीं ? जिस पर पर्याय होती है, वह कोई ध्रुव भूमि है या नहीं ? आहाहा! जिस पर पर्याय तिरती है, ऊपर तैरती है तो अन्दर कोई चीज है या नहीं ? आहाहा! अरे! अन्तर में माहात्म्य आना। आहाहा! जिसकी धरती में जो घासफूस

उगा, तो धरती है या नहीं? इसी प्रकार जिसकी भूमिका में से पर्याय उगी हुई—उसकी कोई भूमि-ठोस भूमि, ध्रुव है या नहीं? यहाँ तो कहते हैं कि उसका और पर्याय का ज्ञान होने पर भी, आहाहा! 'होने पर भी' ऐसा कहा न? ऐसा क्यों कहा? कि दोनों का ज्ञान होने पर भी द्रव्य, पर्याय को छूता नहीं। दोनों का ज्ञान एकसाथ होने पर भी वह द्रव्य उस पर्याय को स्पर्श नहीं करता। पर्याय में द्रव्य का ज्ञान होता है, पर्याय में पर का ज्ञान होता है, ऐसी जो पर्याय उसमें स्व-पर का मिश्रित ज्ञान कहने में आया तथापि, ऐसा होने पर भी जिसमें द्रव्य का ज्ञान आया, पर्याय का ज्ञान आया, तथापि वह द्रव्य, जिस ज्ञान ने निर्णय किया है उस पर्याय को वह द्रव्य छूता नहीं। आहाहा! ऐसी बात है। आहाहा!

एकमेक मिश्रितरूप से प्रतिभासित होने पर भी वह केवल व्यक्तता को ही स्पर्श नहीं करता... वह पर्याय को स्पर्श नहीं करता। आहाहा! पर्याय में उसका ज्ञान होने पर भी वह यह ज्ञान जिसका हुआ, वह वस्तु उस पर्याय को स्पर्श नहीं करती। आहाहा! पर्याय में उस वस्तु का ज्ञान होने पर भी, वह ज्ञान हुआ उस पर्याय को वह वस्तु स्पर्श नहीं करती। आहाहा! ऐसी बातें हैं। लो! तीन, चार और पाँच हुए न। **इसलिए अव्यक्त है।**

विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १२५ गाथा-४९, दिनाङ्क ०२-११-१९७८, गुरुवार
कार्तिक शुक्ल २, वीर निर्वाण संवत् २५०४

समयसार ४९ गाथा। अव्यक्त का छठा बोल है न? सूक्ष्म अधिकार है। अव्यक्त के पाँच बोल चले हैं। अव्यक्त अर्थात् क्या? कि एक तो यह कि छह द्रव्यस्वरूप जो जगत-लोक है, वह ज्ञेय है, वह व्यक्त है; उससे भगवान आत्मा भिन्न-अव्यक्त है। वह सम्यग्दर्शन का विषय है। आहाहा!

श्रोता : छह में स्वयं नहीं आया?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, उसमें नहीं आया। छह द्रव्यस्वरूप लोक ज्ञेय है, तब भगवान आत्मा ज्ञायक है। यह (भगवान), हों! छह द्रव्यस्वरूप (लोक) व्यक्त है, तब यह आत्मा अन्दर अव्यक्त-भिन्न है, उसे अव्यक्त दर्शन का विषय अभी कहने में आता है। आहाहा!

श्रोता : छह द्रव्य कहा, उसमें यह आत्मा नहीं आया ?

पूज्य गुरुदेवश्री : इस लोकालोक में यह सप्तम। नहीं... नहीं... सप्तम हो जाता है। एक ओर राम तथा एक ओर गाँव। कहा था, यह बात आ गयी है। आहाहा! एक ओर भगवान ज्ञायकस्वरूप और एक ओर उसकी पर्याय में छह द्रव्य आदि जाने, वह सब छह द्रव्य को जानना, उस समय की पर्याय वह सब ज्ञेय और व्यक्त में जाते हैं। (यह सब) प्रगट है बाहर। आहाहा! अन्तर तत्त्व जो ध्रुव ज्ञायकतत्त्व है, वह आत्मा! ऐसा यहाँ तो कहने में आया है। आहाहा! सूक्ष्म बात, भाई! यह बात तो आ गयी है।

दूसरा बोल—कषायें जो पुण्य और पाप के विकारभाव हैं, वे भावक जो कर्म है, उसका वह भाव है; वह आत्मा का स्वभाव नहीं। दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा आदि का भाव, वह भावक का भाव है। कर्म है, उसमें से निमित्त हुआ विकार, वह उसका भाव है। उससे भगवान आत्मा भिन्न है, आहाहा! सूक्ष्म बात है भाई! सम्यग्दर्शन क्या चीज है और कैसे हो ? इसका इसे पता ही नहीं है। दो (बोल हुए)।

तीसरा, **चित्सामान्य में...** चित्–ज्ञायकस्वरूप जो सामान्य है। आहाहा! उसमें **चैतन्य की समस्त व्यक्तियाँ निमग्न (अन्तर्भूत) हैं,...** भगवान आत्मा ज्ञायक जो सामान्य, जो ध्रुव, जो असल एकरूप है, उसमें ज्ञानादि अनन्त गुण की भूत और भविष्य की जो व्यक्त पर्यायें, वे सब अन्तर्मग्न हैं। आहाहा! ये बाह्य प्रगट जो अनन्त पर्यायें हैं, एक समय में अनन्त गुणों की अनन्त पर्यायें प्रगट / व्यक्त हैं, उनसे भी वह भगवान भिन्न है। आहाहा! यहाँ तो यह पूर्व / भूत और भविष्य की जितनी अनन्त पर्यायें हो गयीं, वे सब वर्तमान ज्ञायक में अन्तर्मग्न हैं। अब यह वर्तमान पर्याय रही, वह उसका निर्णय करती है परन्तु वह वर्तमान पर्याय जो है, वह भी अन्तर में नहीं, द्रव्य में नहीं। आहाहा! ऐसा (समझने को) निवृत्ति कहाँ है ?

दु:ख के पंथ में अनादि से दौड़ रहा है, यह शुभ और अशुभभाव मेरे और यह सबको कर्तव्य करता हूँ, कर सकता हूँ—ऐसा जो मिथ्यात्वभाव, वह तो अनादि दु:ख के पंथ में दौड़ा हुआ है। आहाहा! जिसे सुख के पंथ में जाना हो तो वह क्या है ? क्या रास्ता है ? कहते हैं। आहाहा! भगवान आत्मा एकरूप वस्तु जो चैतन्य है, उसमें भूत और भविष्य

की पर्यायें अन्तर्मग्न हैं और वर्तमान पर्याय उसका निर्णय करती है। आहाहा! वह सुख का पंथ है। आहाहा! ऐसी बात है। यह सब अपने आ गया है।

चौथा, **क्षणिक व्यक्तिमात्र नहीं है,...** एक समय की पर्याय जो व्यक्त है, उतना भी आत्मा नहीं। आहाहा! जो सम्यग्दर्शन की पर्याय जो त्रिकाल को प्रतीति करती है, वह सम्यग्दर्शन की पर्याय क्षणिक है, वह उसमें नहीं। उससे भिन्न भगवान है। आहाहा! सुनायी देता है? थोड़ा-थोड़ा। यह अभी वह होती है न - आवाज होती है न वहाँ, इसलिए पूछा।

क्षणिक व्यक्तिमात्र नहीं... क्या शैली! जो पर्याय जिसका निर्णय करती है, जो सम्यग्दर्शन की पर्याय व्यक्त है, वह उसका-अखण्ड आनन्दकन्द का निर्णय करती है परन्तु वह उतनी मात्र व्यक्तिमात्र आत्मा नहीं है। आहाहा! भगवान तो उससे भिन्न अखण्ड आनन्दकन्द है। आहाहा! यह तो अपने आ गया है।

पाँचवाँ—प्रगट पर्याय और अव्यक्त द्रव्य, दोनों का एक साथ ज्ञान होने पर भी वह व्यक्तपने को स्पर्शता नहीं है। वर्तमान जो पर्याय प्रगट है और त्रिकाली ज्ञायकस्वरूप द्रव्य अप्रगट अर्थात् पर्याय की अपेक्षा से अप्रगट है, पर्याय में नहीं आया; वस्तु की अपेक्षा से प्रगट है। ऐसा व्यक्त जो पर्याय और अव्यक्त जो द्रव्य, उसका एकसाथ ज्ञान होने पर भी वह द्रव्य जो है, वह पर्याय को स्पर्श नहीं करता। आहाहा! ऐसी सूक्ष्म बातें, आहाहा! समझ में आया?

आत्मा शरीर, वाणी, कर्म को तो स्पर्श नहीं करता। दूसरे सभी पदार्थ हैं, उन्हें स्पर्श नहीं करता, छूता नहीं; भिन्न है परन्तु यहाँ तो अब ऐसा कहते हैं कि इसकी जो पर्याय है, निर्मल व्यक्त पर्याय जो है, सुख के पंथ की जो (पर्याय) प्रगट हुई, सम्यग्दर्शन-ज्ञान आदि व्यक्त पर्याय है और वस्तु अव्यक्त पूर्ण है, दोनों का एकसाथ ज्ञान होने पर भी यह द्रव्य अव्यक्त है, वह पर्याय को स्पर्श नहीं करता। आहाहा! समझ में आया? यह पाँच बोल तो आ गये हैं। आज तो छठवाँ है। पाँच का विस्तार हो गया है, यह तो दस मिनिट में दोहराया है।

अब, **स्वयं अपने से ही बाह्याभ्यन्तर स्पष्ट अनुभव में आ रहा है...** भगवान आत्मा स्वयं अपने से, पर की अपेक्षा बिना, राग और निमित्त की अपेक्षा बिना स्वयं स्वयं से ही बाह्य अर्थात् व्यक्त पर्याय और अभ्यन्तर अन्तर्तत्त्व भगवान परमात्म तत्त्व... आहाहा!

एक समय की पर्याय, वह बाह्य तत्त्व। आहाहा! और त्रिकाली वस्तु है, वह अभ्यन्तर तत्त्व। आहाहा! इसे **स्पष्ट अनुभव में आ रहा है...** साधक को पर्याय का और द्रव्य का दो का प्रत्यक्ष अनुभव होने पर भी... आहाहा! **व्यक्तता के प्रति उदासीन...** पर्याय में उसकी दृष्टि टिकती नहीं। साधक की दृष्टि पर्याय में टिकती नहीं। दृष्टि द्रव्य त्रिकाली पर है। आहाहा! सूक्ष्म बहुत, बापू! वीतरागमार्ग ही कोई अलौकिक है। अभी तो बाह्य प्रवृत्ति में लोगों ने मनवा लिया गया है। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि यह सम्यग्दर्शन-ज्ञानादि की पर्याय जो प्रगट है... साधक की बात है न यहाँ? यह पर्याय है, वह व्यक्त है। आहाहा! वह बाह्य है और अन्तर्तत्त्व जो ज्ञायक त्रिकाली है, वह अभ्यन्तर है। इन दो का स्पष्ट अनुभव, दो का प्रत्यक्ष अनुभव साधक को है। धर्मी को, सम्यग्दृष्टि को... आहाहा! धर्मी जिसे कहते हैं, सम्यग्दृष्टि कहते हैं, ज्ञानी कहते हैं, उसे वर्तमान पर्याय और त्रिकाली ज्ञायकस्वरूप दो का एकसाथ अनुभव होने पर भी... पहले में तो ऐसा कहा था कि दो का एकसाथ ज्ञान होने पर भी, वह आत्मा पर्याय को स्पर्शता नहीं। अब, यहाँ ऐसा कहते हैं कि व्यक्त जो बाह्य पर्याय और अभ्यन्तर तत्त्व जो ज्ञायक पूर्णानन्द ध्रुव-दोनों का एक समय में साधक को अनुभव होने पर भी, साधक की दृष्टि वहाँ टिकती नहीं, पर्याय पर टिकती नहीं। मनसुखभाई! ऐसा सब सूक्ष्म है। यह कहाँ धन्धे के कारण सूझ कहाँ? निवृत्ति कहाँ? पूरे दिन पाप, २२-२४ घण्टे। धन्धा... धन्धा... धन्धा... निवृत्त होवे तो स्त्री, पुत्र को सम्हालना, अकेला पाप, अकेला पाप, धर्म तो नहीं परन्तु पुण्य भी नहीं। आहाहा! अब इसमें पुण्य का प्रसंग आवे, तब सुनने का थोड़ा समय रहे। आहाहा! इसमें भी यह तत्त्व क्या है? आहाहा!

बाह्य अर्थात् वर्तमान प्रगट पर्याय। धर्मी जीव को प्रगट पर्याय का अनुभव और अप्रगट अभ्यन्तर तत्त्व का भी अनुभव है। अनुभव शब्द से अनुभव तो पर्याय में है परन्तु ज्ञायक की ओर के झुकाववाली दशा, वह ज्ञायक का भी अनुभव और पर्याय का अनुभव, ऐसा। आहाहा! ऐसा होने पर भी **व्यक्तता के प्रति उदासीनरूप से...** पर्याय के प्रति उसकी दृष्टि टिकती नहीं। टिकती तो ऐसे त्रिकाली पर जाती है। साधक की दृष्टि, समकिती की दृष्टि, वर्तमान प्रगट हुई निर्मल पर्याय का अनुभव होने पर भी और त्रिकाली का अनुभव

होने पर भी साधक की दृष्टि व्यक्तपने टिकती नहीं। दृष्टि वहाँ जाती है द्रव्यस्वभाव... द्रव्यस्वभाव... द्रव्यस्वभाव... ऐसी बातें हैं। आहाहा!

श्रोता : उदासीनता का स्पष्टीकरण करें।

पूज्य गुरुदेवश्री : कहा न, उदासीन (अर्थात्) उसके प्रति टिकता नहीं। कहा न? वहाँ टिकता नहीं, दृष्टि वहाँ ठहरती नहीं। दृष्टि तो इस ओर ढल गयी है। आहाहा! ऐसी बातें कहाँ है कहीं! अभी तो सम्यग्दर्शन कैसे होना, यह बाद में। सम्यग्दर्शन है, वह त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव वस्तु है, उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है। उसके भी दो प्रकार हैं - एक त्रिकाली ज्ञायकस्वरूप है प्रभु ध्रुव, उसके आश्रय से—उसके अवलम्बन से निश्चय सम्यग्दर्शन होता है। दूसरी बात है कि एक पर्याय बहिरतत्त्व है और परमात्म अन्तर-अन्तर अभ्यन्तर तत्त्व है, दोनों की श्रद्धा, वह भी व्यवहार समकित है, राग है—ऐसा कहते हैं।

फिर से, यहाँ जो बहिर और अभ्यन्तर कहा न? यह बाह्य पर्याय है और अभ्यन्तर जो तत्त्व है, उसे अनुभवता होने पर भी, पर्याय में दृष्टि नहीं है। दृष्टि का जोर द्रव्य पर है। आहाहा! अब यहाँ बाह्य तत्त्व जो है पर्याय और अभ्यन्तर तत्त्व है ध्रुव; इन दो की श्रद्धा, वह तो अभी विकल्प और राग है। व्यवहार समकित अर्थात् राग है।

तीसरे प्रकार से—ज्ञेय है और ज्ञायक है। परज्ञेय है और स्वज्ञायक है। दोनों की प्रतीति, वह निश्चयसम्यग्दर्शन है, यह ज्ञानप्रधान कथन है। सूक्ष्म बात है, भाई! ४२ में आता है न? भाई! (प्रवचनसार) २४२, चरणानुयोग। आहाहा! क्या कहते हैं? बापू! जैनधर्म कोई अलौकिक है। आहाहा!

वहाँ ऐसा कहते हैं कि जितने जो ज्ञेयतत्त्व हैं और ज्ञायक स्वयं, इन दो की-ज्ञेय और ज्ञायक की श्रद्धा, उसे निश्चयसम्यग्दर्शन कहना। २४२ में कहा न? वह ज्ञानप्रधान कथन है। समझ में आया? ऐसा कहना कि नवतत्त्व की श्रद्धा है, वह सम्यक्। आता है न यह? मोक्षमार्गप्रकाशक (में आता है।) वह ज्ञानप्रधान कथन है। ज्ञायक त्रिकाल और पर्याय दोनों की श्रद्धा, वह ज्ञानप्रधान सम्यग्दर्शन का कथन है। यह यहाँ तो पर्याय और द्रव्य की दो की श्रद्धा-ज्ञान-अनुभव होने पर भी दृष्टि पर्याय पर नहीं रहती। आहाहा! यह

सुख का पंथ ! बाकी तो पूरी दुनिया उस दु:ख के पंथ में दौड़ गयी है । आहाहा ! समझ में आया ? आहाहा !

एक ओर ऐसा कहना नवतत्त्व की तत्त्वार्थश्रद्धानं, वह सम्यग्दर्शन । वह तत्त्वार्थसूत्र की अपेक्षा से । वह ज्ञानप्रधान कथन है । जो त्रिकाली ज्ञायक है और वर्तमान जो संवर, निर्जरा आदि पर्याय में है, वह सब श्रद्धा है और है एकरूप, भेद नहीं; अत: वह तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्, वह भी ज्ञानप्रधान दर्शन की व्याख्या है और यहाँ अकेला ज्ञायकभाव जो अव्यक्त है और व्यक्त है इन दो का अनुभव होने पर भी, दृष्टि तो द्रव्य पर झुक गयी है । आहाहा !

श्रोता : यह किसका कथन है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह दर्शनप्रधान कथन है । और नियमसार में तो ऐसा कहा कि ज्ञेयतत्त्व, बाह्य तत्त्व और अभ्यन्तर तत्त्व दो की श्रद्धा, वह व्यवहार समकित है और २४२ में कहा कि ज्ञेयतत्त्व और ज्ञायकतत्त्व का दो का श्रद्धान, वह निश्चय सम्यग्दर्शन है । आहाहा ! ज्ञानप्रधान कथन में वह है । ज्ञान तो सब जानता है न ? दर्शन में तो निर्विकल्पता है; इसलिए दर्शन में तो त्रिकाली ज्ञायक को ही दृष्टि में लिया है । आहाहा ! ऐसी बातें अब । समझ में आया ?

यह तो छठा बोल आया न ? बाह्य-अभ्यन्तर दो आये तो बाह्य अर्थात् पर्याय / व्यक्त, वह बाह्य है । निर्मल पर्याय, हों ! वह बाह्य है और अभ्यन्तर त्रिकाली ज्ञायकध्रुव आनन्द का नाथ परमात्मस्वरूप है, दो का एक समय में साधक को अनुभव होने पर भी, साधक की दृष्टि पर्याय के अनुभव की ओर टिकती नहीं । द्रव्य के ऊपर है । आहाहा ! समझ में आया ? चिमनभाई ! ऐसी बातें हैं । आहाहा !

यह नये वर्ष की आज दूज है । बापू ! वीतरागमार्ग कोई अलग है । आहाहा ! अरेरे ! इसे सत्य है, वह सुनने को मिलता नहीं, वह कब विचार करे और कब माने ? आहाहा ! उसके परिभ्रमण का अन्त कब आवे ? आहाहा ! चौरासी का अवतार कर-करके... करके दु:खी है यह । महादु:ख के पर्वत में धँसता है, सन्निपातिया है अर्थात् वहाँ प्रसन्न होता है । हम ठीक हैं, हम सुखी हैं... धूल ! सन्निपाति है । मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञान, और मिथ्याचारित्र तीन का सन्निपात हो गया है । आहाहा !

श्रोता : पूरा जगत सन्निपात में पड़ा है !

पूज्य गुरुदेवश्री : पूरा जगत सन्निपात में पड़ा है। आहाहा !

जैन वाड़ा में भी जो कुछ राग को अपना माने और एक समय की पर्याय जितना भी आत्मा को माने, वह भी मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है। आहाहा ! समझ में आये उतना समझो, प्रभु ! वीतराग का मार्ग महागम्भीर है। आहाहा ! समझ में आया ? आहाहा !

तीन बातें कीं। एक तो यहाँ ऐसा कहा कि निर्मल पर्याय व्यक्त है। साधक की बात है न यहाँ ? सम्यग्दर्शन, त्रिकाली ज्ञायक है उसे अनुभव में लिया है। पर्यायदृष्टि छोड़कर, रागदृष्टि छोड़कर, निमित्तदृष्टि छोड़कर, और त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव को सम्यग्दर्शन में अपनेरूप से मानने का, सत्ता का स्वीकार हो गया है। आहाहा ! निर्विकल्प सम्यग्दर्शन, निश्चय-सम्यग्दर्शन। तथापि यहाँ कहते हैं कि पर्याय में निर्मलता प्रगट हुई है, उसका भी धर्मी को अनुभव है और ज्ञायक की ओर का लक्ष्य है, इसलिए उसका भी अनुभव है। अनुभव तो पर्याय है परन्तु उसकी ओर के जो जोरवाली पर्याय है, उसका भी अनुभव है, पर्याय का अनुभव है। यह दोनों का अनुभव होने पर भी धर्मी की दृष्टि पर्याय से उदास है। आहाहा ! ऐसी बातें ! यह तो (अज्ञानी तो) यह करो और यह करो। यह व्रत करो और अपवास करो, प्रतिमा लो... मर गया ले-लेकर। आहाहा !

तीन लोक का नाथ सर्वज्ञदेव परमेश्वर वीतराग की यह वाणी है। इस वाणी को सन्त स्पष्ट करके जगत के समक्ष प्रसिद्ध करते हैं कि भगवान ऐसा कहते हैं। त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव ऐसा फरमाते हैं, ऐसा कहते हैं, भाई ! तुझे तेरा सम्यग्दर्शन-सुख का पंथ कब हो ? कि तेरी दृष्टि निमित्त से उठकर, राग के—दया, दान के विकल्प से दृष्टि उठकर, एक समय की पर्याय से दृष्टि उठकर... आहाहा ! त्रिकाली चैतन्य ज्योत भगवान परमानन्दस्वरूप है, ऐसा जिनेश्वर की पुकार है। उसकी दृष्टि करने से उसे पर्याय में आनन्द का स्वाद आवे। यहाँ अनुभवना कहना है न ? वह स्वाद आवे, उसे अनुभव करे और त्रिकाली वस्तु को भी लक्ष्य में ली है; इसलिए उसे भी अनुभव करे - ऐसा कहने में आता है। यह दोनों का अनुभव होने पर भी, साधक की दृष्टि वर्तमान पर्याय के अनुभव पर टिकती नहीं। आहाहा ! तीन लोक का नाथ ज्ञायकभाव मैं हूँ, वहाँ दृष्टि का जोर है। समझ में आया ? अनुभव पर भी उसकी दृष्टि का जोर नहीं। ऐसी बातें अब।

भाई ! वीतरागमार्ग यह है, भाई ! आहाहा ! यह कोई साधारण बात नहीं और यह मार्ग ऐसा वीतराग के अतिरिक्त कहीं अन्यत्र कहीं नहीं है। अरे ! कहीं क्या ? श्वेताम्बर और स्थानकवासी में भी यह वस्तु नहीं है। आहाहा ! भाई ! यह तो अलौकिक बातें हैं। आहाहा ! कहते हैं, इसमें पुनरुक्ति नहीं लगती।

साधक जीव तब कहलाता है कि त्रिकाली चैतन्यमूर्ति भगवान पर दृष्टि पड़कर जिसे आत्मा का स्वाद आया है। आहाहा ! उस स्वाद को भी अनुभवे और त्रिकाली को भी अनुभवे। क्योंकि लक्ष्य वहाँ है; इसलिए ध्रुव की धारा परिणति में आती है। ध्रुव तो ध्रुव में रहता है परन्तु दृष्टि में ध्रुव का जोर हुआ, इससे मानो ध्रुव का अनुभव है – ऐसा कहने में आता है। आहाहा ! अलौकिक बातें हैं, बापू ! यह तो तीन लोक के नाथ सीमन्धर भगवान प्रभु महाविदेह में विराजते हैं, वहाँ से यह बात आयी हुई है। आहाहा !

श्रोता : यहाँ तो आप....

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा ! आहाहा ! हमने तो साक्षात् भगवान के पास सुनी है न !! वह बात है, बापू ! क्या कहें ? आहाहा !

इसमें तीन बातें कीं। एक तो बाह्य को-पर्याय निर्मल है, उसे बाह्य कहा और त्रिकाली ज्ञायक है, उसे अभ्यन्तर कहा। दोनों का अनुभव पर्याय में होने पर भी, साधक की दृष्टि अनुभव की पर्याय पर टिकती नहीं। वहाँ से उदास होकर द्रव्य पर जोर करती है। आहाहा ! अब लोग कहाँ पड़े और कहाँ मानते हैं ! कुछ पता नहीं होता। एक बात (हुई)।

नियमसार की पाँचवीं गाथा में ऐसा कहा कि बाह्य तत्त्व और अभ्यन्तर तत्त्व ऐसा जो परमात्म ज्ञायकस्वरूप भगवान और बाह्य तत्त्व अर्थात् पर्याय, दो की श्रद्धा वह व्यवहार समकित है, निश्चय नहीं। दो आये न ? एक नहीं रहा। दूसरी बात — २४२ गाथा में ऐसा कहा कि ज्ञेय और ज्ञायक की श्रद्धा, वह निश्चयसम्यग्दर्शन है। वह ज्ञान की प्रधानता करके ज्ञेय का भी ज्ञान है, ज्ञायक का भी ज्ञान है और उसमें यथार्थ निर्विकल्प प्रतीति होना, उसे सम्यग्दर्शन (कहते हैं)। वह ज्ञान प्रधान कथन है। आहाहा ! तथा नवतत्त्व की तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् जो कहा है, वह भी इस प्रकार से ज्ञानप्रधान कथन है। आहाहा !

वीतराग का मार्ग ऐसा है। आहाहा ! एक दिगम्बर धर्म में यह बात है, अन्यत्र कहीं

है नहीं। बापू! परन्तु उसमें जन्मे, उन्हें अभी पता नहीं होता। बाड़ा में जन्मे, ५०-६० वर्ष निकाले तो भी क्या? क्या जैनदर्शन है और क्या समकित है? आहाहा! यह तो पूजा करो, व्रत पालो, और प्रतिमा ले लो। यह तो सब राग की क्रिया है। आहाहा!

यहाँ परमात्मा त्रिलोकनाथ ने कहा हुआ, उसे सन्त आढ़तिया होकर जगत के समक्ष प्रसिद्ध करते हैं। दिगम्बर सन्त... आहाहा! जिन्हें भावलिंग प्रगट हुआ है, जिन्हें प्रचुर आनन्द का स्वाद है। चौथे गुणस्थान में आनन्द का स्वाद थोड़ा है। जिन्हें सच्चा मुनि कहा जाता है, उन्हें तो अतीन्द्रिय प्रचुर उग्र आनन्द है। आहाहा! ऐसे उग्र आनन्द में रहे हुए प्रभु-सन्तों को यह गाथा या टीका करने का एक विकल्प आया। आहाहा! इस विकल्प के भी वे कर्ता नहीं और टीका के शब्द हैं, उनके वे कर्ता नहीं। आहाहा! वे ऐसा कहते हैं कि परमात्मा जिनेश्वरदेव त्रिलोकनाथ तीर्थंकर की प्रसिद्ध दिव्यध्वनि में यह आया है कि एक समय की पर्याय निर्मल हुई उसे जाने, वेदे; विकल्प को वेदे, तथापि उस साधक की दृष्टि यह अनुभव हुआ और यह पर्याय हुई, उस पर उसका जोर नहीं है। मनसुखभाई! कहाँ वहाँ दुकान में यह सुनने मिले नहीं। उसमें फिर तीनों अलग हुए। ए... मजदूर! आहाहा! शान्तिभाई! यहाँ तो यह बात है, बापू! आहाहा!

अरेरे! जिन्दगी पूरी हो जायेगी। आयुष्य के... मौत के नगाड़े सिर पर बजते हैं। किस समय देह छूट जायेगी एकदम..! आहा! वह पहले कहने नहीं आवे कि अब मैं मृत्यु आती हूँ। देह का संयोग है, वह वस्तु वियोगयोग्य ही है। यह तो एक क्षेत्र में हैं, इसलिए ऐसा कहलाता है। बाकी अभी संयोग है और क्षेत्र से भिन्न पड़ा, तब उसे देह का मरण कहा जाता है। देह छूटा, मरण तो नहीं परमाणु का और मरण नहीं आत्मा का। यह पर्याय का व्यय होता है, इससे इसे मरण कहने में आता है। इससे पहले प्रभु! तू कौन है? आहाहा!

नियमसार में पाँचवीं गाथा में तो वहाँ तक कहा—बहिर्तत्त्व और अन्तर्तत्त्व ऐसा जो परमात्मतत्त्व। बहिर्तत्त्व अर्थात् पर्याय। यह तो ३८ गाथा में आया है न? '**बहित्तच्चं**' '**जीवादिहित्तच्चं**' जीव की एक समय की पर्याय, वह भी बहिर्तत्त्व है। आहाहा! जीव की एक समय की निर्मल पर्याय, संवर-निर्जरा की शुद्ध निर्मल पर्याय, उसे भी प्रभु बहिर्तत्त्व कहते हैं। एक समय की है न? और अन्तर में भगवान पूर्णानन्द का नाथ है, उसे परमात्मा

अन्त:तत्त्व कहते हैं। भाषा तो सादी है प्रभु! माल तो है वह है। आहाहा! यह बाह्य तत्त्व और अभ्यन्तर तत्त्व की श्रद्धा, वह भी अभी विकल्प और व्यवहार समकित है। किसे? कि जिसे ज्ञायकस्वभाव की अकेले अनुभव, प्रतीति हुई है, उसे यह बाह्य तत्त्व और अभ्यन्तर तत्त्व की श्रद्धा को व्यवहार कहा जाता है। आहाहा! समझ में आया? इसलिए ये लोग शोर मचावे न? ए..! सोनगढ़वालों ने समकित को महँगा कर दिया है। भाई! महँगा तो भगवान कहते हैं, यह कहीं सोनगढ़ का नहीं है। आहाहा! भाई! तीन लोक के नाथ जिनेश्वरदेव की दिव्यध्वनि में आया वह यह है। आहाहा! भाई! तूने सुना न हो, इसलिए कोई तत्त्व दूसरा हो जायेगा? आहाहा!

दया, दान, भक्ति का व्यवहार समकित का जो विकल्प है, वह तो अशुद्ध बाह्य तत्त्व, वह तो कहीं बाह्य रह गया परन्तु यहाँ तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय जो स्व त्रिकाल के अवलम्बन से हुई, उसे भी बाह्य तत्त्व कहा और उसका अनुभव है और अन्तर-अभ्यन्तर तत्त्व का अनुभव है, तथापि साधक की दृष्टि अनुभव की पर्याय में रुकती नहीं। आहाहा! ऐसी बातें हैं, बापू! आहाहा! बहुत लोग आये हैं। आज भी आये हैं। तीन दिन से बहुत लोग आते हैं। यह तो मार्ग ऐसा है, बापू! आहाहा! इसका अभी ज्ञान भी सच्चा नहीं, उसे सम्यग्दर्शन होगा कहाँ से? आहाहा! समझ में आया? ऐसा होने पर भी व्यक्तरूप से उदासीनरूप से अर्थात् पर्याय से उदास है, पर्याय में वहाँ दृष्टि रुकती नहीं है। आहाहा!

श्रोता : उदासीन?

पूज्य गुरुदेवश्री : उदासीन अर्थात् पर्याय से उदासीन आसन है और द्रव्य पर उसकी दृष्टि है। आहाहा! एक व्यक्ति कहता है कि यह समयसार मैं पन्द्रह दिन में पढ़ गया। बापू! यह समयसार क्या है?

श्रोता : उसके अक्षर।

पूज्य गुरुदेवश्री : अक्षर, पृष्ठ तो जड़ है परन्तु उनका भाव क्या है? आहाहा! यह दिगम्बर सन्त कुन्दकुन्दाचार्य, अमृतचन्द्राचार्य... आहाहा! केवली के मार्गानुसारी, उनका यह पुकार है कि भगवान ऐसा कहते हैं, भाई! आहाहा! आहाहा!

आहाहा! यह तो जरा उस पर विचार गया न? नियमसार की पाँचवीं गाथा।

बहिर्तत्त्व-अन्त:तत्त्व की श्रद्धा को व्यवहार समकित कहा, विकल्प। आहाहा! और वहाँ २४२ गाथा में ऐसा कहा कि ज्ञेय और ज्ञायक की प्रतीति, वह निश्चय सम्यग्दर्शन है। वह ज्ञानप्रधान कथन है। आहाहा! मार्ग बहुत (सूक्ष्म है)। आहाहा! अरे! ऐसा मनुष्यभव मिला, उसमें जैन सम्प्रदाय में जन्म, उसमें दिगम्बर में जन्म, वह तो पुण्यशाली है; उसे यह दिगम्बर धर्म क्या है, यह उसे जानना चाहिए। भाई! आहाहा!

इसलिए अव्यक्त है। है? यह तो एक अन्तिम बोल का सब अर्थ चला है। भगवान आत्मा! सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की वर्तमान पर्याय प्रगट है, उसका-पर्याय का भी अनुभव है और त्रिकाली ज्ञायकस्वरूप का भी अनुभव है। ध्रुव तो ध्रुव है। अनुभव, ध्रुव का नहीं होता; अनुभव तो पर्याय है परन्तु ध्रुव के ओर की जोरवाली पर्याय है, उसे ध्रुव का अनुभव कहते हैं और पर्याय का अनुभव है, वह वेदन पर्याय का कहते हैं। आहाहा! कितनी अपेक्षा आवे इसमें! आहाहा! सोमचन्दभाई! ऐसा यह स्वरूप है। आहाहा! क्या कहें?

श्रोता : पर्याय ऊपर की दृष्टि हटाकर...

पूज्य गुरुदेवश्री : क्योंकि पर्याय है वह एक समयमात्र की है। विकार है, वह तो भिन्न परन्तु निर्मल पर्याय है, वह एक समय की है और इसलिए वह नाशवान है। शुद्धपर्याय, धर्मपर्याय, मोक्ष के मार्ग की पर्याय। आहाहा! उसका वेदन हो और त्रिकाली ज्ञायक का भी वेदन हो, तथापि उस ज्ञायक-धर्मी-साधक की दृष्टि अनुभव की पर्याय पर टिकती नहीं। ऐसे अन्दर में गुलाँट खाती है। आहाहा! द्रव्यस्वभाव पर जिसकी दृष्टि का जोर है। आहाहा! यह क्या कहते हैं? दूसरे को कितना लगे कि यह क्या है? यह क्या जैनधर्म ऐसा होगा? ए बापू! जैनधर्म कोई पंथ नहीं, जैनधर्म कोई पक्ष नहीं; जैनधर्म वस्तु का स्वरूप है, वह जैनधर्म है। आहाहा!

'जिन सो ही है आत्मा, अन्य सो ही है कर्म, यही वचन से समझ ले जिनप्रवचन का मर्म।' 'घट घट अन्तर जिन बसै और घट घट अन्तर जैन।' 'घट घट अन्तर जिन बसै।' भगवान जिन अन्दर घट-घट में विराजमान है। वस्तु द्रव्यस्वभाव, वह जिनस्वरूप है। 'घट घट अन्तर जिन बसै और घट घट अन्तर जैन।' उस जिनस्वरूप की जो प्रतीति, अनुभव होकर होती है, उसे जैन कहने में आता है। वह कोई पक्ष नहीं वह तो वस्तु का

स्वभाव है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! यह छह बोल हुए। एक अव्यक्त के छह बोल हैं। कल अपने तीन चले थे, परसों के दिन दो चले थे और आज इस एक में यह सब (चला है)।

इस प्रकार... अब तीसरी लाईन है न? **इस प्रकार रस,...** भगवान रसरहित है, यह आ गया है। छह बोल, एक-एक के छह बोल। **रूप,...** रहित। गन्धरहित, स्पर्शरहित, शब्दरहित। शब्द की पर्यायरहित भगवान है-आत्मा (है)। संस्थानरहित और **व्यक्तता का अभाव...** अर्थात् यह अव्यक्त। ऐसा **होने पर भी स्वसंवेदन के बल से...** आहाहा! अपने स्व अर्थात् आनन्द का नाथ प्रभु, उसका संवेदन-वेदन के बल से **स्वयं सदा प्रत्यक्ष होने से...** आहाहा! ऐसे छह-छह बोल से निषेध करते आये हैं परन्तु फिर भी कहते हैं कि अब अस्तित्व तो कितना है यह?

रस आदि का **अभाव होने पर भी स्वसंवेदन के बल से...** आनन्द का वेदन अन्दर होता है। आहाहा! स्व अर्थात् अपना, वेदन अर्थात् अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन। आहाहा! अतीन्द्रिय ज्ञान का वेदन। आहाहा! अतीन्द्रिय श्रद्धा सम्यग्दर्शन का वेदन आदि **स्वसंवेदन के बल से स्वयं सदा प्रत्यक्ष होने से...** वह तो सदा प्रत्यक्ष है। आहाहा! चैतन्य के तेज के नूर का पूर... भगवान चैतन्य के नूर के तेज का पूर सदा प्रत्यक्ष पड़ा है। तेरी नजर वहाँ गयी नहीं। आहाहा! आहाहा!

बहिन के शब्दों में आया न पहला बोल? बहिन के वचनामृत। जागता जीव खड़ा है न, वह कहाँ जाये? क्या कहा इसमें? वचनामृत पढ़ा है सोमचन्दभाई? पढ़ा या नहीं? एक बार? अभी तो वचनामृत चारों ओर हिन्दुस्तान में (पहुँच गया है) और 'जालना' है 'जालना', वहाँ बीस वर्ष की दीक्षावाला दिगम्बर साधु है 'भव्यसागर' (नाम है)। यह पढ़कर पहले मेरा एक आया था (वह कहे) स्वामीजी! यह तुमने क्या किया? दो सौ वर्ष में यह बात नहीं थी, तुमने यह कहाँ से निकाली? बीस वर्ष की दीक्षा है, शीघ्र कवि है। यहाँ आने को बहुत चाहता है मुझे बुलाओ... बुलाओ... बापू! हम तो किसी को बुलाते नहीं। बहुत साधु आना चाहते हैं। यहाँ यह उपाधि कौन करे? आकर कहाँ उन्हें स्थान (देना)? उन्हें भोजन का (क्या)? कौन उपाधि करे?

वह तो स्वयं भव्यसागर (ने) बहिन की पुस्तक सात सौ मँगायी है। सात सौ, यह बड़े हैं न? सबको देते हैं, बाँटते हैं। वहाँ एक स्थानकवासी साधु है, बड़ा आचार्य है 'आनन्दऋषि' नाम से। स्थानकवासी का बड़ा, उसे पैर लगने हजारों लोग आते हैं। वे सब इनके पास आते हैं और यह वचनामृत का नाम बाहर प्रसिद्ध हो गया है न! वह सब माँगते हैं। स्थानकवासी माँगते हैं कि हमें वचनामृत दो। यह कहते हैं मैं उन्हें बीस मिनिट की (स्वाध्याय की) शर्त पर देता हूँ कि बीस मिनिट हमेशा पढ़ना। जालना है न? वहाँ महाराष्ट्र में। चारों ओर बहुत प्रचार हुआ। अब यह तो लन्दन में इसका प्रचार है न? वाँचन चलता है। अफ्रीका में तो यह बड़ा पन्द्रह लाख का मन्दिर हुआ है न? इस ज्येष्ठ शुक्ल ग्यारस, पन्द्रह लाख का (मन्दिर का) मुहूर्त किया है। लगभग डेढ़ वर्ष में तैयार होगा। अफ्रीका में दो हजार वर्ष से वहाँ कोई दिगम्बर मन्दिर नहीं था, दिगम्बर मन्दिर। वे यह भाई, यह बैठे नहीं, देखो न! ये सब गृहस्थ। अजितभाई! पैसेवाले, साठ-सत्तर लाख रुपये हैं। ऐसे तो बहुत अपने साठ घर हैं। सब श्वेताम्बर (से) दिगम्बर हो गये और पन्द्रह लाख का मन्दिर बनाया है। बापू! यह तो परमात्मा का मार्ग त्रिकाल सत्य है भाई! इसे पहले जानों तो सही! आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं कि अपने स्वसंवेदन के बल से। देखा? **स्वयं सदा प्रत्यक्ष होने से...** ऐसा। राग के कारण नहीं, निमित्त के कारण नहीं। आहाहा! देव-गुरु की सहायता के कारण नहीं। **स्वयं सदा प्रत्यक्ष होने से...** भगवान चैतन्य ज्योति, मति और श्रुतज्ञान में प्रत्यक्ष हुआ, तब सदा प्रत्यक्ष यह था। आहाहा! है? यह तो अध्यात्म टीका है, भाई! यह कोई कथा-वार्ता नहीं। यह तो भगवत्स्वरूप भगवान आत्मा की भागवत कथा है। वे भागवत कथा कहते हैं, वह अलग है। यह तो सम्यक् भागवत कथा है। आहाहा!

सदा प्रत्यक्ष... इतने शब्दों में बहुत डाला है। इसका अभाव होने पर भी-व्यक्तता का अभाव होने पर भी, अब प्रत्यक्ष अस्ति कहते हैं। स्वसंवेदन के बल से। आहाहा! यह ज्ञान और आनन्द का वर्तमान स्व का वेदन, उसके बल से स्वयं सदा-सदा प्रत्यक्ष है। वर्तमान प्रत्यक्ष हुआ तो वह वस्तु सदा प्रत्यक्ष ही थी। आहाहा!

अरे! मृत्यु के पहले यदि यह बात नहीं जाने, नहीं करे (तो) भाई! कहाँ जायेगा?

आहाहा ! इस आँधी का तिनका उड़कर कहाँ पड़ेगा ? इसी प्रकार जिसे मिथ्यात्वभाव पड़ा है... आहाहा ! वह उड़कर किस भव में कहाँ जायेगा ? आहाहा ! इसलिए इस भव में इसे अनन्त-अनन्त पुरुषार्थ करके बाहर से निवृत्ति लेकर इसका इसे निर्णय करना पड़ेगा। आहाहा ! दुनिया माने, न माने; महिमा करे न महिमा करे... दुनिया कहे बिना भान का है। लो, आत्मा-आत्मा करता है। कहो, दुनिया... आहाहा !

यहाँ कहते हैं **स्वयं सदा प्रत्यक्ष होने से...** आहाहा ! **अनुमानगोचरमात्रता के अभाव...** क्या कहते हैं ? कि ज्ञान वहाँ आत्मा और आत्मा वहाँ ज्ञान - ऐसा जो अनुमान, उसका भी यहाँ तो अभाव है। व्यक्तपने का अभाव है। आहाहा ! समझ में आया ? आहाहा ! **अनुमानगोचरमात्रता के अभाव...** है। अनुमान से ज्ञात हो, ऐसा आत्मा है नहीं। समझ में आया ? रहस्यपूर्ण चिट्ठी में तो ऐसा आया है, अनुमान किया इसका फिर अनुभव करता है। ऐसे पाँच अंग वर्णन किये हैं न ? पता है। आगम आदि पाँच। वह तो पहले अनुमान किया है, वह अनुमान तो व्यवहार है। यह ज्ञान वह आत्मा और आत्मा वह ज्ञान, ऐसा। पश्चात् अन्दर प्रत्यक्ष होता है, तब अनुमान को व्यवहार कहने में आता है। उससे हुआ नहीं। आहाहा ! ऐसा स्वरूप ! जिनेश्वर तीन लोक के नाथ का पंथ अलौकिक है। प्रथम सम्यग्दर्शन का पंथ ही अलौकिक है। चारित्र तो बाद में। अभी वह चारित्र तो कहाँ है ? बापू ! समझ में आया ?

अनुमानगोचरमात्रता के अभाव... अर्थात् अनुमान, अकेला अनुमानमात्र नहीं - ऐसा कहते हैं। अनुमान हो, परन्तु अनुमानमात्र नहीं - ऐसा कहते हैं। वह तो प्रत्यक्ष होता है। आहाहा ! ऐसा उपदेश अब। बापू ! यह मार्ग है भाई ! यह जन्म-मरण के दुःख में खिंच गया है। आहाहा ! उससे छूटने का पंथ, प्रभु ! एक होय तीन काल में परमारथ का पंथ ! यह एक पंथ है। आहाहा ! कहते हैं **(जीव को) अलिंगग्रहण कहा जाता है**। अनुमानगोचर नहीं; इसलिए अलिंगग्रहण, ऐसा। लिंग-अनुमान, लिंग है, उससे जानने में नहीं आता, इसलिए अलिंगग्रहण है। यहाँ संक्षिप्त किया है। प्रवचनसार में अलिंगग्रहण के बीस बोल (हैं)। आहाहा !

अब, **अपने अनुभव में आनेवाले चेतनागुण के द्वारा...** आहाहा ! जाननेवाला

दूसरे को जाननेवाला परन्तु जाननेवाला तो स्वयं जाननेवाले में है। दूसरे को जानता है, उस काल में भी जाननेवाला जाननेवाले में है। आहाहा! दूसरे को जानता है कि यह है... यह है... यह है... परन्तु यह जाननेवाला जाननेवाले में रहकर जानता है। आहाहा! ऐसा जाननेवाला जाननेवाले में रहकर स्वयं कौन है? इस जाननेवाले को जानना। आहाहा! ज्ञात होता है, उसे जानना नहीं। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

चेतनागुण के द्वारा सदा अन्तरंग में प्रकाशमान है... आहाहा! अपने अनुभव में आनेवाले चेतनागुण द्वारा। कोई ऐसा कहे कि मुझे मैं नहीं जानता। मुझे मैं नहीं जानता - ऐसा निर्णय किसमें किया? इस चैतन्य सत्ता में निर्णय किया। आहाहा! **चेतनागुण के द्वारा सदा अन्तरंग में...** अन्तरंग, हों! त्रिकाल प्रकाशमान है। **इसलिए (जीव) चेतना -गुणवाला है।** है न? मूल पाठ में यह लिया है। चेतनागुणवाला है। यह तो आत्मा को (कहते हैं), वरना तो वह चेतनास्वरूप ही है। वह तो यह नहीं, इसलिए इस वाला है - ऐसा कहना है। आहाहा!

चेतनागुणवाला है। चेतनागुण कैसा है? जो समस्त विप्रतिपत्तियों को (जीव को अन्य प्रकार से माननेरूप झगड़ों को) नाश करनेवाला है,... जीव को ऐसा मानना कि पर का कर्ता है, रागवाला है, पुण्यवाला है। आहाहा! ये सब चेतनागुण को समझे तो सब झगड़े मिट जाते हैं। आहाहा! वह तो जाननेवाला भगवान है; वह किसी का करनेवाला नहीं है। राग का कर्ता भी चेतनागुण नहीं। चेतनागुण स्व-पर को प्रकाशित करनेवाला भगवान प्रत्यक्ष है। उसे चेतनागुण द्वारा समस्त विप्रतिपत्तियों-विरोध करनेवाले जो भाव, उनके झगड़ों का नाश करनेवाला है। राग, आत्मा; पर, आत्मा; अजीव, आत्मा; पर का कर्ता है-इन सब झगड़ों का चेतनागुण द्वारा नाश होता है। आहाहा! वह तो जाननेवाला-देखनेवाला भगवान चन्द्र शीतल प्रकाश जैसे हैं, वैसे जाननेवाला-देखनेवाला शान्त-प्रशान्त रस का पिण्ड प्रभु है। आहाहा!

जिसने अपना सर्वस्व... आहाहा! किसने? चेतनागुण ने। आहाहा! चेतनागुण ने समस्त **अपना सर्वस्व भेदज्ञानी जीवों को सौंप दिया है,...** जो कोई राग से भिन्न करते हैं, उन्हें चेतनागुण का सर्वस्व सौंप दिया है। यह चेतना है और यह राग नहीं (ऐसा भेद

करनेवाले) भेदज्ञानियों को इसने सौंप दिया है। चाहे तो दया, दान, व्रत का विकल्प हो परन्तु वह आत्मा नहीं। आहाहा। वह तो चेतनागुणवाला भगवान है। भेदज्ञानी–राग से भेद करनेवाले को यह बात सौंप दी है, कहते हैं। आहाहा! अरे! ऐसी बातें!

जो समस्त लोकालोक को ग्रासीभूत करके मानों अत्यन्त तृप्ति से उपशान्त हो गया हो... आहाहा! क्या कहते हैं? चेतनागुण है, वह तो इसकी पर्याय में भी, गुण में भी लोकालोक को जाने और उसकी पर्याय में भी लोकालोक को जाने, साधक की पर्याय... आहाहा! ऐसे चेतनागुण जो लोकालोक को पर्याय से जाने, शक्ति से जाने, दो है। लोकालोक को तो ग्रासीभूत–ग्रास कर जाता है। मुँह बड़ा और ग्रास छोटा। इसी प्रकार ज्ञान की पर्याय की ताकत अनन्त और लोकालोक को ग्रास कर जाता है। आहाहा! आहाहा! त्रिकाली गुण में तो शक्ति है परन्तु त्रिकाली चेतनागुण को जिसने जाना, उसकी पर्याय में भी लोकालोक को ग्रासीभूत कर जाता है। आहाहा! ग्रास छोटा होता है और मुँह बड़ा होता है। इसी प्रकार जाननेवाले की पर्याय लोकालोक को जाने, तथापि पर्याय की ताकत अनन्त गुनी है। आहाहा!

मानों अत्यन्त तृप्ति से उपशान्त हो गया हो इस प्रकार... जैसे लड्डू खाकर ब्राह्मण उपशान्त हो गया हो, वैसे आत्मा की तृप्ति द्वारा तृप्त–तृप्त हो गया। आहाहा! शान्ति और ज्ञान की पर्याय में लोकालोक को जाने, तथापि वह तो ग्रासीभूत कर गया। ऐसी जो ज्ञान की पर्याय और शान्ति की पर्याय हुई... आहाहा! अत्यन्त तृप्ति हो गयी। सम्यग्दृष्टि ज्ञानी को अन्तरपर्याय में तृप्ति हो गयी। मेरा नाथ कृतकृत्य प्रभु पूर्ण है, उसे मैंने जाना, वह पर्याय भी कृतकृत्य होने के योग्य हो गयी। पूर्ण कृतकृत्य केवलज्ञान के लायक हो गयी। आहाहा!

इस प्रकार (अर्थात् अत्यन्त स्वरूप-सौख्य से तृप्त-तृप्त होने के कारण स्वरूप में से बाहर निकलने का अनुद्यमी हो इस प्रकार)... आहाहा! अन्तर के आनन्द के अनुभव में से बाहर निकलना उसे सुहाता नहीं है। **सर्व काल में किंचित्मात्र भी चलायमान नहीं होता और इस तरह...** जरा इसमें जोर दिया है। जो ज्ञानपर्याय प्रगट हुई है, वह अब फिर से चलायमान नहीं होती – ऐसा कहते हैं। ३७ वीं गाथा। **अन्य द्रव्य से असाधारणता होने से जो (असाधारण) स्वभावभूत है।** चेतनागुण।

विशेष कहेंगे। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १२६ गाथा-४९, श्लोक ३५-३६, तथा गाथा ५० से ५५
दिनाङ्क २८-१०-१९७८, शुक्रवार कार्तिक शुक्ल ३, वीर निर्वाण संवत् २५०४

श्री समयसार-

— **ऐसा चैतन्यरूप परमार्थस्वरूप जीव है।** पर से भिन्न कहा न? आहाहा! सर्वस्व रागादिभाव से सर्वस्व पूर्ण अभाव है। उनसे पूर्ण अभाव है। आहाहा! ऐसा **चैतन्यरूप**-चैतन्यरूप **परमार्थस्वरूप** परमपदार्थस्वरूप जीव है। आहाहा! त्रिकाली ज्ञायकस्वरूप चिदानन्द प्रभु चैतन्यरूप परमार्थस्वरूप ऐसा जीव है। **जिसका प्रकाश निर्मल है...** जाननस्वभाव जिसका निर्मल है। त्रिकाल तो निर्मल है, परन्तु पर्याय में भी निर्मल है। आहाहा! **ऐसा यह भगवान इस लोक में...** ऐसा यह भगवान... यह भगवान, यह आत्मा, हों! आहाहा! **इस लोक में एक,...** एकरूप है, जिसमें पर्याय का भेद भी जिसमें नहीं है। ऐसा **एक, टंकोत्कीर्ण,...** ऐसा का ऐसा। **भिन्न ज्योतिरूप विराजमान है।** रागादि से दया, दान के विकल्प आदि से भी **भिन्न ज्योतिरूप विराजमान है।** उसकी दृष्टि करो तो सम्यग्दर्शन हो और आनन्द का वेदन आवे। आहाहा! ऐसा यह आत्मा है।

कलश-३५

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहकर ऐसे आत्मा के अनुभव की प्रेरणा करते हैं :—

सकलमपि विहायाह्नाय चिच्छक्तिरिक्तं
स्फुटतरमवगाह्य स्वं च चिच्छक्तिमात्रम्।
इममुपरि चरंतं चारुं विश्वस्य साक्षात्
कलयतु परमात्मात्मानमात्मन्यनंतम्।।३५।।

श्लोकार्थ - [चित्-शक्ति-रिक्तं] चित्शक्ति से रहित [सकलम् अपि] समस्त भावों को [अह्नाय] मूल से [विहाय] छोड़कर [च] और [स्फुटतरम्] प्रगटरूप

से [स्वं चित्-शक्तिमात्रम्] अपने चित्शक्तिमात्र भाव का [अवगाह्य] अवगाहन करके, [विश्वस्य उपरि] समस्त पदार्थसमूहरूप लोक के ऊपर [चारु चरन्तं] सुन्दर रीति से प्रवर्तमान ऐसे [इमम्] यह [परम्] एकमात्र [अनन्तम्] अविनाशी [आत्मानम्] आत्मा का [आत्मा] भव्यात्मा [आत्मनि] आत्मा में ही [साक्षात् कलयतु] अभ्यास करो, साक्षात् अनुभव करो।

भावार्थ - यह आत्मा परमार्थ से समस्त अन्य भावों से रहित चैतन्यशक्तिमात्र है; उसके अनुभव का अभ्यास करो, ऐसा उपदेश है॥३५॥

कलश - ३५ पर प्रवचन

श्लोक, **अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहकर ऐसे आत्मा के अनुभव की प्रेरणा करते हैं :—**

सकलमपि विहायाह्नाय चिच्छक्तिरिक्तं
स्फुटतरमवगाह्य स्वं च चिच्छक्तिमात्रम्।
इममुपरि चरंतं चारुं विश्वस्य साक्षात्
कलयतु परमात्मात्मानमात्मन्यनंतम्॥३५॥

'चित्-शक्ति-रिक्तं' चित्शक्ति से रहित समस्त भावों को मूल से छोड़कर.... क्या कहा? **चित्शक्ति से रहित...** भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप है, ज्ञानशक्ति है, ज्ञानस्वभाव है, इससे रहित पुण्य और पाप आदि के भाव, आहाहा! वह रिक्त है, रहित है। चैतन्यस्वभाव शक्तिरूप चैतन्य, वह इनसे जो रहित वस्तु है, इनसे रहित है। इनसे रहित है-इनसे भी रहित है। आहाहा! वे पुण्य और पाप के भाव—चाहे तो गुण-गुणी के भेद का विकल्प हो, आहाहा! वह चित्शक्ति से रहित है। आहाहा! जिसमें चैतन्य का सामर्थ्य, राग-व्यवहार के रागादि में नहीं है, आहाहा! ऐसे भाव को मूल से छोड़कर आहाहा! **'सकलम् अपि' मूल से छोड़कर...** सकल भाव - चाहे तो सूक्ष्म पंच महाव्रत के विकल्प का राग है, अरे! द्रव्य-गुण और पर्याय के भेद का विकल्प हो, वह **'सकलम् अपि'** उन सबको मूल से छोड़कर, आहाहा! **और प्रगटरूप से 'स्फुटतरम्' प्रगटरूप से 'स्वं चित्-शक्तिमात्रम्'**

अपने चित्शक्तिमात्र भाव का... आहाहा! '**अवगाह्य' अवगाहन करके,...** अन्तर में प्रवेश कर – ऐसा कहते हैं। आहाहा! '**सकलम् अपि**' विकल्प आदि के भावों को छोड़कर, मूल में से छोड़कर चित्शक्तिस्वभाव का अवगाहन कर। अनादि से जो राग में अवगाहन / प्रवेश है, उसे (छोड़कर) यहाँ प्रवेश कर। आहाहा! ऐसी वस्तु है।

भगवान चित्शक्तिमात्र वस्तु है। है न '**चित्-शक्तिमात्रम्**' वह (पहले) '**चित्-शक्ति-रिक्तं**' राग, दया, दान, पुण्य-पाप चित्शक्ति-रहितं और स्वयं चित्शक्तिमात्रम्। आहाहा! उसका अवगाहन कर। आहाहा! जैसे गहरे समुद्र में प्रवेश करते हैं, वैसे भगवान चित्शक्तिमात्र प्रभु के तल में गहरा जा, अवगाहन कर। आहाहा! ऐसी बात है।

'**अवगाह्य**' भव्य आत्मा, है न? है तो आत्मा शब्द परन्तु अर्थकार ने (कहा) योग्य आत्मा '**विश्वस्य उपरि' समस्त पदार्थसमूहरूप लोक के ऊपर...** रागादि समस्त पदार्थों के समूह पर से, लोक के ऊपर अर्थात् उत्कृष्ट वस्तु। आहाहा! रागादि से रहित अर्थात् भिन्न सर्वोत्कृष्ट वस्तु। **लोक के ऊपर सुन्दर रीति से, 'चारु'....** अर्थात् मनोहर, आनन्दस्वरूप प्रभु। आहाहा! '**चरन्तं**' आनन्द में प्रवर्तमान ऐसा भगवान आत्मा! आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्दरूपी चारु अर्थात् मनोहर, ऐसे प्रवर्तमान ऐसा यह, आहाहा! एक श्लोक में तो... एक केवल अविनाशी, एक केवल अविनाशी, अकेला आत्मा नित्यानन्द प्रभु... आहाहा! एक केवल अकेला ज्ञानस्वभावमात्र अविनाशी—ऐसे आत्मा का, आत्मा का आत्मा में ही। आहाहा! ऐसा चैतन्यस्वरूप प्रभु सर्वोत्कृष्ट पर से भिन्न परिपूर्ण प्रभु में अवगाहन करके... आहाहा! आत्मा का आत्मा में ही – आत्मा का आत्मा में ही, आनन्दस्वरूप भगवान आनन्दस्वरूप में ही। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

जीव-अजीव अधिकार है न? इन रागादि सबको अजीव कहा है। भगवान एक ज्ञायकस्वरूप, पूर्णस्वरूप विश्व के ऊपर अर्थात् उत्कृष्ट तैरता, राग से भिन्न, अधिक उत्कृष्ट प्रभु... आहाहा! उसे एक केवल को-आत्मा में ही '**साक्षात् कलयतु**' प्रत्यक्ष अनुभव करो, आहाहा! उसे प्रत्यक्ष ध्यान करो, उसे प्रत्यक्ष मानो, उसे प्रत्यक्ष जानो '**कलयतु**' का अर्थ यह है—ध्याओ, मानो, जानो, अनुभव करो, यह कलयतु का अर्थ है। आहाहा!

भगवान आत्मा आनन्दस्वरूप, ज्ञानस्वरूप प्रभु त्रिकाल... यहाँ चितिशक्ति लेनी है।

ज्ञान, बाह्य प्रगट है न, इसलिए पूरा चित्शक्ति है, ऐसा यहाँ बताते हैं। आहाहा! ऐसा जो प्रभु, राग आदि से सर्वोत्कृष्ट रीति से भिन्न—ऐसे आत्मा को, आत्मा में ही ध्याओ, अनुभवो, जानो, मानो। आहाहा! लो! यह सिद्धान्त का सार है। आहाहा!

'**कलयतु**' आहाहा! **अभ्यास करो,...** अर्थात् अनुभव करो। ऐसा है न। अर्थ भी यह है, देखो न, अभ्यास करो अर्थात् साक्षात् अनुभव करो, ऐसा अभ्यास का यह अर्थ है। आहाहा! भगवान पूर्ण परमात्मस्वरूप ही है, चित्शक्तिस्वभाव है, उससे (राग से) रहित स्वभाव है। आहाहा! ऐसे स्वभावमात्र प्रभु को आत्मा को ऐसे आत्मा, आत्मा को अन्तर निर्मल पर्याय द्वारा अनुभव करो। आहाहा! कहो, इसका नाम जीव का ज्ञान और जीव का ध्यान और जीव को जाना-माना अनुभव किया कहने में आता है। आहाहा!

श्रोता : परम सत्य! धर्म की शुरुआत यहाँ से होती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यहीं से इस धर्म की शुरआत होती है। आहाहा! बाकी तो रात्रि को रामजीभाई ने कहा नहीं था सब? बात सब सच्ची। पाप को पाप, पाप, पाप... मनसुखभाई! पूरे दिन पाप। भाई! नहीं आये? आहाहा! अरे रे! ये स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब के लिये और अपने भी शरीर के भरण-पोषण के लिये पूरे दिन पाप और पाप करता है।

श्रोता : पेट किस प्रकार भरना?

पूज्य गुरुदेवश्री : पेट कौन भरे? पेट भरने का भाव वह पाप। आहाहा! रात्रि को भाई ने बहुत कहा था। पाप का स्पष्टीकरण था। लोगों को ख्याल (नहीं है) बापू! पूरे दिन पाप। आहाहा! पुण्य तो न हो परन्तु पाप के लिये पूरा दिन (मेहनत करता है)। आहा! उसमें यहाँ तो कहते हैं कि वह तो छोड़, परन्तु कोई दया, दान, व्रत के श्रवण-मनन का राग हो, उसे भी छोड़। आहाहा! भाई! तेरा आत्मा तो इन सब पुण्य-पाप के विकल्प से रहित है। तू वह है; ये रागादि तू नहीं है। आहाहा! भगवान की भक्ति और यात्रा, यह सब विकल्प और राग है, कहते हैं। भगवान आत्मा तो इनसे रहित है। आहाहा! शास्त्र-श्रवण करना, शास्त्र कहना, यह सब विकल्प है, कहते हैं। आहाहा! ऐसा ही है। उससे रहित प्रभु है। उस चित्शक्ति से रहित ये (पुण्य-पाप) चीज है, रागादि जो दया आदि, जो सुनना (आदि राग) चित्शक्ति से रहित है और भगवान इनसे रहित है। समझ में आया? आहाहा!

जो शुभ और अशुभ विकल्प हैं, वे चित्शक्ति-चैतन्यस्वभाव से रहित हैं। उन्हें अजीव कहा है और भगवान आत्मा चित्शक्तिमात्र है। आहाहा! ऐसा चित्शक्तिमात्र आत्मा, उस आत्मा को ही... आहाहा! उसकी निर्मलपर्याय द्वारा उसे अनुभव कर। आहाहा! निर्मलपर्याय द्वारा उसका ध्यान कर, उसे मान, उसे जान, उसका अनुभव कर। आहाहा! **कलयतु** बात में गजब किया है। ऐसे अभ्यास का अर्थ यह है, अभ्यास अर्थात् यह ऐसा है, ऐसा है-ऐसा नहीं। आहाहा! जहाँ चित्शक्ति सम्पन्न प्रभु!... आहाहा! कहाँ बाहर से यह सब अन्दर इसमें नहीं और रागादि यह सब धन्धा और बाहर स्त्री-पुत्र में तेरी चित्शक्ति उनमें नहीं, वे सब तेरी चित्शक्ति से रहित है। आहाहा! और तू चित्शक्ति से सहित है। आहाहा! यह शरीर मिट्टी का पिण्ड गोरा और रूपवान, और काला और गेहूँवर्णी यह सब जड़-मिट्टी है। ये सब चित्शक्ति से रहित है। आहाहा!

श्रोता : हैं तो मेरे न?

पूज्य गुरुदेवश्री : मेरे होंवे तो अलग नहीं हो सकते। इसके नहीं हैं, इसलिए अलग पड़ जाते हैं। आहाहा!

एकदम दो बातें ली हैं कि भगवान चैतन्यशक्ति स्वभावमात्र वस्तु और रागादि दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा और काम-क्रोध आदि के भाव और उनके फलरूप से शरीर आदि अनुकूल-प्रतिकूल आदि चीजें,... अनुकूल-प्रतिकूल कोई है नहीं, वे तो ज्ञेय हैं परन्तु इसे ऐसा लगता है कि यह ठीक नहीं और यह ठीक है - इन सब चीजों से, प्रभु! तू तो रहित है न? ये सब चीज़ें तेरी चित्शक्ति से रहित हैं। आहाहा! राग और दया, दान, व्रत का विकल्प उत्पन्न हो, वह भी चित्शक्ति से रहित है। आहाहा! और तू उनसे रहित है। आहाहा! और तू रहित है, है कौन? '**ज्ञानशक्ति**' ज्ञान की प्रधानता से वर्णन है। है तो अनन्त गुण, परन्तु जहाँ ज्ञान असाधारण स्वभाव है। आहाहा! जो कि स्व-पर को प्रकाशित करता है, दूसरे सब गुण अपनी अस्ति रखते हैं परन्तु वे स्वयं अपने को नहीं जानते। आहाहा! यह एक चित्शक्तिगुण स्वयं अपने को जानता है और स्वयं पर को जाने—ऐसा असाधारण जो स्वभावभाव, वैसे चित्शक्तिमात्र प्रभु तू है। आहाहा! 'मात्र' कहा है न? '**चित्-शक्तिमात्र**'... है? आहाहा! और उसमें '**चित्-शक्ति-रिक्तं**' उसे ऐसा कहा कि '**सकलम् अपि**' मूल

से छोड़कर... आहाहा! तेरा चित्स्वभाव, ज्ञानस्वभाव, ध्रुवस्वभाव, नित्यस्वभाव, सर्वस्व स्वभाव, सर्व-स्व-स्वभाव, चित्ज्ञानमात्र वस्तु प्रभु, ऐसा ज्ञानस्वभाव से शरीर, वाणी, मन, कर्म, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, देव-शास्त्र-गुरु और राग - पुण्य-पाप के भाव, ये सब चित्शक्ति से तो ये सब चीज़े रहित हैं। आहाहा! और इन सबसे रहित तू चित्शक्तिमात्र है। आहाहा!

ऐसी निवृत्ति कहाँ लेना? नूतन वर्ष हो, फिर ऐसे बहियाँ लिखे। आहाहा! अब नया वर्ष ऐसा अच्छा जाये, सुख-सुख से जाये बस ऐसा, पैसा पैदा हो, पाप में जिन्दगी जाये... अर..र! यहाँ ऐसा कि लाभ हो, उसका अर्थ क्या था? पाप का हो-लाभ सवाया-पाप का लाभ सवाया, सवाया - ऐसा कि इस भव में पैसा मिले, सुखी हो, सुखी हो, सुखी अर्थात् क्या परन्तु? भगवान आनन्दस्वरूप प्रभु का अनुभव कर, वहाँ सुखी होने का पंथ है। आहाहा! ऐसे आत्मा का-अविनाशी आत्मा का एकरूप केवल आत्मा का, आत्मा में ही, एकरूपता की वीतरागदशा में उसका अभ्यास-अनुभव करो। आहाहा! ऐसा स्वरूप है। लोगों ने कुछ का कुछ कर डाला, इसलिए लोगों को... आहाहा!

श्रोता : आपने तो सरल बनाया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह वस्तु तो सीधी है। आहाहा!

भावार्थ - यह आत्मा... चेतनजी गये लगते हैं, हैं? ठीक। यह तो वह नरक का याद आया, उन आचार्य ने, भाई! स्वयं लिखा है, देवसेन आचार्य ने स्वयं लिखा है कि यह जो गाथायें हैं, वे पूर्व के आचार्यों की हैं, उनका मैंने संग्रह किया है। मेरा नहीं, पूर्व के आचार्यों का है, उनका संग्रह किया है। पूर्व के सूरि आचार्यों ने कहा, वह यह कहा जाता है अर्थात् है तो स्वयं ९०० के साल में। ९०० के साल में स्वयं, अमृतचन्द्राचार्य के पश्चात् (हुए हैं) और श्वेताम्बर पन्थ निकला, वह तो दो हजार वर्ष, हजार वर्ष इनके पहले, तथापि पूर्व के सूरिओं ने कहा है, आचार्यों ने (कहा) वह मैं यह कहता हूँ। उन गाथाओं का संग्रह मैंने किया है - ऐसा कहा है। आहाहा! परम्परा-अब अन्दर लिखा है स्वयं आचार्य ने (कि) पूर्व के सूरिओं ने कहा है, मैं कहता हूँ ऐसा नहीं। पूर्व के आचार्यों ने गाथा कही है, उन गाथाओं का संग्रह मैंने किया है - ऐसा अन्त में यह लिखा है। '**पूर्व आयरियं संग्रह**' पहले / पूर्व के सूरिओं ने कहा हुआ कहता हूँ - ऐसा था। आज सबेरे

देखा। आहाहा! धर्म के नाम से आकर भी अभिमान आ जाता है न? इसलिए इन्होंने ऐसे पन्थ बहुत निकले – ऐसा लिखा है। अन्दर से मारीचि से लेकर लिखा है, मारीचि नहीं? भरत का पुत्र। आहाहा! हम भी जाननेवाले हैं, हम इस धर्म को भलीभाँति परखनेवाले हैं —ऐसे अभिमान में आकर कई मार्ग निकाले हैं। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं प्रभु! यह सब भूल जा अब। कुन्दकुन्दाचार्य आदि सन्तों ने जो कहा, वह भगवान का कहा हुआ कहा है। आहाहा! आहाहा! उन्होंने जो यह आत्मा कहा, वह ऐसा है। आहाहा!

श्रोता : दूसरे कहते हैं कि हमारे में आचार्य हुए हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वे आचार्य हुए सब इससे उल्टे। कठिन काम है, क्या हो? दुःख होता है, दूसरों को लगता है। वस्तु की स्थिति तो है वह है। ये कुन्दकुन्दाचार्य, अमृतचन्द्राचार्य, दिगम्बर सन्त कोई भी हों, वे तो अन्दर भावलिंगी सन्त हैं, वे भगवान का कहा हुआ कहते हैं और स्वयं अनुभव करके कहते हैं। आहाहा! आहाहा!

भावार्थ - यह आत्मा परमार्थ से समस्त अन्य भावों से रहित चैतन्यशक्तिमात्र है;... आहाहा! **उसके अनुभव का अभ्यास करो,...** देखा? आहाहा! पढ़ो और पढ़ने का विचारो, यह सब एक ओर विकल्प है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! इसके अनुभव का अभ्यास करो, इसमें है न पाठ आया है न? साक्षात् **अन्य भावों से रहित चैतन्यशक्तिमात्र है; उसके अनुभव का अभ्यास करो, ऐसा उपदेश है।** आहाहा!

कलश–३६

अब चित्शक्ति से अन्य जो भाव हैं, वे सब पुद्गलद्रव्यसम्बन्धी हैं, ऐसी आगे की गाथाओं की सूचनारूप से श्लोक कहते हैं :—

चिच्छक्तिव्याप्तसर्वस्वसारो जीव इयानयम्।
अतोऽतिरिक्ताः सर्वेऽपि भावाः पौद्गलिका अमी।।३६।।

श्लोकार्थ - [चित्-शक्ति-व्याप्त-सर्वस्व-सारः] चैतन्यशक्ति से व्याप्त जिसका

सर्वस्व-सार है, ऐसा [अयम् जीवः] यह जीव [इयान्] इतना मात्र ही है; [अतः अतिरिक्ताः] इस चित्शक्ति से शून्य [अमी भावाः] जो ये भाव हैं [सर्वे अपि] वे सभी [पौद्गलिकाः] पुद्गलजन्य हैं — पुद्गल के ही हैं ॥३६ ॥

कलश - ३६ पर प्रवचन

अब चित्शक्ति से अन्य जो भाव हैं,... अब पश्चात् कहनेवाले हैं न, **वे सब पुद्गलद्रव्यसम्बन्धी हैं,...** आहाहा! चाहे तो लिखने का, सुनने का, पढ़ने का विकल्प उठे। अरे रे! **वे सब पुद्गलद्रव्यसम्बन्धी हैं,...** भगवान आत्मा में वे नहीं। आहाहा! पुद्गलद्रव्यसम्बन्धी हैं। आहाहा! यह राग, दया-दान का विकल्प गुण-गुणी के भेद का विकल्प, कहते हैं कि वह पुद्गलद्रव्यसम्बन्धी है। भगवान चैतन्य के सम्बन्धवाला वह नहीं है। आहाहा! **ऐसी आगे की गाथाओं की सूचनारूप से... (श्लोक कहते हैं)** अब आगे गाथा आती है न, उसकी यह सूचनिका आचार्य महाराज अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं।

चिच्छक्तिव्याप्तसर्वस्वसारो जीव इयानयम्।
अतोऽतिरिक्ताः सर्वेऽपि भावाः पौद्गलिका अमी।।३६।।

आहाहा! **चैतन्यशक्ति से व्याप्त...** भगवान तो जानन... जानन... जानन... जानन... जानन... का समुद्र (है)। जाननस्वभाव से व्याप्त अर्थात् सहित **जिसका सर्वस्व-सार है,...** सर्वस्व—सर्व-स्व पूर्ण स्व का सार यह है। आहाहा! चैतन्यशक्ति से व्याप्त प्रभु है, राग से नहीं, शरीर से नहीं, मन से नहीं... आहाहा! अब ऐसा लोगों को कठिन पड़ता है (इसलिए) बाहर में चल निकले हैं। **चैतन्यशक्ति से व्याप्त**-सहित, व्याप्त है न? ऐसे तो व्याप्य-व्यापक में आता नहीं? आत्मा व्यापक और राग व्याप्य है। आत्मा व्यापक और आनन्द की पर्याय व्याप्य है। विकाररूप से राग की पर्याय व्याप्य है, निर्विकाररूप से निर्विकारी पर्याय व्याप्य है, व्यापक द्रव्य है। यहाँ तो पूर्ण चैतन्यशक्ति व्याप्त है। आहाहा! चैतन्यशक्ति से जिसका व्यापकपना अर्थात् सर्वस्व होनापना है, जिसका सर्वस्व सार है। आहाहा! यह कोई पण्डिताई की चीज नहीं है। आहाहा! ओहोहो! तिर्यंच पशु भी... आहाहा! चैतन्य सर्वस्व-सार है, उसका पशु भी अनुभव करता है। आहाहा!

ऐसा जो भगवान **सर्वस्व** सब अपना चैतन्यस्वरूप वह उसका सार है, आहाहा! **ऐसा यह जीव इतना मात्र ही है 'इयान्'...** आहाहा! **इतना मात्र ही है 'अतः अतिरिक्ताः' इस चित्शक्ति से शून्य...** जाननस्वभाव के सामर्थ्य से शून्य। जाननस्वभाव का ध्रुव प्रवाह, उससे शून्य **'अमी भावाः' 'अमी भावाः' जो ये भाव...** अस्तित्व सिद्ध किया, जो ये भाव हैं। आहाहा! ये भाव हैं ऐसा मानो हैं, रागादि विकल्प आदि शरीर, वाणी, सब हैं। ये भाव हैं वे **सभी पुद्गलजन्य हैं 'पौद्गलिकाः'...** कहा न? ये सब जड़ से उत्पन्न हुए। आहाहा! इसलिए फिर कोई ऐसा कहे कि जड़कर्म है, उसके कारण यह राग होता है, ऐसा यहाँ नहीं कहना है। यहाँ तो राग तो होता है इसमें, परन्तु निमित्त जड़ है, उसके लक्ष्य से होता है; इसलिए उसका है। आहाहा! समझ में आया? ऐसा उपदेश अब! आहाहा! **जो ये भाव हैं, वे सभी पुद्गलजन्य हैं—पुद्गल के ही हैं।** आहाहा! इसमें से फिर कोई ऐसा निकाले कि विकार तो कर्म से ही-पुद्गल से ही होता है, आत्मा से नहीं (तो) ऐसा यहाँ नहीं कहना है। उसके आश्रय से होता है, इसलिए उसका है, आत्मा का नहीं; निकल जाता है, इसलिए उसका (आत्मा का) नहीं, इस अपेक्षा से कहा है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

अनन्त-अनन्त चौरासी की पाट-अवतार पड़े हैं। आहाहा! उसमें से निकलने का यह एक रास्ता है। जिसका सर्वस्व-सार है। जैसे शीशम में सार नहीं होता? शीशम की लकड़ी में बीच का सार चिकना-चिकना... ऐसे यह भगवान (आत्मा) रागादि के बीच में भिन्न सर्वस्व चैतन्यसार वस्तु है। आहाहा! बहुत अन्दर कठिन होता है, बीच का कठिन चिकना, देखा है न? ऊपर के भाग की अपेक्षा वह बीच का भाग कठिन चिकना, पश्चात् उसे निकाल डाले, खाली करे, तलवार रखने को ऐसे अन्दर... गोल, बहुत चिकना होता है। क्या कहा यह? उस शीशम का सार कहलाता है; उसी प्रकार इस भगवान (आत्मा) का सार... रागादि विकल्पादि जो विकार से अन्दर भिन्न अन्दर सर्वस्व सार चैतन्य पिण्ड है। आहाहा! अरे! आठ वर्ष का बालक भी यह अनुभवे और केवलज्ञान प्राप्त करे, वह कोई चीज़, किसी दूसरे की नहीं कि न पावे। आहा! है उसे प्राप्त करना है। आहाहा!

क्या श्लोक! ओहोहो! सन्तों की वाणी–दिगम्बर सन्तों की वाणी, उसके समक्ष दूसरे भरे पानी – ऐसी चीज है। आहाहा! एक चैतन्य सर्वस्व प्रभु, जैसे उस शीशम का सार होता है–वैसे यह भगवान अन्दर इन सब राग और पुण्य और शरीर आदि से भिन्न चैतन्य सर्वस्व सार है। चैतन्य का कन्द, रसकन्द प्रभु है। आहाहा! इससे भिन्न हैं, वे सब पुद्गल हैं। आहाहा! दया, दान, व्रत, भक्ति, यात्रा का भाव भी यहाँ तो पुद्गल है – ऐसा कहते हैं। आहाहा! पुद्गलजन्य है **पौद्गलिका:** का अर्थ किया (कि) पुद्गलजन्य है; उसका ही अर्थ किया पुद्गल के ही हैं। उसका ही अर्थ किया पुद्गल के ही हैं। आहाहा! ऐसे भावों का व्याख्यान छह गाथाओं से करते हैं।

गाथा ५०–५५

जीवस्स णत्थि वण्णो ण वि गंधो ण वि रसो ण वि य फासो।
ण वि रूवं ण सरीरं ण वि संठाणं ण संहणणं।।५०।।
जीवस्स णत्थि रागो ण वि दोसो णेव विज्जदे मोहो।
णो पच्चया ण कम्मं णोकम्मं चावि से णत्थि।।५१।।
जीवस्स णत्थि वग्गो ण वग्गणा णेव फड्ढया केई।
णो अज्झप्पट्ठाणा णेव य अणुभागठाणाणि।।५२।।
जीवस्स णत्थि केई जोयट्ठाणा ण बंधठाणा वा।
णेव य उदयट्ठाणा ण मग्गणट्ठाणया केई।।५३।।
णो ठिदिबंधट्ठाणा जीवस्स ण संकिलेसठाणा वा।
णेव विसोहिट्ठाणा णो संजमलद्धिठाणा वा।।५४।।
णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाया य अत्थि जीवस्स।
जेण दु एदे सव्वे पोग्गलदव्वस्स परिणामा।।५५।।

जीवस्य नास्ति वर्णो नापि गंधो नापि रसो नापि च स्पर्शः।
नापि रूपं न शरीरं नापि संस्थानं न संहननम्।।
जीवस्य नास्ति रागो नापि द्वेषो नैव विद्यते मोहः।
नो प्रत्यया न कर्म नोकर्म चापि तस्य नास्ति।।
जीवस्य नास्ति वर्गो न वर्गणा नैव स्पर्धकानि कानिचत्।
नो अध्यात्मस्थानानि नैव चानुभागस्थानानि।।

जीवस्य न संति कानिचिद्योगस्थानानि न बंधस्थानानि वा।
नैव चोदयस्थानानि न मार्गणास्थानानि कानिचित्।।
नो स्थितिबंधस्थानानि जीवस्य न संक्लेशस्थानानि वा।
नैव विशुद्धिस्थानानि नो संयमलब्धिस्थानानि वा।।
नैव च जीवस्थानानि न गुणस्थानानि वा संति जीवस्य।
येन त्वेते सर्वे पुद्गलद्रव्यस्य परिणामाः।।

यः कृष्णो हरितः पीतो रक्तः श्वेतो वा वर्णः स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य पुद्गल-द्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यः सुरभिर्दुरभिर्वा गंधः स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यः कटुकः कषायः तिक्तोऽम्लो मधुरो वा रसः य सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यः स्निग्धो रूक्षः शीतः उष्णो गुरुर्लघुर्मृदुः कठिनो वा स्पर्शः स सर्वोपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यत्स्पर्शादिसामान्यपरिणाममात्रं रूपं तन्नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यदौदारिकं वैक्रियिकमाहारकं तैजसं कार्मणं वा शरीरं तत्सर्वमपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूते-र्भिन्नत्वात्। यत्समचतुरस्रं न्यग्रोधपरिमंडलं स्वाति कुब्जं वामनं हुंडं वा संस्थानं तत्सर्वमपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यद्वज्रर्षभनाराचं वज्रनाराचं नाराचमर्धनाराचं कीलिका असंप्राप्तासृपाटिका वा संहननं तत्सर्वमपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यः प्रीतिरूपो रागः स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। योऽप्रीतिरूपो द्वेषः स सर्वोपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यस्तत्त्वाप्रतिपत्तिरूपो मोहः स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। ये मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगलक्षणाः प्रत्ययास्ते सर्वेऽपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाम-मयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यद् ज्ञानावरणीयदर्शनावरणीयवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रांत-रायरूपं कर्म तत्सर्वमपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यत्षट्पर्याप्तित्रिशरीरयोग्यवस्तुरूपं नोकर्म तत्सर्वमपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाम-मयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यः शक्तिसमूहलक्षणो वर्गः स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य

पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। या वर्गसमूहलक्षणा वर्गणा सा सर्वापि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यानि मंदतीव्ररसकर्मदल-विशिष्टन्यासलक्षणानि स्पर्धकानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाम-मयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यानि प्रतिविशिष्टप्रकृतिरसपरिणामलक्षणान्यनुभागस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यानि कायवाङ्मनोवर्गणापरिस्पंदलक्षणानि योगस्थानानि तानि सर्वाण्यापि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यानि प्रतिविशिष्टप्रकृतिपरिणामलक्षणानि बन्धस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूते-र्भिन्नत्वात्। यानि स्वफलसंपादनसमर्थकर्मावस्थालक्षणान्युदयस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यानि गतीन्द्रियकाययोगवेद-कषायज्ञानसंयमदर्शनलेश्याभव्यसम्यक्त्वसंज्ञाहारलक्षणानि मार्गणास्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यानि प्रतिविशिष्टप्रकृतिकालांतरसहत्वलक्षणानि स्थितिबंधस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यानि कषायविपाकोद्रेकलक्षणानि संक्लेशस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्न-त्वात्। यानि कषायविपाकानुद्रेकलक्षणानि विशुद्धिस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेभिन्नत्वात्। यानि चारित्रमोहविपाकक्रमनिवृत्ति-लक्षणानि संयमलब्धिस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न सन्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाम-मयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यानि पर्याप्तापर्याप्तबादरसूक्ष्मैकेंद्रियद्वींद्रियचतुरिंद्रियसंज्ञयसंज्ञि-पंचेद्रियलक्षणानि जीवस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाम-मयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यानि मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्ट्यसंयत-सम्यग्दृष्टिसंयतासंयतप्रमत्तसंयताप्रमत्तसंयतापूर्वकरणोपशमकक्षपकानिवृत्तिबादरसांपरा-योपशमकक्षपकसूक्ष्मसांपरायोपशमकक्षपकोपशांतकषायक्षीणकषायसयोगकेवल्ययोग-केवलिलक्षणानि गुणस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाम-मयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्।

ऐसे इन भावों का व्याख्यान छह गाथाओं में कहते हैं :—

नहिं वर्ण जीव के, गंध नहिं, नहिं स्पर्श, रस जीव के नहीं।
नहिं रूप अर संहनन नहिं, संस्थान नहिं, तन भी नहीं॥५०॥
नहिं राग जीव के, द्वेष नहिं, अरु मोह जीव के है नहीं।
प्रत्यय नहीं, नहिं कर्म अरु नोकर्म भी जीव के नहीं॥५१॥
नहीं वर्ग जीव के, वर्गणा नहिं, कर्मस्पर्द्धक है नहीं।
अध्यात्मस्थान न जीव के, अनुभागस्थान भी हैं नहीं॥५२॥
जीव के नहीं कुछ योगस्थान रु, बंधस्थान भी है नहीं।
नहिं उदयस्थान न जीव के, अरु स्थान मार्गणा के नहीं॥५३॥
स्थितिबंधस्थान न जीव के, संक्लेशस्थान भी हैं नहीं।
जीव के विशुद्धिस्थान, संयमलब्धिस्थान भी हैं नहीं॥५४॥
नहिं जीवस्थान भी जीव के, गुणस्थान भी जीव के नहीं।
ये सब ही पुद्गल द्रव्य के, परिणाम हैं जानो यही॥५५॥

गाथार्थ - [जीवस्य] जीव के [वर्णः] वर्ण [नास्ति] नहीं, [न अपि गंधः] गन्ध भी नहीं, [रसः अपि न] रस भी नहीं [च] और [स्पर्शः अपि न] स्पर्श भी नहीं, [रूपं अपि न] रूप भी नहीं, [न शरीरं] शरीर भी नहीं, [संस्थानं अपि न] संस्थान भी नहीं, [संहननम् न] संहनन भी नहीं; [जीवस्य] जीव के [रागः नास्ति] राग भी नहीं, [द्वेषः अपि न] द्वेष भी नहीं, [मोहः] मोह भी [न एव विद्यते] विद्यमान नहीं, [प्रत्ययाः नो] प्रत्यय (आस्त्रव) भी नहीं, [कर्म न] कभी भी नहीं [च] और [नोकर्म अपि] नोकर्म भी [तस्य नास्ति] उसके नहीं है; [जीवस्य] जीव के [वर्गः नास्ति] वर्ग नहीं, [वर्गणा न] वर्गणा नहीं, [कानिचित् स्पर्धकानि न एव] कोई स्पर्धक भी नहीं, [अध्यात्मस्थानानि नो] अध्यात्मस्थान भी नहीं [च] और [अनुभागस्थानानि] अनुभागस्थान भी [न एव] नहीं है; [जीवस्य] जीव के [कानिचित् योगस्थानानि] कोई योगस्थान भी [न संति] नहीं [वा] अथवा [बंधस्थानानि न] बंधस्थान भी नहीं, [च] और [उदयस्थानानि] उदयस्थान भी [न एव] नहीं, [कानिचित् मार्गणास्थानानि न] कोई मार्गणास्थान भी नहीं हैं; [जीवस्य] जीव के [स्थितिबंधस्थानानि नो] स्थितिबंधस्थान भी नहीं [वा] अथवा

[संक्लेशस्थानानि न] संक्लेशस्थान भी नहीं, [विशुद्धिस्थानानि] विशुद्धिस्थान भी [न एव] नहीं [वा] अथवा [संयमलब्धिस्थानानि] संयमलब्धिस्थान भी [नो] नहीं हैं; [च] और [जीवस्य] जीव के [जीवस्थानानि] जीवस्थान भी [न एव] नहीं [वा] अथवा [गुणस्थानानि] गुणस्थान भी [न संति] नहीं हैं; [येन तु] क्योंकि [एते सर्वे] यह सब [पुद्गलद्रव्यस्य] पुद्गलद्रव्य के [परिणामाः] परिणाम हैं।

टीका - जो काला, हरा, पीला, लाल और सफेद वर्ण है वह सर्व ही जीव का नहीं है क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य का परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है ॥१ ॥ जो सुगन्ध और दुर्गन्ध है वह सर्व ही जीव की नहीं है क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य का परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है ॥२ ॥ जो कडुवा, कषायला, चरपरा, खट्टा और मीठा रस है, वह सर्व ही जीव का नहीं है क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है ॥३ ॥ जो चिकना, रूखा, ठण्डा, गर्म, भारी, हल्का, कोमल अथवा कठोर स्पर्श है, वह सर्व ही जीव का नहीं है क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है ॥४ ॥ जो स्पर्शादि सामान्य-परिणाममात्र रूप है, वह जीव का नहीं है क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है ॥५ ॥ जो औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस अथवा कार्मण शरीर है, वह सर्व ही जीव का नहीं है क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है ॥६ ॥ जो समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमंडल, स्वाति, कुब्जक, वामन अथवा हुंडक संस्थान है, वह सर्व ही जीव का नहीं है क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है ॥७ ॥ जो वज्रवृषभनाराच, वज्रनाराच, नाराच, अर्द्धनाराच, कीलिका अथवा असंप्राप्तासृपाटिका संहनन है वह सर्व ही जीव का नहीं है क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है ॥८ ॥ जो प्रीतिरूप राग है, वह सर्व ही जीव का नहीं है क्योंकि वह पुद्गलपरिणाममय है इसलिए (अपनी) अनुभूति से भिन्न है ॥९ ॥ जो अप्रीतिरूप द्वेष है वह सर्व ही जीव का नहीं है क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है ॥१० ॥ जो यथार्थ तत्त्व की अप्रतिपत्तिरूप (अप्राप्तिरूप) मोह है वह सर्व ही जीव का नहीं है क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है ॥११ ॥ मिथ्यात्व,

अविरति, कषाय और योग जिसके लक्षण हैं ऐसे जो प्रत्यय (आस्रव) वे सर्व ही जीव के नहीं हैं, क्योंकि वह पुद्‌गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न हैं ॥१२॥ जो ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तरायरूप कर्म है, वह सर्व ही जीव का नहीं है क्योंकि वह पुद्‌गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है ॥१३॥ जो छह पर्याप्तियोग्य और तीन शरीरयोग्य वस्तु (पुद्‌गलस्कन्ध) रूप नोकर्म है, वह सर्व ही जीव का नहीं है, क्योंकि वह पुद्‌गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है ॥१४॥ जो कर्म के रस की शक्तियों का (अर्थात् अविभागप्रतिच्छेदों का) समूहरूप वर्ग है, वह सर्व ही जीव का नहीं है, क्योंकि वह पुद्‌गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है ॥१५॥ जो वर्गों का समूहरूप वर्गणा है वह सर्व ही जीव का नहीं है, क्योंकि वह पुद्‌गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है ॥१६॥ जो मन्दतीव्ररसवाले कर्मसमूह के विशिष्ट न्यास (जमाव) रूप (वर्गणा के समूहरूप) स्पर्धक हैं वह सर्व ही जीव के नहीं हैं, क्योंकि वह पुद्‌गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न हैं ॥१७॥ स्वपर के एकत्व का अध्यास (निश्चय) हो तब (वर्तने पर), विशुद्ध चैतन्यपरिणाम से भिन्नरूप जिनका लक्षण है, ऐसे जो अध्यात्मस्थान हैं वे सर्व ही जीव के नहीं हैं, क्योंकि वह पुद्‌गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है ॥१८॥ भिन्न-भिन्न प्रकृतियों के रस के परिणाम जिनका लक्षण है ऐसे जो अनुभागस्थान वे सर्व ही जीव के नहीं हैं, क्योंकि वह पुद्‌गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है ॥१९॥ काय, वचन और मनोवर्गणा का कम्पन जिनका लक्षण है ऐसे जो योगस्थान वे सर्व ही जीव के नहीं हैं क्योंकि वह पुद्‌गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है ॥२०॥ भिन्न-भिन्न प्रकृतियों के परिणाम जिनका लक्षण है ऐसे जो बन्धस्थान वे सर्व ही जीव के नहीं हैं, क्योंकि वह पुद्‌गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है ॥२१॥ अपने फल के उत्पन्न करने में समर्थ कर्म-अवस्था जिनका लक्षण है ऐसे जो उदयस्थान वे सर्व ही जीव के नहीं हैं, क्योंकि वह पुद्‌गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है ॥२२॥ गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व, संज्ञा और आहार जिनका लक्षण है ऐसे जो मार्गणास्थान वे सर्व ही जीव के नहीं हैं, क्योंकि वह पुद्‌गलद्रव्य के

परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है ॥२३ ॥ भिन्न-भिन्न प्रकृतियों का अमुक मर्यादा तक कालान्तर में साथ रहना जिनका लक्षण है ऐसे जो स्थितिबन्धस्थान वे सर्व ही जीव के नहीं हैं क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है ॥२४॥ कषायों के विपाक की अतिशयता जिनका लक्षण है ऐसे जो संक्लेशस्थान वे सर्व ही जीव के नहीं हैं, क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है ॥२५ ॥ कषायों के विपाक की मन्दता जिनका लक्षण है ऐसे जो विशुद्धिस्थान वे सर्व ही जीव के नहीं हैं क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है ॥२६ ॥ चारित्रमोह के विपाक की क्रमश: निवृत्ति जिनका लक्षण है ऐसे जो संयमलब्धिस्थान वे सर्व ही जीव के नहीं हैं, क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है ॥२७॥ पर्याप्त एवं अपर्याप्त ऐसे बादरसूक्ष्म एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, संज्ञी-असंज्ञी पंचेन्द्रिय जिनका लक्षण है, ऐसे जो जीवस्थान वे सर्व ही जीव के नहीं हैं क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने (अपनी) अनुभूति से भिन्न है ॥२८॥ मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण-उपशमक तथा क्षपक, अनिवृत्तिबादर-साम्पराय-उपशमक तथा क्षपक; सूक्ष्मसाम्पराय-उपशमक तथा क्षपक, उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय, सयोगकेवली और अयोगकेवली जिनका लक्षण है ऐसे जो गुणस्थान वे सर्व ही जीव के नहीं हैं क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है ॥२९॥ (इस प्रकार ये समस्त ही पुद्गलद्रव्य के परिणाममय भाव हैं; वे सब जीव नहीं हैं। जीव तो परमार्थ से चैतन्यशक्तिमात्र है।)

गाथा - ५० से ५५ पर प्रवचन

जीवस्स णत्थि वण्णो ण वि गंधो ण वि रसो ण वि य फासो।
ण वि रूवं ण सरीरं ण वि संठाणं ण संहणणं।।५०।।

जीवस्स णत्थि रागो ण वि दोसो णेव विज्जदे मोहो।
णो पच्चया ण कम्मं णोकम्मं चावि से णत्थि।।५१।।

जीवस्स णत्थि वग्गो ण वग्गणा णेव फड्ढया केई।
णो अज्झप्पट्ठाणा णेव य अणुभागठाणाणि॥५२॥
जीवस्स णत्थि केई जोयट्ठाणा ण बंधठाणा वा।
णेव य उदयट्ठाणा ण मग्गणट्ठाणया केई॥५३॥
णो ठिदिबंधट्ठाणा जीवस्स ण संकिलेसठाणा वा।
णेव विसोहिट्ठाणा णो संजमलद्धिठाणा वा॥५४॥
णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाया य अत्थि जीवस्स।
जेण दु एदे सव्वे पोग्गलदव्वस्स परिणामा॥५५॥

ये तो पुद्‌गल के परिणाम हैं। आहाहा! हरिगीत

नहिं वर्ण जीव के, गंध नहिं, नहिं स्पर्श, रस जीव के नहीं।
नहिं रूप अर संहनन नहिं, संस्थान नहिं, तन भी नहीं॥५०॥
नहिं राग जीव के, द्वेष नहिं, अरु मोह जीव के है नहीं।
प्रत्यय नहीं, नहिं कर्म अरु नोकर्म भी जीव के नहीं॥५१॥
नहीं वर्ग जीव के, वर्गणा नहिं, कर्मस्पर्द्धक है नहीं।
अध्यात्मस्थान न जीव के, अनुभागस्थान भी हैं नहीं॥५२॥
जीव के नहीं कुछ योगस्थान रु, बंधस्थान भी है नहीं।
नहिं उदयस्थान न जीव के, अरु स्थान मार्गणा के नहीं॥५३॥
स्थितिबंधस्थान न जीव के, संक्लेशस्थान भी हैं नहीं।
जीव के विशुद्धिस्थान, संयमलब्धिस्थान भी हैं नहीं॥५४॥
नहिं जीवस्थान भी जीव के, गुणस्थान भी जीव के नहीं।
ये सब ही पुद्‌गल द्रव्य के, परिणाम हैं जानो यही॥५५॥

ये छह गाथाएँ, हमारे नारायणभाई कहते, उकरडो (घूरा) २९ बोल का घूरा कहते थे।

टीका - जो काला, हरा, पीला, लाल और सफेद वर्ण है।... हैं तो ये वर्ण की

पर्यायें। वर्ण जो है, उनकी ये पर्यायें हैं। रंग जो गुण है उसकी ये पाँच पर्यायें हैं। **वह सर्व ही जीव का नहीं है...** आहाहा! सफेद वर्ण है वह पर्याय है, सुन्दर श्वेत शरीर है, वह वर्ण गुण नहीं। वह वर्ण गुण की सफेद पर्याय है, वह इस वर्ण गुण की सफेद (पर्याय है)। यह गेहूँ वर्णी शरीर है—ऐसा नहीं कहते, लाल होवे तो? सफेद होवे तो उसमें... काला होवे तो उसमें कहते हैं उसकी माँ (माता) काली, इसलिए उसके वर्ण हुआ। इसका पिता गोरा, इसलिए उसके वर्ण हुआ, ऐसा लोग कहते हैं। वह सब वर्ण गुण की पर्याय है। आहाहा!

वह सर्व ही जीव का नहीं है... आहाहा! **क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य का परिणाममय होने से...** भाषा देखो! पुद्गलद्रव्य के परिणाम होने से, ऐसा नहीं। अमृतचन्द्राचार्य! आहाहा! कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा कि **पोग्गलदव्वस्स परिणामा** उसका हेतु अन्दर से निकाला। आहाहा! वे तो पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से। भगवान चैतन्यस्वरूप से तो ये भिन्न हैं, ये पुद्गलमय है, पुद्गलमय अभेद है पुद्गल से। आहाहा! यह भेदज्ञान कराया है। आहाहा!

इसके बदले में रूपवान हूँ, मैं काला हूँ, मैं गेहूँ वर्णी हूँ... आहाहा! वे तो पुद्गल के परिणाम हैं, उन्हें तू तेरा मानता है। क्या कहते हैं यह तुझे? मैं मेरी माँ (माता) के वर्ण आया हूँ, बड़ा भाई पिता के वर्ण आया है, ऐसा लोग कहते हैं। इसकी माँ गेहूँ वर्ण हो न, उस वर्ण यह हुआ हो। इसका पिता गोरा हो तो उसके वर्ण यह हुआ हो, कहते हैं हमारे... किसका वर्ण बापू! आहाहा! वह सब पर्याय वर्णगुण की दशाएँ हैं, वे तेरी नहीं, तुझमें नहीं; उनमें तू नहीं। आहाहा!

(अपनी) अनुभूति से भिन्न है। भाषा देखो! द्रव्य से भिन्न, यह अनुभव किया, तब उससे भिन्न है ऐसा। ऐसे भिन्न-भिन्न है - ऐसा नहीं। आहाहा! यह काली, लाल, पीली, सफेद पर्याय, वह पुद्गलमय है, उससे आत्मा भिन्न है और अनुभूति से भिन्न है। वर्तमान में उसका अनुभव करने पर उससे वे भिन्न हैं। आहाहा! द्रव्य से तो भिन्न हैं, परन्तु अनुभव करने पर उससे भी वह चीज (वर्णादि) भिन्न हैं। अभी आगे तो अधिक आयेगा। आहाहा!

अनुभूति, आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव, ऐसी अनुभूति की दशा से... यहाँ वे दशाएँ कही हैं न? वर्ण की दशा / पर्याय कही है। क्या कहा? वर्ण की पर्यायें कही हैं। काला, सफेद आदि, तो वह पर्याय, द्रव्य की अनुभूति की पर्याय से वह भिन्न है।

आहाहा! समझ में आया? वर्णगुण है, उसकी यह काली, पीली, लाल, हरी, सफेद यह पर्याय है। तब वे पर्यायें-वर्ण की पर्यायें हैं। तब उन्हें भिन्न है, ऐसा कब हो? कि भगवान आत्मा अपने अनुभूति की पर्याय में जब आवे। आहाहा! वे वर्ण के गुण की पाँच पर्यायें हैं, उनसे भगवान भिन्न है। क्यों? कि वे अनुभूति से भिन्न है। आहाहा! इस पर्याय से - वर्ण की पर्याय से... भगवान आत्मा की अनुभूति है, वह पर्याय। आहाहा! उससे यह पर्याय (वर्ण की) भिन्न है। यह भिन्न है, ऐसा अनुभव हुआ तब भिन्न है, ऐसा कहने में आया - ऐसा कहते हैं। समझ में आया? इस तरह वर्ण की पर्याय मेरी नहीं है - ऐसा धारणा करके रखे, वह वस्तु नहीं - ऐसा कहते हैं। आहाहा!

यह वीतराग त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव की अनुभूति की दशा और (वर्ण की) पर्याय, दो भिन्न है। द्रव्य से भिन्न है परन्तु द्रव्य से भिन्न, यह अनुभव किये बिना भिन्न है - ऐसा कहाँ से आया, कहते हैं। समझ में आया? यह वर्ण गुण की पाँच पर्यायें, वे गुण की पर्यायें हैं परन्तु वे आत्मा से भिन्न हैं, यह कब ज्ञात हो? कि आत्मा अनुभूति करे, तब अनुभूति की पर्याय से वह पर्याय भिन्न है। जैसे वर्णगुण की पाँच पर्यायें, वैसे भगवान आत्मा की अनुभूति की पर्याय... आहाहा! आहाहा! उससे-इस प्रभु की अनुभूति की पर्याय से वह वर्ण की पर्याय, वर्णगुण की पर्याय द्रव्य की अनुभूति की पर्याय से वह वर्ण की पर्याय भिन्न है। आहाहा! चन्दुभाई! ऐसी बात है। शरीर का होना हो, वह हो; वह तो हुआ ही करेगा कहते हैं। आहाहा! तू तेरा कर, तू तेरा सम्हाल। आहाहा! ओहो! क्या टीका! आहाहा! एक ओर वर्णगुण, उसकी पाँच पर्याय; एक ओर भगवान आत्मा, उसकी अनुभूति की पर्याय, तब वे भिन्न हैं - ऐसा हुआ। आहाहा! समझ में आया? है न? यह तो सन्तों की वाणी बापू! यह कोई... आहाहा! क्या कहा यह, समझ में आया?

जैसे यह वर्णगुण सामान्य है, उसकी यह काली, हरी, पीली, लाल, ये विशेष पर्यायें हैं परन्तु ये भिन्न हैं, यह कब ख्याल में आवे? कि आत्मा जो सामान्य द्रव्य है, उसकी विशेष अनुभूति करे, तब वे भिन्न हैं, वैसा अनुभव सच्चा हो। आहाहा! क्या यह समयसार! क्या इसकी गाथायें!! आहाहा! वर्णगुण की पाँच पर्यायें भिन्न हैं, भिन्न हैं—ऐसे भिन्न पड़े बिना भिन्न है, ऐसा तुझे कहाँ से ख्याल आया, कहते हैं। आहाहा! आहाहा!

भगवान आत्मा द्रव्य अर्थात् वस्तु से तो सामान्य-त्रिकाल है, जब उसका अनुभव हुआ, उसे अनुसरणकर द्रव्य की पर्याय जो शुद्ध अनुभूति हुई, उस अनुभूति की पर्याय से वे वर्ण की पाँच पर्यायें भिन्न हैं। आहाहा! वे सभी पुद्गल की पर्यायें हैं। तब अनुभूति, वह भगवान आत्मा की शुद्धपर्याय है। आहाहा!

अब ऐसा उपदेश! अब सुनना कठिन पड़ता है। पूरे दिन धन्धा... धन्धा... धन्धा...। नहीं कहा उसने, कि यह जैनधर्म बनियों को मिला और बनिये व्यापार में घुस गये। ए... चिमनभाई! वह जापान का ऐतिहासिक है, बड़ा ऐतिहासिक। लड़का भी ऐसा लिखता है। दोनों ऐसे, (उन्होंने लिखा) जैन 'अनुभूति' कहा न, यह जैनधर्म अनुभूतिस्वरूप है - ऐसा उसने कहा। समाचार पत्र में बड़ा लेख आया था। परन्तु यह जैन (धर्म) बनियों को मिला और बनिये पूरे दिन व्यापार में घुस गये। यह और यह। आहाहा! यह व्यापार करने को निवृत्त नहीं। यह व्यापार अर्थात् अनुभूति; आत्मा का व्यापार यह है। आहाहा! आहाहा! एक बोल हुआ।

(दूसरा बोल) अब सुरभि अथवा दुरभि-गन्ध। गन्ध है, वह सामान्य है और सुरभि-दुरभि, यह उसकी विशेष पर्यायें हैं। जो गन्ध है, वह गुण है, वह पुद्गल का गुण है और उस गुण की सुरभि और दुरभि... **सुगन्ध और दुर्गन्ध...** वह गन्धगुण की पर्याय है। पुद्गल का गन्धगुण। जैसे पुद्गल का वर्णगुण, उसकी पाँच पर्यायें हैं। वैसे भगवान आत्मा का आनन्दगुण, ज्ञानगुण त्रिकाली, उसकी अनुभूति वह उसकी पर्याय है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! यह सुरभि और दुरभि पर्याय है। किसकी? गन्ध की। गन्धगुण है, उसे सुगन्ध और दुर्गन्ध पर्याय है। गन्धगुण है, वह पुद्गल का गुण है और उसकी पर्याय है, वह सुगन्ध... इसमें तीनों आ गये। पुद्गलद्रव्य, उसका गुण गन्ध और उसकी पर्याय सुरभि और दुरभि। **सुगन्ध और दुर्गन्ध...** आहाहा! **वह सर्व ही जीव की नहीं है...** आहाहा! **क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से...** आहाहा! ये तो पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से। आहाहा! पुद्गल, उसका गन्धगुण, उसकी सुगन्ध-दुर्गन्ध ये पर्यायें, ये पुद्गलपरिणाममय हैं। आहाहा! उससे भिन्न नहीं, परिणाममय है। आहाहा! **अनुभूति से भिन्न है।** यह द्रव्यवस्तु, इसका आनन्द-ज्ञान आदि गुण, उसकी वर्तमान श्रद्धा

और अनुभव आदि उसकी पर्याय। आहाहा! समझ में आया? द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों समाहित कर दिये। आहाहा! गजब बात है, बापू! आहाहा!

भगवान आत्मा द्रव्य; उसका ज्ञान-आनन्द आदि गुण; उसकी अनुभूति-ज्ञान की पर्याय, आनन्द की पर्याय, श्रद्धा की पर्याय, शान्ति की पर्याय, चारित्र की पर्याय, यह सब अनुभूति की पर्याय है। आहाहा! ये पुद्गलद्रव्य, गुण और पर्याय से भगवान द्रव्य, गुण और अनुभूति की पर्याय से वे भिन्न हैं। आहाहा! ऐसी बात है। आहाहा!

फिर रस, रस। रस है, वह पुद्गलद्रव्य का गुण है। पुद्गलवस्तु है, उसका रस वह गुण है, उसकी पाँच पर्यायें हैं **कडुवा,...** यह कडुवा गुण नहीं है, यह रस की पर्याय है। आहाहा! **कषायला...** तोरा, तोरा कहते हैं न, वह रसगुण की पर्याय है। पुद्गलद्रव्य है, उसका रसगुण है, उसकी यह कषायला पर्याय है। **चरपरा,...** चरपरा गुण नहीं, रसगुण है, उसकी यह चरपरा पर्याय है। आहाहा! **खट्टा,...** खट्टा, यह रसगुण की एक पर्याय है **और मीठा...** यह गुड़ मीठा, शक्कर मीठी, मैसूर मीठा, आम मीठा, यह सब पर्याय रसगुण की पर्याय है। आहाहा! **वह सर्व ही जीव का नहीं है...** आहाहा! **क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से...** ये तो पुद्गलद्रव्य के परिणाम हैं। पुद्गलद्रव्य है, उसका रसगुण है और उसकी ये पर्यायें हैं अर्थात् **पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से...** उसके साथ अभेद है। आहाहा! समझ में आया?

यह समयसार! मीठालालजी! बापू! समयसार अर्थात् क्या? आहाहा! साक्षात् तीन लोक के नाथ की दिव्यध्वनि का यह सार है। आहाहा! इसे समझने के लिये बहुत निवृत्ति चाहिए, भाई! आहाहा! क्योंकि यह प्रभु (आत्मा) राग से तो निवृत्तस्वरूप है। आहाहा! उसे कहते हैं कि रस की जो पाँच पर्यायें हैं - मीठी, खट्टी, मीठी लगती है न? वह तो जड़ की पर्याय है, यह जीव उसे स्पर्श नहीं करता, मात्र जानने में आता है, वहाँ उसे लगता है कि यह मीठा है, वह तो ज्ञान होता है और यह ठीक है, वहाँ तो राग होता है। वह राग भी जीव की पर्याय नहीं है। आहाहा! मीठा, जो मीठा ख्याल में आया—शक्कर, गुड़... आहाहा! ज्ञान में ख्याल में आया कि मीठा, वह मीठा स्वयं ज्ञान में नहीं आता, मिठास को यह ज्ञान की पर्याय स्पर्श भी नहीं करती; मात्र मिठास को जानते हुए ज्ञान

जानता है कि यह मिठास है। उसे फिर राग होता है कि यह बहुत अच्छा है, यह राग है। यह राग और मीठी पर्याय, इससे भगवान पूर्णत: भिन्न है। आहाहा! है ? वे **(अपनी) अनुभूति से भिन्न है।** आत्मा और उसका आनन्दरस, यह सामान्य, आत्मा और आनन्दरस सामान्य, उसकी अनुभूति की विशेष रसपर्याय, उससे ये पर्यायें भिन्न हैं। आहाहा! ऐसा भेदज्ञान कराया है। आहाहा! तेरा स्वरूप प्रभु! द्रव्य से भिन्न है परन्तु द्रव्य से भिन्न है – ऐसा जाना किसने ? आहाहा! जाननेवाले की पर्याय / अनुभूति हुई उसने जाना कि यह भिन्न है। आहाहा!

विशेष कहा जायेगा। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १२७ गाथा-५० से ५५ दिनाङ्क ०४-११-१९७८, शनिवार
कार्तिक शुक्ल ४, वीर निर्वाण संवत् २५०४

समयसार, (गाथा ५० से ५५)। चौथा बोल है। तीन बोल आ गये है। टीका, टीका का चौथा बोल बाकी है। चिकना नहीं ? चिकना, क्या कहते हैं ? सूक्ष्म अधिकार है।

(गाथा ५० से ५५ टीका का बोल-चार) (जो चिकना, रूखा, ठण्डा, गर्म, भारी, हल्का, कोमल अथवा कठोर स्पर्श है, वह सर्व ही जीव का नहीं है क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है।)

यह आत्मा है, आत्मा! वह अनन्त-अनन्त गुण का पिण्ड वस्तु है और जो अनन्त गुण हैं, वे उसकी शक्ति, उसका सत्व उसका भाव है। और जब इसका-(आत्मा का) अनुभव होता है, तब ही यह राग-चिकनाई, स्पर्श, वर्ण, रंग, गंध, आदि से भगवान आत्मा भिन्न है। अत: जब अपना अनुभव होता है, तो पुद्गलद्रव्य जो है, उसका स्पर्श नाम का गुण है-चौथा बोल चलता है।

पुद्गलद्रव्य है, उसका स्पर्श नाम का गुण है, उसकी आठ (प्रकार की) पर्यायें हैं, वे आत्मा में नहीं हैं, यह कहते हैं। जो चिकनाई है-चिकनाई वह गुण नहीं, चिकनाई स्पर्शगुण की पर्याय है, पर्याय अर्थात् अवस्था है। चिकना-**रूखा** यह भी स्पर्श गुण की रूखा एक पर्याय है। गुण नहीं। गुण तो स्पर्श है। आहाहा! और ठण्डा, वह भी स्पर्श गुण

की पर्याय है, **गर्म** भी... समझ में आया ? पर्याय है **भारी,** वह भी स्पर्श गुण की पर्याय है, **हल्की-कोमल और कठोर वह स्पर्श** है, वे सभी जीव के नहीं हैं। समझ में आया ? आहाहा !

जीव, वह स्पर्श को कभी छूआ ही नहीं। आहाहा ! अपने द्रव्य-गुण और पर्याय को आत्मा चुम्बन करता है, छूता है परन्तु परद्रव्य या गुण या पर्याय को कभी भी स्पर्श नहीं करता। आहाहा ! समझ में आया ? यह तीसरी गाथा में आ गया है। समयसार तीसरी (गाथा)। अपना आत्मा अपने द्रव्य-गुण-पर्याय को चुम्बन करता है अर्थात् स्पर्श करता है-छूता है परन्तु परद्रव्य-कर्म को-शरीर को (किसी भी परवस्तु को) स्पर्श नहीं करता - छूता नहीं अनन्त काल में आत्मा। परद्रव्य-कर्म को, शरीर को चुम्बन नहीं करता-स्पर्श नहीं करता-छूता नहीं क्योंकि वह तो परद्रव्य है और परद्रव्य का अपनी पर्याय में अभाव है - परद्रव्य के द्रव्य-गुण-पर्याय का (आत्मा में) अभाव है। आहाहा ! परन्तु उनका अभाव है, ऐसा अनुभव में कब आता है ? यह कहते हैं कि ये चिकनाई आदि जीव के नहीं हैं क्योंकि वे **पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से...** जरा सूक्ष्म बात है।

पुद्गल-जो जड़ पुद्गल है, वह द्रव्य है और उसमें स्पर्शगुण है, वह गुण है; उसमें चिकनाई आदि पर्याय है, तो (ऐसे) द्रव्य-गुण और पर्याय तीनों पुद्गलमय है। आहाहा ! वे आत्मा में हैं ही नहीं, परन्तु आत्मा में हैं नहीं कब इसका (आत्मा का) भान होता है ? (तब) यह कहते हैं। आहाहा ! वे पुद्गलद्रव्य के होने से **(अपनी) अनुभूति से भिन्न है।** यह आत्मा जो द्रव्य है, इससे तो वे भिन्न हैं परन्तु भिन्न कब अनुभव में आता है ? आहाहा ! समझ में आया ? सूक्ष्म विषय है !

जैसे स्पर्शगुण पुद्गल का है। पुद्गल द्रव्य है और स्पर्श उसका गुण है और चिकनाहट आदि पर्याय है (ऐसे) अब आत्मा में... आत्मा द्रव्य है, उसके ज्ञान-आनन्द आदि गुण हैं और उसकी अनुभूति, वह उसकी पर्याय है। आहाहा ! अनुभूति अर्थात् आत्मा आनन्दमूर्ति प्रभु आत्मा है, उसका सम्यग्दर्शन के काल में अनुभव होता है तो उस आनन्द का वेदन होता है, उसे अनुभूति कहा जाता है। उसे सम्यग्दर्शन कहो, अनुभूति कहो, स्वरूप-आचरण कहो... आत्मा (शान्तस्वभावी) शान्ति जो स्वभाव में थी, वह पर्याय में व्यक्त हुई, उसे अनुभूति कहते हैं। आहाहा ! सूक्ष्म विषय है भाई !

भगवान आत्मा में... यहाँ छह बोल लेना है। एक पुद्गलद्रव्य जड़, उसका स्पर्श गुण और उसकी चिकनाहट, रूक्षता आदि पर्याय - इन तीनों आत्मा से भिन्न है। कब? आहाहा! कि अपना भगवान आत्मा अनन्त गुण का पिण्ड, उसमें अनन्त गुण हैं—ऐसी अन्तर्दृष्टि होती है, तब जो पर्याय में अनुभूति होती है, तब उसे भिन्न है—ऐसा अनुभव में आया। आहाहा! पण्डितजी! ऐसी बात है, भगवान! बात तो ऐसी चीज़ है। आहाहा! भगवान आत्मा!

भगवान कुन्दकुन्दाचार्य दिगम्बर सन्त! पंच परमेष्ठी में आचार्य (पद में) वे पंच परमेष्ठी में आचार्य थे और उनकी टीका करनेवाले अमृतचन्द्राचार्य, वे भी पंच परमेष्ठी में आचार्य थे। जिन्हें सन्त कहने में आता है। सन्त उन्हें कहते हैं कि जिन्हें प्रचुर स्वसंवेदन आनन्द की मोहरछाप अन्दर में हो। पाँचवीं गाथा में आया है। कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि हमारा वैभव क्या है? इस जगत के वैभव मानते हैं पैसा-धूल और शरीर को, वह तो धूल है, वह वैभव हमारा नहीं है। हमारा वैभव आत्मा... कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं। मैं (चैतन्य) द्रव्य हूँ-मैं अनन्तगुण हूँ और उनका आश्रय करके मेरी जो अनुभूति-प्रचुर (स्वसंवेदन प्रगट हुआ...) सम्यग्दर्शन में आनन्द का स्वाद आवे परन्तु थोड़ा। सम्यग्दर्शन जो धर्म की पहली सीढ़ी, धर्म की पहली शुरुआत... पहली कहते हैं न? सब हिन्दी बहुत नहीं आती। गुजराती (बहुत) तो पहली शुरुआत में धर्म की (जो) दशा जब प्रगट होती है, तब तो पहले अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन पर्याय में अनुभव में (आता है-)अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है। वह स्वाद पर्याय है। आनन्द वह गुण है और द्रव्य जो आनन्द आदि धरनेवाला वह द्रव्य है। आहाहा!

तो... आत्मा द्रव्य है, वस्तु। यह पैसा (रुपया) द्रव्य वह नहीं, हों! आहाहा! 'द्रवतिइति द्रव्यं'-जो द्रवित होता है-जो वस्तु कायम रहकर पर्याय को द्रवित होती है / परिणमित होती है। वह द्रव्य / आत्मा जिसने दृष्टि में लिया तो द्रव्य में जो आनन्द-जो गुण है वह पर्याय में-अनुभूतिरूप से आनन्द का अनुभव हुआ, तो वे द्रव्य-गुण और पर्याय तीनों आत्मा के हैं। बीच में जो रागादि दया, दान आदि विकल्प उठते हैं, वह विकार है। उनसे भगवान आत्मा भिन्न है। आहाहा! परन्तु भिन्न कब होता है? कि द्रव्य की अनुभूति

करे, तब भिन्न होता है – भिन्न है – ऐसा ज्ञान होता है। आहाहा! सूक्ष्म बात है प्रभु! वीतरागमार्ग– जैन परमेश्वर त्रिलोकनाथ (तीर्थंकरदेव) सीमंधर प्रभु महाविदेह में विराजते हैं। वहाँ संवत् ४९ में कुन्दकुन्दाचार्य गये थे, दो हजार वर्ष पहले वहाँ गये थे। आठ दिन वहाँ रहे और उन्हें जमीन से चार अंगुल ऊँचे चलने की रिद्धि थी। महाविदेह में आठ दिन रहे और वहाँ से आकर ये शास्त्र बनाये। आहाहा!

ये शास्त्र बनाये, इनके पश्चात् हजार वर्ष बाद एक अमृतचन्द्राचार्य हुये, उन्होंने यह टीका बनायी है। दोनों सन्त थे, दोनों पंच परमेष्ठी में अनुभूति का वैभव-आनन्द का वैभव (प्रचुर स्वसंवेदन) दशा जिन्हें अन्दर प्रगट हो गयी थी। आहाहा! जिनकी अतीन्द्रिय आनन्द की मोहरछाप... जैसे (पोस्ट) कार्ड में मोहरछाप लगाते हैं न, लिफाफे पर लगाते हैं; वैसे मुनिदशा में प्रचुर अतीन्द्रिय आनन्द की मोहरछाप पड़ती है। आहाहा! समझ में आया?

यहाँ तो अभी अनुभूति की बात चलती है। इससे (मुनि से) निचले दर्जे की बात। मुनि के दर्जे से अनुभूति की चीज़ चौथे गुणस्थान में नीचे की चीज़ है। जब सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होती है, तब उसकी दृष्टि द्रव्य पर जाती है। ज्ञायक चिदानन्द (पर जाती है)। निमित्त से भी हटकर, राग—दया, दान, व्रत, भक्ति आदि का राग—उससे भी हटकर, पर्याय से भी हटकर त्रिकाल ज्ञायक पर दृष्टि जाती है। आहाहा! समझ में आया? तब उसे सम्यग्दर्शन होता है और तब उसे आनन्द की अनुभूति होती है। आहाहा! वहाँ से धर्म की शुरुआत होती है। यहाँ यह बात है, प्रभु! आहाहा! उस **अनुभूति से भिन्न है**। कहा न! ऐसा क्यों कहा? यह टीका तो गम्भीर है! चिकनाहट आदि वे सर्व जीव के नहीं हैं क्योंकि **पुद्गलद्रव्य के परिणाममय...** परिणाममय ऐसा क्यों कहा? कि जो चिकनाहट-रूक्षता आदि जो पर्याय है, वह पुद्गलद्रव्य के परिणामवाला (ऐसा) नहीं (परन्तु) परिणाममय-अभेद है। ये स्पर्श गुणादि हैं, इसकी पर्याय चिकना-रूखा (आदि) जो है, वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय (अर्थात्) उसके साथ अभेद है।

आहाहा! और आत्मा में आत्मा की अनुभूति है, वह आत्मद्रव्य के साथ अभेद है। सूक्ष्म बात है भाई! यह तो समयसार है। यह तो तीन लोक के नाथ जिनेश्वरदेव की दिव्यध्वनि है। उसे कुन्दकुन्दाचार्य सुनकर आये। (वे) सन्त थे, मुनि थे, भावलिंगी! वे प्रभु (तीर्थंकर

सीमन्धरनाथ) के पास गये थे। भगवान तो अभी (महाविदेह में) विराजमान हैं। (वर्तमान में) विराजमान हैं। संवत् (४९) दो हजार वर्ष पहले की बात है। समझ में आया?

(इसका आधार) जयसेन आचार्य की टीका में है-संस्कृत टीका है न! (पंचास्तिकाय) (टीका) जयसेनाचार्य की (में आधार है) कि भगवान (कुन्दकुन्द) वहाँ गये थे और (एक) दूसरा दर्शनसार में है। एक देवसेनाचार्य हुए उनका दर्शनसार (ग्रन्थ) छोटी पुस्तक है, उसमें श्लोक है कि प्रभु कुन्दकुन्दाचार्य महाविदेह में जाकर यदि यह वस्तु (तत्त्वज्ञान) हमें दिया, यदि नहीं दिया होता तो हमें मुनिपना किस प्रकार प्राप्त होता! उनके दर्शनसार में है, दर्शनसार पुस्तक (अभी) यहाँ नहीं, रात्रि में कल निकाला था। यहाँ तो सब हजारों पुस्तकें हैं।

आहाहा! ये कुन्दकुन्दाचार्य भगवान भावलिंगी सन्त थे। (आत्म) अनुभवी, आनन्द को वेदन करनेवाले, (आत्म) वैभव स्वयं के अन्तर में प्रगट हुआ था, वे वहाँ गये थे। आहाहा! साक्षात् भगवान (सीमन्धर प्रभु) के दर्शन किये, कितना ही समाधान श्रुतकेवलियों के समीप किया। (वहाँ) श्रुतकेवली विराजते हैं न अभी? यह तो दो हजार वर्ष हुए...!

अभी भगवान विराजते हैं-वर्तमान में विराजते हैं। भगवान की कोटिपूर्व की आयु है पाँच सौ धनुष की देह है-दो हजार हाथ... भगवान वर्तमान में (देह सहित) मनुष्यरूप से विराजमान हैं। आहाहा! (कुन्दकुन्दाचार्य ने) वहाँ से आकर यह टीका (समयसार आदि ग्रन्थ) बनाये, टीका अमृतचन्द्राचार्य ने बनायी, तो (वे) कहते हैं प्रभु! एक बार सुन तो सही! आहाहा! (सब जीवों को) भगवानरूप से ही बुलाते हैं। ७२ गाथा में आया है... भगवान आत्मा! ऐसा ही कहते हैं। ७२ गाथा में है कि पुण्य और पाप के भाव, दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के भाव, वे सब अशुचि हैं। ७२ गाथा (समयसार) कर्ता-कर्म अधिकार में कहते हैं अशुचि हैं। इतना कहकर अमृतचन्द्राचार्य टीका में कहते हैं भगवान आत्मा! आहाहा! (शुचि पवित्र है।) वह तो अशुचि से भिन्न निर्मलानन्दनाथ है। समझ में आया?

आहाहा! जिन्हें सम्यग्दर्शन प्राप्त करना हो तो निर्मलानन्द प्रभु (आत्मा की) दृष्टि करनी पड़ेगी। उसकी दृष्टि निमित्त से हट जायेगी, राग-विकल्प जो है भक्ति आदि का, उससे भी दृष्टि हट जायेगी। भगवान की भक्ति आदि के जो (भाव हैं), वह तो राग है।

अपने स्वरूप की भक्ति (निज में) एकाग्रता, वह निश्चयभक्ति है-वह वीतरागी भक्ति है। आहाहा! समझ में आया?

इस आत्मा में जब स्पर्श गुण की पर्याय नहीं और (पुद्गल) द्रव्य जो है, उसमें स्पर्श गुण है और चिकना-रूखा आदि पर्यायें हैं, वे पर्यायें पुद्गल से परिणाममय है-पुद्गल से तन्मय है। अपने जीव से भिन्न है परन्तु कब भिन्न है? जब (आत्मा की) अनुभूति होती है तो भिन्न है, वरना (ऐसा का ऐसा) मानना-धारणा की, आहाहा! धारणा में (तो) ऐसा किया कि ये रागादि-स्पर्श आदि आत्मा से भिन्न है। यह कोई वस्तु नहीं। जब आत्मा की अनुभूति होती है, तब भिन्न यथार्थ भान में आता है। आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं, देखो! ये परिणाममय होने से। है? एक-एक शब्द में महान शक्ति (भाव) है। अभी तो चौथे बोल की-स्पर्श की (बात) चलती है। चौथा बोल चलता है। **परिणाममय होने से...** आहाहा! कौन? चिकनाई, रूक्षता आदि, जो शीत-उष्ण, ये सब पुद्गल की पर्यायें पुद्गलमय है, **(अपनी) अनुभूति से भिन्न है**। आहाहा! अपनी अनुभूति से भिन्न है; द्रव्य से भिन्न है - ऐसा नहीं कहा। जीव द्रव्य से भिन्न (नहीं कहा)। क्योंकि भिन्न तो द्रव्य से है ही, परन्तु उसकी अनुभूति हुए बिना भिन्न है - ऐसा अनुभव में नहीं आता। आहाहा!

यह स्पर्श है न? ठण्डा, गर्म, हल्का-भारी, चिकना-रूखा, यह सब पुद्गल में पुद्गल के परिणाममय, यह पर्याय पुद्गल से अभेद है, उसके साथ (अभेद है)। परन्तु (ये पर्यायें) आत्मा में नहीं है। आत्मा भगवान, आत्मा में नहीं तो कब नहीं? कि जब इसका (आत्मा का) अनुभव होता है—ज्ञायक शुद्ध चैतन्यघन प्रभु परमस्वभावभाव, पारिणामिकभाव, सहजात्मस्वरूप प्रभु (आत्मा) द्रव्य की दृष्टि करने से, (उसका ज्ञान करने से) ज्ञान का लक्ष्य वहाँ ले जाने से, पर्याय में जो आनन्द का अनुभव होता है-ज्ञान की व्यक्तता होती है, ज्ञान की व्यक्तता-समकित होता है, वीर्य की व्यक्तता होती है, निर्मलस्वरूप की रचना करे, ऐसी व्यक्तता होती है, उसे यहाँ अनुभूति कहते हैं। अरे! भगवान! समझ में आया?

यह तो हिन्दी कहते हैं न! यह तो हिन्दी में आया न! हमारे पण्डितजी आये हैं न! आहाहा! मार्ग ऐसा है भगवान! आहाहा!

अनुभूति से भिन्न है... अनुभूति से भिन्न है। द्रव्य से भिन्न है – ऐसा नहीं कहा। अपने जीवद्रव्य से पुद्‌गल के परिणाममय जो चिकनाहट-रूक्षता (आदि है), वह जीवद्रव्य से भिन्न है – ऐसा नहीं कहा। क्योंकि जीवद्रव्य से तो भिन्न ही है परन्तु भिन्न कब अनुभव में आवे? आहाहा! अपने आत्मा का अनुसरण करके अनुभूति... चैतन्यमूर्ति भगवान पूर्णानन्द जिनबिम्बस्वरूप, जिनस्वरूप... 'घट घट अन्तर जिन बसै, घट घट अन्तर जैन'—घट घट अन्तर जिन बसै (अर्थात्) भगवान जिनस्वरूपी ही अन्दर विराजमान है। आहाहा! कब? अभी, हाँ! 'घट घट अन्तर जिन बसै, घट घट अन्तर जैन'—इस घट में अन्दर जिनस्वरूप (वीतरागस्वरूप आत्मा) है, उसकी एकाग्रता से अनुभूति होती है, तब उसे जैन कहने में आता है। आहाहा! बाकी तो बाड़ा में (सम्प्रदाय में) जैन नाम धरावे, वह कोई चीज नहीं। आहाहा! 'घट घट अन्तर जिन बसै' (यह पद) बनारसीदास (का) समयसार नाटक (का है)। समयसार कलश टीका (में से बनाया है)। ओहोहो! घट घट अन्तर जिन बसै' (अर्थात्) इस देह (देवल में) मन्दिर में भगवान (आत्मा विराजमान है)। यह (देह) तो श्मशान की धूल है, अन्दर (सूक्ष्म) कर्म धूल-मिट्टी है। आहाहा!

पुण्य और पाप के शुभ-अशुभभाव वे तो पुण्य-पापतत्त्व भिन्न हैं। यह नवतत्त्व हैं न?—तो शरीर, कर्म अजीवतत्त्व है; दया, दान, व्रत, भक्ति पुण्यतत्त्व है; हिंसा, झूठ, चोरी, यह पापतत्त्व है। भगवान आत्मा इस अजीव और पुण्य-पापतत्त्व से भिन्न ज्ञायकतत्त्व है। आहाहा! इस ज्ञायकतत्त्व का जब अनुभव होता है। आहाहा! यह चिदानन्द प्रभु, सहजात्मस्वरूप-सहजानन्द, यह सहजानन्द का कन्द प्रभु, इसका आश्रय करके-इसका अवलम्बन लेकर जो पर्याय में-दशा में आनन्द का अनुभव हुआ, उसका नाम (स्वानुभूति-सम्यग्दर्शन है)।

(सभा के बीच में बच्चों का शोरगुल सुनकर) कौन है? लड़कों को बाहर ले जाओ।

भाई! यह तो समयसार है और इसका एक-एक श्लोक (गाथा) अलौकिक है! भगवान! समय अर्थात् (शुद्ध) आत्मा, उसका सार! इन दया, दान, व्रत के राग से भी भिन्न भगवान है। आहाहा! यह आत्मा आनन्द प्रभु सच्चिदानन्द आत्मा (है)। सत् अर्थात्

शाश्वत् रहनेवाला, चित् अर्थात् ज्ञान और आनन्द अर्थात् सुख-शान्ति, यह सच्चिदानन्द प्रभु आत्मा अन्दर है। आहाहा! इसकी ओर का झुकाव करने से... अनादि का झुकाव तो राग और पर्याय के प्रति है – अंश के प्रति और राग के प्रति... पर्याय एक अंश है, वह पूरी चीज़ नहीं है। यह अनादि से एक समय की पर्याय और राग-दया, दान के विकल्प शुभ हैं, उन पर अनादि की दृष्टि है, यह तो मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! '**पज्जयमूढ़ा हि परसमया**' एक समय की पर्याय मेरी है, वह भी पर्यायमूढ़ जीव है। आहाहा! और राग-दया, दान मेरे हैं (-ऐसा अभिप्रायवाला तो) महामूढ़ है। आहाहा!

जो एक समय की पर्याय है, वह तो नाशवान है। भगवान (आत्मा) अन्दर ध्रुव अविनाशी त्रिकाली चैतन्यघन है। उस चैतन्यघन की दृष्टि करने से, पर्याय की दृष्टि छूट जाती है, तब (आत्मा का) अनुभव होता है। उस अनुभूति से स्पर्शगुण की पर्याय भिन्न है, तब जानने में आया। समझ में आया? आहाहा! एक बोल, यह चौथा बोल हुआ।

(अब) पाँचवाँ (बोल) **स्पर्शादि सामान्य-परिणाममात्र रूप है,...** अब क्या कहते हैं? देखो! स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण / रंग ये चार सामान्य हैं। है? **स्पर्शादि सामान्य-परिणाममात्र रूप...** उसे रूप कहते हैं। (रूप) क्यों कहते हैं? कि रंग, गंध, रस और स्पर्श, ये चार सामान्यरूप जो है, उसे रूप कहते हैं। आहाहा! यह तो सूक्ष्म बात है भाई! यह तो भगवान की वाणी सूक्ष्म है। आहाहा! यहाँ कहते हैं कि जो **स्पर्शादि...** आदि शब्द कहा है न! स्पर्श, गंध, रस और रंग ये चार लेना। स्पर्शादि सामान्य एकरूप परिणाममात्र-एकरूप उसे 'रूप' कहते हैं। परमाणु-पुद्गल में स्पर्श, गन्ध, रस, वर्ण / रंग इन सामान्य को यहाँ 'रूप' कहते हैं। यह रूप है। है?

वह रूप जीव का नहीं है। इस रूप (में) जो चार पर्यायें एक साथ कही, द्रव्य के गुण की पर्याय सामान्य, उसमें एक-एक (पर्याय) ली थी। रंग, गन्ध, रस, स्पर्श एक-एक (पर्याय)। अब इन चार का एकरूप सामान्य, आहाहा! उसे रूप कहते हैं। इस रूप से भगवान आत्मा भिन्न है। आहाहा! अब इस शरीर की हड्डियाँ और माँस वे तो जड़ हैं – मिट्टी हैं, वे आत्मा में नहीं हैं, आत्मा में वे नहीं, उनमें आत्मा नहीं। क्या कहा? यह जो हड्डियाँ, माँस (चमड़ी) है, वह जड़-पुद्गल की पर्याय है। यह ऊपर दिखे वह। इसमें

आत्मा नहीं और यह आत्मा में नहीं। आहाहा! वीतरागी जैनदर्शन का तत्त्वज्ञान बहुत सूक्ष्म है भाई! यह अन्यत्र कहीं-वीतराग के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं है। किसी पंथ में यह मार्ग नहीं है। आहाहा!

ऐसा पंथ! यह सूक्ष्म! आहाहा! गजब बात है भाई! ऐसी सूक्ष्मता श्वेताम्बर में भी नहीं क्योंकि वे तो-श्वेताम्बर तो दो हजार वर्ष पहले दिगम्बर में से भिन्न पड़ गये, दृष्टि विपरीत होकर (भिन्न पड़ गये), फिर शास्त्र बनाये। भगवान! उनमें यह बात नहीं है। यह तो सन्त-दिगम्बर (भावलिंगी) मुनि, केवली के पथानुगामी! आहाहा! उनकी (साक्षात् तीर्थंकर की) दिव्यध्वनि में से जो ग्रहण किया और उन्हें स्वयं की वाणी में आया... वहाँ तो ऐसा कहते हैं-कुन्दकुन्दाचार्य (ऐसा कहते हैं समयसार में कहते हैं कि) मैं मेरा अपना वैभव कहूँगा; भगवान कहते हैं, इसलिए कहूँगा - ऐसा नहीं; मैं मेरे अनुभव से कहूँगा - ऐसा कहा है। समझ में आया?

और श्वेताम्बर में तो ऐसा आता है... हमने तो सब देखा है न? मैंने तो सुना है (उनके शास्त्र में) सुधर्मस्वामी कहते हैं, भगवान ऐसा कहते थे, ऐसा कहते हैं (वे)। यह कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं, मैं तो मेरे निजवैभव से कहूँगा। भगवान कहते हैं, इसलिए कहूँगा - ऐसा नहीं है। आहाहा! मेरी अनुभूति-आत्मा की आनन्द की-मुझे प्रचुर स्वाद आया है। आहाहा! चौथे गुणस्थान में समकिती को आनन्द आनन्द है परन्तु थोड़ा है। पंचम गुणस्थान में सच्चा श्रावक जिन्हें कहें... यह बाड़ा के श्रावक है, वे तो श्रावक हैं ही नहीं। जिन्हें पंचम गुणस्थान दशा समकित सहित अन्दर की शान्ति की वृद्धि हुई है, ऐसे पंचम गुणस्थान में जो अनुभूति है, वह आनन्द का स्वाद चौथे (गुणस्थान) की अपेक्षा विशेष है। उनसे भी विशेष अतीन्द्रिय (आनन्द) मुनिराज को है। इसीलिए तो (मुनिराज) कुन्दकुन्दाचार्य ने (समयसार) पाँचवीं गाथा में कहा—हमें प्रचुर स्वसंवेदन (वर्तता) है। प्रचुर शब्द टीका में कहा है। पाँचवीं गाथा (की टीका में) है। समझ में आया? आहा! सूक्ष्म बात है प्रभु! वीतरागमार्ग बहुत सूक्ष्म है प्रभु! आहाहा!

यह (आत्मा की) अनुभूति—अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद—उग्र (वर्तता है) उसे मुनिपना है। मुनिपना कोई नग्नपना और या पंच महाव्रत की क्रिया, वह कोई मुनिपना नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

यहाँ यह कहते हैं, उस 'रूप' से मैं भिन्न हूँ। वह रूप **पुद्‌गलद्रव्य के परिणाममय...** परिणामवाला भी नहीं। **पुद्‌गलद्रव्य के परिणाममय...** ऐसे वर्ण, गंध, रस, स्पर्शरूप वह सब रूप-वह पुद्‌गलद्रव्य के परिणाममय—पुद्‌गलद्रव्य की पर्यायों का (एकपना) रूप-अभिन्न, ऐसा **होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है**। आहाहा! अकेले आत्मा से भिन्न है – ऐसा नहीं। रूप मुझसे भिन्न है ऐसा नहीं। रूप मैं अरूपी भगवान आत्मा प्रभु से भिन्न, ऐसा नहीं (परन्तु) उसकी (आत्मा की) अनुभूति हो, आनन्द का स्वाद हो – ऐसी अनुभूति से वह रूप भिन्न है। आहाहा! ऐसा भेदज्ञान बताया। भगवान! ऐसा है भाई! लोग मानें न मानें, वस्तु तो यह है। समझ में आया? आहाहा! दो बोल हुए। हो गये न! (बोल) पाँच हुए न!

छठवाँ—**जो औदारिक शरीर...** है, यह औदारिक शरीर है, इससे भगवान आत्मा अन्दर भिन्न है। (यह शरीर-देह) यह तो मिट्टी है। पुद्‌गल-अस्तिकाय, इतने में तो अनन्त स्कन्ध हैं, रजकण-परमाणु, आहाहा! अनन्त स्कन्ध, उसमें अनन्त परमाणु और एक परमाणु में अनन्त गुण। जितनी संख्या में आत्मा में गुण हैं-अनन्त चैतन्य गुण हैं, उतनी संख्या में एक परमाणु में जड़ गुण हैं। आहाहा! सब पुद्‌गल का यह औदारिकशरीर है। इससे भगवान (आत्मा) भिन्न है। कब? कि भिन्न तो है परन्तु आत्मद्रव्य का अनुभव हो-आनन्द का (अनुभव हो), तब भिन्न है – ऐसा भान हुआ। आहाहा!

यह तो शूरवीर का काम है। वीर का मार्ग है शूरों का, कायर का वहाँ काम नहीं। आहाहा! यहाँ तो परमात्मा (कहते हैं)। वह सन्त कहते हैं—वे परमात्मा ही हैं, परमेष्ठी हैं, अमृतचन्द्राचार्य, कुन्दकुन्दाचार्य (आदि) दिगम्बर सन्त कोई भी हो, सब परमेष्ठी हैं। वे ऐसा फरमाते हैं कि तुम औदारिकशरीर से भिन्न हो-एक बात (दूसरी बात) औदारिकशरीर जो है, वह पुद्‌गल की पर्याय है। वह पुद्‌गल की पर्याय है, पर्याय, हों! गुण नहीं; गुण तो अन्दर त्रिकाल रहते हैं। पुद्‌गल त्रिकाल रहता है, वैसे गुण भी त्रिकाल रहते हैं और यह पर्याय तो एक समय की भिन्न-भिन्न है। यह औदारिक (शरीर), यह पर्याय है। इसे मैं चलाऊँ या हिलाऊँ, यह आत्मा में है ही नहीं; आत्मा औदारिकशरीर को हिला सकता है? या दूर कर सकता है? हाथ से (पुस्तक के) पृष्ठ फिरा सकता है? ऐसी (शक्ति) आत्मा

में है ही नहीं। पण्डितजी! जयपुर के प्रोफेसर पण्डितजी है। जयपुर के बड़े प्रोफेसर हैं, यहाँ रहते हैं, छोड़ दिया, छोड़कर (यहाँ हैं)। आहाहा!

क्या कहते हैं? यह औदारिकशरीर जो पुद्गल की पर्याय है। यह (देह) तो परमाणु की पर्याय है, इससे भगवान (आत्मा) भिन्न है। कब? आत्मा आनन्दस्वरूपी है—ऐसी दृष्टि करके चैतन्य ज्ञायक नित्यानन्द प्रभु की दृष्टि करके जिसने (अपनी) पर्याय में आनन्द का अनुभव होना-अनुभूति होना-जिसमें शान्ति का स्वाद आवे, तब उसे उस अनुभूति में यह औदारिकशरीर भिन्न जानने में आया। समझ में आया? आहाहा! ऐसा कहे कि यह औदारिकशरीर मेरा नहीं (शरीर पर है) यह तो एक धारणा कर ली। समझ में आया? यह शरीर मुझमें नहीं-शरीर जड़ है परन्तु यह तो (मन में) धारणा, यह वस्तु (अनुभूति) अनुभव नहीं हुआ। आहाहा! ऐसा तो अनन्त बार किया है। ग्यारह अंग पढ़ा-अनन्त बार पढ़ा, वह कोई चीज़ (स्वानुभव) नहीं है। आहाहा! आहाहा! मुद्दा-माल की बात है। बापू! यहाँ एक-एक लाईन! एक-एक शब्द गजब है! समयसार! भगवान तीर्थंकर की साक्षात् वाणी! अजोड़-अजोड़ है! आहाहा! दिव्यचक्षु (कहलाता है)। आहाहा!

कहते हैं कि औदारिकशरीर, जीव में नहीं है। कब? जब जीव का अनुभव होता है कि यह जीव (आत्मा) है। है उसका अनुभव हो तो है न उसको। जीव तो त्रिकाली (है वह है) परन्तु उसकी पर्याय में उसका अनुभव हो, तब ऐसा मालूम पड़ता है न! है तो त्रिकाली! निगोद के जीव में भी पर्याय में अक्षर के अनन्तवें भाग ज्ञान का विकास होने पर भी द्रव्य तो वहाँ परिपूर्ण है। भगवान तो परिपूर्ण द्रव्य है और पर्याय में केवलज्ञान हुआ, तब द्रव्य तो परिपूर्ण ही है। आहाहा! यह द्रव्य (आत्मद्रव्य) परिपूर्ण है, इसमें कभी भी हीन(-अधिकपना) या न्यूनाधिकता कभी नहीं होती। त्रिकाली ज्ञायकमूर्ति ध्रुव प्रभु नित्यानन्द ज्ञायक में औदारिक शरीर नहीं है। इस औदारिक में (जो जो) क्रिया होती है, वह मुझमें नहीं है, वह क्रिया होती है, वह मुझसे नहीं।

तो... मैं क्या हूँ? कि मैं तो अनुभूति, चैतन्यस्वरूप त्रिकाल का अनुसरण करके - उसे अनुसरण करके होनेवाला अनुभव हुआ, वह ज्ञान, आनन्द, शान्ति आदि जितने जो अनन्त गुण हैं। आत्मा में अनन्त गुण कितने हैं? कि लोक (अलोक) के आकाश का

अन्त नहीं, यह चौदह ब्रह्माण्ड हैं, वे तो असंख्य योजन में हैं और पश्चात् आकाश... आकाश... आकाश... आकाश... आहाहा! अन्त नहीं; अन्त है तो फिर क्या? तो ऐसा अलोक-अन्तरहित, दसों दिशाओं में (अनन्त अनन्त आकाश है तो) उसके जितने प्रदेश हैं... एक परमाणु जितनी जगह में रुके उसका नाम प्रदेश... तो ऐसा जो अन्तरहित आकाश, उसके जो अनन्त प्रदेश हैं, उनसे अनन्तगुणे एक आत्मा में गुण हैं। आहाहा! अरे रे! समझ में आया? उतने अनन्तगुणे एक परमाणु में गुण हैं। आहाहा!

एक आकाश नाम का पदार्थ है, जिसका कहीं अन्त नहीं, दसों दिशाओं में ऊपर-(नीचे) कहीं अन्त नहीं। ऊपर अन्त हैं कही? अन्तरहित (आकाश में) इतने प्रदेश अनन्त-अनन्त हैं, उसके अनन्त गुण तो आकाश प्रदेश में हैं, प्रदेश अनन्त हैं परन्तु उसमें अनन्तगुणे तो गुण हैं। आहाहा! और इस भगवान आत्मा में, प्रदेश से अनन्तगुणे जितने गुण (कहे) वे (आकाश के) अनन्तगुणे गुण से अनन्तगुने गुण आत्मा में है। अनन्त प्रदेश, वे अनन्त गुण, उनसे भी अनन्त गुण हैं। अनन्त प्रदेश है, एक-एक प्रदेश में अनन्त गुण ऐसे आत्मा में यहाँ अनन्त गुण हैं। ऐसा कहाँ! (ऐसा सूक्ष्म जानना चाहिए) हें! जानना सब चाहिए, जानना तो... नहीं तो इसे छुटकारा नहीं आयेगा। बापू!

आहा! भव का अन्त (लाना), भव कर-करके—एक निगोद में एक श्वाँस में अठारह भव! बापू! यह क्या है भाई! आहाहा! प्रभु तो ऐसा कहते हैं, 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' में लिखा है—नरक में प्रभु! तूने इतना दु:ख सहन किया है कि तेरे एक क्षण का दु:ख करोड़ों जीभों और करोड़ों भवों में न कहा जा सके, प्रभु! तूने इतना दु:ख सहन किया। ऐसा तो एक क्षण का, हों! ऐसा-ऐसा तो तैंतीस-तैंतीस सागर! प्रभु! तू वहाँ रहा। आहाहा! इतना दु:ख सहन किया तो भी अन्दर (आत्म) द्रव्य में कोई कमी नहीं हुई। द्रव्य तो पूर्णानन्द का नाथ भरा है (परिपूर्ण है)। आहाहा! यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि इस औदारिक (शरीर से) भिन्न है परन्तु वह भिन्न है यह क्या? कि द्रव्य है (आत्मद्रव्य है) वस्तु है, उसमें अनन्त गुण हैं। आकाश के प्रदेश से भी अनन्तगुणे गुण हैं।

उन अनन्तगुणे गुण का धारण करनेवाला भगवान आत्मा (है)। जब उसकी दृष्टि करता है, पर से (दृष्टि) उठाकर, सबसे (दृष्टि) हटाकर, तब पर्याय में जितने गुण हैं, उतने

गुण में पर्याय में व्यक्त-प्रगट अंश दशा प्रगट होती है। जितने अनन्त गुण हैं, उतने अनुभूति में उन अनन्त गुण की व्यक्त दशा—एक समय में अनन्त गुण की व्यक्त दशा—अनन्त प्रगट होती है। समझ में आया? आहाहा! अरे! ऐसी बातें वीतराग के अतिरिक्त कहाँ हैं, बापू! वेदान्त और (दूसरे) भले बातें सब करें, (वे) लोग आत्मा.. आत्मा.. (परन्तु) (कुछ है नहीं)।

श्रोता : वीतराग के अतिरिक्त कोई कह नहीं सकता।

पूज्य गुरुदेवश्री : सर्वज्ञ ने देखा है, उन्होंने कहा है वह है। जिसमें सर्वज्ञ ही नहीं, उन्होंने तो सब बातें कल्पना से की है। यह तो तीन लोक के नाथ, सर्वज्ञ जगत में तीन लोक के ज्ञाता सर्वज्ञ! सर्वज्ञ का विरह जगत में तीन काल में कभी नहीं होता। क्या कहा? तीन काल में तीन लोक के जाननेवाले का-केवली का तीन काल में विरह नहीं होता। भूतकाल में रहे हैं, अभी हैं और भविष्य में रहेंगे। समझ में आया?

क्या कहा? तीन काल और तीन लोक में, तीन काल और तीन लोक के जाननेवाले का कभी भी विरह नहीं होता। भूतकाल में भगवान (अरिहन्त) थे, वर्तमान में हैं और भविष्य में भी रहेंगे। आहाहा! समझ में आया? उन सर्वज्ञ भगवान ने सर्व देखा जाना, वह वाणी में आया? आहाहा! इन सन्तों ने यहाँ बात कही, आढ़तिया होकर (बात कही) माल सर्वज्ञ का है। ये सन्त-अनुभवी (तो) केवली के पथानुगामी-आढ़तिया होकर (बात करते हैं)। आढ़तिया समझते हो? व्यापारी... आहाहा! आढ़तिया होकर (सन्त, सर्वज्ञ का माल) जगत को देते हैं कि यह मार्ग है, यह वस्तु है। आहाहा! प्रभु! मानना तेरे अधिकार की बात है, वस्तु तो ऐसी है। आहाहा!

औदारिक, **वैक्रियिक** आदि शरीर है नारकी, देवों को वैक्रियिक शरीर होता है, वह भी पुद्गल की पर्याय है। भगवान (आत्मा) अन्दर उससे भिन्न है।

वह कब भिन्न है? कि अनुभूति हो, तब भिन्न है, ऐसी (खबर) मालूम होता है। आहाहा! विषय, बापू! यह तो वीतराग तीन लोक के नाथ (तीर्थंकर सर्वज्ञ)... आहाहा! भाई! जिन्हें इन्द्र सुनने आते हैं। इन्द्र-सौधर्म देवलोक का इन्द्र, एक भवतारी है। सौधर्म देवलोक है न! बत्तीस लाख विमान, एक-एक विमान में असंख्य देव! किसी (विमान

में) थोड़े भी–संख्यातवाले हैं। थोड़े संख्य विमान, थोड़े, असंख्यातवाले बहुत हैं। उनका स्वामी सौधर्मइन्द्र अभी है, एक भवतारी है। वहाँ से मनुष्य होकर मोक्ष में जानेवाला है। ऐसा सिद्धान्त में लेख है। और उसकी पटरानी इन्द्राणी है, वह भी एक भव करके मोक्ष जानेवाली है। वह जब सुनने आता है–सुनने आता है, वह वाणी कैसी होगी! तीन ज्ञान, एकावतारी, बत्तीस लाख विमान का स्वामी, (यह सब) छोड़कर भगवान की वाणी सुनने आता है, आहाहा! वह वाणी कैसी होगी! भाई! लो! दया पालो, व्रत करो, ऐसी (होगी) ? ऐसी बातें तो कुमार भी करता है। आहाहा!

यहाँ तो परमात्मा का कहा हुआ, सन्त जगत को कहते हैं। वैक्रियिकशरीर से तू भिन्न है, आहारकशरीर से भी तू भिन्न है। **आहारकशरीर** मुनि को होता है। उस आहारकशरीर से तू भिन्न है। आहाहा! कब ? अनुभूति होवे तब। आत्मा अनन्त–अनन्त आनन्द का सागर प्रभु, जिसमें अतीन्द्रिय आनन्द लबालब भरा है। भगवान आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द, अतीन्द्रिय शान्ति, अतीन्द्रिय स्वच्छता, अतीन्द्रिय ईश्वरता... आहाहा! पूर्ण भरी है–ऐसा दृष्टि में, अनुभव में / अनुभूति में होवे, तब इस आहारकशरीर से भिन्न है–ऐसा भान हुआ।

तैजसशरीर से भिन्न है। अन्दर एक तैजस शरीर है न! उससे (आत्मा) भिन्न है। **कार्माणशरीर** से भिन्न है। देखो! आहाहा! कार्माणशरीर है। विशेष कर्म की प्रकृति १४८ होती है परन्तु सामान्य प्राणी को १४८ नहीं होती। आहारक, यह नहीं होती तीर्थंकरपद (प्रकृति नहीं होती)। उसे थोड़े ही होती है परन्तु वह सब कार्माणशरीर पूरा पिण्ड है, उसकी जो पर्याय–कार्माणशरीर है, वह जड़ की पर्याय है। (पुद्गल) द्रव्य है और द्रव्य के गुण हैं, वे तो शाश्वत् हैं परन्तु कार्माणरूप पर्याय होती है, वह तो अवस्था है।

क्या कहा ? कार्माणशरीर की पर्याय क्यों कहा ? कि जो अन्दर परमाणु वस्तु है (वह तो) अन्दर कायमी चीज़ है और उसमें रंग, गंध, वर्ण, स्पर्श (आदि) गुण हैं, वे भी कायमी हैं और यह जो कर्म की पर्याय है, वह तो पर्याय है–अवस्था है। अवस्था बदल जाती है। प्रतिसमय बदलती है और कोई तो कार्माणशरीर की पर्याय बदलकर अकर्मरूप पर्याय हो जाती है। यह कार्माणशरीर पुद्गल की पर्याय है। आहाहा! इससे भगवान आत्मा भिन्न है। कार्माणशरीर से (आत्मा) भिन्न है। आहाहा! समझ में आया ?

आत्मा में कर्म हैं ही नहीं, कर्म में आत्मा है ही नहीं। कर्म, कर्म में रहे; भगवान, भगवान में है। आहाहा! लोग कहते हैं न, हमें कर्म हैरान करते हैं, (यह) बिल्कुल झूठ बात है। कर्म जड़ है। जड़, आत्मा को स्पर्श भी नहीं करता; आत्मा, जड़ को स्पर्श भी नहीं करता। तू तेरी उल्टी-विपरीत दृष्टि से हैरान होता है। समझ में आया? तुझे तेरा भान नहीं कि मैं कौन हूँ? मैं राग हूँ या मैं एक समय की पर्याय हूँ, मैं पुण्य करनेवाला हूँ—दया, दान करनेवाला हूँ और पाप का करनेवाला मैं हूँ—ऐसी मान्यता (अभिप्राय) है तो तेरी दृष्टि विपरीत है। कर्म ने कहीं वह दृष्टि विपरीत करायी है - ऐसा नहीं है। समझ में आया?

भक्ति में आता है-भजन में आता है-भक्ति (में) 'कर्म विचारै कौन भूल मेरी अधिकाई'-कौन समझे? यह तो कर्म के कारण विकार होता है-कर्म के कारण (जीव) भटकता है-ऐसा माना करता है। यहाँ तो कहते हैं कर्म, शरीर ही तेरी चीज में (आत्मा में) नहीं है। आहाहा! 'कर्म विचारै कौन भूल मेरी अधिकाई'-मैंने भूल की, इससे मुझमें दोष हुआ; कर्म से कोई भूल नहीं होती। आहाहा! समझ में आया?

उसमें आता है न!

'कर्म विचारै कौन भूल मेरी अधिकाई,
अग्नि सहै घनघात, लोह की संगत पाई'

अग्नि अकेली होवे तो घन नहीं पड़ते, परन्तु अग्नि लोहे के संग में जाती है तो घन पड़ते हैं। (इसी प्रकार आत्मा) कार्माणशरीर का लक्ष्य करता है तो आत्मा दुःखी होता है। आहाहा! अभी तो ऐसा चला है कि कर्म के कारण विकार होता है और कर्म हटे तो आत्मा में गुण होता है... बिल्कुल झूठ बात। आहाहा! कर्म तो जड़ हैं, वे आत्मा में हैं ही नहीं। आत्मा में हैं ही नहीं, वे आत्मा को नुकसान करेंगे? आहाहा! और कर्म का कुछ क्षयोपशम होवे तो आत्मा में ज्ञान होता है, यह झूठी बात है। अपनी-स्वयं की पर्याय में निर्मलता प्रगट होवे तो क्षयोपशम होता है, वह स्वयं से होता है। आहाहा! यह कहते हैं देखो, **कार्मणशरीर है, वह सर्व ही...** पाँच (प्रकार के) शरीर हैं, यह कहा न। **सर्व ही जीव का नहीं है...** वे समस्त ही (शरीर) जीव के नहीं हैं। आहाहा! क्यों? कि वे **पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से...** आहाहा! यह कार्माण (आदि) शरीर पुद्गलद्रव्य की पर्याय है। आहा! समझ में आया?

(कर्म की) १४८ प्रकृति है और अन्तर्भेद-आठ कर्म के अन्तर्भेद १४८ हैं। उत्कृष्ट हो उसके। समकिती के। किसी मिथ्यादृष्टि को आहारकशरीर और तीर्थंकर प्रकृति भी नहीं होती, परन्तु उत्कृष्ट किसी को होवे तो १४८... आहाहा! दूसरे को १२० और १२२, १२२ सत्ता में हो, १२० उदय में हो-यह जरा सूक्ष्म बात है, और समकिती हो, उसे १४८ भी प्रकृति हो। समझ में आया? परन्तु वे सब प्रकृति कार्माण की पर्याय है, जिसे ज़हर का वृक्ष कहा है। समयसार में पीछे १४८ प्रकृति विषवृक्ष है - वह प्रकृति ज़हर है। भगवान (आत्मा) अमृत का कल्पवृक्ष है। भगवान आत्मा तो अमृत का... आहाहा! कामधेनु आत्मा है, जब-जब चाहे तब-तब अमृत / आनन्द आता है। आहाहा! परन्तु यह आत्मा पर से भिन्न ऐसी पर्याय, द्रव्य की ओर झुकी और अपने में से आनन्द का अनुभव हुआ और अनन्त गुण की एक समय में अंशरूप व्यक्तदशा अनुभव में आयी, अकेले आनन्द का अनुभव (ऐसा) नहीं - अनुभूति में, जितने अनन्त-अनन्त गुण हैं, उन सबकी एक समय में व्यक्त पर्याय का अनुभव हो, इसका नाम (आत्मा की) अनुभूति कहा जाता है। आहाहा! ऐसी अनुभूति से भगवान (आत्मा) पाँचों ही शरीर से भिन्न है, अनुभूति से पाँचों शरीर से भिन्न है। (अनुभूति बिना) मात्र भिन्न-भिन्न करे ऐसा भिन्न नहीं है। ऐसा है भगवान! आहाहा!

यह तीन लोक के नाथ (तीर्थंकरदेव) आहाहा! जिन्हें एक समय में तीन काल-तीन लोक ज्ञात हो गये हैं, उनकी दिव्यध्वनि का क्या कहना! उस दिव्यध्वनि के कहनेवाले ये सन्त हैं। आहाहा! भगवन्त हैं। यहाँ आचार्य भगवान हैं। आहा! 'भग' अर्थात् आनन्द आदि लक्ष्मी। 'वान्' अर्थात् स्वरूप, वह भगवान है। भग अर्थात् लक्ष्मी सत् होती है, आनन्द आदि। उसका वान्, उसका स्वरूप है। वह आत्मा भगवान है।

शक्ति से तो (सभी) भगवान हैं, परन्तु आचार्य आदि तो व्यक्तिपने भगवान हो गये हैं। यह व्यक्ति अर्थात् प्रगटता; पर्याय में भगवान हुए हैं। आहाहा! प्रवचनसार में अन्तिम में पाँच गाथा है, उसमें तो ऐसा लिया है कि जो सन्त मोक्षमार्ग में आये, उन्हें तो हम मोक्षतत्त्व कहते हैं। ऐसा (लेखन में) है। पाँच रत्न की गाथा है। प्रवचनसार अन्त में है।

जिन मुनियों को आत्मज्ञान का-आनन्द का अनुभव हुआ-उग्र आनन्द का अनुभव

हुआ तो उन्हें हम तो मोक्ष ही कहते हैं, मोक्षतत्त्व ही कहते हैं। मोक्षमार्ग के तत्त्व में आये तो मोक्षतत्त्व ही कहते हैं। आहाहा!

श्रोता : चलते-फिरते सिद्ध।

पूज्य गुरुदेवश्री : हो, वह सिद्ध चलते कहाँ हैं? वे तो अन्दर में (लीन) है। हिलता है, वह तो जड़ है। अपनी पर्याय अन्दर गति करती है परन्तु अपनी क्रियावतीशक्ति के कारण हिलते हैं। यह शरीर हिला, इसलिए हिलते हैं - ऐसा है नहीं। आहाहा! यहाँ अन्दर प्रदेश हैं, ऐसे चलते हैं, वह अपनी क्रियावतीशक्ति के कारण कम्पन है और कम्पन है यहाँ, वह भी योग गुण का कम्पन है। इस शरीर के कारण उन्हें है नहीं और उनके कारण से शरीर में कम्पन आया ऐसा है नहीं, यह ऐसे... ऐसे.. इस प्रकार होता है, वह जड़ की पर्याय है, जड़ में होती है। सूक्ष्म बात है बापू!

यह नहीं कहा पहले (कि) पैर चलते हैं तो जमीन को छूते हैं, चलते-चलते, ऐसा है नहीं। भाई! कोई पदार्थ की विस्मयता ऐसी है। पैर जमीन को छूते हैं, बिल्कुल नहीं। (ऐसा नहीं) अपने आधार से, परमाणु में आधार नाम का गुण है, परमाणु में आधार, कर्ता (कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान) अधिकरण-आधार, छह कारक गुण हैं। वे (पैर) अपने आधार से चलते हैं; नीचे के आधार से नहीं। यह बात तो... बापू! जैन वीतराग का तत्त्व वह विस्मयकारी है। आहा...हा...!

अब आगे कहते हैं कि (जमीन को पैर) स्पर्श किये बिना चलता है (कोई कहेगा) पागल हैं, पागल हैं (परन्तु भाई!) सुन तो सही एक बार। आहा! यह तो कहा है न (समयसार) तीसरी गाथा में (आया है कि) प्रत्येक द्रव्य अपने गुण-पर्याय को स्पर्श करता है, पर को स्पर्श नहीं करता, वह आलिंगन नहीं करता; आहाहा! इसी तरह पैर नीचे की जमीन को स्पर्श नहीं करता-आलिंगन नहीं करता, स्पर्श नहीं करता। अड़ते - यह नहीं गुजराती भाषा में, तुम्हारे छूता नहीं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि पाँचों ही प्रकार के शरीर भगवान आत्मा में नहीं हैं। आहाहा! आहाहा! कर्म, कर्म में रहे। अपना भगवान पूर्णानन्दस्वरूप प्रभु (आत्मा की) अनुभूति हुई, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-शान्ति प्रगट हुई, तब तो वह पर से (परद्रव्यों से) मैं भिन्न हूँ, और

मुझसे वे भिन्न हैं – ऐसा अनुभव हुआ। आहाहा! मेरी अनुभूति में यह (शरीर) आया नहीं। कार्माण शरीर आदि मेरी अनुभूति में नहीं आया। आहाहा! समझ में आया?

भाई! यह तो सन्तों की–दिगम्बर सन्तों की वाणी है, यह कोई... कोई... आहाहा! अलौकिक, बापू! एक-एक पद समझना। यह अन्तर की चीज़ है। इन पाँच शरीर से भिन्न है। आहाहा!

समचतुरस्त्रसंस्थान (अर्थात्) एकदम समान शरीर, समचतुरस्त्र – चारों ओर से समान जो संस्थान, वह भी आत्मा में नहीं है, वह तो जड़ की पर्याय है। आहाहा! जैसे अपनी अनुभूति की पर्याय है–अनुभूति पर्याय है, वैसे यह समचतुरस्त्र पुद्गल की पर्याय है तो उससे मैं भिन्न हूँ। कब? कि मेरी अनुभूति की पर्याय से वह भिन्न है। इसलिए मुझसे वह भिन्न है। पुद्गल पर्याय से मैं भिन्न हूँ। आहाहा! ऐसी बातें! कुछ अभ्यास–थोड़ा बहुत चाहिए। द्रव्य-गुण-पर्याय, यह तो (कितनों ने ही) द्रव्य-गुण-पर्याय का नाम भी (नहीं सुना होगा)। नाम भी नहीं आता होगा। अब उन्हें किस प्रकार समझाना!

यह समचतुरस्त्रसंस्थान, यह पुद्गल जो द्रव्य है, उसके गुण है और उसकी समचतुरस्त्र पर्याय है। समचतुरस्त्र वह गुण नहीं। आहाहा! वह तीन (द्रव्य-गुण-पर्याय) आ गये। वह पुद्गलद्रव्य है। उसमें गुण शाश्वत् रहनेवाले... समचतुरस्त्रसंस्थान जो है, वह उसकी पर्याय है। वह पर्याय, पुद्गलपरिणाममय है। आहाहा! वे तीनों मुझमें नहीं हैं। मेरे तीन ऐसे हैं—क्योंकि मैं चैतन्यद्रव्य आनन्द हूँ, त्रिकाल आनन्दादि गुण त्रिकाल और मेरी पर्याय अनुभूति में आनन्द की पर्याय आयी, इन तीनों में मैं हूँ; उनमें (पुद्गल में) मैं नहीं। वे तीनों मुझमें नहीं। ऐसी सूक्ष्म बात! सन्तों ने–पंचम काल के सन्त, पंचम काल के श्रोता के लिये तो यह कहते हैं। कोई ऐसा कहे कि यह बात कोई चौथे काल के लिये.. तो यह किसे कहते हैं? आहाहा! पंचम काल के श्रोता को यह कहते हैं। आहाहा! समझ में आया?

श्रोता : ऐसा अप्रतिबुद्ध को समझाते हैं!

पूज्य गुरुदेवश्री : यह अत्यन्त अज्ञानी हो, उसे समझाते हैं। (समयसार) अड़तीस गाथा में ऐसा पाठ है। आहाहा! और वह पंचम काल का श्रोता अत्यन्त अप्रतिबुद्ध (अनादि) अज्ञानी को समझाया। पाठ ऐसा, ३८ गाथा, और वह समझ गया (और स्वयं

कहता है) अरे! मैं तो दर्शन-ज्ञान-चारित्र के परिणमन करनेवाला, वह मेरी दशा है – ऐसा (पाठ है) ३८ गाथा में। श्रोता, हों! इसलिए कोई ऐसा कहे कि पंचम काल में अभी शुभ आचार होता है (शुद्ध नहीं होता)। वह श्रुतसागर है न कोई, उसने कहा है, पंचम काल में शुभयोग ही होता है – ऐसा कहते हैं। अर रर! समाचार-पत्र में आया है। अरे, भगवान! शुभयोग ही होता है, तब तो धर्म नहीं होता। (यहाँ तो) यह तो कहते हैं-अनुभूति! पंचम काल के श्रोता को भी अनुभूति (आत्मा की) होती है, करे तो.... कहनेवाले को तो है ही, (अनुभूति सम्पन्न) सन्त हैं। यह समचतुरस्त्रसंस्थान आत्मा में नहीं है।

विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १२८ गाथा-५० से ५५ दिनाङ्क ०५-११-१९७८, रविवार
कार्तिक शुक्ल ५, वीर निर्वाण संवत् २५०४

समयसार, गाथा ५० से ५५, संस्थान तक आया है।

क्या कहते हैं? जरा सूक्ष्म बात है। इस शरीर का जो आकार-संस्थान है न, वह जड़ की पर्याय है। द्रव्य-पदार्थ उसका कोई प्रदेशत्व आदि गुण है, उसकी यह आकृति, उसकी यह पर्याय है। ये द्रव्य-गुण और पर्याय तीनों भिन्न हैं। आत्मा में से ये तीनों भिन्न हैं—पुद्गल है, जड़द्रव्य, उसका गुण और उसकी यह पर्याय-आकार-संस्थान। आहाहा! यह आत्मा से भिन्न है। कब? अनुभव होवे तब। आहाहा! भगवान आत्मा द्रव्य है, उसमें आनन्द ज्ञान आदि गुण हैं, उसकी अनुभूति हो-उसके द्रव्यस्वभाव के सन्मुख होकर आनन्द का अनुभव हो, वह अनुभूति वह पर्याय है। आत्मा द्रव्य है, उसके ज्ञान आनन्द आदि गुण हैं, उसका अनुभव है, वह पर्याय है। वह पर्याय, जब अनुभूति हो, तब उस जड़ के आकार की पर्याय भिन्न है – ऐसा जानने में आता है। आहा! ऐसी बात है। समझ में आया? ये छह संस्थान हैं। समुच्चय ले लेते हैं। **समचतुरस्त्र, न्यग्रोधपरिमंडल, स्वाति, कुब्जक, वामन अथवा हुंडक संस्थान है, वह सर्व ही जीव का नहीं है...**

भगवान! आहाहा! इस शरीर के आकार नाक के और इन्द्रिय के, आहाहा! ये सब आकार जड़ की पर्याय है, कहते हैं। आहाहा! शरीर के आकार दिखते हैं न? आहा! पीछे

शरीर के आकार, ऐसे सामने के आकार ये, सब जड़ की पर्याय है। ये अजीव की पुद्गल द्रव्य के गुण की पर्याय है। आहाहा! इससे भगवान आत्मा भिन्न है। ऐसा कब कहा जाये? वस्तु भगवान आत्मा है, उससे तो वे भिन्न हैं परन्तु वे भिन्न कब कहलाये? आहाहा! भगवान आत्मा अन्तरस्वभाव शुद्ध चैतन्यघन की पर्याय में अनुभूति हो, तब उस अनुभूति से भिन्न है – ऐसा भेदज्ञान सच्चा होता है। सूक्ष्म बात है भाई! आहाहा! ये शरीर के आकार दिखते हैं न, भिन्न-भिन्न आकार, यह... यह... यह... ऐसा पीछे सब ऐसे ये सब जड़ के आकार हैं। आहाहा! ये जड़ के आकार उस जड़ के गुण की पर्याय है। यह भगवान आत्मा का गुण भी नहीं, उसकी पर्याय भी नहीं। आहाहा! ऐसा भगवान आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु, उसके द्रव्य और गुण को अनुसरण कर जो निर्मल वीतरागी अनुभूति पर्याय होती है, तब उसे उससे यह भिन्न है – ऐसा ज्ञात होता है।

एक बोल है। समुच्चय कर दिया।

दूसरा, **संहनन** (आठवाँ बोल) है? संहनन अर्थात् हड्डियों की मजबूताई, वह भी जड़गुण की एक पर्याय है। वह हड्डियों की मजूबताई छह प्रकार की है। आहाहा! वह भी एक जड़ गुण की आकृति की उस प्रकार की पर्याय है तो वह जड़ द्रव्य, जड़ गुण और जड़ की पर्याय। आहाहा! उससे भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय भिन्न हैं। ऐसी बात है। वह द्रव्य चैतन्य भगवान अन्दर में अनन्त ज्ञान, आनन्द आदि गुण... कल आया था न, दोपहर को, नहीं? चैतन्यलोक; उसमें अनन्त प्रकार के गुण दर्शनीय हैं, वे देखनेयोग्य हैं, उन्हें देखे, आहाहा! भगवान आत्मा में अनन्त-अनन्त प्रकार के गुण हैं, उन गुण की पर्याय-अनुभूति, वह उनकी पर्याय कहलाती है। आहाहा! जिसकी—त्रिकाली ज्ञायकस्वरूप भगवान आनन्द का सागर आत्मा, उसके सन्मुख होकर जो अनुभूति—सम्यग्दर्शन और अनुभव हो, उसे यहाँ धर्म कहते हैं। उस धर्म की पर्याय से जड़ की पर्याय भिन्न है। आहाहा! इतनी शर्तें, इतनी।

भगवान! मार्ग ऐसा है। यह अनन्त काल से भटकता है, दुःखी है, दुःखी। आहाहा! बाहर के पदार्थों का उत्साह-हर्ष, वह मिथ्या भ्रम है। अन्तरपदार्थ को अन्तर आनन्द की विषमयता ऐसा जो आश्चर्यकारी चैतन्य चमत्कार, उसका अवलम्बन करके जो अनुभूति हो, उसे यहाँ धर्म कहते हैं, उसे यहाँ जीवद्रव्य की पर्याय कहते हैं। उसे-उस

अनुभूति से जड़ की पर्याय संहनन आदि भिन्न है। कोई कहता है कि व्रजनाराचसंहनन हो तो केवलज्ञान होता है।

श्रोता : इनकार करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : हैं? ऐसा नहीं, भाई! वह हो, परन्तु उसके कारण केवलज्ञान होता है - ऐसा नहीं। क्योंकि ज्ञान की पर्याय से संहनन की / मजबूताई की पर्याय अत्यन्त भिन्न है। उस भिन्न के कारण यहाँ केवलज्ञान हो, ऐसा स्वरूप नहीं है। आहाहा! केवलज्ञान तो भगवान आत्मा, चैतन्य के चमत्कार के स्वभाव से अद्भुत से अद्भुत स्वभाव से भरपूर, उसके अवलम्बन से केवलज्ञान हो, वह आत्मा की पर्याय है। आत्मा द्रव्य है, ज्ञान गुण है, केवलज्ञान उसकी पर्याय है। उस पर्याय से यह जड़ की पर्याय भिन्न है। आहाहा! ऐसी बात है। सह समुच्चय लिया है।

अब यहाँ नौवाँ बोल लेना है। **जो प्रीतिरूप राग है,...** आहाहा! जो अन्दर में देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति का भाव, पंच परमेष्ठी के स्मरण का भाव, वह सब शुभराग है, क्योंकि वह राग, परद्रव्य के लक्ष्य से होता है; वह आत्मा की चीज़ नहीं है। आहाहा! चाहे तो पंच महाव्रत का राग हो, चाहे तो पर की दया पालने का राग हो परन्तु वह राग है, वह आत्मा के स्वरूप की हिंसा है। आहा! वह प्रीतिरूप राग, शरीर का प्रेम हो या स्त्री का प्रेम हो या इज्जत का प्रेम हो या देव-गुरु और शास्त्र का प्रेम हो, वह सब राग है। आहाहा! भगवान आत्मा के आनन्द का प्रेम छोड़कर, जो इस पर के प्रेम में लग जाता है... आहाहा! समझ में आया? आहाहा! बात तो अलग प्रकार है, प्रभु! आहाहा!

आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप प्रभु में जितना पर के संग से राग होता है; चाहे तो देव-गुरु और शास्त्र के प्रति प्रेम, परन्तु वह राग है। आहाहा! वह राग, वह सब ही जीव का नहीं है। भगवान आत्मा में वह राग नहीं है। आहाहा! जो राग का विकल्प है; चाहे तो गुणी भगवान आत्मा और अनन्त प्रकार के गुण-ऐसा भेद का विकल्प उठे, वह भी राग है, वह राग जीव में नहीं है। आहाहा! है? **क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय है इसलिए....** आहाहा! वह राग है, वह पुद्गलद्रव्य की पर्यायमय होने से, पुद्गलद्रव्य के साथ अभेद है। आहाहा! जगत को ऐसी बात कठिन पड़ती है।

भगवान आत्मा... वह राग की पुद्गलमय पर्याय है, पर की दया का भाव, वह भी राग है। आहाहा! वह राग तो पुद्गलपरिणाममय है – ऐसा कहते हैं। है तो इसकी पर्याय में, परन्तु कोई ऐसा इसका स्वभाव नहीं है। जीव के अनन्त गुण हैं, भगवान आत्मा में अनन्तानन्त, अनन्तानन्त गुने गुण हैं परन्तु कोई गुण विकार करे, ऐसा कोई गुण नहीं है। आहाहा! इसलिए भगवान आत्मा अनन्त गुण का सागर प्रभु (है), उसकी परिणति जो अनुभूति... आहाहा! वह द्रव्य वस्तु और उसके अनन्त गुण और उन्हें अनुसरण कर अनुभव होना—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानरूपी अनुभूति होना, उस अनुभूति से राग का पुद्गलमय परिणामभाव भिन्न है। आहाहा!

अब यह कहाँ लोगों को जाना है। है? आहाहा! प्रभु मार्ग अलग है। भव के अन्त का... भव के भव, राग तो भवस्वरूप है-राग तो भवस्वरूप है, चाहे तो शुभराग हो। समझ में आया? आहाहा! चाहे तो दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का भाव हो, चाहे तो देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति का भाव हो परन्तु वह राग है, वह संसार है; वह भगवान आत्मा की चीज़ नहीं है। आहाहा! क्योंकि भगवान आत्मा तो मुक्तस्वरूप है। मुक्तस्वरूप का राग नहीं होता। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बातें, भाई! आहाहा!

वह राग **वह पुद्गलपरिणाममय है इसलिए...** भाषा देखो! एक ओर राग आत्मा की पर्याय है, ऐसा कहे। वह इसमें परिणमन होता है, इतना ज्ञान कराने के लिये। परन्तु जब द्रव्यस्वभाव का वर्णन यहाँ हो, तब वह पुद्गलपरिणाममय राग, आहाहा! भगवान अरिहन्तदेव, पंच परमेष्ठी या गुरु, उनके प्रति भक्ति का भाव, राग है। आहाहा! वह राग **पुद्गलपरिणाममय है इसलिए...** उसका अभेदपना जड़ के साथ है – ऐसा कहते हैं। समझ में आया? पुद्गलपरिणाममय कहा न? पुद्गल (परिणामवाला) भी नहीं; पुद्गलपरिणाममय। आहाहा! अरे! इसने इसके तत्त्व की बात सुनी नहीं। अन्दर कौन है प्रभु अन्दर? आहाहा! सच्चिदानन्दस्वरूप सत् शाश्वत् ज्ञानानन्द आदि अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु, उसका जो अनुभव होना... आहाहा! उसके सन्मुख होकर; निमित्त और राग और पर्याय से विमुख होकर... वस्तु ऐसी है प्रभु! सूक्ष्म पड़े परन्तु मार्ग तो यह है। आहाहा! आहाहा!

निमित्त संयोगी चीज़ देव-गुरु-शास्त्र के प्रति राग, उस निमित्त से लक्ष्य हटाकर, राग से (लक्ष्य) उठाकर और राग को जाननेवाली ज्ञान की वर्तमान पर्याय है, उससे दृष्टि उठाकर, चैतन्यस्वभाव चैतन्य-चिन्तामणि प्रभु के ओर की दृष्टि करना। जिस पर्याय की दृष्टि राग पर और पर के ऊपर है, उस पर्याय को अन्तर में भगवान के दर्शन में ले जाना। आहाहा! दर्शनीय जो अवलोकनीय है, उसमें ले जाना। आहाहा! बाहर की चीज़ दर्शनीय और अवलोकनीय नहीं है। आहाहा! वास्तव में भगवान आत्मा एक समय में अनन्त-अनन्त गुण भिन्न-भिन्न प्रकार के, उन सबको देखने योग्य तो यह चीज़ है, अवलोकन करनेयोग्य यह चीज़ है। इस चीज़ को दर्शनीय करके अवलोकन किया, तब पर्याय में अनुभूति हुई। आहाहा! तब पर्याय में आनन्द की दशा हुई। पर्याय में... पर्याय अर्थात् अवस्था में अनन्त गुण की जितनी संख्या है, उतनी पर्याय की व्यक्तता-अंश की व्यक्तता प्रगट हुई, उसे यहाँ अनुभूति कहते हैं। आहाहा! ऐसी अनुभूति से वे राग के परिणाम पुद्गलपरिणाममय, इस अनुभूतिमय भगवान आत्मा से भिन्न है। आहाहा! ऐसा मार्ग है।

श्रोता : बहुत सुन्दर।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा है। वस्तु, यह वास्तु इसे कहते हैं। राग के-पुद्गल के परिणाम जानकर, आहाहा! यहाँ तो बाहर का अप्रशस्त राग है... एक बार रात्रि में नहीं कहा था, रामजीभाई ने बहुत कहा था। वस्त्र पहनना, नहना-धोना, ऐसा करना, यह सब पाप है। हैं?

श्रोता : खाना-पीना यह पाप?

पूज्य गुरुदेवश्री : खाने-पीने का भाव, यह पाप। संसार के लिये संसारी तो स्वयं शरीर के पोषण के लिये खाता है। आहाहा! यह सबेरे नहाना, कपड़े धोना और धुले हुए ठीक से पहनना, ये सब भाव पाप है। आहाहा! यह तो भिन्न चीज़ है, परन्तु देव-गुरु और शास्त्र की भक्ति का भाव, वह प्रीतिरूप राग है। आहाहा! उससे मुझे लाभ होगा - ऐसी मान्यता तो मिथ्यात्व है। आहाहा! वे पुद्गलमय परिणाम है, वे प्रभु के नहीं। आहाहा! इस चैतन्यभगवान के वे परिणाम नहीं, क्योंकि चैतन्य में अनन्त... अनन्त... अनन्त... भरे हैं, तथापि कोई एक गुण विकार करे-परिणमे—ऐसा कोई गुण नहीं है। आहाहा! अनन्त...

अनन्त... अनन्त का पार नहीं, प्रभु! तेरे गुण की संख्या का (पार नहीं)। आहाहा! इतने अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त को अनन्त से गुणा करो अनन्त बार तो भी पार नहीं, इतने गुण हैं, तथापि उन गुणों का अन्त नहीं इतने गुण में से कोई गुण विकार करे या राग करे - ऐसा कोई गुण नहीं है। आहाहा! समझ में आया? ये सब गुण निर्मल हैं; इसलिए निर्मल पर्याय को करे - ऐसा कहना भी व्यवहार है। वह पर्याय निर्मल पर्याय को करे, इसका नाम यथार्थ है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात है बापू! वीतरागमार्ग त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव सर्वज्ञ प्रभु का पन्थ जगत् से कोई निराला है। कितने ही बाहर से-दया, दान, आदि से धर्म मानते हैं तो कितने ही भक्ति से-देव-गुरु-शास्त्र से मानते हैं। सब एक प्रकार है। आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं। इस शब्द में तो बहुत भरा है। **प्रीतिरूप राग...** जिसे भगवान आनन्द के नाथ का प्रेम नहीं है, उसे पर के प्रति प्रेम है, उस प्रेम का जो राग है, वह दु:खरूप है। आहाहा! चाहे तो देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति का राग हो, वह भी दु:खरूप है। आहाहा! वह प्रीतिरूप राग है, परन्तु है अवश्य, अस्तित्व है; आत्मा में नहीं, इसलिए नहीं - ऐसा नहीं है। आहाहा! आत्मा में किसी गुण से नहीं, इसलिए नहीं-ऐसा नहीं है। आहाहा! **प्रीतिरूप राग है...** वह राग है, वह। आहाहा! राग का विकल्प सूक्ष्म है। आहाहा! प्रभु! तेरी पर्याय में राग होता है। है परन्तु वह है पुद्गल का परिणाम - ऐसा कहते हैं। वह तेरी पर्याय नहीं। आहाहा! तेरी पर्याय... अनन्त गुण में से कोई गुण राग करे - ऐसा गुण नहीं है, फिर पर्याय तेरी कहाँ से आयी? ऐसा कहते हैं। आहाहा!

भगवान आत्मा अनन्त गुण का सागर.... श्रीमद् में भी आया न! 'मूल मारग सांभलो जिननो रे करि वृत्ति अखंड सन्मुख' वृत्ति अर्थात् परिणति वर्तमान जो इसकी है, उसे अखण्ड द्रव्य पर वृत्ति कर दे। आहाहा! मूल मार्ग वीतराग का यह अनादि सनातन है। करि वृत्ति अर्थात् परिणति, जो वर्तमान है, उसे अखण्ड द्रव्य पर दृष्टि कर दे। आहाहा! तो राग के परिणाम पुद्गलमय हैं, वे भिन्न पड़ जायेंगे। आहाहा! इसका भी अर्थ नहीं समझते। उन्हें ऐसा कि यह भक्ति करना, यह गुरु की भक्ति करना, (इससे) धर्म हो जायेगा... धूल में भी नहीं होगा। आहाहा! समझ में आया? धूल में भी नहीं होगा अर्थात्

क्या कहा? इसे पुण्यानुबन्धी पुण्य भी नहीं बँधेगा। क्योंकि इस राग से लाभ होता है – ऐसा माने, वह तो मिथ्यात्व है और मिथ्यात्व में तो पुण्यानुबन्धी पुण्य भी नहीं है; वहाँ तो पापानुबन्धी पुण्य है। है पुण्य, राग है वह, आहाहा! परन्तु मुझे उससे लाभ होगा – ऐसा जो मिथ्यात्व का महातीव्र पाप, उस पाप के पोषण में जो राग का पुण्य है, वह तो पापानुबन्धी पुण्य है। हीराभाई नहीं आये? नहीं आये। समझ में आया? आहाहा!

प्रीतिरूप राग है,... प्रीतिरूप राग है। है, आहाहा! **वह सर्व ही जीव का नहीं है...** असंख्य प्रकार का राग है। राग के बहुत प्रकार हैं। कोई गुण-गुणी के भेद का राग; कोई देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति का राग; कोई दया का राग; कोई सत्य बोलने का राग; कोई शरीर से ब्रह्मचर्य पालने का राग; ऐसे राग के बहुत प्रकार हैं। आहाहा! **वह सर्व ही जीव का नहीं है...** राग के जितने असंख्य प्रकार हों, वे सब भगवान आत्मा में नहीं हैं। आहाहा! **क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय है इसलिए...** वे तो पुद्गलद्रव्य की पर्याय है, कहते हैं। आहाहा!

एक जगह वापस ऐसा भी लिया कि कर्म की पर्याय होती है, वह कोई गुण नहीं, वह वहाँ होती है, पर्याय में होती है – ऐसा लिखा है, चिद्विलास में (लिखा है)। जो राग होता है, वह पुद्गलकर्म की पर्याय होती है, कर्म की पर्याय, कर्म की पर्याय होती है, वह कोई पुद्गल में गुण नहीं कि जिससे (वह) पर्याय हो। पर्याय स्वतन्त्र होती है। आहाहा! अरे! अब ऐसी बातें! आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि वह पुद्गलद्रव्य अर्थात् जड़ पदार्थ है, उसका गुण है, विकार होने के योग्य, उसमें विकार परिणाम (स्वयं से) होते हैं। आहाहा! यहाँ तो गुण नहीं उसे –ऐसा सिद्ध करना है वापस। यह क्या कहा समझ में आया? कर्म की पर्याय में जो राग होता है, तो उस द्रव्य में कोई ऐसा गुण नहीं कि कर्म की पर्यायरूप हो। पर्याय का ही उसका ऐसा स्वभाव है। पण्डितजी! सूक्ष्म बात है भाई! आहाहा! जैसे आत्मद्रव्य में कोई ऐसा गुण नहीं कि विकार हो; वैसे पुद्गल में कोई गुण नहीं कि कर्मरूपी पर्याय हो। सूक्ष्म बात है बापू!

यह कोई मार्ग... आहाहा! और यह समझे बिना मर जानेवाला है चौरासी के अवतार में गोते खाकर-पशु में। एक तो बनिये धन्धे के कारण निवृत्त नहीं। पूरे दिन पाप

के धन्धे बाईस घण्टे! स्त्री और पुत्र, धन्धा अकेला पाप; धर्म तो नहीं परन्तु वहाँ तो पुण्य भी नहीं। आहाहा! यहाँ तो कहते हैं कि कदाचित् पुण्य के परिणाम-शुभराग हुआ। आहाहा! तो वह पुद्गलपरिणाममय है, पुद्गल के परिणाम हैं। यहाँ तो ऐसा सिद्ध करना है कि पुद्गल है, वह द्रव्य है, उसके गुण हैं तो उस गुण में पुद्गल का कोई गुण नहीं कि कर्मरूपी पर्याय हो। पर्याय का ही ऐसा स्वभाव है, वह कर्मरूप होती है। भाई! ए... वजुभाई! क्या समझ में आया? यह पर्याय की अवस्था है। जैसे भगवान आत्मा में कोई गुण ऐसा नहीं कि राग हो, विकृत हो—ऐसा कोई गुण नहीं; पर्याय में होता है। आहाहा! वैसे पुद्गल में कोई ऐसा गुण नहीं कि कर्मरूपी पर्याय हो। पर्याय किसी गुण की होती है न? आहाहा! नहीं; वह तो कर्म की पर्याय, पर्याय में, पर्याय से होती है। आहाहा! ऐसा यहाँ पुद्गलपरिणाममय राग को कहा, तो पुद्गल में ऐसा कोई गुण नहीं कि राग की पर्याय हो, परन्तु राग की पर्याय पुद्गल की पर्याय में स्वतन्त्र होती है; इसलिए उसे पुद्गलपरिणाममय कहा गया है। आहाहा! ऐसी बात है। कहो, हसमुखभाई! यह तो निवृत्ति लेकर बराबर अभ्यास करे तो बैठे ऐसा है, बाकी तो धन्धा आदि की मजदूरियाँ करके मर गये सब, आहाहा! भव हारकर कहीं ढोर में चले जायेंगे कितने ही तो, पशु होंगे बहुत। आहाहा! अरेरे!

यहाँ तो राग होता है, कहते हैं, उसे अपना माने तो वह मिथ्यादृष्टि। आहाहा! वह मरकर तिर्यंच में या निगोद में जायेगा। आहाहा! इसलिए **वह पुद्गलपरिणाममय है इसलिए (अपनी) अनुभूति से भिन्न है।** आत्मद्रव्य से भिन्न है, ऐसा नहीं कहा; आत्मद्रव्य से भिन्न है परन्तु इस भिन्नता का भान कब होता है? कि यह अनुभूति करे, तब आत्मा आनन्द का नाथ प्रभु है, उसका सम्यग्दर्शन करे, उसका सम्यक् अनुभव करे, तब वह द्रव्य में नहीं, वैसे अनुभूति में नहीं, तब इसे ख्याल आता है। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

वीतराग का मार्ग, आहाहा! सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ परमेश्वर का पन्थ कोई दुनिया से निराला है। आहाहा! अर्थात् तेरा पन्थ, तेरा मोक्ष का पन्थ ही कोई अलौकिक है। आहाहा! अभी तो बाहर के शरीर का प्रेम, स्त्री-कुटुम्ब-धन्धे का प्रेम, वह तो महापाप, आहाहा! शरीर की सुन्दरता को देखकर विस्मय लगे, वह भी महापाप। वह तो जड़ की पर्याय है मिट्टी, हड्डियाँ। इसी प्रकार राग की पर्याय भी यहाँ तो पुद्गलपरिणाममय कही है।

आहाहा! वह पर्याय होने में तो उसका गुण है, वह पर्याय होने में प्रदेशत्व नाम का गुण आकृति होने में पुद्‌गल में है, परन्तु कर्म की पर्याय होने में कोई गुण नहीं है, आहाहा! तथापि उस पर्याय में विकृतिरूपी कर्म की अवस्था होती है। अब यहाँ तो कर्म की अवस्था में भी अपने तो यहाँ राग की अवस्था सिद्ध करनी है। आहाहा! तो कर्म के परमाणु हैं, उनमें कोई गुण ऐसा नहीं कि रागरूप हो, तथापि उस पर्याय में रागरूप होने का पुद्‌गल की पर्याय का स्वभाव है। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

इस **अनुभूति से भिन्न** है। भगवान आत्मा अनन्त-अनन्त गुण की चमत्कारिक चीज़ जो है, उसका अनुभव-उसे अनुसरण कर निर्मल पर्याय का होना, भगवान आत्मा को अनुसरण कर सम्यग्दर्शन की पर्याय का होना, उसे अनुसरण कर स्वरूप के आचरणरूप स्थिरता होना, इन तीनों को यहाँ अनुभूति कहते हैं। आहाहा! जिसे अनुभूति हुई, उसे मोक्ष का-सुख का पन्थ आया। सुख के पन्थ में वह दौड़ा। समझ में आया? आहाहा! इसके अतिरिक्त तो जगत् दुःख के पन्थ में दौड़ रहा है। आहाहा!

राग और पुण्य-पाप के भाव को... आहाहा! प्रवचनसार ७७ गाथा में तो ऐसा भी कहा... कल फिर एक आया था न शुभभाव-शुभभाव... अब सुन न कहा! यह पाप के भाव हैं स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब-धन्धे के, वे सब अशुभभाव, इन शुभ और अशुभ दोनों में जरा भी अन्तर माने, शुभ और अशुभ में दोनों में विशेषता माने; एकरूप है—ऐसा न माने और विशेष / अन्तर है, ऐसा माने, प्रवचनसार गाथा ७७ (में) भगवान कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं '**हिंडदि घोरमपारं संसारं मोहसंछण्णो**।'-'**मोहसंछण्णो**।' अर्थात्? वह मिथ्यात्व से आच्छादित आत्मा, आहाहा! घोर संसार में भटकेगा। '**हिंडदि**' भाई! यह वीतराग का मार्ग है। ७७ गाथा में उसे कहा था, कल आया था न, एक दाढ़ीवाला। यह सब... उसे कुछ खाना होगा, मुझसे कहा गोचरी करूँ, कोई खिलायेगा? मेरा काम है? यहाँ तो यह उपदेश का है, इसके अतिरिक्त बाकी दुनिया में तुम्हारा क्या हो, उसका यहाँ हमें क्या काम है? उसे ऐसा कि कुछ कहे-प्रेरणा करे। यहाँ यह बात कहाँ? यहाँ तो हजारों लोग आते हैं, बहुत प्रकार के। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि संसार के जितने काम हैं, वे सब पापमय है। सबेरे से उठकर

नहाना और धोना, खाना और चाय पीना और सब साथ बैठाकर प्रसन्न-प्रसन्न आज यह खाया और यह पीया, सब अकेला पाप; उसमें भी कहते हैं कि किसी समय शुभभाव आवे, दया, दान, व्रत आदि का (भाव आवे) परन्तु वह प्रीतिरूप राग तो पुद्गल परिणाम (है) प्रभु! तेरी जाति नहीं; तेरी जाति हो तो अलग पड़े नहीं। अलग पड़े वह तेरा नहीं और तेरा हो वह अलग पड़े नहीं। ये राग के परिणाम यदि तेरे हों तो अलग नहीं पड़ें। इसके ज्ञान-दर्शन आनन्द के परिणाम वे अलग नहीं पड़ते, क्योंकि वे तो इसके गुण की परिणति है। आहाहा! यह क्या कहा? जो आत्मा के गुण हैं ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि अनन्त, उनके जो परिणाम हैं, वे कहीं अलग नहीं पड़ते, वे तो अभेद हैं। आहाहा! और रागादि परिणाम भिन्न पड़ जाते हैं, सिद्ध में नहीं रहते, केवलज्ञान में नहीं रहते; अरे! अनुभूति में नहीं रहते- यहाँ तो ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

भगवान आत्मा... आठ वर्ष की बालिका भी जब अनुभव करे। आहाहा! आत्मा है न? यह तो हड्डियाँ हैं, ये कहाँ आत्मा, ये तो जड़ है। आत्मा जो अन्दर है, अनन्त-अनन्त गुण का चमत्कारिक पदार्थ है। आहाहा! उसके स्वरूप के आश्रय में जहाँ अन्दर जाता है, तब उसे अनुभूति होती है, उस अनुभूति से बालक या आठ वर्ष की बालिका हो, वह अन्दर जानती है कि इस मेरी अनुभूति से राग भिन्न है। इतना सम्यग्दर्शन और अनुभूति का माहात्म्य है। आहाहा! समझ में आया?

इस **अनुभूति से भिन्न है**। पर्याय से भिन्न है - ऐसा कहा। द्रव्य-गुण से भिन्न— ऐसा नहीं कहा। क्या कहा यह? जो राग है, वह अनुभूति से भिन्न है क्योंकि द्रव्य-गुण से भिन्न है, परन्तु द्रव्य-गुण से भिन्न है - ऐसा भान हुए बिना द्रव्य, गुण से भिन्न इसे कहाँ पता है? समझ में आया? आहाहा! भगवान आत्मा निजस्वरूप में वास करता है, तब इसे अनुभूति होती है। आहाहा! राग में वास करता है, तब इसे मिथ्यात्व और भ्रम उत्पन्न होता है। आहाहा! यहाँ ऐसा कहते हैं कि इस अनुभूति से भिन्न है। द्रव्य-गुण से भिन्न है - ऐसा नहीं कहा। द्रव्य अर्थात् वस्तु और उसके अनन्त गुण हैं, उनसे भिन्न नहीं कहा। क्यों? है तो उनसे भिन्न, परन्तु उसका भान हुए बिना भिन्न है - ऐसा जाना किसने? लॉजिक से- न्याय से बात समझनी पड़ेगी न इसे। आहाहा! समझ में आया? **भिन्न है**। यह नौ हुआ। नौ (बोल) हुआ न?

अब दसवाँ बोल **जो अप्रीतिरूप द्वेष है, वह सर्व ही जीव का नहीं है...** अन्दर में जो अप्रीति उत्पन्न होती है, बिच्छु काटे, सर्प काटे, निन्दा हो, लोग इसे पसन्द न करें, मान न दें, तब इसे अप्रीति अर्थात् द्वेष का अंश आता है, वह अप्रीति है। वह अप्रीतिरूप द्वेष है। है ? है। आहाहा! यहाँ तो सत्य वस्तु है, छद्मस्थ है, सत्य यह है—ऐसा स्थापित करे, वहाँ भी राग का अंश आता है-ऐसा कहते हैं परन्तु वह अनुभूति से भिन्न है। यह नहीं, यह मिथ्या है,... छद्मस्थ को, हों! केवली को तो कुछ नहीं,... तो वहाँ भी इसे द्वेष का इतना अंश आता है।

श्रोता : अन्य धर्म मिथ्या है - ऐसा कहना वह द्वेष है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : हैं ? यह अन्दर में रागी है, छद्मस्थ है - ऐसा कहा, इसलिए इसे इतना अंश आता है, तथापि वह वस्तु से भिन्न है। आहाहा! केवली को तो वीतरागता है, उन्हें तो दिव्यध्वनि में चाहे जो आवे, वे तो स्वतन्त्र हैं। परन्तु छद्मस्थ है... कर्ता-कर्म (अधिकार) में आता है न भाई! अन्तिम अधिकार, पण्डित जयचन्दजी ने भावार्थ लिखा है, उसमें यह आता है 'कि ज्ञानी को भी, आहाहा! जो सत्य का राग... अभी राग है न ? सत्य का स्थापन करते हुए भी उसे राग का अंश आता है, तथापि वह राग का अंश अनुभूति से भिन्न है। आहाहा! इसलिए ज्ञानी को भी ज्ञान के अनुभव से राग वहाँ आवे परन्तु है भिन्न। आहाहा! इसी प्रकार यह छद्मस्थ है और रागी है न, राग है न इसकी दशा में। इसलिए ऐसा कहा न, जब तक राग है, तब तक इसे अभेददृष्टि कराते हैं।'

आया है न ७ वीं गाथा में-७ वीं गाथा में—परद्रव्य को देखना, उसके कारण राग नहीं है परन्तु रागी प्राणी है, इसलिए भेद से राग होता है। आत्मा दर्शन-ज्ञानमय-चारित्रमय है—ऐसा भेद करे तो रागी है, इसलिए राग होता है। भेद करना, वह राग का कारण नहीं है; भेद तो ज्ञानी-सर्वज्ञ सब जानते हैं परन्तु यह आनन्द है-ज्ञान है—ऐसा भेद करना, वह रागी प्राणी है; इसलिए इसे राग होता है। भेद करने से, रागी है, इसलिए राग होता है। भेद करने से राग हो, तब तो सर्वज्ञ भी भेद को और सबको जानते हैं। समझ में आया ? आहाहा! ऐसी बात है। भेद, नीचे छद्मस्थ है, वह भेद करने जाता है कि यह दर्शन और ज्ञान और चारित्र, तो रागी है, इसलिए उसे राग होता है। इसलिए उसे जब तक अभेदता

पूर्ण न हो, तब तक भेद का निषेध किया है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। आहाहा! सूक्ष्म बात बापू! मार्ग ऐसा सूक्ष्म है। आहाहा!

जो अप्रीतिरूप द्वेष है, वह सर्व ही जीव का नहीं है... तब द्वेष जड़ को है? हाँ; किस अपेक्षा से? कि इसके अनन्त गुण में कोई द्वेषरूप हो—ऐसा कोई गुण नहीं है; इसलिए वे द्वेष के परिणाम इसमें नहीं रहते, इसके हों तो सदा रहे, इसके नहीं; इसलिए वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय है। किसको? आहाहा! यह द्वेष का अंश, अप्रीतिरूप द्वेष, आहाहा! वह जीव को नहीं है। किसे? कि अनुभूति करे उसे। आहाहा! है? **क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से...** आहाहा! एक ओर ऐसा कहते हैं कि पुण्य-पाप और मिथ्यात्व वे जीव के परिणाम हैं। एक ओर ऐसा कहते हैं कि द्वेष आदि के परिणाम, वे पुद्गल के परिणाम हैं। यह किस अपेक्षा से? वे जीव के परिणाम हैं, वे तो इसकी-जीव की पर्याय में होते हैं, पर के कारण नहीं, पर में नहीं - इतना बतलाने को (कहा है)। अब जब यहाँ आत्मा के अनुभव को बतलाना है, आत्मा के द्रव्य-गुण की शुद्धता को बतलाना है, तब उस शुद्धता के आश्रय से जो अनुभूति हो, उससे ये द्वेष के परिणाम भिन्न हैं; इसलिए उन्हें पुद्गलपरिणाम कहा गया है। आहाहा!

एक ओर ऐसा कहा जाता है कि सम्यग्दृष्टि को, ज्ञानी को, गणधर है, उन्हें भी जितने अंश में राग आता है, उतने अंश में परिणमन उनका है और उसके वे कर्ता हैं। कर्ता अर्थात्? करने योग्य है - ऐसा नहीं। परिणमता है, उतना कर्ता है और जितना परिणमता है, उतना वह भोक्ता है। आहाहा! ऐसी वाणी वीतराग की! एक ओर कहते हैं कि पुद्गल के परिणाम हैं और एक ओर कहते हैं कि गणधर जैसे चार ज्ञान के धनी, चौदह पूर्व और चार ज्ञान जिन्हें अन्तर्मुहूर्त में प्रगट होते हैं। आहाहा! उन्हें भी वे राग के परिणाम, वह परिणमन उनका है, वे उसके कर्ता हैं, वे पुद्गल के नहीं। आहाहा! (प्रवचनसार ४७) नय में आया है न? भोक्ता है परन्तु उतना दुःखी कहो तो दुःख है। यह भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द को अनुभव करता है, उसके साथ जरा राग होता है, उसके दुःख को भी अनुभव करता है। यहाँ कहते हैं कि पुद्गल के परिणाम हैं, उसका अनुभव जीव को हो? आहाहा! बापू! क्या अपेक्षा है? ये पुद्गल के परिणाम अनुभूति से भिन्न। जैसे

द्रव्यस्वभाव और गुण में कुछ नहीं, वैसे उसका अनुभव करने से भी वह राग और द्वेष उसमें नहीं है। आहाहा! कितनी अपेक्षाएँ पड़ती हैं! ज्ञान की गम्भीरता है प्रभु! यह तो ज्ञान की गहनता है, वह यहाँ कहते हैं।

गणधर भी जब सत् को रचते हैं और असत् का निषेध करते हैं, तब भी अंश तो अन्दर आता है, तथापि इस अनुभूति की अपेक्षा से, वह द्रव्य-गुण में नहीं है; इसलिए उसका अनुभव होने पर उसमें नहीं है। समझ में आया? आहाहा! इसी प्रकार द्वेष की, पुद्गल की पर्याय... उसके द्रव्य-गुण में ऐसा कोई गुण नहीं कि द्वेषरूपी परिणाम हो, पुद्गल में भी। जैसे यहाँ पर्याय में विकृत होता है, वैसे उसकी पर्याय में कर्म की पर्याय वह विकृत होती है, वह पर्याय का स्वभाव है। आहाहा! किसी द्रव्य-गुण का नहीं। आहाहा! अब ऐसा सब कब याद रखना और पूरे दिन धन्धा-पानी पाप का। आहाहा! कपड़े के धन्धेवाले कपड़ा घुमाते हैं ऐसे.. ऐसे.. और ऐसे, अकेला पाप का पोटला समटते और फैलाते हैं और अमुक अमुक, यह साटम-आटम होता है न? प्रसन्न-प्रसन्न होते हैं, अकेला पाप है। आहाहा! यहाँ तो प्रभु ऐसा कहते हैं कि यह पाप है अवश्य, परन्तु जो अपना मानता है, उसमें उसे उसका है, परन्तु जो अनुभव करके पर का माने, वह उसका नहीं। ऐसी बातें हैं। आहाहा! ऐसा जैन धर्म होगा? अभी तक तो भाई! हमें दया पालना, व्रत करना, भक्ति-पूजा... ये सब चौके हसमुखभाई के होंगे? हैं? इनके हैं न? ये चौके इतने सब कहाँ से आ गये कहा? आहाहा! ये वचनामृत के चौके हैं। आहाहा!

अमृतसागर भगवान आत्मा, आहाहा! जिसकी कभी मृत्यु नहीं, इसलिए जीवित ज्योत है। आहाहा! जिसकी चैतन्यधातु, जिसमें परिणति नहीं, ऐसे चैतन्यधातु है। आहाहा! ऐसी चैतन्यधातु का अनुभव करने पर, बाहर से सब ओर से हटकर यह चैतन्य, चैतन्य-चैतन्यधातु जिसने चैतन्य धार रखा है, जिसने चैतन्यस्वभाव धार रखा है, ऐसे चैतन्य के अनुभव में, आहाहा! अनुभूति से वे पुद्गल के-द्वेष के परिणाम भिन्न हैं, उसे भिन्न हैं। जो अपने माने, उससे वे भिन्न नहीं। समझ में आया? अपना मानता है और मुझे उनसे लाभ होता है—ऐसा माननेवाले को पुद्गल के परिणाम नहीं हैं, वे उसके हैं, पर्याय में उसके-मिथ्यादृष्टि के (हैं)। आहाहा! समझ में आया?

अब ऐसा उपदेश। ऐ ई.. हिम्मतभाई! आहाहा! अरे भाई! चौरासी के अवतार कर-करके चूरा निकल गया। बापू! सुना नहीं इसने। ये सब अरबोंपति और करोड़पति बेचारे सब दु:खी हैं, भिखारी हैं। भिखारी माँगते हैं यह दो, यह लाओ और यह लाओ। अनन्त अनन्त आनन्द गुण का धनी प्रभु की माँग नहीं इसे। जिसमें-प्रभु में अनन्त लक्ष्मी पड़ी है। यह तो भिखारी मुझे तो दो करोड़ मिले और पाँच करोड़ मिले और धूल करोड़ मिले, प्रसन्न-प्रसन्न। आहाहा! पैसा पैदा करता हो, उसमें बढ़ जाये दस लाख में बीस लाख मिल जाये तो कहता है आज लापसी करो। किसका? मिथ्यात्व का आँधड़ है वहाँ। आहाहा!

यहाँ प्रभु ऐसा कहते हैं... प्रभु कहे, सन्त कहे वह सब एक ही बात है न? अप्रीतिरूप द्वेष परिणाम प्रभु, जो द्रव्य और गुण का अनुभव करे, उसके वे नहीं हैं। आहाहा! नटुभाई! आहाहा! समझ में आया यह? ऐसी बातें हैं। आहाहा! प्रभु चैतन्यद्रव्य और उसके अनन्त गुण की भिन्नता अनेक प्रकार की चमत्कारिक चीज़, आहाहा! उसके सन्मुख होकर अनुभव करे; राग और निमित्त से विमुख होकर, इसकी अनुभूति की अपेक्षा से वे पुद्गलपरिणाम जड़ के हैं। ऐसी भिन्नता (होने पर) अनुभव में साथ नहीं आये। समझ में आया? अनुभव में तो अनन्त गुण की निर्मल पर्याय आयी। सम्यग्दर्शन में अनन्त गुण की निर्मल पर्याय प्रगट हुई। आहाहा! परन्तु उसमें वह राग प्रगट नहीं हुआ। आहाहा!

ऐसा मार्ग वीतराग का, तीन लोक के नाथ सीमन्धर प्रभु महाविदेह में बिराजमान हैं। उन्होंने कहा हुआ यह सब है। कुन्दकुन्दाचार्य वहाँ गये थे। आहाहा! आठ दिन रहे थे। (वहाँ से) आकर यह कहा—प्रभु का यह सन्देश है। आहाहा! तीन लोक के नाथ सीमन्धर परमात्मा... सीमन्+धर (अर्थात्) अपनी मर्यादा में रहनेवाले। अतीन्द्रिय आनन्द आदि में रहनेवाले प्रभु हैं, राग में नहीं आते, नहीं जाते - ऐसे परमात्मा का यह हुकम है, यह उनकी आज्ञा है। आहाहा! कि जिसने भगवान आत्मा और उसके गुणों का अनुसरण करके जो अनुभव होता है, उस जीव को राग और द्वेष के अंश पुद्गल के हैं, क्योंकि अनुभव में साथ नहीं आये। आहाहा! शशीभाई! ऐसा है। शशी-चन्द्र की कला उघड़ी यह-ऐसा कहते हैं। उसे फिर उसका (द्वेष का) अन्धकार नहीं होता। आहाहा! भगवान

है। आहाहा! अरे रे! इसने अनन्त काल से दरकार नहीं की। जो करने जैसा है, उसका किया नहीं और नहीं करने जैसा करके हैरान होकर मर गया है। आहाहा! यह आया था न उसमें, कलश - २८ कलश में, नहीं? आत्मा को मरणतुल्य कर दिया है, मार डाला है। कहते हैं। मरणतुल्य कर दिया है। जागती ज्योत अनन्त गुण की सत्ता के स्वभाव का सामर्थ्य प्रभु स्वयं, उसे यह राग करूँ और पुण्य करूँ और पाप करूँ और यह करूँ और वह करूँ तो मुझे.. ऐसे कर्ता होकर चैतन्य ज्योत ज्ञातादृष्टा को मरणतुल्य कर दिया है। आहाहा!

श्रोता : आपने तो भिन्न करके बताया है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान है न, प्रभु तू! आहाहा! भाई! यह कहीं किसी पक्ष की बात नहीं है; यह तो वस्तु का स्वरूप ही है न, प्रभु! आहाहा! जैनधर्म कोई पक्ष नहीं। आहाहा! यह तो वस्तु ऐसी है - जिनस्वरूप ही प्रभु है, आहाहा! उसे अनुसरण करके जो दशा हो, वह जिनस्वरूपी अनुभूति है। उस अनुभूति में रागादि नहीं आते, इसलिए वे पुद्गल के कहे गये हैं। आहाहा! भाषा तो सादी है परन्तु भाव तो कोई (अलौकिक है)। आहाहा! है? **अनुभूति से भिन्न है।**

(ग्यारहवाँ बोल)—**जो यथार्थ तत्त्व की अप्रतिपत्तिरूप (अप्राप्तिरूप) मोह है..** अब यह मोह-मिथ्यात्व लिया। आहाहा! **यथार्थ तत्त्व की अप्रतिपत्तिरूप (अप्राप्तिरूप)...** भगवान आत्मा की प्राप्ति है, उसकी अप्राप्ति। किसमें? मिथ्यात्वभाव में। मिथ्याश्रद्धा में स्वरूप की अप्राप्ति है - ऐसा जो मिथ्यात्वभाव। आहाहा! **जो यथार्थ तत्त्व की अप्रतिपत्तिरूप (अप्राप्तिरूप) मोह है...** मिथ्यात्व। **वह सर्व ही जीव का नहीं है...** आहाहा! आहाहा! क्योंकि जीव के स्वभाव में कोई मिथ्यात्व होना, ऐसी कोई शक्ति नहीं है। आहाहा! यह पर्याय में खड़ा किया हुआ, पर के लक्ष्य से-ऐसा जो मोह है, वह जीव (के) द्रव्य-गुण में नहीं है। किसे? कि जीव गुण की पर्याय का अनुभव करे उसे। आहाहा! ऐसे तो धारणा कर रखे कि यह मेरा नहीं, ऐसा तो ग्यारह अंग का ज्ञान अनन्त बार हुआ है। आहाहा!

वाह! यह तत्त्व तो देखो! वह **सर्व ही जीव का नहीं है क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से...** मिथ्यात्व है, वह पुद्गलद्रव्य के परिणाम हैं, क्योंकि आत्मा का

कोई (ऐसा) गुण नहीं की मिथ्यात्वरूप हो, ऐसा कोई गुण नहीं। आहाहा! वास्तव में तो पुद्‌गल में भी ऐसा कोई गुण नहीं की कर्म की अवस्थारूप हो। दोनों पर्याय में हैं। आहाहा! गजब बात है! प्रभु का–तीर्थंकर सर्वज्ञ का मार्ग... ओहो! अलौकिक मार्ग है। आहाहा! जिनेश्वरदेव अनन्त तीर्थंकर हो गये, वर्तमान में बिराजते हैं, अनन्त होंगे, उन सबकी कथनी यह है 'एक होय तीन काल में परमार्थ का पंथ।' आहाहा! यह मिथ्यात्वभाव **जीव का नहीं है क्योंकि वह पुद्‌गलद्रव्य के परिणाममय होने से...** यह तो पुद्‌गल के साथ अभेद है; जीव के साथ अभेद नहीं। आहाहा! **अनुभूति से भिन्न है।** मिथ्यात्व का भाव, आत्मा का अनुभव करे, तब साथ नहीं आता। अभी तो सम्यग्दर्शन की बात है; आहाहा! इसलिए वह मिथ्यात्वभाव... भाव, हों! वह आत्मा का नहीं। अनुभूति से भिन्न रहता है इसलिए।

विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १२९ गाथा-५० से ५५ दिनाङ्क ०६-११-१९७८, सोमवार
कार्तिक शुक्ल ६, वीर निर्वाण संवत् २५०४

(समयसार) ५०-५५ (गाथा) है न? ग्यारह बोल चले हैं। (अब बारहवाँ बोल)

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग... प्रमाद को कषाय में डाल दिया। **जिसके लक्षण हैं ऐसे जो प्रत्यय (आस्रव), वे सर्व ही जीव के नहीं हैं,...** आहाहा! जीव ज्ञायकस्वरूप है, उसका अनुभव होने पर वे उसमें नहीं हैं। आहाहा! चैतन्यस्वरूप ज्ञायकस्वरूप है, उसका–अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव होने पर वे मिथ्यात्व आदि भाव जीव में नहीं हैं। वे **अनुभूति से भिन्न हैं।** आहाहा!

यह **मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग जिसके लक्षण हैं...** जिनके अर्थात् ऐसे जो प्रत्यय / आस्रव। आहाहा! **वे सर्व ही जीव के नहीं हैं,...** भगवान आत्मा तो...

श्रोता : त्रिकाली द्रव्य में नहीं या पर्याय में नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : इसे पर्याय में भी नहीं। अनुभूति के काल में पर्याय में भी वे नहीं।

वस्तु में तो नहीं, परन्तु वस्तु में नहीं-ऐसा कब अनुभव हो ? आहाहा! आत्मद्रव्य में वे मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय नहीं, वह तो शुद्ध चैतन्य है, उसमें नहीं परन्तु उसमें नहीं यह कब हो ? कि उस चैतन्य ज्ञायक का अनुभव करे, तब इसे उसमें नहीं – ऐसा अनुभव होता है। ऐसी बात है भाई ! आहाहा ! ऐसा मार्ग वीतराग का।

उदास... उदास... उदास... आत्मा। मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय और योग, ये आस्रव जीव में नहीं। **क्योंकि,** है ? वे **पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से...** आहाहा ! वे तो पुद्गलद्रव्य के परिणाम हैं। आहाहा ! आत्मा के नहीं... आहाहा ! जीव के परिणाम तो उसके स्वरूप का अनुभव करे, वह अनुभूति, वह जीव का परिणाम है। ऐसी बात है। दूसरे प्रकार से कहें तो यह मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय और योग आत्मा का क्षायिक सम्यग्दर्शन होने पर, आहाहा ! क्षायिक सम्यक्त्व होने पर उसे मिथ्यात्व इसे कषाय का तो आस्रव है ही नहीं, परन्तु उतने सम्बन्धी का अविरति और योग भी इसे नहीं है। आता है ? आस्रव ? (आस्रव अधिकार, १७४ से १७६ गाथा) बालस्त्री। आत्मा आनन्दस्वरूप-ऐसा क्षायिक सम्यग्दर्शन हुआ, उपशम को भी ऐसा है उतने काल, क्षयोपशम के लिये भी उतना काल, परन्तु इस क्षायिक के लिये तो जोर है। आहाहा ! आत्मा अखण्ड आनन्दस्वरूप का पर्याय में अनुभव होने पर, उसे वे आस्रव तो नहीं, मिथ्यात्व आदि अनुभूति में (नहीं) परन्तु वास्तव में तो अनुभूति होने पर, क्षायिक समकित होने पर उसे उस सम्बन्धी अविरति और योग का भी क्षय हो जाता है। आहाहा ! समझ में आया ? लिया है न ? बाल स्त्री। उसे जितना जुड़ान करे तो हो परन्तु जुड़ान नहीं करता। प्रभु चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा, आहाहा ! उसका अन्तर में सम्यग्दर्शनसहित यह अनुभूति जो आचरण हुआ। आहाहा ! दर्शन हुआ, ज्ञान हुआ और आचरण-अनुभूति हुई। आहाहा ! इसलिए उस अनुभूति में मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय और योग... कषाय में प्रमाद साथ में गया, पाँच है न ? मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग, परन्तु यहाँ प्रमाद को निकालकर योग, कषाय में डाल दिया। आहाहा !

ये चार, द्रव्य में नहीं, यह तो है परन्तु कब द्रव्य में नहीं ? आहाहा ! सूक्ष्म बात है भाई ! आहाहा ! यह वस्तु जो चैतन्यद्रव्य शुद्ध आनन्दकन्द प्रभु है, उसमें ये भाव नहीं

क्योंकि वह तो शुद्ध है—परन्तु कब ? शुद्ध तो त्रिकाल-शाश्वत् है और शाश्वत् उसमें तो -वस्तु में तो ये हैं नहीं परन्तु इसे नहीं - ऐसा अनुभव कब हो ? आहाहा ! जो वस्तु शुद्ध चैतन्य है, उसकी अनुभूति-उसे अनुसरण करके अनुभव होना, उसमें अनन्त गुणों का अंश व्यक्त है, उसका वेदन होना, अनन्त गुण हैं, उनका व्यक्तरूप से वेदन होना, तो इसका अर्थ यह आया कि योग नामक गुण है, चारित्र नाम का गुण है, उसका व्यक्तरूप से शुद्ध का वेदन साथ में है। आहाहा ! और इस कारण सम्यग्दृष्टि को उतने प्रकार की अविरति, उस प्रकार की अविरति और उस प्रकार का योग का भी क्षय है। आहाहा ! कब ? कि द्रव्य में तो नहीं परन्तु द्रव्य का अनुभव करे तब। ऐसी बातें हैं, ऐसा मार्ग। आहाहा !

यह भगवान आत्मा चैतन्य लोक, आहाहा ! जिसमें अनन्त... अनन्त... अनन्त... प्रकार के गुणों का एकरूप वह आत्मा; ऐसे द्रव्यस्वभाव का, सन्मुख होकर अनुभव होने पर, उस अनुभूति से वह मिथ्यात्व, अव्रत, कषायभाव का अभाव है, परन्तु अनुभूति होने पर वे पर्याय से-अनुभूति से तो भिन्न हैं। द्रव्य से तो भिन्न हैं परन्तु अनुभूति से भिन्न हैं। परन्तु अनुभूति होने पर उतने प्रकार की अविरति और योग भी क्षय हो जाते हैं। आहाहा ! ऐसा स्वरूप है। समझ में आया ? जीवद्रव्यस्वरूप भगवान आत्मा शुद्ध है परन्तु शुद्ध है, वह किसे ? वस्तु तो शुद्ध है, परन्तु किसे ? उस शुद्ध का अनुभव हुआ उसे। समझ में आया ? आहाहा ! ऐसी बात है... और अनुभव हुआ, इसलिए वे चार आस्रव उसमें नहीं हैं, अनुभूति से भिन्न है, परन्तु अनुभूति होने पर वे उस प्रकार की अविरति और उस प्रकार का योग भी वहाँ क्षयपने को प्राप्त होता है। आहाहा ! समझ में आया ? आहाहा !

यह करने जैसा यह है, बाकी सब दुनिया माने, न माने, आहाहा ! दुनिया प्रसन्न हो, प्रसन्न न हो, वह जगत् उसके कारण। वस्तु यह है। आहा ! उसे है ही नहीं, परन्तु कहते हैं अनुभूति में है नहीं, क्योंकि द्रव्यस्वभाव जो चैतन्य है, उसकी अनुभूति हुई वह तो शुद्ध हुई। त्रिकाली ज्ञायकभाव शुद्ध है, वह तो त्रिकाल शुद्ध है परन्तु त्रिकाल शुद्ध है - ऐसा किसे ख्याल में आता है ? जो शुद्ध के सन्मुख होकर उसका अनुभव करे, उसे यह शुद्ध है - ऐसा ख्याल में आया। आहाहा ! सूक्ष्म बात है, भाई ! शशीभाई ! आहाहा ! अरे ! वह लड़का कल गया वहाँ ऐसे, मैंने तो रोगी है ऐसा सुना नहीं था, उसे कोई रोग हुआ है, यह

भी नहीं सुना था। जहाँ सुना ऐसा एकदम तो कहे कि वह तो गुजर गया। आहाहा! यह नाशवान देह! देखो तो! ३५ वर्ष की उम्र, जवान। आहाहा! एक क्षण में डॉक्टर ने कहा कि ठीक है, अब ले जाओ। ये कहें हमें यहाँ रखना है, थोड़ा बहुत पपीता खिलाया, चाय और ऐसे देते हैं ऐसे वहाँ... आहाहा! ये नाशवान चीज़, बापू! महान वैराग्य का कारण है। आहाहा!

यह प्रभु आत्मा त्रिकाल पर से उदास है और मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय और योग से प्रभु त्रिकाल उदास है। आहाहा! यह तो सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र का जहाँ अनुभव हुआ, स्वरूप-आचरण (हुआ), इससे वह चीज़ ही उसमें नहीं आती। उससे तो उदास इसका आसन पड़ा है। आहाहा! आहाहा! इस शरण बिना कहीं कोई शरण है नहीं। आहाहा! भगवान आत्मा परमानन्दस्वरूप, यही एक शरण है, मांगलिक है और उत्तम है। आहाहा! यहाँ तो दो बात करनी है कि **मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग जिसके लक्षण...** अर्थात् आस्रव, प्रत्यय है न? **वे सर्व ही जीव के नहीं हैं,...** जीवद्रव्य के नहीं हैं, ऐसा समुच्चय कहा, परन्तु जीव के नहीं। **क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से...** आहाहा! वे पुद्गल के परिणाम होने से जीव के नहीं हैं, परन्तु जीव के नहीं... आहाहा! कब? कि **(अपनी) अनुभूति से भिन्न हैं।** जीव के नहीं। आहाहा! वे पुद्गलमय परिणाममय, इस जीव के नहीं। कब? आहाहा! कि जीव जैसा है, जितना है, जितना है, उतने का आश्रय लेकर अनुभूति करे, उससे वे भिन्न हैं। वे पहले जीव में नहीं कहा, फिर यह जीव है, ऐसी जो अनुभूति हुई, उस अनुभूति से भिन्न है। हीराभाई! ऐसी बात है, बापू! आहाहा! अरे रे!

भगवान आत्मा में अयोग नाम का गुण है, चारित्र नाम का गुण है, ज्ञानगुण है, आनन्दगुण है, चारित्र अर्थात् अकषाय - इन सब गुणों का पिण्ड प्रभु का आश्रय लेकर जब अनुभव हुआ, तब उसमें जितने गुण हैं, उनकी व्यक्तदशा, आंशिक, इस अयोग गुण का भी अंश व्यक्तदशा का वेदन आया (ऐसा कहते हैं।) आहाहा! समझ में आया? आहाहा! इस भगवान आत्मा में अयोग नाम का गुण है, चारित्र-अकषायभाव नाम का गुण है, सम्यग्दर्शन / श्रद्धा नाम का गुण है। आहाहा! उन गुणों का धारक द्रव्य है, उस द्रव्य

को अवलम्बन करके जो कोई अनुभव हो, उसे वे (प्रत्यय) जीव में नहीं, उसे उसकी अनुभूति में नहीं। आहाहा! ऐसी बातें हैं! और उसे अनुभूति होनेवाले को, सम्यग्दर्शन होनेवाले को... आहाहा! उतने प्रकार का मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी तो आते ही नहीं, वे तो क्षय हो गये। यहाँ तो क्षय की ही बात है, अप्रतिहत (बात है), और उतने प्रकार की अविरति तथा योग का अंश भी क्षय हो गया – ऐसा कहते हैं। वह भूमिका गयी और यह हुई। इस-इस प्रमाण मिथ्यात्व में जो योग और अविरति की दशा थी, वह सम्यग्दर्शन होने पर उतना अन्दर उस सम्बन्धी का अविरतिभाव और उस सम्बन्ध का कषायभाव का क्षय हो जाता है। आहाहा! क्यों? कि अनन्त गुणों का धारक भगवान एकरूप, उसकी अनुभूति होने पर, अनन्त गुणों का अयोग नाम का गुण है, चारित्र नाम का गुण है, श्रद्धा नाम का गुण है, आनन्द नाम का गुण है, उन सब गुणों का एक अंश अनुभूति में आ गया। आहाहा!

इसलिए योग जो अयोग था, उसका अंश भी अनुभूति में आ गया, कहते हैं। आहाहा! क्योंकि सर्वगुणांश, वह समकित-ऐसा है न? जितने गुण हैं तो अयोग नाम का एक गुण है उसमें, आहाहा! उतने सम्बन्धी का... आहाहा! प्रतिजीवी गुण बाकी हैं प्रगट होने में, परन्तु एक अंश तो उसका भी इतना अन्दर अभाव हो जाता है। आहाहा! आहाहा! मिथ्यात्व जाने पर और अनन्तानुबन्धी का नाश होने पर और अनुभूतिदशा होने पर उसका नाश हुआ अर्थात् अनुभूति अस्ति हुई। आहाहा! उसमें जितने गुणों की अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... गुण प्रभु में हैं... प्रभु अर्थात् यह आत्मा, उसके प्रत्येक गुण का एक अंश तो व्यक्त हो जाता है। आहाहा! अयोग नामक गुण का भी एक अंश व्यक्त हो जाता है। आहाहा!

वास्तव में तो जब प्रतिजीवी गुण का अभाव होता है, प्रतिजीव बाहर का, तब उसमें सम्पूर्णरूप से अभाव होता है, परन्तु इस समय भी एक अंश तो उसमें अभाव होता है, कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? क्योंकि जितने गुणों की संख्या है, जितने, भले प्रतिजीवी गुण अन्दर हों। आहाहा! उतने अनुभूति में वे तो आते नहीं परन्तु अनुभूति होने पर, सम्यग्दर्शन होने पर उनका अंश जो अयोग का अंश अनुभव में आया, उतना योग का अंश नाश हुआ है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। आहाहा! धीर के काम हैं भाई यह तो...

आहाहा! ऐसा भगवान आत्मा अनन्त गुण का चैतन्यलोक, उसे जब अवलोकन किया, देखा, जाना, माना, अनुभव किया। आहाहा! आहाहा! है वैसा जाना, है वैसा अनुभव किया, है वैसा देखा, है वैसा माना। आहाहा!

ऐसी स्थिति में-अनुभव में ये चार आस्रव हैं ही नहीं, कहते हैं। आहा! अस्थिरता के भले हों, परन्तु अनुभूति में वे नहीं, वह धारा भिन्न रह जाती है परन्तु भिन्न रह जाती है, उसमें भी वह अंशत: तो योग का और अविरति का क्षय हुआ है। ऐसी धारा भिन्न रह जाती है। आहाहा! वे **पुद्‌गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति...** अर्थात् अनुभूति को अपनी लिखना पड़ा कि अनुभव किसका? कि अपना। आहा! **(अपनी) अनुभूति से भिन्न हैं।** आहाहा! गजब काम किया है न? यह शास्त्र कहलाता है। आहाहा! जैसे यह शाश्वत् वस्तु ज्ञान में ज्ञेयरूप से, श्रद्धा में प्रतीतिरूप से आयी। आहाहा! उसे तो अनन्त गुणों की जितनी संख्या है, उन सबका एक अंश व्यक्तरूप से वेदन में आ गया, इसलिए उस अनुभूति में ये चीज़ तो नहीं, परन्तु अनुभूति यथार्थ हुई है, अप्रतिहत धारा, आहाहा! इससे उतने प्रकार की अविरति और योग की भी धारा है, उसमें इतनी धारा नहीं; अस्थिरता की धारा है, उसमें योग का क्षय हुआ है और अब एक योग इतना क्षय हुआ, वह धारा में नहीं। भाई! आहाहा! शशीभाई! यह समयसार! आहाहा! गजब काम किया है न, प्रभु! इसे प्रसिद्ध करने की रीति... आहाहा! इस टीका का नाम आत्मख्याति है। अमृतचन्द्राचार्य, आत्मख्याति है, तो आत्मा प्रसिद्ध में जहाँ आया... आहाहा!

आत्मा जैसा है, वैसा अनुभूति में आया, वह प्रसिद्ध में आया। आहाहा! वहाँ आस्रवों की अप्रसिद्धि हो गयी। आहाहा! एक-एक की। अब धारा में जरा रही है, वह उसमें भी वह वास्तव में तो प्रत्येक गुण का अंश वहाँ प्रगट हुआ है, उतना तो वहाँ (प्रत्यय) क्षय हो गया है, इतनी अस्थिर धारा भले हो परन्तु अनुभूति से भिन्न है। आहाहा! आहाहा! अस्थिरता की धारा है साथ में, परन्तु अनुभूति से भिन्न धारा है परन्तु उस भिन्न धारा का भी, क्षायिक समकित आदि हुआ, उसकी मुख्यता ली है, आस्रव में यह मुख्य लिया है। क्षायिक समकित और उपशम और क्षयोपशम, परन्तु यह मुख्य तो दर्शनशुद्धि हुई। आहाहा!

यहाँ तो अनुभूति तो ऐसी ली है, अप्रतिहत—हुई वह हुई, गिरे ऐसा नहीं। उससे केवलज्ञान लेनेवाले हैं। आहाहा!

श्रोता : ३८ गाथा में आता ऐसा।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह है, वही यह सर्वत्र लागू पड़ता है। आहाहा! अरे... पंचम काल के श्रोताओं को भी, सन्त ऐसा कहते हैं कि हमने तुमसे कहा और तुम भी परिणम गये उसमें, हों! आहाहा! आहाहा! जो परिणमे, उसे कहे परिणम गये तुम तो, हों! और तुम तो ऐसा कहते हो कि हमें तो यह हुआ वह, अब नहीं गिरेगा – ऐसा तुम तो कहते हो। आहाहा! ऐसी चीज़ सुनना दुर्लभ हो गयी है। है ? आहाहा!

श्रोता : किसी जगह नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! ऐसा अनुभव किया होगा तो देह छूटने के काल में उसका शरण रहेगा। आहाहा! बाकी राग की एकता में देह की अनन्त पीड़ा जहाँ हो अन्दर, वहाँ दब जायेगा, हाय... हाय, असाध्य, मिथ्यात्व से तो असाध्य है। मिथ्यात्व के कारण भान नहीं है, जीव कौन है परन्तु वह तो देह से असाध्य हो जायेगा। आहाहा! दु:ख की पराकाष्ठा हो जायेगी, वह सहन नहीं होगी; इसलिए बेभान हो जायेगा। आहाहा! मिथ्यात्व में तो बेभान था। आहाहा! परन्तु यह दु:ख पड़ा, वह दु:ख सहन नहीं हुआ और दु:ख की इतनी पराकाष्ठा हो गयी कि बाहर का असाध्य हो गया। आहाहा! बाहर में जो जानपने का साध्य था, आहाहा! वह असाध्य हो गया। आहाहा! और धर्मी जीव को कदाचित् शरीर और इन्द्रियों में सहज यह असाध्य जैसा हो, परन्तु अन्दर में साध्य चूकता नहीं, उसे। आहाहा! समझ में आया ? आहाहा!

जो साध्य, जो ध्येय दृष्टि और अनुभव में पकड़ा है। आहाहा! उसका अब असाध्य नहीं होता। आहाहा! शरीर की इन्द्रियाँ आदि में कदाचित् बाहर से शिथिलता हो जाये.. आहाहा! परन्तु अनीन्द्रिय ऐसा भगवान आत्मा, उसकी जो दृष्टि और अनुभव हुआ, वह अब असाध्य नहीं होगा। आहाहा! श्रीमद् ने अन्त में कहा न, देखो न.. आहाहा! मनसुख! माँ को पीड़ा मत होने देना। ३३ वर्ष की उम्र, माताजी जीवित है, पिताजी जीवित है, लड़के... आहाहा! भाई! माँ को पीड़ा मत होने देना, मैं अब स्वरूप में साधने को जाता हूँ।

आहाहा! अक्षरश: सत्य, हों! मैं अब बाहर का लक्ष्य छोड़ देता हूँ। आहाहा! मेरा प्रभु अन्दर है, वहाँ मैं जाता हूँ अब, उपयोग से, हों! वस्तु तो थी परन्तु उपयोग ऐसे बाहर था, वह उपयोग अब वहाँ ले जाता हूँ। आहाहा! यह देह छूटने के अवसर पर उसे समाधि रहे, शान्ति रहे। आहाहा! दूसरे देह छूटने के समय में दब जायेंगे। आहाहा! ऐसी बात है। यह एक बोल की इतनी व्याख्या हुई। आधा घण्टा हुआ, आधा। हैं ?

श्रोता : आधा अधूरा रह गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! इतना तो आया। आवे तब आवे न ? आहाहा!

श्रोता : मिथ्यात्व, ज्ञान की पर्याय में नहीं न ? मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ?

पूज्य गुरुदेवश्री : चारों ही नहीं। अनुभूति में मिथ्यात्व तो नहीं परन्तु अविरति और कषाय भी नहीं। ये बात तो की न। बात की न, चारों ही नहीं; मिथ्यात्व तो नहीं, परन्तु जो अस्थिरता है इस कषाय की, वह अनुभूति में नहीं, आहाहा! कदाचित् कोई समकितमोह का उदय हो वहाँ, इसलिए क्षायिक का लिया था न! उसका भी वहाँ अनुभूति में, अनुभूति से वह भिन्न है और उस समकित मोहनीय का बन्ध नहीं है, आहा! आकर खिर जाता है। आहाहा! ऐसा शरण है वह, प्रभु! आहाहा! अन्यत्र कहीं शरण नहीं है। आहाहा!

अब वे आठों ही कर्म अनुभूति में नहीं हैं – ऐसा कहते हैं। आहाहा! (तेरहवाँ बोल) **ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तरायरूप कर्म है,...** ये कर्म हैं। **वह सर्व ही जीव को नहीं है...** आहाहा! आहाहा! जीवद्रव्य में नहीं, परन्तु उसकी अनुभूति में नहीं, ऐसा कहते हैं। तभी उसे द्रव्य में नहीं, ऐसा भान होता है। द्रव्य में नहीं, द्रव्य में नहीं, परन्तु जब द्रव्य दृष्टि में आया है, अनुभव में आया, तब द्रव्य में नहीं, उस अनुभूति में नहीं। आहाहा!

ऐसी अमृतधारा रह गयी, जगत का भाग्य! आहाहा! साक्षात् तीन लोक के नाथ की वाणी है, यह सन्तों ने कही है परन्तु वाणी वह दिव्यध्वनि है। आहाहा!

श्रोता : सन्त, भगवान हैं न!

पूज्य गुरुदेवश्री : ओहोहो! वे भगवान हैं, परमेश्वर हैं, मोक्षतत्त्व हैं, वे मोक्षतत्त्व

में हैं। आहाहा! भले मोक्षमार्ग में हैं परन्तु वे मोक्षतत्त्व में हैं, ऐसा कहा न प्रवचनसार? आहाहा!

कहते हैं कि आठों ही कर्म, आठों ही कर्म, कर्म में भले हों। है –ऐसा कहा, परन्तु चैतन्य भगवान जीव के नहीं हैं। आठों कर्म, कर्म में हैं परन्तु जीव में नहीं। जीव में नहीं, कब? कि अनुभूति करे, तब वे जीव में नहीं हैं – ऐसा ख्याल आता है। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बातें हैं, बापू! आहाहा! जवान-जवान योद्धा कुछ पता ही नहीं, चले जाते हैं, उसे तो रोग था कि नहीं, यह भी सुना नहीं था। आता था प्रतिदिन, लड़कों को लेकर, ऐसा तैरता है ऐसा। आहाहा! ऐसा वहाँ समाप्त, देह की स्थिति पूरी हो गयी, बापू! मुद्दत की चीज़ है, वह जड़ की, वह अवधि से चली जायेगी। आहाहा! ऐसी चीज़ है वह। यह तो (आत्मा तो) त्रिकाली चीज़ है, इसे अवधि ही कहाँ? आहाहा!

परन्तु यह त्रिकाली शाश्वत् चीज़ है, इसे अवधि नहीं–ऐसा कब भान होता है? कि अनुभूति करे तब। आहाहा! आहाहा! यह यहाँ कहते हैं। कर्म है, वह सब ही जीव को नहीं है। तब यह कर्म जड़ को होगा? कि हाँ; यह जड़ है, जड़ में है, आत्मा में नहीं। कब? क्योंकि वह **पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से...** आहाहा! वे परिणाम लिये इसके, इससे यहाँ अनुभूति के परिणाम में वे नहीं। आहाहा! क्या कहा यह? कर्म की पर्याय जो है, वह परिणाम है। यद्यपि कर्म की पर्याय होना ऐसा कोई परमाणु के स्कन्ध में गुण नहीं है। समझ में आया? कल कहा था। आहाहा! यह कर्म की पर्याय स्कन्ध में, पर्याय में जो उत्पन्न हुई। आहाहा! वह परिणाम, यह द्रव्य-गुण और पर्याय तीन हो गये। परमाणु द्रव्य, उसके गुण, उसकी शक्ति / शक्ति / गुण और पर्याय हुई, वह उसकी पर्याय। वह द्रव्य, गुण और पर्याय। अब यहाँ भगवान आत्मा में द्रव्य में नहीं, उसके गुण में नहीं, यह इसकी अनुभूति की पर्याय में तीन नहीं, आहाहा! उस तीन में है, इस तीन में नहीं। आहाहा! यह समयसार। आहाहा!

द्रव्य अर्थात् भगवान आत्मा और गुण अर्थात् अनन्त शक्तियाँ और पर्याय अर्थात् उसकी पर्याय अर्थात् अनुभूति, वह उसकी पर्याय और वे पुद्गल के परिणाम, वह पुद्गल की पर्याय। पुद्गल द्रव्य, उसके गुण, वर्ण, गन्ध आदि और यह पर्याय / अवस्था वह कर्म

की उसकी पर्याय। इस प्रकार वहाँ है-इस प्रकार वहाँ है। यहाँ द्रव्य-गुण और पर्याय में वे नहीं परन्तु पर्याय में अनुभव हुआ, तब द्रव्य-गुण में नहीं और वे उसमें हैं, ऐसा भान हुआ। आहाहा! समझ में आया? ऐसा है। आहाहा!

जिनेश्वरदेव तीन लोक के नाथ की यह पद्धति है। यह सन्त उस पद्धति को प्रसिद्ध करते हैं। आहाहा! वे अनुभूतिवाले स्वयं को प्रसिद्ध करते हैं। आहाहा! आहाहा! मैं त्रिकाली आनन्द का नाथ प्रभु शुद्ध चैतन्यघन में अनन्त गुण, उस द्रव्य का आश्रय करने से जो अनुभूति होती है, वह उसकी पर्याय है। राग और विकार, वह उसकी पर्याय नहीं। आहाहा! वह तो पुद्गल के परिणाम हैं। दो विभाजित कर दिये हैं। कहते हैं कि वह कर्म की पर्याय, पुद्गल के परिणाम और अनुभूति, वह मेरे जीव की पर्याय। आहाहा! समझ में आया? यह मेरी अनुभूति से भिन्न है अर्थात् आ गया। द्रव्य की अनुभूति हुई है तो द्रव्य-गुण में नहीं तो मेरी पर्याय में वह कर्म है ही नहीं। आहाहा! समझ में आया? ऐसी सूक्ष्म बातें हैं।

(अपनी) अनुभूति से भिन्न है। उसका अनुभव नहीं, यहाँ ऐसा कहते हैं। वह भले हो, परन्तु उसका अनुभव नहीं। है, वह है और यहाँ है। यह है, यहाँ है... आहाहा! परन्तु प्रभु जो है द्रव्य-गुण से भरपूर प्रभु, उसकी अनुभूति हुई, इसलिए मेरी पर्याय में नहीं, तो फिर द्रव्य-गुण की तो बात ही क्या करना? आहाहा! ऐसा स्वरूप है। और वह नहीं, वह अब नहींरूप ही रहनेवाला है - ऐसा कहते हैं। मेरे द्रव्य-गुण में तो नहीं, परन्तु पर्याय में नहीं, वह अब नहींरूप ही रहनेवाला है। मैं नहींरूप ही हो जानेवाला हूँ। आहाहा! आहाहा! उसमें आता है न, यह किसी को पूछने नहीं जाना पड़ेगा। निर्जरा अधिकार में आता है। आहाहा!

श्रोता : अपना सुख प्राप्त हुआ वह।

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वरूप प्राप्त हो, वह अनुभूति हो, उसे किसी से पूछने नहीं जाना पड़ता कि मुझे यह हुआ है या नहीं? और दुनिया जाने तो है और दुनिया न जाने तो नहीं- ऐसा है? आहाहा! यह तेरह बोल हुए।

चौदहवाँ बोल—**जो छह पर्याप्तियोग्य और तीन शरीरयोग्य वस्तु (पुद्गलस्कन्ध)**

रूप नोकर्म... क्या कहा यह ? आहार योग्य परमाणु, शरीर, इन्द्रिय, भाषा, श्वास, मन— ऐसी छह पर्याप्ति के योग्य ये पुद्गलस्कन्ध। छह पर्याप्ति के योग्य जो पुद्गलस्कन्ध और तीन शरीर के योग्य पुद्गल कर्म। औदारिक, वैक्रियक और तैजस। आहारकशरीर वह तो एक ओर रह गया। यहाँ तो तीन शरीर—औदारिक, तैजस और कार्माण, बस। उसको (देव-नारकी को) वैक्रियक, तैजस और कार्माण। आहारक तो किसी समय होता है, उसका प्रश्न नहीं। आहाहा! **तीन शरीरयोग्य वस्तु (पुद्गलस्कन्ध) रूप नोकर्म है,...** नोकर्म हैं, अस्ति तो सिद्ध की। ये है ही नहीं, उस वेदान्त की तरह, आत्मा सत्य और दूसरा भ्रम-मिथ्या / जगत् मिथ्या-ऐसा नहीं है। जगत्, जगत्‌रूप से है। यहाँ तो आत्मा की अपेक्षा से नहीं, परन्तु वह है ही नहीं, ऐसा कहते हैं वे लोग; इसलिए यह पहले सिद्ध करते हैं कि वह है। आहाहा! आहाहा! छह पर्याप्ति के योग्य आहार, शरीर, आहाहा! यह जीव बाँधता है - ऐसा कहना वह व्यवहार है। बाँधे कौन ? जीव, पर्याप्ति को बाँधे ? आहाहा!

इस शरीर के और इस कर्मपुद्गल के योग्य जो छह पर्याप्ति हैं, वे पुद्गलस्कन्धरूप नोकर्म हैं। वह सब जीव के नहीं हैं। आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वास, भाषा, मन, ये पर्याप्ति के योग्य पुद्गल हैं, वे मुझमें नहीं हैं, उसमें है। आहाहा! जीव पर्याप्तिवाला है और स्वाच्छोश्वास वाला है, आहारक शरीर - आहार करनेवाला है, इन्द्रियवाला है... मैं नहीं, कहते हैं। आहाहा! छह पर्याप्ति के योग्य पुद्गल स्कन्ध, नोकर्म और तीन शरीर के योग्य नोकर्म, **वह सर्व ही जीव को नहीं है,...** वह जीवद्रव्य में नहीं है। वह उसमें है, इसमें (जीव में) नहीं है। परन्तु कब ? मुझमें नहीं और उसमें है - ऐसा कब ? कि अनुभूति हो तब। आहाहा! भगवान आत्मा ज्ञान और आनन्द का अनुभव होने पर, मेरी चीज़ में ज्ञान और आनन्द है, मेरी चीज़ में वे कोई आहार परमाणु है नहीं। आहाहा! समझ में आया ? ओहोहो!

वे **पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से...** वह तो पुद्गलद्रव्य की पर्याय है, पर्याप्ति योग्य जो पुद्गल है, वह तो पुद्गलद्रव्य की पर्याय है। पुद्गलद्रव्य है, उसके गुण हैं और यह उसकी पर्याय है, कहते हैं। आहाहा! ऐसे तो श्वास चलता है न श्वास ? वह पुद्गलद्रव्य की पर्याय है परन्तु वह श्वास ऐसे... ऐसे है, उसमें आत्मा के प्रदेश भी शामिल

हैं, अकेला पवन नहीं चलता, उसमें प्रदेश भी शामिल हैं। जैसे इस अवयव में हैं, वह-श्वास भी एक अवयव है परन्तु यह मेरा जो आत्मा है, उसका जो अनुभूति में उस श्वास के परमाणु और इस पर्याप्ति के परमाणु मुझमें नहीं है। आहाहा! श्वास चलता है, उसमें आत्मा के प्रदेश हैं, परन्तु फिर भी कहते हैं कि अनुभूति से देखें तो वे श्वास के परमाणु मेरी पर्याय में है ही नहीं। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बातें हैं।

ऐसा कहते हैं न, वे—गहरा श्वास लो, अमुक लो, उसमें आत्मा के प्रदेश हैं परन्तु कहते हैं कि मेरा आत्मा... आहाहा! इसकी अनुभूति में आया, इसलिए वे सब पर्याप्तियोग्य पुद्गल, श्वास जो ऐसे-ऐसे चलती है, वह मुझमें नहीं है। आहाहा! समझ में आया? इस श्वास को हिलाता हूँ, ऊँचा-नीचा करता हूँ, वह मैं नहीं। आहाहा! डॉक्टर कहे न, देखना हो तो, गहरा श्वास लो, धीरे से लो। आहाहा! परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि प्रभु! इस जीव में इस पर्याप्ति के योग्य और तीन शरीर के योग्य पुद्गल नहीं... नहीं... नहीं... कहते हैं। जीव में नहीं-ऐसा कब हो? कि जीवद्रव्य का अनुभव हो कि यह तो आनन्द और ज्ञानस्वरूप प्रभु है। आहाहा! तब उसकी अनुभूति में नहीं है, इसलिए जीव में नहीं है। आहाहा! ऐसा स्वरूप है। अरे! ऐसी चीज़ मूल वस्तु रह गयी और लोग सब बाहर चढ़ गये, आहाहा! रास्ता छोड़कर।

श्रोता : समझानेवाले भी चले गये।

पूज्य गुरुदेवश्री : वस्तु ऐसी हो गयी, हो गयी, ऐसी हुई, बात सच्ची है। आहाहा! **(अपनी) अनुभूति से भिन्न है।** आहाहा! १४ वाँ (बोल पूरा हुआ)।

(१५ वाँ बोल) अब, **कर्म के रस की शक्तियों का (अर्थात् अविभागप्रतिच्छेदों का)...** परमाणु में, कर्म का रस-अनुभाग, वह समूहरूप वर्ग है, वर्ग, उसके परमाणुओं का समूह है, रस के परमाणुओं का **समूहरूप वर्ग है, वह सर्व ही जीव का नहीं है,...** वह है कहा, समूहरूप वर्ग है अवश्य। अस्ति है परन्तु वह मेरे जीव में नहीं है। जीव में नहीं है, यह कब हुआ? कि जीव का ज्ञान और अनुभव हुआ, तब वह जीव में नहीं है – ऐसा इसे निर्णय हुआ। आहाहा! धार रखा था कि आत्मा में कि आत्मा में यह नहीं है, परन्तु इसको-जीव में नहीं है – ऐसा अनुभव नहीं हुआ, आहाहा! कि यह पुद्गल परमाणु, जीव

में नहीं है, इस कर्म का रस है यह, अविभागी प्रतिच्छेद, यह धार रखा था, वह कर्म की बातें। आहाहा! वहाँ तक वह भिन्न है – ऐसा भान नहीं था, आहाहा! वह जीव भगवान आत्मा अपनी अनुभूति, उससे वह भिन्न है—ऐसा भान हुआ, तब जीव में नहीं है – ऐसा कहा गया। जीव का अनुभव होने पर वह तो आनन्द और ज्ञान और शान्ति का सागर है —ऐसी अनुभूति होने पर सम्यग्दर्शन और अनुभव होने पर, यह वस्तु तो अनन्त ज्ञानदर्शन और आनन्द का कन्द प्रभु है, तो उसमें नहीं अर्थात् वर्तमान मेरी अनुभूति में भी वह नहीं। आहाहा!

कर्म का अनुभाग भोगना पड़ेगा – ऐसा लोग कहते हैं न!

श्रोता : फल को भोगना पड़ेगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, अनुभाग / फल कौन भोगे ? सुन, भाई ! आहाहा ! यह कर्म का अनुभाग, वह तो पुद्गल का परिणाम है, वह पुद्गल के साथ अभेद है, जीव में वह नहीं है। अर्थात् ? जीव जो जानने में आया, अनुभव में आया कि जीव तो शुद्ध चैतन्य आनन्दकन्द है, ऐसा जो अनुभव में आया, इससे उसे अनुभूति से भिन्न है, उस जीव में नहीं – ऐसा नक्की / निर्णय हुआ। आहाहा ! समझ में आया ? हमारे नारायणभाई थे, वे २९ बोल का घूरा कहते, वह तो घूरा है २९ बोल का, उससे भिन्न है। आहाहा !

यह सब रस है न ? कर्म के रस की शक्तियों के अविभागप्रतिच्छेद, मूलशक्ति अर्थात् वह **समूहरूप वर्ग है, वह सर्व ही जीव का नहीं है,...** यह वर्ग नहीं कहते, एकडिया का वर्ग, दो का वर्ग, तीन का वर्ग; इसी प्रकार इन परमाणुओं के अनुभाग का एक वर्ग है। आहाहा ! वह **(अपनी) अनुभूति से भिन्न है**। आहाहा ! मेरा वर्ग है, वह तो अनन्त गुण से भरपूर मेरा वर्ग है। उसकी अनुभूति होने पर, जीव में नहीं अर्थात् उसका भान हुआ। आहाहा ! समझ में आया ? १५ बोल हुए।

(१६ वाँ बोल) **जो वर्गों का समूह...** बहुत वर्ग, पहला वर्ग, दूसरा वर्ग करके सात पुस्तक का सब शामिल वर्ग करते हैं न, सात का; इसी प्रकार इन परमाणुओं के अनुभाग का रस, उसका पूरा समूह सबका-सबका वह **वर्गणा है, वह सर्व ही जीव का नहीं है, क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है**। आहाहा !

१७ वाँ (बोल) विशेष **मन्दतीव्ररसवाले कर्मसमूह...** मन्द और तीव्र रस है, वह कर्म के समूह का **विशिष्ट न्यास (जमाव) रूप (वर्गणा के समूहरूप) स्पर्धक हैं...** वर्ग में छोटा भाग आया, वर्गणा में बहुत भाग आया और स्पर्धक में सब आया। वे सब जीव के नहीं हैं। वे सब विशेष जानने की कर्म की बात है। **पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न हैं।** आहाहा!

१८- **स्व-पर के एकत्व का अध्यास...** आहाहा! स्व-पर के एकपने का अध्यवसाय -एकपने का अध्यास अर्थात् अभ्यास हो, **तब (वर्तने पर), विशुद्ध चैतन्यपरिणाम से भिन्नरूप...** विशुद्ध चैतन्यपरिणाम से भिन्नरूप, आहाहा! मेरा प्रभु विशुद्ध चैतन्यपरिणाम में आया। आहाहा! **चैतन्यपरिणाम से भिन्नरूप जिनका लक्षण है, ऐसे जो अध्यात्मस्थान हैं...** अर्थात् अध्यवसाय के स्थान, हों! अध्यात्म अर्थात् आत्मा नहीं। अध्यवसाय के वे सब जीव को नहीं हैं। आहाहा! **विशुद्ध चैतन्यपरिणाम से भिन्नरूप जिनका लक्षण है,** आहाहा! **ऐसे जो अध्यात्मस्थान...** स्व-पर के एकपने का अभ्यास हो तब, वर्तते हों तब, उन **विशुद्ध चैतन्यपरिणाम से भिन्नरूप जिनका लक्षण है,...** आहाहा! **ऐसे जो अध्यात्मस्थान हैं, वे सर्व ही जीव के नहीं हैं, क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है।** कर्म की अपेक्षा है, इसलिए जरा सूक्ष्म है थोड़ा, आहाहा! उसमें समुच्चय लिया था रस में।

अब, १९। यहाँ **भिन्न-भिन्न प्रकृतियों के रस के परिणाम जिनका लक्षण है ऐसे जो अनुभागस्थान...** प्रत्येक प्रकृति में अनुभाग होता है न? प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश- चार, ऐसे ये **अनुभागस्थान, वे सर्व ही जीव के नहीं हैं,...** कर्म का अनुभाग, वह तो पुद्गल के परिणाम हैं, वे जीव की अनुभूति के परिणाम से तो भिन्न हैं। आहाहा! अनुभव में कर्म का रस है, वह अनुभव में नहीं आता -ऐसा कहते हैं, आत्मा का आनन्द है, वह अनुभव में आता है, वह रस अनुभव में आता है। आहाहा! कर्म के अनुभागस्थान इसमें नहीं है। **पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है।** १९ हुए।

विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १३० गाथा-५० से ५५ दिनाङ्क ०७-११-१९७८, मंगलवार
कार्तिक शुक्ल ७, वीर निर्वाण संवत् २५०४

श्री समयसार, ५० से ५५ गाथा, १९ बोल चले हैं।

बीसवाँ, '**कायवर्गणा**' यह काया है न, वह परमाणु का समूह, **वचन** वर्गणा **और मनोवर्गणा का कम्पन जिनका लक्षण है, ऐसे जो योगस्थान...** जो कम्पन के स्थान, **वे सर्व ही जीव के नहीं हैं...** आहाहा! प्रदेश कम्पते हैं न, आहाहा! मन, वचन वर्गणा के निमित्त से और कम्पन स्वयं का, परन्तु वह कम्पन पुद्गल का है – ऐसा कहते हैं। आहाहा! वह पुद्गल का, इस आत्मा का स्वभाव नहीं है। आहाहा! वह कम्पन, **योगस्थान वे सर्व ही जीव के नहीं हैं क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से...** आहाहा! उसकी **(अपनी) अनुभूति से भिन्न है।** अर्थात् ? कि चैतन्य, जो स्वरूप प्रथम वस्तु, जो ज्ञायक-स्वभाव चैतन्य... यह क ख ग घ में आता है न ? पहला 'क', इसका अर्थ आत्मा किया है। 'क' अर्थात् आत्मा। अष्ट, १००८ लक्षण। जैसे इसमें 'क' पहला है, वैसे यहाँ 'क' वह यह आत्मा ऐसा, आहाहा! भगवान आत्मा 'क' अर्थात् ही आत्मा ऐसा। यहाँ तो काय है न! अर्थात् शरीर है परन्तु वहाँ तो 'क' अर्थात् आत्मा, उसका आय अर्थात् जीवास्तिकाय। आहाहा! यह अनुभूति उसकी, जीवास्तिकाय-जीव=अस्तिकाय, असंख्य प्रदेश समूह, आहाहा! उसकी अनुभूति-उसके स्वभाव-सन्मुख होकर जो अनुभव आनन्द की दशा आदि, ज्ञान की पर्याय आदि अनुभव होता है, उस अनुभूति से भिन्न है। द्रव्य से.. पहले जीव में नहीं – ऐसा कहा। है न ? वह जीव को नहीं, ऐसा कहा। फिर कहा कि वह जीव को नहीं कब ? कि इसे अनुभूति हो, तब वह जीव को नहीं। आहा.हा! समझ में आया ?

यह अष्ट १००८ लक्षण हैं न ? भगवान को कपाली कहा है, कपाली। वे कपाली नहीं आते ? कपाली! हे प्रभु! आप कपाली हो। 'क' अर्थात् आत्मा; पाली अर्थात् पालनेवाला। आत्मा के पालनेवाले हैं; इसलिए आप कपाली हैं। आहाहा! यहाँ कहते हैं आत्मा को पालनेवाला अर्थात् प्रभु स्वयं निमित्त से कहा है परन्तु यहाँ आत्मा जो शुद्ध चैतन्यमूर्ति प्रभु, नवतत्त्व में भी उसका नाम पहले आता है न ? 'जीव'। छह द्रव्य में

उसका नाम अन्तिम आता है। धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश, काल, पुद्गल, और जीव; क्योंकि सबको जाननेवाला (है), इसलिए अन्तिम रखा। नवतत्त्व में पहला। जैसे कक्का में पहला 'क', वैसे यह पहला भगवान आत्मा। आहाहा! यह शुद्धचैतन्य पहले नम्बर में। आहाहा! जीव को अर्थात् द्रव्य को ये योग के कम्पन पुद्गल के परिणाममय होने से,... कम्पन तो पर्याय का है, पर्याय अपने में, परन्तु वह कम्पन इसका वास्तविक स्वभाव नहीं है; इसलिए उसे पुद्गल का परिणाम कहकर, जीव को नहीं है (– ऐसा कहा है)। कब? कि जीव की अनुभूति करे तब। आहाहा! ऐसी बात है। आहाहा!

यह तो नन्दीश्वरद्वीप का पहला दिन है न यह? अष्टाह्निका का पहला दिन है। इन्द्र, भगवान के पास वहाँ जाते हैं। आहाहा! भले भक्ति का शुभभाव है परन्तु इन्द्र एकावतारी, परन्तु बावन जिनालय... सब अस्ति है, हों! है, आहाहा! इन्द्र भी भक्ति करने ढाई द्वीप के बाहर आठवाँ द्वीप है, वहाँ जाते हैं, भाव आता है। तथापि वह भाव... यहाँ आगे कहेंगे कि विशुद्धिस्थान जीव के नहीं है। आहाहा! वे शुभभाव के प्रकार हैं, यह आयेगा, हों! २६ वाँ, वह जीव में नहीं है। आहाहा!

एक ओर ऐसा कहना, सर्वविशुद्ध अधिकार में पीछे, कि पुण्य और पाप भी जीव है। आता है न? धर्म-अधर्म जीव है। यह धर्म-अधर्म अर्थात् पुण्य-पाप। आहाहा! धर्मास्ति-अधर्मास्तिकाय से ये भिन्न हैं परन्तु धर्म-अधर्मसहित है, यह धर्म-अधर्म अर्थात् पुण्य और पाप। जीव, पुण्य और पापमय है, वहाँ ऐसा कहना और यहाँ ऐसा कहना कि ये परिणाम पुद्गल के हैं, इसके स्वभाव में ये नहीं हैं, इस अपेक्षा से पुद्गल के गिनकर जीव स्वभाव की अनुभूति होने पर वे पुद्गल परिणाम अनुभव में नहीं आते, भिन्न रह जाते हैं। आहाहा! और यहाँ कम्पन कहा इतना भी अनुभूति होने पर सम्यग्दर्शन होने पर आंशिक कम्पन का भी क्षय होता है। आहाहा! क्योंकि इसके जो अनन्त गुण हैं, उनमें गुण का आधार जो द्रव्य है, ऐसे द्रव्य की अनुभूति हुई, उसे चैतन्य-चमत्कार की परिणति हुई, उस परिणति में अनन्त पुद्गलादि के परिणाम नहीं है। उसमें कम्पन नहीं है, तथापि कम्पन का जो अंश है, उस अनुभूति के काल में उसका नाश होता है, अंश। आहाहा!

अपने तो यहाँ अप्रतिहत अनुभूति लेना है। आहाहा! समझ में आया? अर्थात्

क्या ? कि अनुभूति हुई, वह हुई; अब वह जाये – ऐसा नहीं। आहाहा! ऐसा जो भगवान आत्मा, उसके यह कम्पन नहीं है, क्योंकि पुद्गल के परिणाम गिनकर... परन्तु कब नहीं ? कि उस जीव की अनुभूति करे, तब उसमें नहीं, ऐसा भेद पड़ता है, इसके बिना भेद नहीं पड़ता। हैं तो भिन्न, परन्तु भिन्न होने पर भी भिन्नपने का अनुभव हो, तब वे भिन्न हैं। आहाहा! ऐसा स्वरूप अब! वे पुद्गल के परिणाम हैं। आहाहा! है ? **पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है।** आहाहा! स्वयं भगवान आत्मा की अनुभूति–ऐसा कहा न ? अपनी अनुभूति अर्थात् स्वयं का होने से, अनुभूति–स्व की अनुभूति, चैतन्यस्वभाव की अनुभूति वर्तमान में अर्थात् द्रव्य, गुण और पर्याय तीनों ही आ गये। द्रव्य आत्मा और गुण आनन्दादि तथा उसकी अनुभूति, वह पर्याय। जो कम्पन है, वह भी वास्तव में पुद्गल की पर्याय गिनी है। आहाहा! पुद्गलद्रव्य, उसके वर्णादि गुण, आहाहा! और कम्पन, वह पर्याय – ये तीन द्रव्य, गुण और पर्याय, इस भगवान द्रव्य–गुण–पर्याय में नहीं हैं। आहाहा! अभी तो द्रव्य, गुण और पर्याय नाम आते न हों! एक बार इन्दौर का एक व्यक्ति कहीं से आया था कि द्रव्य, गुण और पर्याय क्या ? शिक्षण शिविर में (आया था)। आहाहा! यह २० बोल हुए।

२१, **भिन्न-भिन्न प्रकृतियों के परिणाम...** आहाहा! **जिनका लक्षण है, ऐसे जो बन्धस्थान वे सर्व ही जीव के नहीं हैं,...** बन्ध के भिन्न–भिन्न प्रकार हैं न ? वे सब परिणाम पुद्गल के हैं। वह **पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है।** आहाहा! वे जीव में नहीं हैं। प्रकृति के जो प्रकार, उसके परिणाम जड़ में हैं – परन्तु कब ? कि यह परिणाम अनुभूति करे, तब इसे भिन्न है, ऐसा जानने में आवे। आहाहा! **पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है।** २१ हुए।

(२२) **अपने फल के उत्पन्न करने में समर्थ कर्म-अवस्था...** जड़ अवस्था, **जिनका लक्षण है...** कर्म अवस्था जिसका लक्षण है, **ऐसे जो उदयस्थान...** आहाहा! ये कर्म के उदयस्थान और पर्याय में भी जितने प्रकार विकारादि के उदय प्रकार होते हैं **वे सर्व ही जीव के नहीं हैं,...** आहाहा! यह क्या कहा ? कि कर्म की प्रकृतियों के जितने प्रकार हैं, वे तो जड़ के हैं। अब इस ओर यह तो उपादान उसका हुआ, अब उसमें निमित्त है इस

ओर में-आत्मा में, इतने प्रकृति के जितने परिणाम हैं-उदय स्थान (है), उतना उसका भाव यहाँ पर्याय में है, पर्याय में, भी इतने ही प्रकार के भाव जीव के। वह तो-वह चीज़ तो जड़ की हो गयी, अब यहाँ भी इतने प्रकार जीव की पर्याय में है, उसे भी जड़ कहकर... आहाहा! समझ में आया? यह क्या कहा? कि जितने प्रकृति के प्रकार हैं, वे तो स्वतन्त्र है। अब उसमें यहाँ जीव निमित्त है या नहीं कोई पर्याय उसकी? वह अपने इतने प्रकृति के जो भेद हैं, उतनी ही पर्याय यहाँ परिणाम में हो, इतने प्रकार स्वयं के कारण विकृत अवस्था के भेद हैं, परन्तु दोनों को शामिल गिन डाला। उदयस्थान और यह भाव सब एक गिनकर... आहाहा! ये सब पुद्‌गल के परिणाम हैं। आहाहा! ये जीव को नहीं है।

यह प्रश्न एक बार उठा था। भाई ने-वीरजीभाई ने किया था। राणपुर, ८४ के चातुर्मास में (यह प्रश्न किया था) कि यह जितने प्रकृति के परमाणु हैं, वह तो स्वतन्त्र जड़ की पर्याय है, अब आत्मा में उसका निमित्तपना होता है, वैसे प्रकार हैं या नहीं? आत्मा में है न? वहाँ प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश जितने प्रकार के हैं, वे तो उसके (जड़कर्म के) हैं। अब उसमें यहाँ निमित्तपना है, उतने प्रकार का यहाँ प्रकृति, स्थिति, अनुभाव और प्रदेश की विकृत अवस्था है न? क्या कहा, समझ में आया?

मुमुक्षु : अधिक स्पष्ट करें!

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, करते हैं न! वहाँ तो दोनों को एक गिनेंगे अब। परन्तु यहाँ तो अभी जितनी कर्मप्रकृति है, वह प्रकृति-स्वभाव, उसके प्रदेश, उसकी स्थिति और रस, यह चार प्रकार उसमें है, वह तो उसमें है। अब यहाँ आत्मा में वह नहीं, अभी नहीं, अन्यत्र कहेंगे। वह तो यह वस्तु आत्मा में नहीं, आत्मा में उसका निमित्तपना हो, ऐसी कोई वस्तु है या नहीं?

मुमुक्षु : पर्याय में....

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय में। प्रकृति है, वह तो जड़ की, जड़ में। स्वभाव, स्थिति, रस और प्रदेश की संख्या, वह तो जड़ की जड़ में है। परन्तु अब वह तो वहाँ उसके उपादान में हुआ, किन्तु इसके (जीव के) उपादान में क्या है? कि जिसे वह निमित्त हो, इस उपादान में क्या है? आहाहा! थोड़ी सूक्ष्म बात है भाई! यह तो वीरजीभाई ने प्रश्न किया

था कि यहाँ तो कर्म है, वह तो कर्म की अवस्था द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव उसमें है परन्तु यहाँ आत्मा में उसे ऐसी जो है योग्यता के प्रमाण में यहाँ पर्याय है या नहीं ? भाई ! आहाहा ! जितने प्रकृति के स्थान हैं, उदय के / अनुभाग के प्रकार हैं, स्थिति के प्रकार हैं, प्रदेश की संख्या के (प्रकार हैं), उतने ही प्रमाण में यहाँ पर्याय में भी ऐसी योग्यता स्वयं की स्वयं के कारण है। समझ में आया ? अब ऐसी बातें हैं। क्योंकि वह तो पर में जड़ का हुआ; अब आत्मा में कोई उसका उपादान इसमें है और उसे निमित्त हो, ऐसा इसमें कुछ है या नहीं ? आहाहा !

क्योंकि जड़ के परमाणु की पर्याय है, वह तो स्वतन्त्र उसकी पर्याय है। अब उसमें है, उसमें उसका निमित्तपना और अपने में उपादानपना क्या है ? उसमें निमित्तपना उसे हो और अपना उपादानपना हो, वह क्या है ? है ?

मुमुक्षु : जीव की विकारी पर्याय....

पूज्य गुरुदेवश्री : जीव की इतनी योग्यता जितने प्रमाण में प्रकृति, स्थिति, प्रदेश और संख्या, इतने ही प्रमाण में उसकी योग्यता अपनी पर्याय में है विकृत। आहाहा ! सूक्ष्म बात भाई ! आहाहा !

यहाँ तो दोनों के उदयस्थान दोनों को पुद्गल परिणाम में डाल दिया। आहाहा ! समझ में आया ? यह निमित्त-निमित्त सम्बन्ध से हुआ भाव, उसे पुद्गल के परिणाम में डाल दिया। था तो इसका, इसकी पर्याय। वह तो उपादान जड़ का स्वतन्त्र है और यहाँ विकृत अवस्था भी उपादान की पर्याय में स्वतन्त्र है, तब उसके प्रमाण में निमित्त होता है, तथापि यहाँ तो अब....

मुमुक्षु : नैमित्तिक भाव भी पुद्गल...

पूज्य गुरुदेवश्री : हें ! नहीं, वह सब। नैमित्तिक हो वह भी पुद्गल और उसे निमित्त हो, वह भी पुद्गल, यह अपेक्षा लेनी है। सूक्ष्म बात भाई ! वीतराग मार्ग का कोई भी बोल सूक्ष्म, बहुत कठिन है। आहाहा ! यह तो तीन लोक के नाथ... आहाहा !

आज तो यह विचार आया था कि नवतत्त्व में जीवतत्त्व पहला और धर्मास्ति (आदि) छह द्रव्यों के नाम में जीव अन्तिम और कर्म में 'क' पहला और सबमें भगवान आत्मा पहला।

आहाहा! प्रत्येक को जानने के काल में आत्मा ऊर्ध्व न हो तो जाने किसे? आहाहा!

यह यहाँ जाननेवाला भगवान आत्मा, उसकी पर्याय में प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशयोग्य जो पुद्गल के परिणाम हैं, उसे यहाँ निमित्त हो, ऐसी योग्यता स्वयं की पर्याय में उतने प्रकार की योग्यता स्वतन्त्र स्वयंसिद्ध है। आहाहा! वह उसके कारण नहीं। आहाहा! द्रव्य-गुण के कारण नहीं। आहाहा! अरे! ऐसी कठिन बात है।

पर्याय में इतनी योग्यता जितने प्रदेश हैं, वहाँ उतने में निमित्त हो, ऐसी विकृत अवस्था अपनी है। जितना वहाँ अनुभागरस है, स्थिति है, प्रकृति / स्वभाव है, उतने ही प्रमाण में यहाँ विकार की अवस्था योग्यता यहाँ आत्मा में आत्मा के कारण है। वह (कर्म आदि) चीज़ तो अत्यन्त भिन्न है, वह भिन्न है। ऐसा सिद्ध करने के बाद... आहाहा! यह मार्ग भाई! आहाहा! यहाँ तो जीव को नहीं। जो प्रकार सामने में जितने हैं, उतने प्रमाण में निमित्त होने की योग्यता थी, वह जीव को नहीं, ऐसा यहाँ तो सिद्ध करना है। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बातें हैं। आहाहा! **बन्धस्थान वे सर्व ही जीव के नहीं हैं, क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है।**

अब, **अपने फल के उत्पन्न करने में समर्थ... ऐसे जो उदयस्थान...** यहाँ उदयस्थान। है तो पर्याय में इतनी योग्यता का प्रकार जितना उदय हो वहाँ, इतना ही यहाँ प्रकार अपनी पर्याय में है, परन्तु इन दोनों का निमित्त-निमित्तपना व्यवहार से है। परमार्थ से आत्मा में नहीं - ऐसा कहकर ये बन्ध के उदयस्थान जीव की पर्याय में होने पर भी और उदयस्थान जड़ के जड़ में होने पर भी, दोनों के सम्बन्ध को गिनकर ये पुद्गल के परिणाम इन्हें गिनकर जीव के स्वभाव में ये नहीं हैं। आहाहा!

ये जीव के स्वभाव में नहीं हैं। (यह) इसे कब ख्याल में आवे? कि भगवान आनन्दस्वरूप प्रभु की अनुभूति होने पर वे जीव में नहीं, अनुभूति से भी भिन्न है। जीव में नहीं परन्तु अनुभूति से भी भिन्न है। आहाहा! ऐसा वीतराग का मार्ग कहीं नहीं है। सब बातें करते हैं रजनीश और वे सब गप्पागप्प करते हैं। आहाहा! यहाँ तो कहते हैं कि प्रभु आत्मा, पर्याय को आलिंगन नहीं करता। आहाहा! उसके बदले पर का आलिंगन और चुम्बन... अरे प्रभु! गजब किया नाथ! अरे! ऐसी बातें हिन्दुस्तान में-आर्यदेश में!! हैं? आहाहा!

यहाँ तो भगवान आत्मा, आहाहा! विकृत अवस्था को तो स्पर्शता-छूता नहीं, परन्तु अविकृत पर्याय को भी द्रव्य आलिंगन नहीं करता। आहाहा! आहाहा! और वह निर्मल अवस्था भगवान आत्मा को आलिंगन नहीं करती, दोनों चीज़ भिन्न है। आहाहा! अब यह इसे धर्म ऐसा (रजनीश) जैन में प्रोफेसर था। गजब कर डाला। आहाहा! जिसका मोरारजी को भी विरोध करना पड़ा। आहाहा! यह आत्मा प्रभु पर को चुम्बन और आलिंगन... वह तो पर को छूता ही नहीं न, तीन काल में! आहाहा! तीसरी गाथा में नहीं आया यह? पर को परद्रव्य के गुण-पर्याय को... आत्मा अपने द्रव्य-गुण-पर्याय को चुम्बन करे परन्तु पर को तो चुम्बन नहीं करता, स्पर्श नहीं करता, आलिंगन नहीं करता। आहाहा! तीसरी गाथा में आया न! अपने द्रव्य-गुण-पर्याय को स्वयं चुम्बन करता है अर्थात् वहाँ उसमें होता है ऐसा। परन्तु पर को तो स्पर्श भी नहीं करता, पर को स्पर्श कहाँ से करे? पर का तो इसमें अभाव है। आहाहा! यहाँ तो जो कोई पर को पर्याय में चुम्बन करता है, उसकी जो विकृत अवस्था है, आहाहा! उसका द्रव्यस्वभाव तो उसे नहीं चुम्बता परन्तु उस द्रव्यस्वभाव की अनुभूति से वह विकृत अवस्था भिन्न है। आहाहा! इसकी पर्याय की विकृत अवस्था, आहाहा! जीव में नहीं, वे सब पुद्गल के परिणाम गिनने में आये हैं। आहाहा! निमित्त-निमित्त का पूरा सम्बन्ध व्यवहार, सब पर में डाल दिया। आहाहा! समझ में आये उतना समझना, बापू! यह तो पार नहीं होता। भगवान के मार्ग का पार नहीं होता। आहाहा! थोड़ा बहुत जानकर ऐसा हो जाये कि हमने बहुत जाना। बापू! पार नहीं होता, प्रभु! आहाहा!

यहाँ कहते हैं, वे **उदयस्थान, वे सर्व ही जीव के नहीं हैं,...** आहाहा! एक ओर कहे कि उदयस्थान पर्याय में, अपनी पर्याय में है। विकृत के उदय के जितने प्रकार हैं, वे सब, वह तो इसकी पर्याय को पर से भिन्न सिद्ध करने के लिए (कहा है) परन्तु यहाँ तो अब पर्याय-विकृत अवस्था से भिन्न स्वभाव को सिद्ध करना है। आहाहा! **उदयस्थान, वे सर्व ही जीव के नहीं हैं, क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है।** इस स्वभाव का अनुभव हुआ, उसमें वे नहीं आते; इसलिए भिन्न है, ऐसा। आहाहा!

भगवान ज्ञानस्वरूप प्रभु, ज्ञायकस्वरूप का-ज्ञान का-आनन्द का अनुभव होने

पर, उसमें ये विकृत स्थान-उदयस्थान नहीं आते; इसलिए वे पुद्गलमय के परिणाम गिनकर उन्हें अनुभूति से भिन्न गिनने में आया है। आहाहा! २२ हुए।

२३, **गति,...** ये चार गति आत्मा में नहीं है। ये मार्गणास्थान। यह शरीर नहीं, हों! शरीर, वह कोई गति नहीं। यह शरीर मनुष्यगति नहीं। अन्दर पर्याय में जो योग्यता गति की-मनुष्यगति की है, वह गति है। आहाहा! वह गति... वहाँ गमन उस प्रकार का परिणमन है न? चार गति का मनुष्य का देव आदि का, वह गति चार भी जीव में नहीं है। गति की पर्याय उसमें है, गति उसकी पर्याय में-उसमें है। वह गति कर्म के कारण, शरीर के कारण यह शरीर मनुष्यगति, यह शरीर मनुष्यगति नहीं, यह तो जड़ की पर्याय है। मनुष्यगति तो उसे कहते हैं जो मनुष्य के योग्य दशा अन्दर हुई, उसे मनुष्यगति कहते हैं। अब वह है तो इसकी पर्याय में, परन्तु यहाँ तो जीव स्वभाव के वर्णन में तो... आहाहा! ये चारों ही गतियाँ पुद्गल के परिणाम है - ऐसा कहा है। आहाहा! वे जीव में नहीं है। यह गति, जीव में नहीं है। आहाहा!

उसमें आता है न, पंचास्तिकाय में? कर्म पराभव करके भाव होता है, आता है न? आता है कहीं? जहाँ भाव का वर्णन किया है न, ५६-५७ (गाथा) में। उसमें ऐसा आया है। पंचास्तिकाय में, हों! आहाहा! होता है जीव में; है वह जीव में उसकी पर्याय; कर्म उसका नाश, यह सब पर्याय पराभव करता है, पराभव करता है, ऐसा। स्वभाव का नाश करके गति खड़ी करता है - ऐसा निमित्त से (कहा जाता है)। इसलिए फिर वहाँ लोग कहते हैं न, देखो! कर्म के कारण होता है। वह तो दूसरी बात है। सुन न! कर्म पराभव करता है ऐसा कहे, परन्तु वह तो वहाँ स्वयं पराभव होने के योग्य है, उसे कर्म पराभव करता है - ऐसा कहने में आया है। ऐसा है। है न? ५४-५५-५६ गाथा में, पंचास्तिकाय (में)। कर्म उसे पराभव करके ऐसा करता है। वापस गति में करता है। यहाँ तो कहते हैं कर्म है, वह तो निमित्तरूप से है, नामकर्म की प्रकृति है न, वह गति आदि की, वह तो निमित्त है और आत्मा में गति की योग्यता है, वह आत्मा में है परन्तु यहाँ जीव के स्वभाव की अनुभूति के काल में उस गति की योग्यता का भाव उस अनुभूति में नहीं आता। आहाहा!

यह तो अभी सब साधारण बातें हैं। आहाहा! चारगति, यह मार्गणा जीव को नहीं

है। चारगति जीव में नहीं है, आहाहा! वह पुद्गल का परिणाम है, कहते हैं। आहाहा! भगवान ज्ञायक स्वरूप है, चैतन्यस्वरूप प्रभु का अनुभव होने पर वे गति के परिणाम इसकी अनुभूति में नहीं आते। आहाहा! समझ में आया? इसकी गति की योग्यता इसमें होने पर भी, वह जीव के स्वभाव की अनुभूति के काल में वह पर्याय इस अनुभूति में नहीं आती। अरे! ऐसी बातें हैं प्रभु! आहाहा! इससे उस गति के परिणाम को भी पुद्गलद्रव्य के परिणाम कह दिया है। आहाहा! इसे मार्गणास्थान कहते हैं।

इन्द्रिय,... इन्द्रियों की स्थिति आत्मा में नहीं है। पाँच इन्द्रियाँ हैं न? भावेन्द्रिय और द्रव्येन्द्रिय—ये दोनों; ये तो दोनों मार्गणास्थान हैं। पर्याय में शोधने की योग्यता स्वभाव में नहीं। आहाहा! इन्द्रिय-भावेन्द्रिय पर्याय तो आत्मा की पर्याय में है। द्रव्येन्द्रिय जड़ की पर्याय में है, तथापि दोनों को पुद्गल के परिणाम गिनकर... आहाहा! इस जीव में वे नहीं हैं। नहीं तो भावेन्द्रिय आ गयी है ३१ वीं गाथा में। भावेन्द्रिय, द्रव्येन्द्रिय और इन्द्रिय के विषय जीव में नहीं हैं; जीव इनसे भिन्न है-अधिक है, परिपूर्ण है। ३१ वीं गाथा में आया है। **जो इन्द्रिये जिणित्ता**। आहाहा! ये इन्द्रियाँ आत्मा में नहीं है। ये सब पुद्गल के परिणाम हैं। आहाहा! क्यों? कि अनीन्द्रिय ऐसा जो भगवान आत्मा, उसके अनुभव की पर्याय में ये भावेन्द्रिय और द्रव्येन्द्रिय उसमें नहीं आती। उसमें भिन्न रह जाती है। आहाहा! यह तो ४९ (गाथा) में आ गया न? भावेन्द्रिय क्षयोपशमभाव जो है, वह भी आत्मा का स्वभाव नहीं है - ऐसा ४९ में आया है। द्रव्येन्द्रिय है, उसका वह-जीव स्वामी नहीं कि जिससे द्रव्य इन्द्रिय से रस को चखे और सुने आहाहा! तथा भावेन्द्रिय है, वह उसका स्वरूप नहीं, वह क्षयोपशमभाव है, वह इसके स्वभाव की दृष्टि से देखने पर वह क्षयोपशमभाव भी इसका नहीं है। आहाहा! यह ४९ में इससे पहले आ गया है।

काय,... औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस, कार्माण और उनके सब भेद, वे आत्मा में नहीं हैं। औदारिकशरीर काय, वैक्रियिकशरीर वह है, वहाँ उसकी योग्यता तो है तब वहाँ है, सम्बन्ध में शरीर का और इसका सम्बन्ध है इतना निमित्त-निमित्त सम्बन्ध, तब निमित्त की योग्यता तो वहाँ है, शरीर है इसलिए। सम्बन्ध अपनी योग्यता का, वह भी आत्मा में नहीं है। आहाहा! क्योंकि जीव के स्वभाव की अनुभूति की पर्याय में वह नहीं आता। आहाहा! काय।

योग,... मन, वचन और काया का योग, ठीक। योग है तो पर्याय का कम्पन परन्तु वह कर्म के निमित्त के सम्बन्ध से हुआ पुद्गल का परिणाम गिनकर आत्मा में वह नहीं है। आहाहा!

वेद,... द्रव्यवेद और भाववेद दोनों जीव में नहीं है। आहाहा! पर्याय में भले भाववेद हो, द्रव्यवेद तो पर्याय में भी नहीं, वह तो जड़ में है। आहाहा! ये जो शरीर की इन्द्रियाँ, वे तो जड़ की पर्याय है, इस जड़ इन्द्रिय को तो आत्मा स्पर्श भी नहीं करता। आहाहा! अज्ञानी भी, हों! आहाहा! मात्र जो भाववेद है, विकल्प है, वह भी पुद्गल का परिणाम गिनकर, स्वभाव की अनुभूति में वह नहीं है। स्वभाव में नहीं है, वस्तु के स्वभाव में नहीं है, परन्तु 'नहीं' कब हो? कि उसका अनुभव करे, तब कि यह आत्मा ऐसा है। समझ में आया? ऐसी बातें हैं बापू! वीतरागमार्ग लोगों ने साधारण करके चलाया है। यह करो और व्रत पालो, दया करो और....

मुमुक्षु : वे कहते हैं कठिन कर दिया, वहाँ सादा था।

पूज्य गुरुदेवश्री : वस्तु ही यह है। कठिन कहो या अच्छी कहो जो कहो वह। वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है वहाँ। आहाहा! कहो, हिम्मतभाई! आहाहा! हिम्मतभाई! कठिन किया कहते हैं, लोग कहते हैं। वस्तु तो यह है। आहाहा!

वेद की वासना इसकी पर्याय में होने पर भी इसके जीव को जीव का स्वभाव और उसकी अनुभूति में वह आती नहीं; इसलिए उसे भिन्न गिनने में आया है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! वासना है तो इसकी पर्याय में और वह कर्म के-वेद के उदय के कारण नहीं। आहाहा! तथापि वह विकृत अवस्था है। आहाहा! अलिंगग्रहण में आता है न? द्रव्य और भाव वेदरहित है, अलिंगग्रहण है। आहाहा! शैली तो देखो! द्रव्यवेद और भाववेद लिंग है, उससे अलिंगग्रहण है, उससे आत्मा ग्रहण में नहीं आता। आहाहा! आहाहा! यह यहाँ ऐसा कहा। वही अमृतचन्द्राचार्य ने वहाँ अर्थ किया। ये यहाँ अमृतचन्द्राचार्य ने यहाँ यह अर्थ किया। कहते हैं न, दुरुह कर दिया। ऐसा कि यह नहीं... यह नहीं, इतना था, उसमें ऐसा सब विस्तार कर दिया। अब उनका है, उनका वापस जगमोहनलालजी ने गुणगान किया है, उस पुस्तक का अभी आयी है कल। जगमोहनलालजी ने गुणगान किया पुस्तक बहुत अच्छी बनायी है। आहाहा!

वेद,... वेद वह द्रव्य और भाववेद लिंग है, उससे आत्मा ज्ञात हो - ऐसा नहीं; इसलिए अलिंगग्रहण है। यहाँ कहते हैं कि वेद—द्रव्य और भाववेद, वह जीव के अनुभव में नहीं आता, क्योंकि जीव के स्वभाव में नहीं है। इसलिए स्वभाव के अनुभव में वह नहीं आता; इसलिए वह वेदभाव भिन्न है। वह पुद्गल का परिणाम गिनने में आया है। आहाहा! समझ में आया? यहाँ तक आया, वेद तक आया। स्त्री, पुरुष तथा नपुंसक का जो विकल्प उठता है, वह भाववेद है। है तो इसकी पर्याय में, इसके कारण से परन्तु वास्तविक स्वभाव में नहीं है। त्रिकाली ध्रुवस्वभाव की अपेक्षा से देखें तो उस अनुभूति में वह नहीं आता। त्रिकाली स्वभाव का सम्यग्दर्शन-ज्ञान होने पर उसमें वह चीज़ नहीं आती; इसलिए वेद को पुद्गल परिणाम गिनकर भिन्न कहा गया है। आहाहा! अब इतनी निवृत्ति कहाँ! आहाहा! अरे! ऐसा मनुष्यपने का काल मिला, प्रभु! इसमें जैनधर्म बाड़ा मिला, उसमें यह बात समझने की फुरसत न मिले तो कब समझेगा? आहाहा!

कषाय,... क्रोध, मान, माया, लोभ—ऐसे जो कषाय के भाव हैं, उन्हें यहाँ पुद्गल के परिणाम कहा है। आहाहा! पुद्गलद्रव्य के परिणाममय—ऐसा वापस अभेद (किया है)। क्योंकि उस जीव की अपनी अनुभूति, अपना भगवान आत्मा आनन्दकन्द शुद्ध चैतन्य को अनुसरण कर होती अनुभूति में यह अनुसरण नहीं आता, कषाय का भाव उसमें नहीं आता। इसलिए उसे पुद्गल का परिणाम कहकर भिन्न गिनने में आया है। आहाहा! यह टीका अमृतचन्द्राचार्य की टीका!! आहाहा!

ज्ञान,... यह मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय आदि भेद जीव के स्वभाव में नहीं है। आहाहा! भेद है, वह अभेद अनुभव होने पर उसमें यह भेद नहीं आता। क्या कहा? यह सूक्ष्म है। भगवान आत्मा अखण्ड अभेद चैतन्यस्वरूप का अनुभव करने पर, ज्ञान के पाँच भेद उसमें-अनुभूति में नहीं आते, अभेद में भेद नहीं आते; इसलिए उस भेद को (पुद्गल के परिणाम कहा है)। आहाहा! क्योंकि भेद पर लक्ष्य जाने से राग होता है और इसलिए वह भेद का भाव पुद्गल के परिणाम में डालकर... आहाहा! अब ऐसा कहाँ? अरे! नया अत्यन्त अनजाना व्यक्ति हो, उसे (लगता है कि) यह क्या कहते हैं ऐसी बातें? आहाहा! ये ज्ञान के पाँच प्रकार और उसमें अज्ञान के भी प्रकार, ये सब भेद में जाते हैं। अनुभूति

के अभेद में ये भेद नहीं आते। आहाहा! पुस्तक सामने है न? ऐसी बात है। इसे समझना पड़ेगा बापू! महँगी पड़े तो भी इसे समझना पड़ेगा, भाई! अरे! ऐसा अवसर कब मिलेगा? आहाहा! इसे जानना पड़ेगा। पहले ख्याल में-ज्ञान में निर्णय करना पड़ेगा न? अनुभूति बाद में। समझ में आया? ज्ञान में, ज्ञान के ये भेद आत्मा में नहीं है, अभेद की अनुभूति होने पर उसमें भी नहीं है। आहाहा! इसलिए इन्हें पुद्गल का परिणाम कहकर अनुभूति से भिन्न कहा है। आहाहा! गजब बात है! मार्गणास्थान कहे न? यह जीव किस स्थान में है, किस प्रकार में है? कहते हैं कि ये किस प्रकार में है और किस स्थान में है- यह वस्तु में नहीं है। आहाहा! मार्गणा है न? मार्गणा अर्थात् खोजना। यह किस पर्याय में है, किस वेद में है, किस गति में है ऐसा; तथापि ये सब स्थान जीवस्वभाव में नहीं है। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

संयम,... संयम-असंयम के सब भेद लेना। संयम, संयमासंयम, असंयम इतने सब भेद हैं, ये संयमस्थान भी जीव में नहीं है। भेद है, वे नहीं, इतना सिद्ध करना है। है तो भेद इसकी पर्याय में, परन्तु यहाँ चैतन्यस्वभाव एकरूप अखण्ड... आहाहा! उसका अनुभव होने पर, उसके सन्मुख की दशा होने पर ये सब दशायें सब बाहर रह जाती है। आहाहा! समझ में आया? अनुभूति है तो प्रगट पर्याय परन्तु उस अनुभूति की पर्याय में स्वसन्मुख के झुकाववाली दशा है; इसलिए यह भेदवाली दशा अनुभूति से भिन्न है। अनुभूति है तो पर्याय... आहाहा! वह निश्चय से तो उस अनुभूति की पर्याय, द्रव्य में नहीं। यहाँ तो... आहाहा! सिद्ध की पर्याय भी द्रव्य में नहीं। पर्याय, द्रव्य में कहाँ है? पर्याय, पर्याय में है। आहाहा!

मुमुक्षु : द्रव्य का प्रतिभास तो है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : सुनो, सुनो! प्रश्न करने की अपेक्षा (पहले) समझना, जरा इसमें ध्यान रखना, इसमें सब उत्तर आ जाते हैं। वरना इसमें फेरफार हो जायेगा। समझ में आया? आहाहा! ऐसी बात है।

यह संयम के स्थान... आहाहा! ये सब भेद, किस संयम की पर्याय में यह जीव है - ऐसा खोजना, वह वस्तु के स्वरूप में नहीं है। आहाहा! जीव का स्वभाव परिपूर्ण

अभेद, अखण्ड (है)। 'अ' आता है न उसमें, 'अ' पहला आता है। अ, आ, इ, ऊ। इसमें 'क' पहले आता है। आत्मा 'अ' अर्थात् अखण्ड। आहाहा! आहाहा! 'क' और 'अ' आहाहा! ये संयम के स्थान भी पुद्गल के परिणामस्थान गिनकर, आहाहा! द्रव्य का अभेद अनुभव होने पर, उसमें भेद नहीं है; इसलिए पुद्गलस्थान कहे गये हैं।

दर्शन,... चक्षु, अचक्षु, अवधि, केवल - यह दर्शन लेना। समकित की बात बाद में आयेगी। समझ में आया? ये दर्शन के भेद भी... भेद को पुद्गल परिणाम गिनकर, अभेद के अनुभव में ये भेद नहीं आते; इसलिए इन्हें भिन्न गिनने में आया है। आहाहा! यह सूक्ष्म बातें! कषाय का तो ठीक, परन्तु यह तो इसके भेद भी इसमें नहीं-ऐसा कहते हैं। आहाहा! ऐसी बात है। भगवान अखण्ड आनन्द अभेदस्वरूप का अनुभव होने पर ये दर्शन के भेद—चक्षु, अचक्षु, अवधि, केवल—ये भेद उसमें नहीं आते। आहाहा! आहाहा!

लेश्या,... छहलेश्या—कृष्ण, नील, कापोत, तेजो, पद्म, शुक्ल—ये लेश्या तो प्रत्यक्ष मलिन है, उसे भी यहाँ पुद्गल के परिणाम गिनकर अलेशी प्रभु आत्मा के स्वभाव की अनुभूति होने पर ये लेश्या उसमें नहीं आती। आहाहा! तेजो, पद्म, और शुक्ल लेश्या भी अनुभूति में नहीं आती। उनसे अनुभूति नहीं होती। आहाहा! द्रव्य का अखण्डानन्द प्रभु स्वभाव की अनुभूति में ये लेश्या के परिणाम से अनुभूति नहीं; द्रव्य के आश्रय से अनुभूति हुई है। लेश्या के आश्रय से अनुभूति नहीं होती तथा उस अनुभूति में यह लेश्या नहीं आती। उससे होती तो नहीं परन्तु उसके अनुभव में यह नहीं आती। आहाहा! शुक्ललेश्या...

मुमुक्षु : यह तो विकारी पर्याय है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह विकारी दशा है, विकल्प है। आहाहा! आहाहा! लेश्या आत्मा में-अनुभव में नहीं आती। अरे! भव्य और अभव्य दो भेद भी जीव के स्वभाव में नहीं है। ठीक! पर्याय है। भव्यपना और अभव्यपना तो पर्याय है, उस द्रव्य के स्वभाव में यह भव्यपना और अभव्यपना यहाँ पुद्गल के परिणाम गिनकर निकाल दिया है। आहाहा! क्योंकि सिद्ध में अब भव्यपना नहीं रहता; अत: नहीं रहता तो, उसका स्वभाव हो तो रहना चाहिए। आहाहा! जो योग्यता है, वह पूर्ण प्रगट हो गयी है। आहाहा! आहाहा!

सोगानी में भी आता है कि आत्मा भव्य है या अभव्य? यह भव्य-अभव्य रहने दे-

छोड़ दे। सोगानी में आता है, द्रव्यदृष्टि प्रकाश (में आता है)। अपन तो आत्मा ज्ञायकस्वरूप हैं। यह भव्य-अभव्य नहीं। आहाहा!

समकित,... के प्रकार उपशम, क्षायिक और क्षयोपशम तथा मिथ्यात्व सासादन, और उसके सब भेद; ये भेद स्वरूप के अनुभव में नहीं, जीव में नहीं। जीव में नहीं अर्थात् कब उसे नहीं? कि उसका अनुभव करे, तब उसमें-जीव में नहीं - ऐसा इसे ख्याल आया। आहाहा! समकित-क्षायिक समकित की पर्याय जीव में नहीं। उस सर्वविशुद्ध में ऐसा कहते हैं कि पुण्य और पाप जीव है। यह आता है न? सूत्रज्ञान, वह जीव है, प्रव्रज्या, वह जीव है। आहाहा! इसकी पर्याय है, उसका ज्ञान कराया है। यहाँ तो इसके जीव स्वभाव में वे भेद नहीं हैं। आहाहा! आहाहा! ये समकित के भेद जीव के स्वभाव में अनुभूति करने पर भेद अनुभव में नहीं आते। आहाहा!

संज्ञा,... संज्ञी-असंज्ञी यह आत्मा में नहीं है। **आहार...** अनाहार **जिनका लक्षण है ऐसे जो मार्गणास्थान...** मार्गणा अर्थात् खोजना। किस पर्याय में है, किस गति में है, किस लेश्या में है, किस ज्ञान की पर्याय में है - ऐसा खोजना। ये सब शोधक की जो अवस्था। आहाहा! **वे सर्व ही जीव के नहीं हैं,...** ऐसे **जिनका लक्षण है ऐसे जो मार्गणास्थान...** खोजने के प्रकार **वे सर्व ही जीव के नहीं हैं,...** आहाहा! **क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से...** इस भेद पर लक्ष्य जाने से विकल्प उठता है। आहाहा! और अभेद का अनुभव करने पर भेद साथ में नहीं आता। आहाहा! ऐसी बातें! आहाहा! अभेद का अनुभव है तो पर्याय, परन्तु उस अभेद का अनुभव, उस पर्याय में ये भेदभाव नहीं आते। आहाहा! सूक्ष्म विषय है। २९ बोल का घूरा कहा है। आहाहा! २३ हुए।

२४, **भिन्न-भिन्न प्रकृतियों का अमुक मर्यादा तक कालान्तर में साथ रहना जिनका लक्षण है ऐसे जो स्थितिबन्धस्थान...** स्थिति, स्थिति, कर्म की स्थिति है न? वह स्थिति इतनी अवधि रहे। कर्म। आत्मा में भी उसका निमित्तपना है, इतनी स्थिति वहाँ रहे, ऐसी यहाँ आत्मा में भी ऐसी योग्यता की एक स्थिति है, योग्यता है। वह है वह जड़ में है और यह स्थिति के योग्य यहाँ रहा है। वहाँ निमित्तपना है, उसकी योग्यता अपने में है परन्तु उन दोनों को पुद्गल परिणाम गिन दिया है। आहाहा! निमित्त के सम्बन्ध से हुआ भाव भी

निमित्त का गिनकर पुद्‌गलपरिणाम गिन दिया है और आत्मा के-अभेद के स्वभाव से जो अनुभव हुआ, वे परिणाम जीव के हैं - ऐसा कहा। अनुभव... आहाहा! है तो अनुभव परिणाम, आहाहा! परन्तु ये अनुभूति के परिणाम जीव के हैं, ऐसा कहा और वे परिणाम हैं, वे पुद्‌गल के हैं। **ऐसे जो स्थितिबन्धस्थान वे सर्व ही जीव के नहीं हैं क्योंकि वह पुद्‌गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है**। आहाहा!

२५, अब **कषायों के विपाक की अतिशयता...** कर्म का कषाय है, उसका फल / विपाक विशेषपना **जिनका लक्षण है ऐसे जो संक्लेश...** विशेषपना कहना है न? संक्लेशपरिणाम / संक्लेश अशुभभाव, अशुभ के स्थान, वे सब पुद्‌गलद्रव्य के विपाक की अतिशयता से होते स्थान, **वे सर्व ही जीव के नहीं हैं,...** वे अशुभभाव-स्थान हैं अनेक प्रकार के (हैं), वे जीव के स्वभाव में नहीं हैं; इसलिए उसके अनुभव में भी वे नहीं हैं। आहाहा! ऐसा है। यहाँ तो ठीक, अब २६ वाँ कठोर (है)।

(२६) **कषायों के विपाक की मन्दता...** वह अतिशय था न? अतिशय अर्थात् विशेष कठोर उदय था और यहाँ अशुभभाव हुआ, ये दोनों में इकट्ठा डाल दिया। आहाहा! और अब **कषायों के विपाक की मन्दता जिनका लक्षण है ऐसे जो विशुद्धिस्थान...** ये शुभपरिणाम के प्रकार, शुभयोग के भी प्रकार, शुभयोग के परिणाम के प्रकार। आहाहा! **कषायों के विपाक की मन्दता... वे सर्व ही जीव के नहीं हैं क्योंकि वह पुद्‌गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है।**

विशेष कहेंगे....　　　　　　　　　　　　(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १३१　　गाथा-५० से ५५ तथा श्लोक ३७　　दिनाङ्क ०९-११-१९७८, गुरुवार
कार्तिक शुक्ल १०,　वीर निर्वाण संवत् २५०४

समयसार, ५० से ५५ गाथा। २६ वाँ बोल चलता है। क्या कहते हैं? २६ वें में ऐसा कहा कि आत्मा में जो कोई शुभभाव हो—दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा आदि (हो), वह सब पुद्‌गलकर्म के मन्द विपाक का फल है, वह जीव के स्वरूप में नहीं है। आहाहा! कर्म के विपाक का मन्दपना, उसका वह फल है शुभराग-विशुद्धिस्थान कहा। वह राग, आत्मा

के स्वभाव में नहीं है। आहाहा! आत्मा ज्ञायकस्वरूप पूर्ण अभेदस्वरूप में वह राग नहीं, परन्तु यहाँ तो अब लब्धिस्थान भी उसमें नहीं, ऐसा कहना है। सूक्ष्म बात है भाई! सम्यग्दर्शन जो धर्म की पहली सीढ़ी है, उसका विषय आत्मा अभेद है। सम्यग्दर्शन, उस जीव में उसका विषय अभेद है, अभेद की दृष्टि होने पर उसे सम्यग्दर्शन होता है। आहाहा! इसलिए यह राग की क्रिया, वह कोई सम्यग्दर्शन का विषय नहीं है, तथा वह जीव में नहीं है। आहाहा!

यहाँ तो विशेष कहते हैं। २७ वाँ बोल। **चारित्रमोह के विपाक की क्रमशः निवृत्ति...** आहाहा! **जिनका लक्षण है ऐसे जो संयमलब्धिस्थान...** संयम-संयम... जो आत्मा में सम्यग्दर्शन-ज्ञानसहित संयम-जो स्थिरता अन्दर है, उसके लब्धिस्थान-भेद, संयम के भेद। आहाहा! राग तो जीव में नहीं परन्तु लब्धिस्थान संयम के भेद हैं, वह भेद है। भगवान आत्मा अभेद में वह भेद नहीं है। आहाहा! सम्यग्दर्शन उस त्रिकाली अभेद को स्वीकार करता है। इन संयमलब्धि के स्थान को भी वह दृष्टि स्वीकार नहीं करती। आहाहा! ऐसी बातें हैं। अभी तो यहाँ दया-दान-व्रत-भक्ति-तप आदि के परिणाम धर्म हैं-अभी तो ऐसा कहते हैं। आहाहा! वह तो महामिथ्यात्व है। यहाँ तो संयमलब्धि के स्थान जो भेद, वे भेद भी अभेद में नहीं हैं। आहाहा! जिसे भगवान आत्मा / जीव कहते हैं, वह अनन्त... अनन्त... अनन्त... गुण का पिण्ड और वह अभेद है। अभेद अर्थात् सामान्य है। उसमें—जीव में लब्धि के स्थान भी नहीं है। आहाहा! ऐसी बात है।

मुमुक्षु : अपूर्व बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : है? **चारित्रमोह के विपाक की क्रमशः...** क्रमशः **निवृत्ति जिनका लक्षण है...** आहाहा! **संयमलब्धिस्थान...** आहाहा! संयम की प्राप्ति के भेद। आहाहा! वे सब जीव को नहीं हैं, जीव में नहीं हैं, अभेद में वे भेद नहीं हैं। आहाहा! ऐसा सिद्ध करना है। भगवान आत्मा जो सम्यग्दर्शन का विषय जो अभेद। आहाहा! उसमें राग तो नहीं परन्तु लब्धि के स्थान, उस अभेद में नहीं। आहाहा! ऐसी बातें! दुनिया कहाँ पड़ी और कहाँ मानती है और धर्म कहीं रह गया है। आहाहा! ये संयम की निर्मलता के चारित्रमोह की क्रमशः निवृत्ति से... आहाहा! अन्दर में लब्धि के-संयमलब्धि के स्थान

/ भेद, वे जीव को नहीं हैं। अर्थात्? कि जीव की अनुभूति करने पर—सम्यग्दर्शन और अनुभव करने पर, द्रव्यस्वभाव के अभेद की दृष्टि करने पर, अनुभव करने पर, उसमें उसके भेद नहीं आते। ऐसी बात है। वीतराग सर्वज्ञदेव जिनेश्वरदेव का यह फरमान है। आहाहा! आहाहा!

दया, दान, व्रत, तप, भक्ति, पूजा के भाव, यात्रा के भाव तो राग हैं, वे तो आत्मा में नहीं परन्तु चारित्रमोह की क्रम-क्रम से निवृत्तिरूप संयम के लब्धिस्थान-भेद प्रगट हों, आहाहा! वे जीवद्रव्य में नहीं है। यह भेद है, वह जीव में नहीं है क्योंकि **वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से...** आहाहा! भेद है, उस पर लक्ष्य जानने से राग होता है; इसलिए उसे पुद्गलद्रव्य का परिणाम कहा है। आहाहा! संयम की, क्रम-क्रम से राग का अभाव होकर संयम की प्राप्ति के भेद होते हैं, उन्हें यहाँ पुद्गलद्रव्य के परिणाम कहा है। आहाहा! क्योंकि उनका लक्ष्य करने जाये तो विकल्प / राग उत्पन्न होता है और इसलिए उन्हें पुद्गलद्रव्य के परिणाम कहा गया है। आहाहा! ऐसी बात है। जिनवरदेव त्रिलोकनाथ परमेश्वर ऐसा कहते हैं, वह सन्त कुन्दकुन्दाचार्य, अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं। आहाहा!

यहाँ तो व्रत, तप का, भक्ति-पूजा और यात्रा का भाव तो राग है, वह कहीं आत्मा का स्वरूप नहीं और आत्मा में नहीं, वह तो बन्ध का कारण है। आहाहा! परन्तु यहाँ तो लब्धि के स्थान-भेद है। आहाहा! उस पर दृष्टि करने से तो विकल्प होता है; इसलिए कहते हैं कि लब्धि के स्थान जीवद्रव्य में नहीं है। किसे? जीव में नहीं है, ऐसा किसे ख्याल आता है? आहाहा! वे **(अपनी) अनुभूति से भिन्न है**। आहाहा! इसलिए उन्हें भिन्न कहा गया है। ओहोहो! भगवान आत्मा चैतन्यवस्तु जो जिनेश्वर-परमेश्वर ने कही है, वह वस्तु अभेद है। उस अभेद का अनुभव करने से ये भेद स्थान उसमें नहीं आते। आहाहा! राग तो उसमें नहीं आता परन्तु संयम की-पर्याय की लब्धि के भेद, अभेद की दृष्टि में-परमार्थ में वे भेद नहीं आते। आहाहा! इसलिए उन्हें पुद्गलद्रव्य के परिणाम कहा (गया है)। परमात्मा ऐसा कहते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : प्राथमिक शिष्य को क्या करना चाहिए?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कहा न! यह प्राथमिक शिष्य को करना चाहिए। यह जीव

अभेद है, उस पर दृष्टि करना, यह प्रथम में प्रथम जीव का कर्तव्य है। परन्तु क्या हो भाई! आहाहा! आहाहा! यह प्रथम में प्रथम आत्मा को करनेयोग्य हो तो भगवान आत्मा अभेदस्वरूप सामान्य जो ध्रुव है, उसकी दृष्टि करना और उसके भेद के स्थान और राग का उसमें निषेध करना। (वास्तव में तो) निषेध हो जाता है, करना भी नहीं पड़ता वहाँ। आहाहा! सूक्ष्म बात, भाई! प्रथम सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेवाले को, प्रथम धर्म की पहली सीढ़ी सम्यग्दर्शन जिसे प्राप्त करना हो तो... आहाहा! जीव है, वह त्रिकाल ज्ञायकभाव है, उसकी दृष्टि करना। इसलिए दृष्टि के विषय में अभेद में यह व्यवहार का, दया, दान का राग तो इसकी वस्तु में है ही नहीं परन्तु ये भेदस्थान भी उसमें नहीं है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। अरे रे! कहाँ जगत धर्म को मान बैठा और कहाँ धर्म का स्वरूप है! आहाहा! सम्प्रदाय में तो यह कहते हैं-व्रत पालो, दया पालो, भक्ति करो, पूजा करो, पंच महाव्रत पालो... यह सब तो राग है। आहाहा! यह तो जीव के स्वरूप में नहीं। भगवान आत्मा... आहाहा! जिसे प्रथम सम्यग्दर्शन करना हो, उसे प्रथम में प्रथम जीवद्रव्य अभेद है, उसकी दृष्टि करनी पड़ेगी। आहाहा! इसके बिना सम्यग्दर्शन तीन काल-तीन लोक में दूसरे प्रकार से होगा नहीं। ऐसी बात है। क्या हो?

मुमुक्षु : तीव्र पुरुषार्थ किया परन्तु कुछ हाथ में नहीं आता।

पूज्य गुरुदेवश्री : नजर कहाँ डाली है इसने? इसकी नजर बाहर में पड़ी है, विकल्प में और भेद में फँसकर पड़ा है यह। कल नहीं कहा था, दोपहर को आया नहीं था? सूक्ष्म उपयोग में हाथ आता है, तो हाथ नहीं आता, वहाँ सूक्ष्म उपयोग किया ही नहीं। सूक्ष्म बातें हैं बापू! वीतराग जिनेश्वरदेव का मार्ग कोई अलग प्रकार है। आहाहा! पूरी दुनिया से अलग है। अभी तो सम्प्रदाय में चलता है, उससे तो अलग बात है। आहाहा! वस्तु वीतराग त्रिलोकनाथ सीमन्धर भगवान विराजते हैं, महाविदेह में (विराजते हैं)। उन्होंने यह कहा है और सन्त ने वहाँ से लाकर ये शास्त्र बनाये हैं। आहाहा!

चारित्रमोह का विपाक... संयम है न? आहाहा! दर्शनमोह का विपाक ऐसा जो मिथ्यात्व, वह तो जीव में नहीं परन्तु चारित्रमोह के विपाक की निवृत्ति.. आहाहा! प्रवृत्ति -चारित्रमोह प्रवृत्ति तो रागादि है, वह तो पहले कहा, वह राग इस स्वरूप में नहीं।

सम्यग्दृष्टि का विषय जो आत्मा है, उसमें वह नहीं। आहाहा! परन्तु संयमलब्धिस्थान, आहाहा! वे पुद्गल के परिणाम गिने हैं। आहाहा! देखो, यह सन्तों की-दिगम्बर सन्तों की वाणी!! आहाहा! **वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है।** अपनी अनुभूति अर्थात्? आनन्दस्वरूप जो भगवान आत्मा है, उसे अनुसरकर अनुभूति होती है, सम्यग्दर्शन होता है / अनुभूति-ज्ञान होता है और शान्ति का वेदन होता है, ऐसी अनुभूति से वे लब्धि के स्थान भी उसमें-अनुभूति में नहीं आते। आहाहा! ऐसी बातें हैं अब। लोगों को तो बेचारों को ऐसा लगे यह सब निश्चय... निश्चय... निश्चय... उनकी बात सत्य है। निश्चय अर्थात् सत्य और व्यवहार अर्थात् असत्य और उपचार। बात सब है। आहाहा! यहाँ तो लब्धि के स्थान, वह व्यवहार है, उनका भी स्वभाव में अभाव है। आहाहा! कैसे गले उतरे? ऐसे के ऐसे जिन्दगी अज्ञान ही अज्ञान में निकाली डाली और चले जानेवाले हैं। आहाहा!

यहाँ परमात्मा जिनेश्वरदेव सर्वज्ञप्रभु ऐसा कहते हैं, वह सन्त ऐसे आढ़तिया होकर जगत के लिए प्रसिद्ध करते हैं। प्रभु! तू आत्मा किसे कहें, कहते हैं। जीव-अजीव अधिकार है न यह! आत्मा कहें किसे? आहाहा! सामान्य अभेदस्वरूप आत्मा है, जिसमें गुण का भेद भी नहीं, पर्याय का भेद भी नहीं। आहाहा! जिसमें देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा और नौ तत्त्व की श्रद्धा का राग, वह तो राग है, वह तो इसके स्वरूप में नहीं परन्तु यहाँ लब्धिस्थान जो राग की निवृत्ति से होनेवाले लब्धि के भेद, वे पर्याय के भेद हैं। आहाहा! वे सम्यग्दृष्टि को द्रव्य की-अभेद की अनुभूति होने पर उसमें भेद आते नहीं। कहो, देवीलालजी! रात्रि में कोई आया था न उदयपुर से।

मुमुक्षु : हीराभाई के मेहमान थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : हीराभाई आये थे, उनके साथ उदयपुर का कोई आया था। तुम्हें याद किया था परन्तु नहीं थे। आहाहा!

ऐसी बात सुनना भी मुश्किल पड़े ऐसा है। आहाहा! यहाँ परमात्मा और सन्त दिगम्बर मुनि ऐसा जगत के लिए प्रसिद्ध करते हैं कि परमात्मा त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव ऐसा कहते हैं कि जिसे आत्मा दृष्टि में लेना है, वह आत्मा अभेद है, उसे दृष्टि में लेने से,

उसमें लब्धि के स्थान उस अनुभूति में साथ नहीं आते। आहाहा! उसे अनुभूति और सम्यग्दर्शन कहते हैं। आहाहा! अभी तो बात सुनने को नहीं मिलती। अर र! जगत में ऐसा सब विपरीत चलता है, सम्प्रदाय में अकेला विपरीत। आहाहा! अन्यत्र तो कहीं वीतराग के अतिरिक्त है नहीं। आहाहा! यह व्रत करो और अपवास करो, तपस्या करो, और दान दो और मन्दिर बनाओ... आहाहा! ये सब राग की क्रिया है। यह बना नहीं सकता परन्तु इसे भाव होता है तो वह शुभभाव है, राग है। वह राग कहीं धर्म नहीं और वह राग कहीं आत्मा के स्वरूप में नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : आपके निमित्त से तो बहुत मन्दिर बने हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : किसने बनाये? रामजीभाई ने किया है यह सब। प्रमुख के नीचे थे न? छब्बीस लाख का यह मकान (परमागममन्दिर) कौन बनाये? प्रभु! तुझे पता नहीं, यह तो जड़ की पर्याय उस काल में होनी थी, उससे वह हुई। रामजीभाई ने किया नहीं, प्रमुख तो ये थे।

मुमुक्षु : परन्तु मुझे छब्बीस लाख रुपये दे कौन, एक-डेढ़-दो दे नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन दे और कौन ले प्रभु? ये पैसा, मिट्टी, जड़, यह किसी को आत्मा दे, यह वस्तु में नहीं है। मैं जड़ को देता हूँ, यह तो उसका स्वामी हुआ। आहाहा! यह नोट, पैसा, सोना, मोहर दे, वह मैं तुम्हें देता हूँ, वह तो जड़ है, जड़ को तू दे सकता है? जड़ को रख सकता है? आहाहा! कठिन बात भाई! यह पैसा अजीवतत्त्व है, नोट अजीवतत्त्व है, यह जीवतत्त्व उसका स्वामी नहीं। अजीव का स्वामी अजीव है, उसके बदले जीव ऐसा मानता है कि यह पैसा मेरा है और मैं देता हूँ, वह तो मिथ्यादृष्टि मूढ़ है। ए... शान्तिभाई! इन्होंने लाख रुपये दिये थे न? भावनगर (में) सस्ते साहित्य में, इनके भाई ने एक लाख और दूसरे तीस हजार और दूसरे बहुत निकाले हैं। आहाहा! हीरालाल ने अस्सी हजार निकाले थे न? अस्सी हजार निकाले थे न? बीस हजार दूसरे और पच्चीस हजार दूसरे बहुत निकाले हैं। कल आये थे न रात्रि को! यह पैसा कौन दे और कौन ले? बापू! तुझे पता नहीं, ये अजीव के परमाणु एक स्थान से दूसरे स्थान जाते हैं, वे उनकी स्वयं की क्रिया से जाते हैं। जीव ऐसा माने कि मैं इसे देता हूँ... बहुत सूक्ष्म बात, भाई! वह

पुद्गल का–जड़ का स्वामी होता है। जड़ का स्वामी है, वह जड़ है। आहाहा! आहाहा! निर्जरा अधिकार में आता है न यह! यदि राग मेरा है, ऐसा मानूँ तो मैं तो अजीव हो जाऊँ। इसी तरह यह शरीर की क्रिया मैं करता हूँ, यह हिलने–चलने की (क्रिया मैं करता हूँ) तो आत्मा जड़ हो जाये। आहाहा! इसकी मान्यता में यह चैतन्य को भूल गया। आहाहा! पुद्गल का स्वामी / मालिक हुआ। यह तो मिट्टी–जगत की धूल है। आहाहा! इसकी क्रिया हिलने–चलने की मैं करता हूँ, यह बोलने की मैं करता हूँ, यह सब मिथ्याभ्रम है, अज्ञान है।

यहाँ तो इससे आगे ले गये हैं। अजीव तो आत्मा में नहीं; इसलिए अजीव का वह स्वामी नहीं परन्तु उसमें राग नहीं; इसलिए वह राग का स्वामी नहीं; यह तो ठीक, परन्तु भेदस्थान उसमें नहीं; इसलिए वह भेद का स्वामी नहीं; वह तो अभेद का स्वामी है। ए..ई..! ऐसी बात, बापू! वीतरागमार्ग कहीं है नहीं, वीतराग के अतिरिक्त, जिनेश्वर के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं यह मार्ग है ही नहीं कहीं। आहाहा!

यह प्रभु स्वयं आत्मा, जिसका ध्रुव सामान्यस्वरूप है, जिसकी सदृशता, अभेदता जिसका स्वरूप है, उसकी दृष्टि करने पर, अनुभूति करने पर, ये भेदस्थान उसमें नहीं आते। आहाहा! इसलिए इन लब्धि के भेदस्थान को भी पुद्गल के परिणाम कहा गया है। आहाहा! अरे रे! अरे, प्रभु! जन्म–मरण कर–करके तेरा कचूमर निकल गया है प्रभु! अनन्त–अनन्त अवतार निगोद के, यह कुत्ते के, कौवे के भव करके अनन्त अवतार किये, इस मिथ्यात्व के कारण (अनन्त अवतार किये हैं)। आहाहा! एक ही बात है–मिथ्यात्व के कारण... मिथ्यात्व में अनन्त भव करने की ताकत है। आहाहा! यह मिथ्यात्व क्या है? – इसका पता नहीं इसे। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि लब्धि के स्थान–भेद, वह मेरा–अभेद का स्वरूप है—ऐसा माने तो वह मिथ्यात्व है और दया, दान, व्रत, तप, भक्ति और यात्रा के भाव होते हैं, वह मेरा राग है और वह मेरा कर्तव्य है – ऐसा माने वह मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! ऐसा स्वरूप है। यह २७ वाँ बोल हुआ। २७।

२८। (इन गाथाओं में) २९ बोल हैं। २९ बोल का घूरा, वह आत्मा में नहीं है।

आहाहा! भगवान आत्मा आनन्दघन प्रभु, शुद्ध ध्रुव चैतन्यस्वरूप, ऐसा जो अभेद भाव है, उसमें ये भेद और रागादि नहीं है। ऐसी दृष्टि होने पर इसे सम्यग्दर्शन होता है। चारित्र तो अभी कहीं रह गया, वह तो बहुत आगे की बात है, बापू! आहाहा!

२८ (बोल) **पर्याप्त एवं अपर्याप्त ऐसे बादर, सूक्ष्म एकेन्द्रिय,...** एकेन्द्रिय जीव है न? यह नीम, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति, ये सब एकेन्द्रिय जीव हैं। इनके पर्याप्त और अपर्याप्त; ऐसे दो इन्द्रिय के पर्याप्त और अपर्याप्त; पंचेन्द्रिय में आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वास, भाषा और मन, छह पर्याप्ति होती है। एकेन्द्रिय को मन और भाषा नहीं है, चार होती है। ऐसी ये सब पर्याप्त और अपर्याप्त जो है, दो इन्द्रिय पर्याप्त, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय के पर्याप्त, फिर **संज्ञी-असंज्ञी पंचेन्द्रिय जिनका लक्षण है, ऐसे जो जीवस्थान वे सर्व ही जीव के नहीं हैं...** आहाहा! ये जीव के स्थान, पर्याप्त-अपर्याप्त आदि, ये जीवद्रव्य में नहीं है। आहाहा! परमात्मा जिनेश्वरदेव इन्द्रों के समक्ष, गणधरों के समक्ष ऐसा फरमाते थे, वह यह बात है। आहाहा! प्रभु! तुझमें जीव के जो पर्याप्त-अपर्याप्त स्थान हैं-भेद हैं, वे जीव के स्थान हैं। आहाहा! वे जीवस्थान जीव में नहीं है। कहो, शान्तिभाई! कहीं कभी सुनने की दरकार ही नहीं की; ऐसी की ऐसी जिन्दगी मजदूरी कर-करके-यह धन्धा और व्यापार पाप की बड़ी मजदूरी है और निवृत्त हो तो स्त्री-पुत्र के साथ रमे, यह भी पाप की मजदूरी है। आहाहा! पुण्य का भी ठिकाना नहीं, वहाँ धर्म तो कहाँ रहा? आहाहा!

यहाँ तो परमात्मा जिनेश्वरदेव अरिहन्त परमात्मा की वाणी में ऐसा आया। प्रभु! जीव के जितने भेद पर्याप्त और अपर्याप्त कहने में चौदह बोल आते हैं। आहाहा! वे सब तेरे जीवद्रव्य में नहीं है। जीव के भेद जीवद्रव्य में नहीं है। वे तो पर्याय है न! वस्तु में नहीं है। इसलिए इसे वस्तु की दृष्टि करे तो सम्यक्त्व होता है। यह पर्याप्त-अपर्याप्त की दृष्टि है, वह तो पर्यायदृष्टि है। आहाहा! ये **पंचेन्द्रिय जिनका लक्षण है, ऐसे जो जीवस्थान वे सर्व ही जीव के नहीं हैं...** क्यों नहीं? क्योंकि **वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने...** वह तो भेद है, भेद का लक्ष्य जाने से राग होता है; इसलिए पुद्गल के परिणाम है - ऐसा कहा। आहाहा! जीव पर्याप्त है और अपर्याप्त है, पंचेन्द्रिय पर्याप्त है और अपर्याप्त है - ऐसा जो लक्ष्य जाये, वहाँ उसे राग होता है। आहाहा! इसलिए उसे पुद्गल का परिणाम कहकर

जीव की **अनुभूति से वे भिन्न हैं**। आहाहा! भगवान आत्मा को अनुसरणकर अभेद की अनुभूति होने पर, सम्यग्दर्शन होने पर और सम्यग्ज्ञान और शान्ति का अनुभव होने पर, वे जीवस्थान जीव में नहीं है – ऐसा अनुभूति में आता है। आहाहा! ऐसा है। एक तो अभी यह पकड़ना कठिन। आहाहा! ऐसी बातें बापू! यह भव का अन्त लाने की बात है, प्रभु! परिभ्रमण कर-करके कचूमर निकल गया इसका।

'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो।' मुनिपना लिया, पंच महाव्रत पालन किये। मुनिपना अर्थात् बाह्य क्रियाकाण्ड, अट्ठाईस मूलगुण पालन किये, हजारों रानियाँ छोड़ी, परन्तु वह सब तो राग था वह तो... आहाहा! बहुत तो शुक्ललेश्या थी, उससे स्वर्ग गया। 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो पै निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो।' ये पंच महाव्रत के परिणाम, दुःख है, आस्रव है, राग है। आहाहा। कठिन काम। आत्मज्ञान... वस्तु जो यह अभेद कही वह यह, भगवान आत्मा का सामान्य का अनुभव होना, अभेद का अनुभव होना, इसका नाम आत्मज्ञान और आत्मदर्शन कहने में आता है। आहाहा! ये चौदह बोल (जीवस्थान) नहीं।

अन्तिम बोल, अब २९ बोल में अन्तिम बोल। **मिथ्यादृष्टि...** पना वह जीवद्रव्य में नहीं है, पर्याय में है, वह जीवद्रव्य में नहीं है। यह तो अभी सयोगीपना जीव में नहीं है, ऐसा कहेंगे। यह तो फिर ठीक, आहाहा! अलौकिक मार्ग है प्रभु का। आहाहा! जिनेन्द्रदेव (का) इन्द्र एकावतारी जहाँ सुनने बैठते होंगे, वह बात कैसी होगी? आहाहा! दया पालो और व्रत करो, ऐसी बातें तो कुम्हार भी कहता है। आहाहा!

श्रोता : ये २९ बोल एक बार फिर से संक्षिप्त में लो न!

पूज्य गुरुदेवश्री : वे गये, फिर से नहीं आते। यहाँ आते-आते पाँचवाँ महीना चलता है, यह ज्येष्ठ, आषाढ़, श्रावण, भाद्र, आसोज छठवाँ महीना, साढ़े पाँच महीने होंगे। ५५ गाथा, ऐसी तो ४१५ गाथा है। यह तो अठारह बार व्याख्यान में पढ़ा गया है। एक-एक शब्द का अठारह बार (अर्थ हुआ है)। यह तो उन्नीसवीं बार चलता है, तुम्हें वहाँ रहना-भटकना और यहाँ गया, उसे वापस फिर से लो.... देवानुप्रिया! ऐसा है। और इसमें सब आ जाता है। आहाहा! एक-एक लाईन और एक-एक गाथा का भाव एक में सबका भाव वहाँ आ जाता है। आहाहा!

वर्ण जिसमें नहीं, गन्ध नहीं, रस नहीं, स्पर्श नहीं, यहाँ से तो शुरु किया है। अब यह तो यहाँ लेते-लेते चौदह गुणस्थान भी इसमें नहीं। आहाहा! आहाहा! भगवान आत्मा जो सम्यग्दर्शन का विषय अभेद चैतन्यमूर्ति प्रभु, आहाहा! उसमें मिथ्यादृष्टिपना नहीं। उसमें **सासादनसम्यग्दृष्टि,...** सासादन दूसरा गुणस्थान इसमें नहीं। आहा! है न? **सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि,...** तीसरा गुणस्थान, वह जीवद्रव्य में नहीं, वह तो इसकी पर्याय में है, वस्तु में नहीं। आहाहा! फिर **असंयतसम्यग्दृष्टि,...** असंयत सम्यग्दृष्टि चौथा गुणस्थान। अभी असंयत है परन्तु सम्यग्दर्शन है, तथापि असंयतसम्यग्दृष्टि वह पर्याय है; वह द्रव्य में नहीं है। आहाहा! असंयतसम्यग्दृष्टि भी दृष्टि का विषय नहीं है। आहाहा! दृष्टि का विषय तो अभेद चिदानन्द प्रभु है। अरे रे! ऐसे भेद क्या और कहाँ की बातें यह? कितनों को ही तो ऐसा लगता है कि जैन की बातें ऐसी होंगी? परन्तु हमने तो जैन में ऐसा सुना था-व्रत पालो, दया पालो, रात्रिभोजन छोड़ो, छह परखी ब्रह्मचर्य पालो, छह परखी कन्दमूल नहीं खाना और अमुक... अब सुन न! सब बातें तेरी, ये तो सब राग की क्रिया की बातें हैं। आहाहा! जड़ की क्रिया जड़ में, परन्तु अन्दर राग मन्द हो तो वह शुभभाव है; वह कहीं धर्म नहीं और वह धर्म का कारण भी नहीं; धर्म का कारण तो त्रिकाली द्रव्यस्वभाव, वह धर्म का कारण है। आहाहा!

असंयतसम्यग्दृष्टि भी जीवद्रव्य में नहीं है। आहाहा! **संयतासंयत,...** श्रावकपना। सच्चा श्रावक, हों! ये बाड़ा के श्रावक, वे श्रावक नहीं। वे तो सब हैं, उन्हें भी कब पता है कि यह दया क्या, व्रत क्या और आत्मा क्या? यह तो सच्चे संयतासंयत जो सम्यग्दर्शनसहित, जिसे आंशिक स्थिरता भी शान्ति की आयी हो और कुछ असंयत (पना हो) संयतासंयत, ऐसा पंचम गुणस्थान, वह भी जीवद्रव्य में नहीं है, वह तो पर्याय है। त्रिकाल द्रव्य में वह नहीं है। आहाहा! इसलिए वह दर्शन का विषय नहीं है। आहाहा!

प्रमत्तसंयत,... सच्चे मुनि, सच्चे मुनि आत्म-अनुभव - आनन्द के अनुभवसहित जिन्हें शान्ति की स्थिरता बहुत जम गयी हो, जिन्हें अतीन्द्रिय आनन्द का बहुत-प्रचुर अनुभव हो, ऐसे प्रमत्तसंयत वह मुनिपने की दशा भी जीवद्रव्य में नहीं है। आहाहा! क्योंकि वह तो पर्याय है, भेद है, वह जीवद्रव्य के अभेद में वह नहीं है। आत्मा की अनुभूति करने

पर उसमें वह नहीं आता। यह पंचम गुणस्थान या छठवाँ गुणस्थान उस अनुभूति में नहीं आता। आहाहा! ऐसी बात!

अकेला भगवान पूर्णानन्द प्रभु... यह आगे श्लोक में कहेंगे – दूसरा कुछ दिखता ही नहीं, वहाँ एक ही चैतन्यस्वभाव अभेद दिखता है। कलश में कहेंगे। आहाहा! अकेला अभेद चैतन्य, धर्मी जीव को अन्तर अभेदस्वरूप अकेला दिखता है, उसमें ये सब भेद-वेद रागादि दिखते नहीं, वे अजीव हैं। आहाहा!

अप्रमत्तसंयत,... सातवाँ गुणस्थान। जिसे आनन्द में लीनता हो, जिसे पंच महाव्रत के विकल्प भी छूट गये हों, ऐसी अप्रमत्तदशा भी जीवद्रव्य में नहीं है, वह तो पर्याय है। आहाहा! वह अप्रमत्तदशा भी सम्यग्दर्शन का विषय नहीं है। आहाहा! ज्ञान उसे जाने परन्तु दृष्टि है, वह अभेद पर है, उसे (अभेद को) स्वीकार करती है। वह भेद को स्वीकार नहीं करती। आहाहा! ऐसी बातें अब! अनजाने व्यक्ति को तो ऐसा लगे कि यह पंथ नया निकाला होगा? नया नहीं, बापू! अनादि का मार्ग यही है। महाविदेह में यही चलता है, वहाँ परमात्मा विराजते हैं। अप्रमत्तसंयत।

मुमुक्षु : वहाँ से यह मार्ग आया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वहाँ से यह मार्ग आया है। आहाहा!

यह **अपूर्वकरण...** आठवाँ-आठवाँ गुणस्थान, अपूर्वकरण अथवा **उपशमक तथा क्षपक,...** दोनों साथ में और क्षपक। अपूर्वकरण में भी क्षपक, एक उपशम और एक क्षपक दोनों शामिल, ये आत्मा में नहीं हैं, द्रव्यस्वभाव में यह नहीं हैं। चौदह गुणस्थान जीव में नहीं हैं, तब जड़ में होंगे? एक व्यक्ति ऐसा कहता था। आहाहा! अरे, सुन न प्रभु! इसकी पर्याय है, वह द्रव्य में नहीं। दृष्टि का विषय जो अभेद है, उसमें नहीं, पर्याय में हो। आहाहा! ऐसा है।

नौवाँ गुणस्थान **अनिवृत्तिबादर-साम्पराय...** नौवाँ गुणस्थान, **उपशमक तथा क्षपक;...** इसके दो भेद हैं न! और **सूक्ष्मसाम्पराय...** इसके भी **उपशमक तथा क्षपक,...** दो भेद हैं और **उपशान्तकषाय,...** ग्यारहवाँ, ग्यारहवें गुणस्थान की दशा उपशान्तकषाय, वह जीव में नहीं है। आहाहा! (जीवद्रव्य) अभेद है, उसमें ये कहाँ हैं? ये तो पर्याय में हैं। आहाहा!

क्षीणकषाय,... बारहवाँ गुणस्थान, कषाय का नाश होकर कषाय की क्षीण दशा प्रगट हुई, परन्तु वह तो पर्याय में है, वस्तु में नहीं। सम्यग्दर्शन का विषय जो द्रव्य है, उसमें नहीं। सम्यग्दर्शन के साथ ज्ञान होता है, वह ज्ञान जानता है कि इस पर्याय में यह है। आहाहा! ऐसे प्रकार का... इसमें करना क्या? आहाहा! भगवान को और आत्मा को पहचानकर, रागादि-पर्याय को पहचानकर अभेद में जाना, यह इसे करना है। आहाहा! इसके बिना धर्म की शुरुआत भी नहीं होती। लाख तेरी यात्रा कर और लाख भक्ति कर भगवान की, करोड़ों -अरबों रुपये खर्चकर मन्दिर बना, उसमें कोई धर्म नहीं है। आहाहा!

सयोगकेवली... जीवद्रव्य में नहीं है। तेरहवाँ गुणस्थान केवली का, सयोगकेवली परमात्मा, वह पर्याय में है; वह द्रव्य में नहीं। आहाहा! ओहो! अपने गाते थे, नहीं? लाठीवाले तलकचन्दभाई (गाते थे)। तेरहवाँ गुणस्थान तेरा नहीं। मोटे थे और गाते थे। आहाहा! आहाहा! सयोगकेवली, आहाहा! योगसहित जो कम्पनसहित केवली परमात्मा, वह पर्याय है, वह द्रव्य में नहीं। पर्याय, पर्याय में है; वह द्रव्य में नहीं। आहाहा! और वह पर्यायदृष्टि छुड़ाने को द्रव्य में नहीं, वह द्रव्यदृष्टि कराने को यह बात है। आहाहा! अरे! **अयोगकेवली...** चौदहवाँ गुणस्थान, पाँच अक्षर रहे अ, आ, इ, उ, ओ... वह भी पर्याय है। आहाहा! वह द्रव्य में नहीं। आहाहा!

जिनका लक्षण है, ऐसे जो गुणस्थान वे सर्व ही जीव के नहीं हैं... आहाहा! अर्थात्? **क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है।** स्वद्रव्य का अनुभव करने पर वे भेद उसमें नहीं आते। आहाहा! अरे, ऐसी बातें अब! यह वीतराग जिनदेव, जिनदेव जिनेन्द्र प्रभु का यह हुकम है। आहाहा! वाड़ा में ५०-५०, ६०, ७०-७० वर्ष निकाले हों, उन्होंने भी सुना न हो। सत्य सुना न हो, ऐसा कहा। सत्य तो है नहीं। आहाहा! अरे रे! जिन्दगी अज्ञान ही अज्ञान में ऐसे अवतार अनन्त किये, उसका अन्त नहीं आया। वे जीवद्रव्य में नहीं हैं, ऐसी दृष्टि होने पर भव का अन्त आ जाता है। आहाहा! भगवान आत्मा अभेद चैतन्यघन, ध्रुव सामान्य सदृश एकरूप की दृष्टि होने पर सम्यग्दर्शन होने पर, वहाँ उसे भव का अन्त आ जाता है। आहाहा! इसके बिना भव का अन्त कहीं नहीं आता। आहाहा!

वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है। वे जीवद्रव्य जो ज्ञायकभाव अकेला ज्ञानस्वभावभाव-सर्वज्ञस्वभावभाव, उसकी अनुभूति होने पर... अनुभूति वह पर्याय है, है वह पर्याय परन्तु उस त्रिकाल का अनुभव पर्याय में होने पर वे भेद नहीं आते। आहाहा! ऐसी बातें हैं। इसलिए लोग फिर (ऐसा कहते हैं) ए...ई! सोनगढ़ का निश्चयाभास है। सब पता है बापू! तुम सब पूरी दुनिया क्या कहती है। ये व्यवहार को मानते नहीं और व्यवहार से होता है। व्यवहार आया नहीं? है नहीं? परन्तु है उससे धर्म हो और उसके आश्रय से लाभ हो, ऐसा नहीं है। व्यवहार आया, तब उसका निषेध होता है। आहाहा! देवीलालजी! चौदह गुणस्थान है; है-ऐसा कहा। यह क्या हुआ? पर्याय में यह व्यवहार है परन्तु इसका आश्रय करनेयोग्य नहीं है। आहाहा! **(इस प्रकार ये समस्त ही पुद्गलद्रव्य के परिणाममय भाव हैं;....)** पुद्गल परिणाममय भाव हैं। देखा? **(वे सब जीव नहीं हैं। जीव तो परमार्थ से चैतन्यशक्तिमात्र है।)** आहाहा! चैतन्यस्वभाव... स्वभाव... स्वभाव... चैतन्यस्वभाव... ध्रुवस्वभाव... ज्ञायकस्वभाव... चैतन्यस्वभाव, वह जीव है। आहाहा! उसे-ऐसे जीव को अन्तर में मानना, अनुभव करना इसका नाम सम्यग्दर्शन और ज्ञान है। आहाहा!

कलश-३७

अब, इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :—

वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा
भिन्ना भावाः सर्व एवास्य पुंसः।
तेनैवांतस्तत्त्वतः पश्यतोऽमी।
नो दृष्टाः स्युर्दृष्टमेकं परं स्यात्।।३७।।

श्लोकार्थ - [वर्ण-आद्याः] जो वर्णादिक [वा] अथवा [राग मोह-आदयः वा] रागमोहादिक [भावाः] भाव कहे [सर्वे एव] वे सब ही [अस्य पुंसः] इस पुरुष (आत्मा) से [भिन्नाः] भिन्न हैं [तेन एव] इसलिए [अन्तःतत्त्वतः पश्यतः] अन्तर्दृष्टि

से देखनेवाले को [अमी नो दृष्टाः स्युः] यह सब दिखायी नहीं देते, [एकं परं दृष्टं स्यात्] मात्र एक सर्वोपरि तत्त्व ही दिखायी देता है - केवल एक चैतन्यभावस्वरूप अभेदरूप आत्मा ही दिखायी देता है।

भावार्थ - परमार्थनय अभेद ही है इसलिए इस दृष्टि से देखने पर भेद नहीं दिखायी देता; इस नय की दृष्टि में पुरुष चैतन्यमात्र ही दिखायी देता है। इसलिए वे समस्त ही वर्णादिक तथा रागादिक भाव पुरुष से भिन्न ही हैं।

ये वर्ण से लेकर गुणस्थान पर्यन्त जो भाव हैं, उनका स्वरूप विशेषरूप से जानना हो तो गोम्मटसार आदि ग्रन्थों से जान लेना ॥३७॥

कलश - ३७ पर प्रवचन

कलश कहते हैं? **अब, इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :**

वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा
भिन्ना भावाः सर्व एवास्य पुंसः।
तेनैवांतस्तत्त्वतः पश्यतोऽमी।
नो दृष्टाः स्युर्दृष्टमेकं परं स्यात्॥३७॥

आहाहा! **जो वर्णादिक अथवा रागमोहादिक...** वर्ण आया। ऐ देवानुप्रिया! यह वर्ण आया, पहले से आया यह। वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, संहनन और संस्थान से लेकर वर्ण, गन्ध और राग, द्वेष, मोह, दया, दान, व्रत आदि के परिणाम जो भाव कहे, वे सब '**अस्य पुंसः**' '**अस्य पुंसः**' इस परमात्मा... पुंस अर्थात् पुरुष। आहाहा! '**अस्य पुंसः**' **इस पुरुष (आत्मा) से...** पुरुष अर्थात् भगवान आत्मा से, **भिन्न है...** भिन्न है। आहाहा! परन्तु वेदान्त की तरह वह पर्याय है ही नहीं, ऐसा नहीं है। **भिन्न है...** परन्तु जीवद्रव्य के अभेद में वह नहीं है। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बातें! लो! **इसलिए** '**अन्तःतत्त्वतः पश्यतः**' **अन्तर्दृष्टि से देखनेवाले को...** अन्तरभगवान ज्ञायकस्वभाव जो है, उस अन्तः तत्त्व को देखनेवाले को, आहाहा! वे तो (वर्णादि-रागादि) सब बाह्यतत्त्व हैं, कहते हैं पर्यायतत्त्व है। आहाहा! **अन्तर्दृष्टि से देखनेवाले को...** सम्यग्दृष्टि और सम्यग्ज्ञान के अनुभव में अन्तर्दृष्टि

द्वारा देखनेवाले को '**अमी नो दृष्टाः स्युः**' **यह सब दिखायी नहीं देते,... यह** '**अमी**' यह '**नो दृष्टाः**' '**नो दृष्टा**' **दिखायी नहीं देते,...** आहाहा!

यह क्या कहा? कि वर्णादि, गुणस्थानादि, ये सब जीव में नहीं है। किसे? कहाँ? कि जो अन्तर्दृष्टि से अन्दर में आत्मा को देखता है, उसमें उसे ये दिखायी नहीं देते। आहाहा! ऐसा स्वरूप है। परमेश्वर-जिनेश्वर त्रिलोकनाथ ऐसा पुकारते हैं। प्रभु! जो आत्मा अन्तर वस्तु है, उसे अन्तर में देखनेवाले को ये रागादि और भेद उसमें दिखायी नहीं देते। आहाहा! इसलिए इन्हें अजीव कहा गया है। आहाहा! थोड़ा भी इसे सत्य होना चाहिए, बड़ी लम्बी-लम्बी बातें करे और सत्य का ठिकाना नहीं हो... आहाहा! ओहो! क्या कहा? **अन्तर्दृष्टि से देखनेवाले को** '**अन्तःतत्त्वतः पश्यतः**'... अन्तर का तत्त्व ज्ञायकभाव जो तत्त्व-आत्मा, उसे देखनेवाले को... वह अनुभूति से भिन्न कहा न, वह यह शब्द लिया। '**अन्तःतत्त्वतः पश्यतः**'... आहाहा! भगवान पूर्णानन्द का नाथ अनन्त गुण का बादशाह, ऐसा जो प्रभु आत्मा... यह आत्मा प्रभु, हों! यह '**अन्तःतत्त्वतः**'... **अन्तर्दृष्टि से देखनेवाले को...** अर्थात् सम्यग्दृष्टि को-अन्तर (स्वरूप को) देखनेवाले को, आहाहा! उसमें ऐसे भेद दिखायी नहीं देते। अन्तर के अनुभव में ये नहीं आते, इसलिए ये दिखायी नहीं देते। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

अन्तर्दृष्टि से देखनेवाले को... एकदम संक्षिप्त कर दिया है कि ये सब भेद क्यों नहीं? कि अन्तर्दृष्टि से भगवान को जहाँ अनुभवते हैं, उसमें ये नहीं आते; इसलिए ये भिन्न हैं, उसमें ये दिखायी नहीं देते, अभेद में भेद दिखायी नहीं देते। आहाहा! यह सातवीं गाथा में आ गया है। अभेद में भेद दिखायी नहीं देते। भेद हैं अवश्य। आहाहा! वे **अन्तर्दृष्टि से...** आहाहा! '**अन्तःतत्त्वतः पश्यतः**' अन्दर में तत्त्व को देखनेवाले को, अन्दर के तत्त्व को देखनेवाले को, ज्ञायकस्वभाव जो भगवान परिपूर्ण प्रभु-वर्तमान परिपूर्ण प्रभु आत्मा, ऐसे अन्तःतत्त्व अर्थात् स्वरूप को देखनेवाले को। आहाहा! '**अमी नो दृष्टाः स्युः**' ये सब दिखायी नहीं देते। आहाहा!

वेदान्त ऐसा कहता है कि आत्मा के अतिरिक्त दूसरा कुछ है ही नहीं। जगत् मिथ्या-ऐसा नहीं है। अन्तर अनुभव में वह दिखायी नहीं देता; इसलिए वह नहीं है, बाकी

उसमें (वह) है। आहाहा! वेदान्त कहता है, एक ही आत्मा सर्वव्यापक, बस! पर्याय-फर्याय ऐसा कुछ नहीं। यह बात एकदम मिथ्या है। आहाहा! यह तो सर्वज्ञ परमात्मा जिनेश्वरदेव ने कहा हुआ मार्ग वह अन्यत्र कहीं नहीं है। इन वेदान्त ने आत्मा की बड़ी-बड़ी बात की है, इतनी अधिक की है, वह तो ऐसा है और ऐसा है, सब एकान्त है। पर्याय को माया (कहते हैं)। अनुभूति होना, वह तो पर्याय है और पर्याय में है तो अन्तर्दृष्टि द्वारा देखनेवाले को उसमें वह नहीं है, उसमें-पर्याय में है। आहाहा! ऐसा बहुत सूक्ष्म। दया पालना हो तो समझ में आये, पैसा दान देना हो तो समझ में आये। पाँच-पच्चीस हजार... एई! लाख-दो लाख दे दूँ, एई! कौन दे, यह कोई करोड़ हो तो कहीं करोड़ नहीं दे देगा, अमुक दे-लाख-दो लाख बहुत हुआ हो तो। आहाहा! तो उसमें राग की मन्दता हो तो पुण्य है, वह आत्मा का स्वभाव नहीं है, वह आत्मा का धर्म नहीं है। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

आहाहा! **अन्तर्दृष्टि से देखनेवाले को 'अमी' यह 'नो दृष्टाः स्युः' सब दिखायी नहीं देते,...** दिखायी नहीं देते। **'नो दृष्टाः स्युः'** आहाहा! तब क्या दिखायी देता है? अन्तर्दृष्टि से देखनेवाले को, आहाहा! अन्तर तत्त्व भगवान आत्मा को देखनेवाले को **'एकं परं दृष्टं स्यात्' मात्र एक सर्वोपरि तत्त्व ही दिखायी देता है...** आहाहा! मात्र **'एकं परं दृष्टं स्यात्' मात्र एक सर्वोपरि...** भगवान ज्ञायकस्वरूप ध्रुव ही पर्याय में दिखायी देता है। पर्याय में दिखता है न!

सर्वोपरि तत्त्व ही... देखा? एकान्त किया। आहाहा! **सर्वोपरि तत्त्व ही दिखायी देता है...** अर्थात् **केवल एक चैतन्यभावस्वरूप अभेदरूप...** भाषा देखो! केवल एक, सर्वोपरि तत्त्व का अर्थ किया-एक किया न! एक किया न, एक सर्वोपरि तत्त्व का अर्थ किया-**केवल एक चैतन्यभावस्वरूप अभेद...** केवल एक चैतन्यभाव... चैतन्यभाव... चैतन्यभाव-ऐसा **अभेदरूप आत्मा ही दिखायी देता है**। अभेदरूप भगवान अन्दर आत्मा-अभेद आत्मा ही दिखता है। आहाहा! आहाहा! कितनी मीठी सरल भाषा! अन्तर (में) देखनेवाले को दूसरा कुछ दिखायी नहीं देता। एक आत्मा अभेद है, वह दिखायी देता है। आहाहा!

भावार्थ : परमार्थनय अभेद ही है... देखा? परमार्थनय त्रिकाल अभेद को देखता

है, वह परमार्थनय ही अभेद है, ऐसा यहाँ तो कहा। अभेद को देखता है, ऐसा भी नहीं, भाई ! आहाहा ! **परमार्थनय अभेद...** स्वरूप है। आहाहा ! '**भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ**' नहीं कहा ? ग्यारहवीं गाथा में। भूतार्थ वह शुद्धनय है, शुद्धनय का विषय है, ऐसा भी वहाँ तो नहीं कहा। अभेद.. अभेद.. वस्तु वह शुद्धनय है। ऐसा यहाँ कहते हैं, परमार्थनय **परमार्थनय अभेद ही है...** परमार्थनय का विषय अभेद है, ऐसे दो भेद न करके... आहाहा ! **इसलिए इस दृष्टि से देखने पर भेद नहीं दिखायी देता; इस नय की दृष्टि में पुरुष चैतन्यमात्र ही दिखायी देता है।** आहाहा ! दृष्टि में पुरुष... **पुंस** है न ? पुंस लिखा है न ? पुंस अर्थात् पुरुष, अर्थात् आत्मा, चैतन्यमात्र दिखता है। **इसलिए वे समस्त ही वर्णादिक तथा रागादिक भाव पुरुष से भिन्न ही हैं।** आत्मा से भिन्न है, आहाहा ! परन्तु भिन्न है। अभेद में भेद दिखते नहीं, इसलिए उन्हें आत्मा में नहीं है – ऐसा कहा गया है।

विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)

गाथा ५६

ननु वर्णादयो यद्यमी न संति जीवस्य तदा तन्त्रांतरे कथं संतीति प्रज्ञाप्यंते इति चेत्–

ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमादीया।
गुणठाणंता भावा ण दु केई णिच्छयणयस्स।।५६।।

व्यवहारेण त्वेते जीवस्स भवंति वर्णाद्याः।
गुणस्थानांता भावा न तु केचिन्निश्चयनयस्य।।

इह हि व्यवहारनयः किल पर्यायाश्रितत्वाज्जीवस्य पुद्‌गलसंयोगवशादनादिप्रसिद्ध-बंधपर्यायस्य कुसुम्भरक्तस्य कार्पासिकवासस इवौपाधिकं भावमवलंब्योत्प्लवमानः परभावं परस्य विदधाति। निश्चयनयस्तु द्रव्याश्रितत्वात्केवलस्य जीवस्य स्वाभाविकं भावमवलंब्योत्प्लवमानः परभावं परस्य सर्वमेव प्रतिषेधयति। ततो व्यवहारेण वर्णादयो गुणस्थानान्ता भावा जीवस्य सन्ति निश्चयेन तु न सन्तीति युक्ता प्रज्ञप्तिः।

अब शिष्य पूछता है कि—यदि वह वर्णादिक भाव जीव के नहीं हैं तो अन्य सिद्धान्तग्रन्थों में ऐसा कैसे कहा गया है कि 'वे जीव के हैं?' उसका उत्तर गाथारूप में कहते हैं—

वर्णादि गुणस्थानांत भाव जु, जीव के व्यवहार से।
पर कोई भी ये भाव नहिं हैं, जीव के निश्चयविषैं।।५६।।

गाथार्थ - [एते] यह [वर्णाद्याः गुणस्थानांताः भावाः] वर्ण से लेकर गुण-स्थानपर्यन्त जो भाव कहे गये वे [व्यवहारेण तु] व्यवहारनय से तो [जीवस्य भवंति] जीव के हैं (इसलिए सूत्र में कहे गये हैं), [तु] किन्तु [निश्चयनयस्य]

निश्चयनय के मत में [केचित् न] उनमें से कोई भी जीव के नहीं हैं।

टीका - यहाँ व्यवहारनय पर्यायाश्रित होने से, सफेद रूई से बना हुआ वस्त्र जो कि कुसुम्बी (लाल) रंग से रंगा हुआ है ऐसे वस्त्र के औपाधिक भाव (लाल रंग) की भाँति, पुद्गल के संयोगवश अनादि काल से जिसकी बंधपर्याय प्रसिद्ध है ऐसे जीव के औपाधिक भाव (वर्णादिक) का अवलम्बन लेकर प्रवर्तमान होता हुआ, (वह व्यवहारनय) दूसरे के भाव को दूसरे का कहता है, और निश्चयनय द्रव्याश्रित होने से, केवल एक जीव के स्वाभाविक भाव का अवलम्बन लेकर प्रवर्तमान होता हुआ, दूसरे के भाव को किंचित्मात्र भी दूसरे का नहीं कहता, निषेध करता है। इसलिए वर्ण से लेकर गुणस्थान पर्यन्त जो भाव हैं, वे व्यवहारनय से जीव के हैं और निश्चयनय से जीव के नहीं हैं - ऐसा (भगवान का स्याद्वादयुक्त) कथन योग्य है।

प्रवचन नं. १३२ गाथा-५६-५७ दिनाङ्क १०-११-१९७८, शुक्रवार
कार्तिक शुक्ल ११, वीर निर्वाण संवत् २५०४

---

५६ गाथा है। यह तो गुणस्थानपर्यन्त के भाव गोम्मटसार ग्रन्थ में से देख लेना, ऐसा। **अब शिष्य पूछता है कि—यदि वह वर्णादिक भाव जीव के नहीं हैं...** देखो, यहाँ जड़ की पर्याय से लिया है, हों! जड़ की पर्याय, चेतन की पर्याय और भेद तीनों, ये जीव के नहीं हैं। आहाहा! **तो अन्य सिद्धान्तग्रन्थों में ऐसा कैसे कहा गया है कि 'वे जीव के हैं?' उसका उत्तर गाथारूप में कहते हैं—**

ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमादीया।
गुणठाणंता भावा ण दु केई णिच्छयणयस्स।।५६।।

वर्णादि गुणस्थानांत भाव जु, जीव के व्यवहार से।
पर कोई भी ये भाव नहिं हैं, जीव के निश्चयविषैं।।५६।।

आहाहा! **टीका - यहाँ व्यवहारनय पर्यायाश्रित होने से,...** आहाहा! जड़ की पर्याय वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, उसे भी यहाँ से रहित, वह तो रहित है परन्तु उसकी पर्याय में जो गुणस्थान आदि के भेद पड़ते हैं, वे भी पर्यायनय का विषय है। है, पर्यायाश्रित है,

वह है और उसमें लब्धिस्थान आदि के भेद, वे भेद हैं। आहाहा! अर्थात् जड़ की पर्याय, अपनी विकार आदि की अथवा गुणस्थान आदि की पर्याय और लब्धिस्थान आदि के भेद की पर्याय / भेद, ये तीनों पर्यायाश्रित होने से - ऐसा कहते हैं। ये तीनों पर्यायाश्रित हैं। आहाहा! क्या कहा, समझ में आया? वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, संहनन, संस्थान, जड़ की पर्याय, फिर आत्मा की पर्याय में होनेवाले गुणस्थान, जीवस्थान आदि और आत्मा में लब्धिस्थान, चारित्रमोह की प्रकृति की निवृत्तिरूप ये भेद हैं, विकार नहीं। है भेद। भेद, विकारी आदि भेद और निमित्त पर्याय, तीनों पर्यायाश्रित होने से -यहाँ तो ऐसा कहा। आहाहा!

मुमुक्षु : पर्यायाश्रित का अर्थ क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय कहा न वह, उस जड़ की पर्याय भी पर्यायाश्रित, गुणस्थान भी पर्यायाश्रित है और जो भेद पड़ता है, वह भी पर्यायाश्रित; इसलिए तो तीन लिये। आहाहा! इसलिए आ गया न यह?

यह तो कहते हैं न कि निश्चयनय सिद्ध को होता है, तो यहाँ तो कहते हैं, स्वरूप के आश्रय से जो निश्चय अनुभूति करता है तो निश्चय में वह नहीं। आहाहा! अन्दर भगवान आत्मा चैतन्यज्ञायक... ज्ञायक, क्यों कहा? ऐसे तो वह पारिणामिकभाव है परन्तु पारिणामिकभाव तो परमाणु में भी है, धर्मास्तिकाय में भी है। उनसे भिन्न करने को ज्ञायक, ज्ञायक पारिणामिकभाव ऐसा, जो त्रिकाली ज्ञायक, ध्रुव ज्ञायकभाव। आहाहा! उसका, उसके आश्रय से अनुभव करने पर, उस अनुभूति में वे भेद / पर्याय जीव की और जड़ की, वे तीनों उसमें नहीं आते। आहाहा! ऐसी बात है।

ऐसा अब कहाँ विचारना! बहुत सूक्ष्म बात है। यह चैतन्यज्ञायकभाव की सन्मुखता से अनुभव करने पर, वह निश्चय हुआ। तब वे कहते हैं निश्चय सिद्ध को होता है, नीचे व्यवहार होता है...

मुमुक्षु : श्रुतज्ञान कहाँ है कि नय हों?

पूज्य गुरुदेवश्री : इतना अधिक अन्तर और उस पुस्तक की स्थानकवासियों ने प्रंशसा की। वह विद्यानन्दजी की ओर से प्रकाशित समयसार, मेरे प्रति ऐसा लेख आया है। वैसे बलभद्र ने प्रकाशित किया है और विद्यानन्दजी का नाम है। विद्यानन्दजी का, ऐसा

कि इस पुस्तक की स्थानकवासियों ने प्रशंसा की, तेरापंथियों ने प्रशंसा की, श्वेताम्बरों ने प्रशंसा की, दिगम्बरों ने प्रशंसा की। अब तुम क्या कहते हो? अब क्या कहें, तेरी (बात) अत्यन्त विरुद्ध तत्त्व है-वह निश्चयनय सिद्ध को होता है—ऐसा कहा है, व्यवहारनय साधक को होता है - ऐसा कहा है। आहाहा! साधक को व्यवहार ही होता है, बस! कहो, अब ऐसा बड़ा पूर्व-पश्चिम का अन्तर है।

यहाँ तो कहते हैं कि निश्चयनय... ऐसा निश्चयनय है न, पाठ में है न, देखो न! आहाहा! आया न - **ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमादीया। गुणठाणंता भावा ण दु केई णिच्छयणयस्स।** ५६ गाथा। तो किसे? सिद्ध को? आहाहा! क्योंकि वापस व्यवहार पर्याय में है, वह तो ज्ञानी को भी है। है? आहाहा! व्यवहार है, वह जाननेयोग्य है और निश्चय है, वह आदरणीय है। आहाहा! इस प्रकार भगवान का स्याद्वाद वचन है। त्रिकाली ज्ञायकभाव शुद्ध चैतन्यघन प्रभु! आहाहा! परमपारिणामिकभाव! ऐसा निज द्रव्य। निज द्रव्य कहा न, वहाँ ३२० में - परमपारिणामिकभाव लक्षण ऐसा निज परमात्मद्रव्य वह मैं हूँ। आहाहा! सकल निरावरण भगवान द्रव्यस्वभाव। बहुत सूक्ष्म बात, बापू! जगत को... सकल निरावरण द्रव्य ज्ञायकभाव वह अखण्ड एक अविनाशी, अविनश्वर प्रत्यक्ष प्रतिभासमय शुद्धपारिणामिकपरमभावलक्षण ऐसा जो निज परमात्मद्रव्य वह मैं हूँ—ऐसा धर्मी अपने आत्मा को ऐसा भाता है। आहाहा!

पर्याय में विकसित खण्ड-खण्ड निर्मल पर्याय हुई है, परन्तु वह खण्ड-खण्ड है। आहाहा! तो निर्मल पर्याय को भी यहाँ भेद में डाल दिया है - लब्धिस्थान आदि। आहाहा! जिसे आत्मा वस्तुस्वरूप अकेला परमानन्द प्रभु, ऐसी दृष्टि करके जहाँ अनुभव करता है तो वह अनुभूति उस निश्चय के आश्रय से हुई है। है? तो नीचे चौथे से निश्चय है। अब प्रभु क्या करे। अब ऐसे समयसार प्रकाशित करे और सब सम्प्रदायों को ठीक लगे...!

मुमुक्षु : निश्चयनयाश्रित मुनिवरों प्राप्ति करे निर्वाण की।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो फिर ऐसा कहे, निश्चयनयाश्रित आगे जाने पर, परन्तु यहाँ तो यह स्वाश्रित निश्चय। यहाँ सिद्ध क्या करना है? इसलिए निश्चयनय ५६ में पाठ लिया है, तो निश्चयनय कौन सा? कि जो त्रिकाली ज्ञायकभाव को अवलम्ब कर अनुभव

करे, वह निश्चयनय है। यहाँ तो चौथे से निश्चय शुरु होता है। आहाहा! और आगे आता है न उसमें-स्वाश्रित निश्चय-पराश्रित व्यवहार, तो स्वाश्रित निश्चय सिद्ध को है? अरे प्रभु! तुझे अभी उसकी-वस्तु के स्वरूप की स्थिति है, उसका ज्ञान भी झूठा है। आहाहा!

आहाहा! भगवान आत्मा... यहाँ तो पर्याय को और निश्चयनय को दोनों को सिद्ध किया है। ५६ (गाथा) में। निश्चयनय से इसके नहीं, ऐसा कहा, परन्तु व्यवहारनय से इसे वर्णादि की पर्याय का सम्बन्ध है, व्यवहार से, आहाहा! निमित्त और भेद है, गुणस्थान-जीवस्थान आदि का और लब्धिस्थान आदि भेद है, परन्तु इस अनुभव में वह भेद और पर्याय तथा जड़ की पर्याय आती नहीं। आहाहा! इसलिए अनुभूति से भिन्न (कहा है)। जीवद्रव्य से तो भिन्न है, परन्तु जीवद्रव्य से भिन्न-इसे कब ख्याल में आवे? आहाहा! कि उसका अनुभव करे, सन्मुख होकर (अनुभव करे), तब इसे जीवद्रव्य में... अनुभूति में नहीं तो जीवद्रव्य में नहीं। आहाहा! सम्यग्दर्शन होने पर, आहाहा! उस अखण्ड अभेद का दर्शन होने पर उसमें भेद, पर्याय, राग और संहनन की पर्याय है नहीं। आहाहा! परन्तु पर्यायनय से देखें तो... आहाहा! वह यहाँ आया न, यहाँ देखो न टीका! **व्यवहारनय पर्यायाश्रित होने से,...** आहाहा! बहुत अलौकिक बातें हैं, बापू! वीतराग सर्वज्ञपरमेश्वर त्रिलोकनाथ यह कहते हैं, उसे सन्त जगत के लिये प्रसिद्ध करते हैं। आहाहा!

अरे रे! **सफेद रूई से बना हुआ वस्त्र...** है। सफेद रुई का बना हुआ वस्त्र, वह निश्चय, **कुसुम्बी (लाल) रंग से रंगा हुआ है...** आहाहा! आहाहा! दृष्टान्त कैसा दिया है, देखो! यह तो अमृतचन्द्राचार्य ने दिया है। अन्य (दूसरे लोग) कहते हैं कि अमृतचन्द्राचार्य ने गूढ़ कर दिया, दुरुह कर दिया। यह तो अधिक स्पष्ट कर दिया है। आहाहा!

मुमुक्षु : महापुरुष का अनादर है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आचार्य के वचनों का भी अनादर और स्वयं चतुराईवाले, मानो हम इसकी भाषा अर्थ सरल करते हैं। अरे भाई! अरे! दुनिया में अभी अन्याय चलेगा। आहाहा! यह कुदरत के-इसके फल में इसे नहीं चलेगा। कुदरत के फल में, प्रभु! अन्याय नहीं चलेगा। आहाहा! उसका फल-मिथ्यात्व का फल तो निगोद, नरक-निगोद है और स्व आराधना का फल मोक्ष है। बीच में शुभाशुभभाव, वह तो गति का कारण बीच की अवस्था हुई। आहाहा!

भगवान आत्मा अनन्त-अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु... वे १००८ नाम है न (जिन सहस्रनाम), उसमें असंख्यात की व्याख्या की है। संख्या असंख्य है, ऐसा नहीं चाहिए। असंख्य का अर्थ किया है असंख्य है। वास्तव में संख्यारहित है अर्थात् असंख्य वे भगवान हैं, ऐसा चाहिए। जहाँ अनन्त-अनन्त की संख्या भी जहाँ अनन्त नहीं परन्तु उसे जहाँ लागू नहीं पड़ती, असंख्य अर्थात् असंख्यात कहा है-उसमें ऐसा लिखा है, भगवान के १००८ (नाम) इन्द्र ने बोले, परन्तु इन्द्र का अर्थ यह है। प्रभु! आप तो असंख्य हो। आत्मा में संख्यारहित गुण हैं, अनन्त... अनन्त... अनन्त.. वे संख्या से भी पार हैं। आहाहा! आहाहा! यह तो उसे पढ़ते हुए पढ़ने में आया था। इन्द्र एकावतारी समकिती है, वह भगवान के गुण (स्तवन) करता है। १००८। है ? आहाहा! तथापि वे गुण के भेद पर्यायनय का विषय है।

वह **व्यवहारनय पर्यायाश्रित होने से, सफेद रूई से बना हुआ...** आहाहा! मेरे प्रभु! यह तो मार्ग अन्दर, आहाहा! भगवान श्वेत निर्मलानन्द प्रभु, ऐसा कहते हैं। आहाहा! उसका-अभेद का अनुभव, वह निर्मल का अनुभव है और उसमें जैसे वस्त्र कुसुम्बी रंग से रंगा हुआ है, वैसे भगवान आत्मा की पर्याय में भेद, पर्याय और राग की पर्याय तथा पर की पर्याय... आहाहा! वह सब श्वेत-चैतन्यमूर्ति भगवान में यह रंग, कुसुम्बी रंग की भाँति यह व्यवहार है। आहाहा!

सफेद रूई से बना हुआ वस्त्र... कितना स्पष्ट किया है। अब इसे कहते हैं दुरुह किया है कहो, आहाहा! ऐसा दृष्टान्त दिया है भाई! जैसे वस्त्र है, रुई का बना हुआ है, वह सफेद है। आहाहा! परन्तु उसे कुसुम्बी (लाल) का रंग लगता है। वह रंगी हुई दशा तो पर व्यवहार की-पर्याय की है। आहाहा! और वह भी **वस्त्र के औपाधिक भाव...** आहाहा! प्रभु! वस्त्र सफेद है, उसमें लाल रंग का वह उपाधि भाव है। आहाहा! **औपाधिक भाव (लाल रंग) की भाँति,...** आहाहा! यहाँ तो उपाधि भाव लागू करेंगे। भेद, पर्याय (है), इसलिए यहाँ... आहाहा! जैसे वस्त्र सफेद है, उसे लाल रंग की उपाधि के भाव के कारण... आहाहा! **पुद्गल के संयोगवश...** आहाहा! भगवान आत्मा को पुद्गलद्रव्य के संयोगवश **अनादिकाल से...** यह क्या है ? पुद्गलद्रव्य के संयोग के कारण-ऐसा नहीं लिया। उसके संयोग के वश भेद उत्पन्न हुआ। आहाहा! आहाहा!

भगवान! जैसे वस्त्र सफेद रुई का बना हुआ। आहाहा! रुई का ऐसा एक दूसरी प्रकार का आता है न कुछ विलायती। भाई लाये थे न, शान्तिभाई लाये थे। शान्तिभाई का पुत्र लाया था। ढाई सौ रुपये का एक था। गद्दा-गद्दा, ढाई सौ रुपये का एक परन्तु वह दूसरे प्रकार का कुछ कहलाता है, रुई नहीं, ऐसे प्रकार का आता है। पोचा... पोचा... पोचा... ऐसे ढाई सौ रुपये का। (उसने कहा) लो महाराज! मैंने कहा - हम ऐसा नहीं लेते। एक ओर लाल तथा एक ओर सफेद ऐसा कोमल रेशम जैसा, ढाई सौ रुपये का था। शान्तिभाई, इनके छोटे भाई का लड़का वह निरंजन लाया था, बड़ा, मैंने कहा यह क्या, यहाँ हमें क्या करना। ऐसा अन्दर सफेद या दूसरे प्रकार का कुछ जैसी रुई आती है वैसा कुछ दूसरा नाम आता है। हैं? रबड़ नहीं, दूसरा नाम आता है। (श्रोता : आकोलिया नुं आवे छे) रेशम। दूसरा कुछ, कुछ दूसरा बोलते थे परन्तु याद नहीं आता कि उसे अमुक कहना। लड़का कहता था अन्दर की सफेदाई एकदम सफेद। दूसरा प्रकार हो, यह नहीं।

इसी प्रकार इसे रंग लगाया है, कहते हैं कि वह तो उपाधि है। आहाहा! उस **औपाधिक भाव (लाल रंग) की भाँति, पुद्गल के संयोगवश...** भगवान अभेद चिदानन्द प्रभु, वह संयोग के वश **अनादि काल से जिसकी बंधपर्याय प्रसिद्ध है...** बंधपर्याय-सम्बन्ध में आयी हुई दशा-प्रसिद्ध है। **ऐसे जीव के औपाधिक भाव (वर्णादिक) का अवलम्बन लेकर...** जीव के... आहाहा! जैसे उस रुई को कुसुम्बी रंग की उपाधि है। आहाहा! यहाँ दूसरा कहना है कि रुई में उस रंग की योग्यता पर्याय में है, कोई रंग चढ़ता है, वह उसकी योग्यता नहीं और चढ़ जाता है - ऐसा नहीं है। योग्यता है। इसी प्रकार जीव की पर्याय में निमित्त के वश होने की योग्यता है। आहाहा! **ऐसे जीव के औपाधिक भाव...** आहाहा! जीव के औपाधिक भाव (वर्णादि) **का अवलम्बन लेकर...** अब उपाधि के तीन प्रकार लिये। (१) शरीर संहनन की जो अवस्था, वह औपाधिक भाव है। आहाहा! (२) गुणस्थान और जीवस्थान, रागादिक भाव भी औपाधिक भाव है और (३) उसमें भेदभाव जो लब्धिस्थान आदि, वह उपाधि। ऐसा भेदभाव हुआ न? तीनों को डाला है न यह! आहाहा!

भगवान आत्मा निर्मलानन्द होने पर भी, जो सम्यग्दर्शन का विषय अभेद ज्ञायकभाव

होने पर भी, उसे कर्म के संयोग के वश वह जड़ की पर्याय; भेद की, गुणस्थान आदि की; और भेद की, यह सब उपाधि है, कहते हैं। आहाहा! उस **औपाधिक भाव (वर्णादिक) का अवलम्बन लेकर प्रवर्तमान होता हुआ,...** आहाहा! ये संयम के लब्धिस्थान, परन्तु भेद के वश, भेद पड़ा न ? ऐसा कहते हैं। भले ही वह इसकी योग्यता से है परन्तु संयोग के वश भेद पड़ा है। अभेद में भेद पड़ा, वह संयोग के वश से है। आहाहा! ऐसी बातें! वीतराग ऐसा कहते हैं कि **(वह व्यवहारनय) दूसरे के भाव को दूसरे का कहता है,...** यह जड़ की पर्याय, राग की पर्याय, गुणस्थान की पर्याय और लब्धिस्थान के भेद, ये दूसरे के हैं-ऐसा कहते हैं। आहाहा! **दूसरे के भाव को दूसरे का कहता है,...** आहाहा! वे हैं दूसरे के भाव, यह जीव का कहता है। आहाहा! इसे (जीव को) शरीर है और संहनन है, संस्थान है, इसे राग है, गुणस्थान भेद है, लब्धिस्थान के भेद हैं। आहाहा! देखो तो सही! कितना स्पष्ट कर दिया है, रुई का दृष्टान्त देकर (बहुत स्पष्ट कर दिया है)। आहाहा!

भगवान आत्मा अन्दर ज्ञायकस्वभाव से भरपूर प्रभु का अनुभव होने पर ये भेदभाव, गुणस्थान और राग तथा संहनन उस पर्याय में नहीं आते। इसलिए उन्हें जीवद्रव्य से-अनुभूति से भिन्न कहा गया है। आहाहा! **(व्यवहारनय) दूसरे के भाव को दूसरे का कहता है, और निश्चयनय...** देखो, यह आया भाई! वे कहते हैं निश्चयनय सिद्ध को होता है। आहाहा! अब यहाँ है-यह पुकार तो यहाँ से करते हैं। आहाहा! क्या हो ? विद्यानन्दजी, दस दस -बीस बीस हजार लोग सभा में होते हैं। ओहोहो! दिगम्बर लोग सुनते हैं, कुछ पता नहीं होता, यह वाँचनकार ऐसा कोई निकला तो उसमें क्या हुआ ? आहाहा!

यहाँ कहते हैं प्रभु! **निश्चयनय द्रव्याश्रित होने से,...** यह किसे हुआ ? चौथे गुणस्थान से हुआ। निश्चय यहाँ है, यह तो वहाँ से 'व्यवहारोअभुयत्थो' कहा। उसे ही छट्ठी गाथा में कहा (कि) प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं है। वह भी सम्यग्दृष्टि अथवा मुनि को ज्ञायकभाव, वह निश्चय एक है; भेद है, वह व्यवहारनय। आहाहा! जैसे रुई में रंग चढ़ता है, रंग के वश जो रंग होता है, वह व्यवहारनय का औपाधिक भाव है; इसी प्रकार भगवान आत्मा में कर्म के निमित्त की योग्यता के सम्बन्ध में संयोग के वश से होते जो कोई पर्याय में भेद वर्तते हैं-गुण अथवा संयम की भेद दशा वर्तती है, अरे! समकित के पाँच भेद की ऐसी भेददशा,

आहाहा! अरे! ज्ञान के पाँच भेद, जो मति-श्रुत आदि, आहाहा! वे सब निमित्त के वश से सब भेद कहे गये हैं। मार्गणा में आ गया है न? मार्गणा है। आहाहा! भगवान आत्मा में वे मार्गणास्थान नहीं है। कहो, समकित के प्रकार क्षायिक, उपशम, क्षयोपशम और मिथ्यात्व सब भेद वे उसमें नहीं हैं। आहाहा! क्योंकि भेद पड़ते हैं, वे सब निमित्त के वश से भेद जानने में आते हैं। वस्तु के वश वे भेद हैं ही नहीं। आहाहा! सम्यग्दर्शन में त्रिकाली ज्ञायक के वश जो अनुभव हुआ, उस स्वद्रव्य के आश्रय से वह निश्चयनय है। अरे! इतना सब अन्तर!

पुस्तक, फिर आज कहा—अपने पुस्तकों का अंक (पुष्प क्रमांक) कितना हुआ है? इसमें १३४ आया है, इसमें बहिन में (बहिनश्री के वचनामृत में) १३४। फिर भाई ने कहा कि १४१, १५०-१५० नम्बर की पुस्तकें, नम्बर, हों! आहाहा! बहुत पुस्तकें हो गयी। उसमें यह अन्तिम बहिन की आयी है, यह तो एकदम उत्कृष्ट आयी है, उत्कृष्ट, आहाहा! वस्तुस्थिति एकदम संक्षिप्त में संग्रह होकर, वस्तुस्थिति...

यहाँ कहते हैं कि **निश्चयनय...** देखो! इसमें ही आया। यह **द्रव्याश्रित होने से, केवल एक जीव के स्वाभाविक भाव का अवलम्बन लेकर प्रवर्तमान होता हुआ,...** देखा? आहाहा! ज्ञायक जो चिदानन्द परम पारिणामिकस्वभावभाव, उसके आश्रय से प्रवर्तमान होने से आहाहा! (उसे) **अवलम्बन लेकर प्रवर्तमान होता हुआ,...** देखा? आहाहा! त्रिकाली ज्ञायकभाव को अवलम्बन कर प्रवर्तमान होने से आहाहा! **दूसरे के भाव को किंचित्मात्र भी दूसरे का नहीं कहता,...** ये गुणस्थान, वर्ण, गंध, रस, रागादि, दया, दान आदि के विकल्प व्यवहाररत्नत्रय, आहाहा! इन दूसरे के भाव को वह दूसरे का नहीं कहता। आहाहा! व्यवहारनय दूसरे के भाव को दूसरे का कहता है। जैसे रंग भाव को वस्त्र का है, ऐसा कहता है; इसी प्रकार व्यवहारनय गुणस्थान, राग और भेद जीव का है- ऐसा व्यवहारनय कहता है। आहाहा!

निश्चयनय... यथार्थ दृष्टि का विषय, वह निश्चय। आहाहा! वह **दूसरे के भाव को किंचित्मात्र भी दूसरे का नहीं कहता,...** किंचित् भी, यह भेद पड़ा न! भेद-लब्धिस्थान और क्षायिकभाव भी जीव का नहीं है। ले! आहाहा! वहाँ इतनी निमित्त के अभाव की अपेक्षा आयी न? आहाहा! यह क्षायिकभाव, उपशमभाव, क्षयोपशमभाव भी

जीव में नहीं है, वह तो पर्याय में है। आहाहा! आहाहा! ऐसा **दूसरे के भाव को...** आहाहा! पर्याय का भाव वह व्यवहारनय का-विषय का दूसरा भाव। आहाहा! उसे आत्मा का वह (निश्चयनय) नहीं कहता। ऐसी बात है। थोड़ा परन्तु सत्य होना चाहिये। बड़ी लम्बी-लम्बी बातें और बड़े... आहाहा! आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि जैसे रुई से बना हुआ वस्त्र सफेद है, उसे रंग का उपाधिभाव, वह उपाधिभाव है, वह व्यवहारभाव है। सफेद है, वह निश्चयभाव है, वह (रंग) व्यवहारभाव है। इसी प्रकार आत्मा में ज्ञायकस्वभाव का जो अनुभव होना, वह स्वद्रव्य के आश्रित अपना भाव है, और उसमें भेद—संयमलब्धि के भेद, राग और गुणस्थान के भेद—वे दूसरे के भाव हैं। यह व्यवहार दूसरे को आत्मा में है, ऐसा कहता है। आहाहा! यहाँ ऐसी बात है। एक-एक श्लोक समयसार! आहाहा!! शान्ति से गम्भीर भाव को इसे समझना पड़ेगा। आहाहा!

जैसे यह सफेद रुई का बना हुआ वस्त्र, उसे रंग का भाव, वह तो उपाधि है; इसी प्रकार भगवान आत्मा... आहाहा! स्वद्रव्य के आश्रय से ही निर्मल अनुभूति हो, उसमें यह भाव इसके हैं, ऐसा कहना वह व्यवहार का भाव निश्चय में डाले, वह खोटा है। आहाहा! कहो, देवीलालजी! ऐसी बात है, भाई! यह तो वस्तुस्थिति है। आहाहा! यह सम्यग्दर्शन, स्वद्रव्य के आश्रित होनेवाली दशा, यह निश्चय के आश्रय से होनेवाली दशा, उस दशा में यह भेद और गुणस्थान आदि हैं नहीं, क्योंकि वे सब व्यवहार भाव पर के हैं। आहाहा! स्वचैतन्य के-अभेद के वे भाव नहीं हैं। वे अभेद के भाव नहीं हैं। आहाहा! भगवान आत्मा, ज्ञायकस्वभाव के अभेद के अनुभव में... आहाहा! वे भाव उसमें नहीं आते, अभेद में भेद नहीं आता। अभेद में राग नहीं आता, अभेद में गुणस्थान के और जीवस्थान के भेद भी नहीं आते। आहाहा! इसलिए निश्चयनय पर के भाव पर में नहीं कहता - आत्मा में है - ऐसा नहीं कहता। व्यवहारनय, भेदभाव पर के हैं, वे (उन्हें) जीव के हैं - ऐसा कहता है। आहाहा! यह तो दूसरा हीरे का धन्धा है। आहाहा!

मुमुक्षु : यह ज्ञानी और अज्ञानी के भेद की बात है। चैतन्यहीरा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : चैतन्यहीरा, आहाहा! जो त्रिकाल परमस्वभावभाव, उसके आश्रय

से होनेवाली दशा, वह निश्चय के आश्रय से हुई है। आहाहा! उसका नाम सम्यग्दर्शन है। आहाहा! उस सम्यग्दर्शन की पर्याय में स्व का आश्रय है, पर के भेद उसमें नहीं हैं। आहाहा! ऐसी बातें हैं। इसकी एक-एक गाथा (अपूर्व है)!

जैसे, रुई को रंग लगाया तो रंग की योग्यता तो उसकी है न? आहाहा! इतना सिद्ध करना है। आहाहा! इसी प्रकार पर्याय में भेद की योग्यता-गुणस्थान की योग्यता निमित्त के वश से है, निमित्त के वश होने की स्वयं की योग्यता है। आहाहा! हीराभाई! यह सब तुम्हारे पैसे-वैसे में कुछ हाथ आवे ऐसा नहीं है उसमें कहीं! आहाहा!

मुमुक्षु : हमारे पैसे को तो आप धूल कहते हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : सब पैसेवाले हैं न? आहाहा! आहाहा! मेरा नाथ चैतन्यस्वरूप (है) कहते हैं। आहाहा! वह तो उज्ज्वल निर्मलानन्द प्रभु, आहाहा! उस निर्मलानन्द का अनुभव होने पर उस अनुभव में वे भेद और राग तथा निमित्त नहीं आते। इसलिए वे जीव के नहीं हैं। आहाहा!

यह तो निश्चय चौथे से शुरु किया। अब वे कहते हैं कि निश्चय सिद्ध को होता है। अरे प्रभु! यह तूने क्या किया? इस समयसार के अर्थ करके गजब कर डाला, भाई! आहाहा! लोग सभा भरे, लोगों (से सभा) भरे, विद्यानन्दजी! ऐसे दस-दस हजार लोग (सभा में) भरें। दिगम्बर के लोग, परन्तु बेचारे बिना खबर के, बाहर की बातें सुन-सुनकर बस प्रसन्न-प्रसन्न हो जायें। पूरा विपरीत तत्त्व है वह। जैनदर्शन से अत्यन्त उल्टा है। कि व्यवहार सिद्ध को नहीं होता, सिद्ध को निश्चय होता है, व्यवहार तो साधक को ही होता है। ऐसी पुस्तकें प्रकाशित करे और सब प्रशंसा करे, अरे! जगमोहनलालजी ने भाई प्रशंसा की। अब यह तो बहुत अच्छा प्रकाशित किया। भाई! (ऐसा वे कहते हैं)। अकेला जहर है। ऐई! ऐसी बात है प्रभु! क्या हो? अरे! भगवान का विरह प्रभु! और ऐसी बातें जैनधर्म में चले और सुननेवाले भी बेचारे ऐसे बिना ठिकाने के। आहाहा!

मुमुक्षु : भोले हैं न!

पूज्य गुरुदेवश्री : भोले, तुम्हें कहते हैं भोले। आहाहा! क्या स्पष्टीकरण तो देखो! ५६ गाथा! आहाहा!

आहाहा! भगवान आत्मा तो ज्ञानानन्द सहजात्मस्वरूप पूर्ण ज्ञायकभाव है और उसके आश्रय से होनेवाली सम्यग्दर्शन दशा वह उसकी, वह अभेद में अभेद की दृष्टि हो, वह उसकी, तथापि वह दृष्टि पर्याय है, वह अभेद में नहीं है। आहाहा! पर्याय का विषय अभेद है, सम्यग्दर्शन की पर्याय का विषय अभेद है परन्तु अभेद में पर्याय नहीं है, अकेला द्रव्य ज्ञायक शुद्ध चैतन्य है। आहाहा! परन्तु यहाँ तो यह सिद्ध करना है कि सम्यग्दृष्टि को सम्यग्दर्शन हुआ, वह त्रिकाली द्रव्य अभेद के आश्रय से हुआ है; इसलिए वह निश्चय के आश्रय से हुआ। उसमें पर्यायाश्रित जो व्यवहार है, ऐसे रंग की उपाधि वह सब उपाधिभाव है, भेद उपाधि, राग उपाधि। आहाहा!

मुमुक्षु : निमित्त उपाधि।

पूज्य गुरुदेवश्री : निमित्त तो कहीं रह गया। संहनन की पर्याय। आहाहा! ऐसी बात है। अभी तो मुश्किल पड़े ऐसा है। वीतराग तीन लोक के नाथ जिनेश्वर की यह पुकार है। अरे! जगत को सुनने मिलता नहीं, वह कहाँ जाये, क्या हो? आहाहा!

यहाँ कहते हैं **दूसरे के भाव को किंचित्मात्र भी दूसरे का नहीं कहता,...** कौन? निश्चयनय। निश्चयनय अर्थात् स्वज्ञायकभाव के आश्रय से हुई दशा, उस दशा का विषय अभेद है, वह निश्चयनय अभेद को वर्णन करता है और उसमें दूसरे का अर्थात् पर्याय का भेद, वह दूसरे का भाव है। वह दूसरे के (अर्थात्) आत्मा के हैं, ऐसा नहीं कहता। आहाहा! और गुणस्थान आदि के भेद, पर्यायनय के आश्रित, पर के आश्रित होने से वे भेद व्यवहारनय से जीव के हैं—ऐसा पर्याय के भेद को कहता है। आहाहा! उसमें ऐसा भी सिद्ध रखा कि पर्याय का भेद है, वह वस्तु है। वह व्यवहारनय का विषय है। है; नहीं - ऐसा नहीं। वेदान्त की भाँति पर्याय है ही नहीं, ऐसा यहाँ नहीं है। आहाहा! वेदान्त को और इस वस्तु को तो पूर्व-पश्चिम जितना अन्तर है। लोग यहाँ का कितना ही ऐसा जानकर कहते हैं यह तो वेदान्त जैसा है। अरे! वेदान्त नहीं। सुन, न! इसमें तो गुणस्थान भेद आदि व्यवहारनय से है, वह पर्याय है। आहाहा! वह जानने योग्य है, अस्ति है। आदरणीय नहीं। आहाहा! गुणस्थान के भेद, जीवस्थान के भेद, संयमलब्धिस्थान के भेद हैं। आहाहा! है, उन्हें जानना चाहिए। है, ऐसा जानना, बस! यह त्रिकाली भगवान के अवलम्बन से होती

दशा, यह त्रिकाली है, उसके आश्रय से जो दशा, उसे निश्चय कहते हैं। वह निश्चय पर के भाव को अपना नहीं कहता। आहाहा! ऐसी वस्तु है। ओहोहो!

दूसरे के भाव को किंचित्मात्र भी दूसरे का नहीं कहता, निषेध करता है। आहाहा! निश्चयभगवान आत्मा, पूर्णानन्द का नाथ परमज्ञायकभाव की दृष्टि होने पर, उसका अनुभव होने पर... आहाहा! वह पर्याय का निषेध करता है, वह भेद का निषेध करता है। आहाहा! उसमें आता है न कि, भाई! प्रमाण जो है... यह निश्चय है, वह व्यवहार का निषेध करता है और व्यवहार है, उसे भी जानता है, दोनों को (जानता है) तो प्रमाण होता है। प्रमाण में निश्चय का विषय है, पर का निषेध, वह भी आया और वर्तमान है, वह भी आया; इसलिए प्रमाण है, वह सदभूतव्यवहारनय का विषय हो गया। इसलिए वह पूज्य नहीं है। जिसमें पर्याय का निषेध न आवे... आहाहा! वह पूज्य नहीं है। निश्चय में तो यह 'निषेध' शब्द आया न? आहाहा! इसमें पर्याय का निषेध आता है; इसलिए निश्चयनय पूज्य है। आहाहा!

ओहोहो! अमृतचन्द्राचार्य साधु-दिगम्बर सन्त, अकेले नय के सागर भरे हैं। आहाहा! **इसलिए वर्ण से लेकर...** आया था न? वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श, काला-नीला-पीला, यह पर्याय ली थी (वर्ण से) **लेकर गुणस्थान पर्यन्त...** अन्तिम, लब्धिस्थान और ये सब आ गये। **जो भाव हैं वे...** जो भाव हैं। है; ब्रह्मसत्य और जगत्मिथ्या, ऐसा नहीं है। वेदान्त तो ऐसा कहता है न कि आत्मा। बस, बाकी यह सब है नहीं। ऐसा नहीं है। है, आहाहा! **वे व्यवहारनय से...** व्यवहार से, **जीव के हैं...** पर्यायनय के भेद व्यवहार से व्यवहार का विषय है, उस व्यवहार से इसके कहे जाते हैं। आहाहा! **और निश्चयनय से जीव के नहीं हैं...** त्रिकाली वस्तु की अनुभूति में नहीं हैं। वे त्रिकाली में नहीं, परन्तु उस त्रिकाली में नहीं, कब? उसमें नहीं, ऐसा यहाँ ज्ञान हो, उसे उसमें नहीं। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

निश्चयनय से जीव के नहीं हैं ऐसा (भगवान का स्याद्वादयुक्त) कथन योग्य है। लो, ठीक! आहाहा! **वर्णादयो गुणस्थानान्ता भावा जीवस्य सन्ति निश्चयेन तु न सन्तीति युक्ता प्रज्ञप्तिः।** यह युक्त है, ऐसा कहते हैं स्याद्वाद की अपेक्षा से। आहाहा!

कथंचित् निश्चयनय में ये नहीं, कथंचित् व्यवहारनय में ये हैं। कथंचित् का अर्थ–उस नय की अपेक्षा से। बाकी वास्तव में तो निश्चय में ये हैं ही नहीं परन्तु व्यवहारनय से ये हैं। यहाँ कथंचित् है और कथंचित् नहीं, ऐसा भी नहीं। यह तो जीव की अथवा दोनों की अपेक्षा से निश्चय और व्यवहार दोनों की अपेक्षा से, निश्चय में नहीं और व्यवहार में है। उसके दो भाग करने पर कथंचित् निश्चय में नहीं, यह भाग करने पर... निश्चय में नहीं तो सर्वथा नहीं, परन्तु जीव की द्रव्य और पर्याय दोनों को शामिल लेकर बात करने पर निश्चय में नहीं, पर्याय में है।

जैसे निश्चय से आत्मा नित्य है, पर्याय से अनित्य है, यह पूरे द्रव्य की अपेक्षा से कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य है, परन्तु नित्य है, वह कथंचित् नित्य है – ऐसा नहीं है। नित्य है, वह तो सर्वथा नित्य ही है परन्तु सम्पूर्ण द्रव्य की जहाँ बात करे, कथंचित् नित्य है, कथंचित् अनित्य है, यह तो पूरी वस्तु का वर्णन किया। आहाहा! परन्तु जब इसे नित्य कहना हो तो वह नित्य तो निश्चय से ही नित्य है। कथंचित् नित्य है, ऐसा नहीं और पर्याय है वह सर्वथा अनित्य ही है। आहाहा! परन्तु पूर्ण द्रव्य और पर्याय दोनों को शामिल लेकर कहना हो तो निश्चयनय के विषय में वे हैं ही नहीं–एक भाग; उसके जीव में निश्चयनय से उसमें वे नहीं हैं, उसकी पर्याय में हैं। जीव के उसके दो भाग किये इसलिए। आहाहा! अब ऐसा कहाँ, लोगों को निवृत्ति! पूरे जीव की अपेक्षा से कथंचित् निश्चय में वे नहीं। पूरे द्रव्य और पर्याय की अपेक्षा से; कथंचित् व्यवहार में है परन्तु निश्चय में सर्वथा नहीं; पर्याय में सर्वथा भेद है, वह पर्याय है। आहाहा! ऐसी बात है। समझ में आया?

ऐसा भगवान का स्याद्वादवाला कथन है। आहाहा! ऐसी बात सुनना कठिन पड़ती है। सुनने को मिलती नहीं। अरे! आहाहा! लो, इतना हुआ। पचास मिनिट हुए।

मुमुक्षु : दस बाकी रहे न!

पूज्य गुरुदेवश्री : अब नौ मिनिट बाकी है परन्तु इसमें सब आ गया। आहाहा! इसमें –पाठ में तो इतना ही है कि '**ववहारेण दु एदे**' '**जीवस्स हवंति णिच्छयणयस्स ण**' है न? परन्तु इसका दृष्टान्त देकर सिद्ध किया, इसलिए लोगों को ख्याल में आवे कि रुई का बना

हुआ वस्त्र, वैसे भगवान तो परम ज्ञायक का बना हुआ आत्मा है। ज्ञायकभाव से रहा हुआ आत्मा है, वह तो ज्ञायक त्रिकाल... त्रिकाल... त्रिकाल... वह सम्यग्दर्शन का विषय है। आहाहा! ऐसे भाव से रहा हुआ प्रभु, वह निश्चय, उसे पर्याय के भेद उसमें नहीं हैं।

जीव में कथंचित् नहीं अर्थात् क्या? निश्चय में नहीं और कथंचित् है अर्थात् व्यवहार में है – ऐसा कथंचित्; परन्तु निश्चय में भी कथंचित् है और कथंचित् नहीं-ऐसा नहीं है। आहाहा! भाई! समझ में आया? शशीभाई! पूरे जीव को द्रव्य और पर्याय दोनों का वर्णन हो तो कथंचित् निश्चय में नहीं, द्रव्य में; दोनों की अपेक्षा से और कथंचित् व्यवहार में है परन्तु अकेले नय की जब बात करे। आहाहा! तो निश्चय में सर्वथा भेद नहीं और पर्याय सर्वथा भेदवाली तथा रागवाली है। आहाहा! ऐसा है।

मुमुक्षु : मर्मी हो, (वह) ऐसे मर्म को कहता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! ऐसी बातें हैं। बहुत सरस गाथा आयी।

गाथा ५७

कुतो जीवस्य वर्णादयो निश्चयेन न संतीति चेत्-

एदेहिं य सम्बन्धो जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो।
ण य होंति तस्स ताणि दु उवओगगुणाधिगो जम्हा।।५७।।

एतैश्च सम्बन्धो यथैव क्षीरोदकं ज्ञातव्य:।
न च भवंति तस्य तानि तूपयोगगुणाधिको यस्मात्।।

यथा खलु सलिलमिश्रितस्य क्षीरस्य सलिलेन सह परस्परावगाहलक्षणो संबंधे सत्यपि स्वलक्षणभूतक्षीरत्वगुणव्याप्यतया सलिलादधिकत्वेन प्रतीयमानत्वादग्नेरुष्ण-गुणेनेव सह तादात्म्यलक्षणसंबंधाभावात् न निश्चयेन सलिलमस्ति तथा वर्णादिपुद्गल-द्रव्यपरिणाममिश्रितस्यास्यात्मन: पुद्गलद्रव्येण सह परस्परावगाहलक्षणे संबंधे सत्यपि स्वलक्षणभूतोपयोगगुणव्याप्यतया सर्वद्रव्येभ्योऽधिकत्वेन प्रतीयमानत्वादग्नेरुष्णगुणेनेव सह तादात्म्यलक्षणसम्बन्धाभावात् न निश्चयेन वर्णादिपुद्गलपरिणामा: सन्ति।

अब शिष्य पूछता है कि वर्णादिक निश्चय से जीव के क्यों नहीं हैं? इसका कारण कहिये। इसका उत्तर गाथारूप से कहते हैं—

इन भाव से संबंध जीव का, क्षीर जलवत् जानना।
उपयोग गुण से अधिक, तिससे भाव कोई न जीव का।।५७।।

गाथार्थ - [एतै: च सम्बन्ध:] इन वर्णादिक भावों के साथ जीव का सम्बन्ध [क्षीरोदकं यथा एव] दूध और पानी का एकक्षेत्रावगाहरूप संयोगसम्बन्ध है, ऐसा [ज्ञातव्य:] जानना [च] और [तानि] वे [तस्य तु न भवंति] उस जीव के नहीं हैं [यस्मात्] क्योंकि जीव [उपयोगगुणाधिक:] उनसे उपयोगगुण से अधिक है (-वह उपयोग गुण के द्वारा भिन्न ज्ञात होता है)।

टीका - जैसे जलमिश्रित दूध का, जल के साथ परस्पर अवगाहस्वरूप सम्बन्ध होने पर भी, स्वलक्षणभूत दुग्धत्व-गुण के द्वारा व्याप्त होने से दूध जल से अधिकपने से प्रतीत होता है; इसलिए, जैसा अग्नि का उष्णता के साथ तादात्म्यस्वरूप सम्बन्ध है, वैसा जल के साथ दूध का सम्बन्ध न होने से, निश्चय से जल दूध का नहीं है; इस प्रकार वर्णादिक पुद्गलद्रव्य के परिणामों के साथ मिश्रित इस आत्मा का, पुद्गलद्रव्य के साथ परस्पर अवगाहस्वरूप सम्बन्ध होने पर भी, स्वलक्षणभूत उपयोगगुण के द्वारा व्याप्त होने से आत्मा सर्व द्रव्यों से अधिकपने से (-परिपूर्णपने से) प्रतीत होता है; इसलिए जैसा अग्नि का उष्णता के साथ तादात्म्यस्वरूप सम्बन्ध है, वैसा वर्णादि के साथ आत्मा का सम्बन्ध नहीं है, इसलिए निश्चय से वर्णादिक पुद्गलपरिणाम आत्मा के नहीं हैं।

गाथा - ५७ पर प्रवचन

अब शिष्य पूछता है कि वर्णादिक निश्चय से जीव के क्यों नहीं हैं? आहाहा! यह वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श-गुणस्थान-लब्धि के भेद, ये जीव के क्यों नहीं? **इसका कारण कहिये**। आहाहा! संस्कृत है **कुतो जीवस्य वर्णादयो निश्चयेन न संतीति चेत्**- अमृतचन्द्राचार्य की स्वयं की है।

एदेहिं य सम्बन्धो जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो।
ण य होंति तस्स ताणि दु उवओगगुणाधिगो जम्हा।।५७।।

आहाहा! हरिगीत

इन भाव से संबंध जीव का, क्षीर जलवत् जानना।
उपयोग गुण से अधिक, तिससे भाव कोई न जीव का॥५७॥

उपयोग गुण से लिया है। भाषा देखी! ज्ञायकभाव - ऐसा नहीं, जो त्रिकाल उपयोग है। आहाहा! आहाहा! **उपयोग गुण से अधिक, तिससे भाव कोई न जीव का।**

टीका - जैसे जलमिश्रित दूध का,... पानी और दूध दोनों मिले हों, ऐसे मिश्रितरूप से। **जल के साथ परस्पर अवगाहस्वरूप सम्बन्ध...** पानी के साथ दूध को एकक्षेत्र में

अवगाह/ रहना / व्यापना, एकक्षेत्र में, ओहोहो! **जलमिश्रित दूध का, जल के साथ परस्पर अवगाह...** परस्पर अवगाह, देखा? जल और दूध तथा दूध और जल **परस्पर अवगाहस्वरूप सम्बन्ध होने पर भी, स्वलक्षणभूत दुग्धत्व-गुण के द्वारा व्याप्त होने से...** परन्तु दूध का जो गुण सफेद-श्वेत और मीठा, ऐसे गुण के कारण **दूध, जल से अधिकपने से प्रतीत होता है;...** दूध, पानी से अत्यन्त भिन्न प्रतीति में आता है। आहाहा! देखो न, यह भी दृष्टान्त... आहाहा! यह तो पाठ में ही है **खीरोदयं** पाठ में है, देखो! उस पाठ में दृष्टान्त नहीं था। यह पाठ है पूरा। आहाहा! क्या कहा? कि दूध और जल एक जगह में अवगाहरूप से रहने पर भी, दूध के लक्षण और जल के लक्षण अत्यन्त भिन्न है। दूध और जल एक जगह रहने पर भी, दूध का गुण और जल का गुण अत्यन्त भिन्न है। आहाहा! कहाँ ले जायेंगे, यह देखो! सुनना!

इसलिए, जैसा अग्नि का उष्णता के साथ तादात्म्यस्वरूप सम्बन्ध है... अग्नि और उष्णता का उसरूप (तादात्म्यरूप) सम्बन्ध है। तद्रूप। **वैसा जल के साथ दूध का सम्बन्ध न होने से, निश्चय से जल दूध का नहीं है;...** वास्तव में वह जल, दूध का नहीं है। आहाहा!

इस प्रकार वर्णादिक... वर्ण-गन्ध-गुणस्थान-लब्धिस्थान ऐसे परिणामों के साथ। **वर्णादिक पुद्गलद्रव्य के परिणामों...** हैं। आहाहा! वहाँ यह कहा था न, पुद्गलद्रव्य के परिणाम से भिन्न हैं। आहाहा! उन **पुद्गलद्रव्य के परिणामों के साथ मिश्रित इस आत्मा का,...** आत्मा और भेद गुणस्थान आदि... आहाहा! एक जगह में, एक क्षेत्र में व्याप्य-व्यापकरूप से होने पर भी... आहाहा! **इस आत्मा का, पुद्गलद्रव्य के साथ परस्पर अवगाह -स्वरूप सम्बन्ध होने पर भी,...** भगवान ज्ञायकस्वभाव और ये रागादि, भेद आदि स्वभाव यह परस्पर अवगाह है, परस्पर अवगाह सम्बन्ध है; परस्पर स्वभाव सम्बन्ध नहीं। आहाहा!

स्वलक्षणभूत उपयोगगुण के द्वारा... जैसे उस दूधगुण द्वारा लिया था न, दूधपना गुण, उस द्वारा, दूधपना है न? दूधपना अर्थात् उसका गुण; इसी प्रकार इस आत्मा का पना, उपयोग गुण द्वारा। आहाहा! जानना-देखना जो उपयोग त्रिकाली है, उसे वर्तमान के उपयोग गुण द्वारा, आहाहा। **व्याप्त होने से आत्मा सर्व द्रव्यों से अधिकपने से (परिपूर्णपने से) प्रतीत होता है;...**

भगवान आत्मा इन गुणस्थान के भेदों, लब्धिस्थान के भेदों से भिन्न / अधिकपने प्रतीत होता है। आहाहा! त्रिकाली ज्ञायकभाव का अनुभव होने पर, वर्तमान उपयोग को त्रिकाली उपयोग के साथ सम्बन्ध करने पर... आहाहा! वह उपयोग अधिक (भिन्न) है। वह जीव का स्वभाव तथा भेद है, वह पुद्गल का स्वभाव है; जीव का नहीं। आहाहा! एक स्थान में रहे हैं, इतना कहा परन्तु एक भावस्वरूप नहीं, ऐसा है। जैसे दूध और जल एक स्थान में रहे होने पर भी उनके-दोनों के भावस्वरूप नहीं है। इसी प्रकार भगवान ज्ञानस्वभाव -भाव से और भेद आदि, पुद्गल आदि पुद्गल के स्वभावभाव से एकक्षेत्र में रहे होने पर भी भाव भिन्न है। आहाहा! **आत्मा सर्व द्रव्यों से अधिकपने से (-परिपूर्णपने से) प्रतीत होता है; इसलिए जैसा अग्नि का उष्णता के साथ तादात्म्यस्वरूप सम्बन्ध है, वैसा...** गुणस्थान, भेद, वर्णादि, लब्धिस्थान का आत्मा के साथ सम्बन्ध नहीं होने से। आहाहा! (और) **इसलिए निश्चय से वर्णादिक पुद्गलपरिणाम आत्मा के नहीं हैं**। ये गुणस्थान आदि जीव के नहीं हैं, लब्धिस्थान आदि जीव के नहीं हैं। आहाहा!

विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा ५८-६०

कथं तर्हि व्यवहारोऽविरोधक इति चेत्-

पंथे मुस्संतं पस्सिदूण लोगा भणंति ववहारी।
मुस्सदि एसो पंथो ण य पंथो मुस्सदे कोई।।५८।।
तह जीवे कम्माणं णोकम्माणं च पस्सिदुं वण्णं।
जीवस्स एस वण्णो जिणेहिं ववहारदो उत्तो।।५९।।
गंधरसफासरूवा देहो संठाणमाइया जे य।
सव्वे ववहारस्स य णिच्छयदण्हू ववदिसंति।।६०।।

पथि मुष्यमाणं दृष्ट्वा लोका भणंति व्यवहारिणः।
मुष्यते एष पंथा न च पंथा मुष्यते कश्चित्।।
तथा जीवे कर्मणां नोकर्मणां च दृष्ट्वा वर्णम्।
जीवस्यैष वर्णो जिनैर्व्यवहारतः उक्तः।।
गंधरसस्पर्शरूपाणि देहः संस्थानादयो ये च।
सर्वे व्यवहारस्य च निश्चयद्रष्टारो व्यपदिशंति।।

यथा पथि प्रस्थितं कंचित्सार्थं मुष्यमाणमवलोक्य तात्स्थ्यात्तदुपचारेण मुष्यत एष पंथा इति व्यवहारिणां व्यपदेशेपि न निश्चयतो विशिष्टाकाशदेशलक्षणः कश्चिदपि पंथा मुष्येत, तथा जीवे बंधपर्यायेणावस्थितं कर्मणो नोकर्मणो वा वर्णमुत्प्रेक्ष्य तात्स्थ्यात्तदुपचारेण जीवस्यैव वर्ण इति व्यवहारतोऽर्हद्देवानां प्रज्ञापनेति न निश्चयतो नित्यमेवामूर्तस्वभावस्योपयोगगुणाधिकस्य जीवस्य कश्चिदपि वर्णोऽस्ति एवं गंधरसस्पर्श-रूपशरीरसंस्थानसंहननरागद्वेषमोहप्रत्ययकर्मनोकर्मवर्गवर्गणास्पर्धकाध्यात्मास्थानानुभाग-

स्थानयोगस्थानबंधस्थानोदयस्थानमार्गणास्थानस्थितिबंधस्थानसंक्लेशस्थानविशुद्धिस्थान -संयमलब्धिस्थानजीवस्थानगुण स्थानान्यपि व्यवहारतोऽर्हद्देवानां प्रज्ञापनेऽपि निश्चयतो नित्यमेवामूर्तस्वभावस्योपयोगगुणेनाधिकस्य जीवस्य सर्वाण्यपि न सन्ति, तादात्म्यलक्षण -सम्बन्धाभावात्।

अब यहाँ प्रश्न होता है कि इस प्रकार तो व्यवहारनय और निश्चयनय का विरोध आता है; अविरोध कैसे कहा जा सकता है? इसका उत्तर दृष्टान्त द्वारा तीन गाथाओं में कहते हैं —

देखा लुटाते पंथ में को, 'पंथ ये लुटात है'—
जनगण कहे व्यवहार से, नहिं पंथ को लुटात है॥५८॥

त्यों वर्ण देखा जीव में इन कर्म अरु नोकर्म का।
जिनवर कहे व्यवहार से, 'यह वर्ण है इस जीव का'॥५९॥

त्यों गंध, रस, रूप, स्पर्श, तन, संस्थान इत्यादिक सबैं।
भूतार्थदृष्टा पुरुष ने, व्यवहारनय से वर्णये॥६०॥

गाथार्थ - [पथि मुष्यमाणं] जैसे मार्ग में जाते हुए व्यक्ति को लुटता हुआ [दृष्ट्वा] देखकर '[एष पंथा] यह मार्ग [मुष्यते] लुटता है', इस प्रकार [व्यवहारिणः लोकाः] व्यवहारीजन [भणंति] कहते हैं, किन्तु परमार्थ से विचार किया जाये तो [कश्चित् पंथा] कोई मार्ग तो [न च मुष्यते] नहीं लुटता, मार्ग में जाता हुआ मनुष्य ही लुटता है; [तथा] इसी प्रकार [जीवे] जीव में [कर्मणां नोकर्मणां च] कर्मों का और नोकर्मों का [वर्णम्] वर्ण [दृष्ट्वा] देखकर '[जीवस्य] जीव का [एषः वर्णः] यह वर्ण है' इस प्रकार [जिनैः] जिनेन्द्रदेव ने [व्यवहारतः] व्यवहार से [उक्तः] कहा है। [एवं] इसी प्रकार [गंधरसस्पर्शरूपाणि] गंध, रस, स्पर्श, रूप, [देहः संस्थानादयः] देह, संस्थान आदि [ये च सर्वे] जो सब हैं, [व्यवहारस्य] वे सब व्यवहार से [निश्चयद्रष्टारः] निश्चय के देखनेवाले [व्यपदिशंति] कहते हैं।

टीका - जैसे व्यवहारीजन, मार्ग में जाते हुए किसी सार्थ (संघ) को लुटता हुआ देखकर, संघ की मार्ग में स्थिति होने से उसका उपचार करके, 'यह मार्ग लुटता है' ऐसा कहते हैं, तथापि निश्चय से देखा जाये तो, जो आकाश के अमुक भागस्वरूप

है, वह मार्ग तो कुछ नहीं लुटता; इसी प्रकार भगवान अरहन्तदेव, जीव में बन्धपर्याय से स्थिति को प्राप्त कर्म और नोकर्म का वर्ण देखकर, कर्म-नोकर्म की जीव में स्थिति होने से उसका उपचार करके, 'जीव का यह वर्ण है' ऐसा व्यवहार से प्रगट करते हैं, तथापि निश्चय से, सदा ही जिसका अमूर्त स्वभाव है और जो उपयोगगुण के द्वारा अन्य द्रव्यों से अधिक है, ऐसे जीव का कोई भी वर्ण नहीं है। इसी प्रकार गंध, रस, स्पर्श, रूप, शरीर, संस्थान, संहनन, राग, द्वेष, मोह, प्रत्यय, कर्म, नोकर्म, वर्ण, वर्गणा, स्पर्धक, अध्यात्मस्थान, अनुभागस्थान, योगस्थान, बंधस्थान, उदयस्थान, मार्गणास्थान, स्थितिबंधस्थान, संक्लेशस्थान, विशुद्धिस्थान, संयमलब्धिस्थान, जीवस्थान और गुणस्थान—यह सब ही (भाव) व्यवहार से अरहन्तभगवान जीव के कहते हैं, तथापि निश्चय से, सदा ही जिसका अमूर्त स्वभाव है और जो उपयोगगुण के द्वारा अन्य से अधिक है, ऐसे जीव के वे सब नहीं हैं, क्योंकि इन वर्णादि भावों के और जीव के तादात्म्यलक्षण सम्बन्ध का अभाव है।

भावार्थ - ये वर्ण से लेकर गुणस्थान पर्यन्त भाव सिद्धान्त में जीव के कहे हैं, वे व्यवहारनय से कहे हैं, निश्चयनय से वे जीव के नहीं हैं, क्योंकि जीव तो परमार्थ से उपयोगस्वरूप है।

यहाँ ऐसा जानना कि—पहले व्यवहारनय को असत्यार्थ कहा था, सो वहाँ ऐसा न समझना कि वह सर्वथा असत्यार्थ है, किन्तु कथंचित् असत्यार्थ जानना; क्योंकि जब एक द्रव्य को भिन्न, पर्यायों से अभेदरूप, उसके असाधारण गुणमात्र को प्रधान करके कहा जाता है, तब परस्पर द्रव्यों का निमित्तनैमित्तिकभाव तथा निमित्त से होनेवाले पर्यायें - वे सब गौण हो जाते हैं, वे एक अभेदद्रव्य की दृष्टि में प्रतिभासित नहीं होते, इसलिए वे सब उस द्रव्य में नहीं हैं। इस प्रकार कथंचित् निषेध किया जाता है। यदि उन भावों को उस द्रव्य में कहा जाये तो वह व्यवहारनय से कहा जा सकता है - ऐसा नयविभाग है।

यहाँ शुद्धनय की दृष्टि से कथन है, इसलिए ऐसा सिद्ध किया है कि जो यह समस्त भाव सिद्धान्त में जीव के कहे गये हैं, सो व्यवहार से कहे गये हैं। यदि निमित्तनैमित्तिकभाव की दृष्टि से देखा जाये तो वह व्यवहार कथंचित् सत्यार्थ भी कहा

जा सकता है। यदि सर्वथा असत्यार्थ ही कहा जाये तो सर्व व्यवहार का लोप हो जायेगा और सर्व व्यवहार का लोप होने से परमार्थ का भी लोप हो जायेगा। इसलिए जिनेन्द्रदेव का उपदेश स्याद्वादरूप समझना ही सम्यक्ज्ञान है, और सर्वथा एकान्त वह मिथ्यात्व है।

प्रवचन नं. १३३ गाथा-५८ से ६० दिनाङ्क ११-११-१९७८, शनिवार
कार्तिक शुक्ल ४, वीर निर्वाण संवत् २५०४

क्या कहते हैं? (अब यहाँ प्रश्न होता है कि) इस प्रकार तो व्यवहारनय और निश्चयनय का विरोध आता है; अविरोध कैसे कहा जा सकता है? इसका उत्तर दृष्टान्त द्वारा तीन गाथाओं में कहते हैं—

पंथे मुस्संतं पस्सिदूण लोगा भणंति ववहारी।
मुस्सदि एसो पंथो ण य पंथो मुस्सदे कोई।।५८।।
तह जीवे कम्माणं णोकम्माणं च पस्सिदुं वण्णं।
जीवस्स एस वण्णो जिणेहिं ववहारदो उत्तो।।५९।।
गंधरसफासरूवा देहो संठाणमाइया जे य।
सव्वे ववहारस्स य णिच्छयदण्हू ववदिसंति।।६०।।

देखा लुटाते पंथ में को, 'पंथ ये लुटात है'—
जनगण कहे व्यवहार से, नहिं पंथ को लुटात है।।५८।।
त्यों वर्ण देखा जीव में इन कर्म अरु नोकर्म का।
जिनवर कहे व्यवहार से, 'यह वर्ण है इस जीव का'।।५९।।
त्यों गंध, रस, रूप, स्पर्श, तन, संस्थान इत्यादिक सबैं।
भूतार्थदृष्टा पुरुष ने, व्यवहारनय से वर्णये।।६०।।

टीका : लो, जैसे व्यवहारीजन, मार्ग में जाते हुए किसी सार्थ (संघ) को लुटता हुआ देखकर, संघ की मार्ग में स्थिति होने से उसका उपचार करके,... आहाहा! हमारे

तो यह अनुभव हुआ है। 'गारियाधार' से 'उमराला' जाते हुए एक 'पांदरड़ा' आता है। उसकी बड़ी नहर आती है, वह लुटाऊ नहीं कहलाती है, भाई! इतनी गहरी है, है बड़ी नहर परन्तु इतनी गहरी है और फिर ऐसे गहरे से चढ़ने का है, इसलिए बीच में कोई चोर आकर लूटे तो आसपास के लोगों को कुछ पता नहीं पड़ता। आहा...हा... ! ऐसा 'पांदरड़ा' है। 'गारियाधार' से 'उमराला' जाते हुए (आता है)। हमारे साथ दूसरे थे। मेरी तो छोटी उम्र, और गाड़ा में बैठकर गये थे। दूसरे (लोग) देखने के लिये उतर गये। (पूछा) कैसे है ?-कि यह मार्ग लुटता है। लुटाऊ मार्ग है। इसलिये अपने गाड़ा एकदम हाँको, और हम नीचे उतर जाते हैं तथा सामने देखते हैं। यह तो बनी हुई बात है। बहुत वर्ष की, ७५ वर्ष पहले की बात है। यह मार्ग लुटता है, ऐसा कहते हैं। यह मार्ग लुटाऊ है-ऐसा बोलते थे। क्योंकि वहाँ आगे गहरा-गहरा है। ऐसे रास्ता ऊँचा हो, इसलिए गहरा-गहरा (हो), इसलिए वहाँ चोर लूटे तो कोई बाहर में ठेठ तक आवे, तब तक पता नहीं पड़ता। लुटाऊ मार्ग है (कहे परन्तु) मार्ग लुटाऊ नहीं है। आहाहा!

देखो तो सही दृष्टान्त! उपचार करके यह मार्ग लुटता है - ऐसा कहते हैं। **तथापि निश्चय से देखा जाये तो, जो आकाश के अमुक भागस्वरूप है...** आकाश के अमुक भागस्वरूप मार्ग है। **वह मार्ग तो कुछ नहीं लुटता;...** मार्ग कहीं लुटता नहीं है। आहाहा! **इसी प्रकार भगवान अरहन्तदेव,...** सर्वज्ञ परमेश्वर, **जीव में बन्धपर्याय से स्थिति...** एक समय की बन्धपर्याय की स्थिति देखकर। आहाहा! एक समय में वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, कर्म का सम्बन्ध-ऐसा एक समय है। भगवान तो त्रिकाली आनन्दकन्द प्रभु है। आहाहा! उसमें ये परमाणु आदि, बन्ध आदि, भेद आदि एक समय में रहनेवाले हैं। आहाहा!

जीव में बन्धपर्याय से स्थिति को प्राप्त... आहाहा! **कर्म और नोकर्म का वर्ण देखकर,...** वर्ण से लिया है न? वर्ण, गन्ध से लिया है न? इसलिए? कर्म-नोकर्म की वर्ण की बन्धपर्याय की जीव में स्थिति एक समय होने से **उसका उपचार करके,...** यह तो गति करते हुए, परिणमन करते.. करते.. करते.. आये हैं। आहा..हा..! यह आत्मा के स्वभाव में, पर्याय में गति करते एक समय (के लिये) आये हैं। परन्तु एक समय की स्थिति देखकर ये आत्मा के हैं-ऐसा कहने में आता है, वह तो व्यवहार है। आहाहा! आहाहा!

यहाँ तो वहाँ तक कहा न! नियमसार... चार भाव हैं, वे आवरणसंयुक्त हैं-ऐसा कहा। आहाहा! ऐ... देवानुप्रिया! तुम्हारा सब इसमें आया है या नहीं? क्षायिकभाव, उपशमभाव, केवलज्ञान, केवलदर्शन, यह क्षायिकभाव है। उन्हें वहाँ 'आवरणसंयुक्त' कहा – ऐसा टीका में पाठ है-आवरणसंयुक्त। अर्थात् इन्हें कर्म के निमित्त के अभाव की अपेक्षा आती है न! आहाहा! इसलिए उसे आवरणसंयुक्त गिनकर, उस भाव की भावना न करनी (-ऐसा कहा है)। आहाहा! पंचम स्वभावभाव, ध्रुवभाव, ध्रुवभाव ऐसा। आहाहा! उसकी भावना (करनी)। उसकी भावना है उपशम, क्षयोपशमभाव, परन्तु पंचम (भाव की) भावना (भाना), इस भावना की भावना नहीं। आहाहा! आहाहा! क्षायिक, क्षयोपशम आदि पर्याय है परन्तु उसकी भावना नहीं। आहा! यह तो एक क्षणिक अवस्था है। केवलज्ञान, केवलदर्शन भी... आहाहा! त्रिकाली भगवान के समक्ष एक समयमात्र स्थिति को प्राप्त है।

आहाहा! मार्ग में लुटते देखकर मार्ग लुटता है। लुटता है तो उपचार है। इसी प्रकार स्वयमेव गति, स्थिति,... उसका क्षायिकपना, क्षयोपशमपना वहाँ आया है... आहाहा! उसे आत्मा का कहना, वह तो व्यवहार उपचार है। आहाहा! गजब बात है।

जीव में एक समय की स्थिति, बन्धपर्याय की स्थिति की अपेक्षा से देखें तो वह उपचार करके कहा है। **'जीव का यह वर्ण है'...** जीव के गुणस्थान हैं। आहाहा! वहाँ एक समय की पर्याय की स्थिति है। अबन्धस्वरूप भगवान आत्मा तो त्रिकाल ऐसा का ऐसा ध्रुव प्रवाह चला आता है, उसमें एक समय की ये पर्याय की अवस्थायें जो दिखती हैं, वे वास्तव में तो यह स्वयं अवस्थायें उस समय में आने की योग्यता से सब हुई है। रागादि ये सब। आहाहा! भगवान ज्ञायकस्वरूप के ऊपर यह तो ऐसे गति करते-करते उनकी स्थिति-प्रमाण आये हैं परन्तु एक समय का सम्बन्ध देखकर... आहाहा! जीव के (वर्ण है ऐसा कहा)। बहुत सूक्ष्म बात, बापू! आहाहा! पर का तो कर नहीं सकता परन्तु क्षायिक भाव की भावना करनी नहीं, कहते हैं। आहाहा! गजब बात है।

पर का कर नहीं सकता, राग करता नहीं परन्तु क्षायिकभाव की पर्याय की भावना जीव नहीं करता। आहाहा! वह तो त्रिकाली ज्ञायकभाव भगवान अभेदस्वरूप है। यह तो

यहाँ भेद को उपाधि कहा न? और उसमें भी आया है न? '**परपरिणतिमुज्झत् खण्डय -द्भेदवादा**' (समयसार) ४७ श्लोक। आहाहा! '**परपरिणतिमुज्झत्** परन्तु **खण्डयद्भेदवादा**' उसे भी छोड़ दिया। आहाहा! कर्ताकर्म (अधिकार में है)। कर्ता-कर्म, परपरिणति। आहा! एक समय की स्थिति देखकर (इसके हैं ऐसा कहने में आता है)। है तो वे स्वयं मार्ग में चलते चलते अन्दर आये हैं, उनके मार्ग से, हों! आहाहा! परन्तु एक समय की स्थिति की अवधि देखकर, इसके हैं, ऐसा व्यवहार से कहने में आता है। आहाहा!

यह सब सम्बन्ध जो शरीर, वाणी, कर्म, भेद, गुणस्थान... आहाहा! ये तो पलटते... पलटते... पलटते... इनके समय में समय की स्थिति उनके कारण ऐसे आये हैं परन्तु आत्मा की बन्धस्थिति की एक समय में स्थिति पाते देखकर (जीव के कहे हैं)। है तो उसके आहा! भेद, गुणस्थान हैं तो उसके-अजीव के। आहा! परन्तु भगवान आत्मा चैतन्यमूर्ति परमस्वभावभाव में तो ये नहीं, परन्तु उसकी पर्याय में एक समय की अवधि देखकर... आहा! व्यवहार से उसके हैं, ऐसा कहा है। हैं तो उसके (अजीव के)। इसके (जीव के) नहीं। आहाहा! राग, द्वेष, पुण्य, पाप, गुणस्थान, जीवस्थान, मार्गणास्थान, वे हैं तो उसके (अजीव के)। आहाहा! क्या शैली! भगवान तीन लोक का नाथ चैतन्य परमस्वभावभाव,... वह है तो इसका, परन्तु यहाँ एक समय की बन्ध की पर्याय की स्थिति का सम्बन्ध देखकर इसके हैं, ऐसा व्यवहार से कहा। आहाहा! ऐसी बात है प्रभु! ओहोहो!

श्रोता : आज तो आप बहुत सूक्ष्म बात फरमाते हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु ऐसी बात ही यह सादी भाषा में तो आती है। आहाहा!

संघ लुटता है, उसमें मार्ग लुटता है, यह कहना, वह तो उपचार है। इसी तरह इस जगत की सभी चीज़ें अजीव हैं। उनके कारण यहाँ उस प्रकार के भाव को प्राप्त होती है। आहाहा! परन्तु आत्मा को बन्ध की एक समय की स्थिति देखकर सम्बन्ध (कहा)। आहाहा! है तो भेद, भेद का; राग, राग का; कर्म, कर्म का; संहनन, संहनन का। आहाहा! परन्तु एक समय की ऐसी स्थिति देखकर (जीव का कहा है)।

प्रभु तीन लोक का नाथ ज्ञायकस्वभाव की एक समय की पर्याय में सम्बन्ध देखकर उसके हैं (ऐसा कहा)। हैं तो उसके, परन्तु इसके हैं - ऐसा एक समय की स्थिति

देखकर कहने में आता है। आहाहा! गजब काम किया है न! यह टीका! अब वह कहता है कि टीका करके दुरुह किया। भगवान! भाई! ऐसा रहने दे भाई! ऐसे अवसर में तू ऐसे अभिमान में मत जा! आहाहा!

भावलिंगी सन्त ऐसा कहते हैं, प्रभु! तू तो त्रिकाली ध्रुव परमपारिणामिकस्वभावभाव तत्त्व है। आहाहा! अरे रे! वास्तव में तो यह क्षायिकभाव और क्षयोपशमभाव की भी पर्याय है उसकी... आहाहा! परन्तु एक समय की स्थिति की अपेक्षा गिनकर व्यवहार से इसका (जीव का) कहा। गजब काम किया है न! प्रभु! भगवान आत्मा अभेदस्वरूप, अभेदस्वरूप है। जिसमें पर्याय का भी भेद नहीं। आहाहा! परन्तु वह भेद एक समय की स्थिति देखकर (जीव का कहा है)। है तो भेद भेद का; है तो राग राग का; है वर्ण वर्ण का; है गुणस्थान गुणस्थान का – अजीव का। आहाहा!

भगवान चैतन्यस्वरूप परमानन्द की मूर्ति प्रभु अभेदवस्तु में एक समय के भेद को देखकर–है तो भेद भेद का; गुणस्थान, गुणस्थान का, परन्तु यहाँ एक समय का ऐसा सम्बन्ध देखकर–जीव का व्यवहार से कहने में आता है। आहाहा! ऐसी बात है, प्रभु! क्या हो? आहाहा! जिसे क्षायिकभाव भी आवरणवाला कहा क्योंकि उसमें निमित्त की अपेक्षा आती है। भगवान का स्वभाव है, उसमें किसी निमित्त की अपेक्षा का और भाव या अभाव ऐसा कुछ है नहीं – ऐसा ज्ञायकभाव, पंचमभाव, परमात्मभाव है। आहाहा! उसे एक क्षायिकभाव को भी आवरणवाला गिनकर... आहाहा! वह आत्मा में नहीं है। आहाहा! आया है न इसमें? '**क्षायिकभाव ठाणा**' क्षायिकभाव के केवलज्ञान आदि प्रकार आत्मा में नहीं हैं। आहाहा! परन्तु एक समय की क्षायिक आदि, क्षयोपशम की पर्याय का त्रिकाल के साथ एक समय का सम्बन्ध देखकर... आहाहा! बन्धपर्याय का सम्बन्ध देखकर, अबन्धस्वभावी भगवान में यह एक समय की स्थिति देखकर, इसके हैं – ऐसा व्यवहार से कहा है। आहाहा! ऐसा मार्ग है।

'जीव का यह वर्ण है' ऐसा व्यवहार से प्रगट करते हैं, तथापि निश्चय से, सदा ही जिसका अमूर्त स्वभाव है... भगवान आत्मा का तो त्रिकाली अमूर्त स्वभाव है। अमूर्त (स्वभाव) तो धर्मास्तिकाय में (भी) है परन्तु **उपयोगगुण के द्वारा अन्य द्रव्यों से अधिक**

है... आहाहा! जानन–देखन स्वभाव से... आहाहा! इन सब भेद आदि से अधिक अर्थात् भिन्न है। आहाहा! **उपयोगगुण के द्वारा अन्य द्रव्यों से अधिक है...** ये सब अन्य द्रव्य कहने में आये हैं। आहाहा! नियमसार में तो क्षायिकभाव को भी परद्रव्य कहा है। आहाहा! त्रिकाली भगवान परमात्मस्वरूप ऐसा का ऐसा बिराजमान है। आहाहा! उसके अन्दर में पर्याय की एक समय की स्थिति देखकर, वह क्षायिकभाव जीव का है – ऐसा व्यवहार से कहते हैं। आहाहा! ऐसी बात है। ओहोहो! क्या जिनेश्वर त्रिलोकनाथ की वाणी! और सन्तों ने... आहाहा! जगत को पंचम काल के प्राणी के समक्ष प्रसिद्ध किया है।

प्रभु! तू तो ज्ञायकस्वभाव से भरपूर ऐसा अखण्डानन्द प्रभु है न! उसमें एक समय की ये सब दशायें, क्षायिक–क्षयोपशमदशा भी एक समय की अवस्था है। आहाहा! एक समय की अवस्था का त्रिकाली में सम्बन्ध देखकर वह जीव का है – ऐसा कहा है। है नहीं इसका। आहाहा!

राग और द्वेष तो विकारीदशा है; कर्म और संहनन और संस्थान तो जड़ की दशा है परन्तु अन्दर में कर्म के निमित्त के अभाव से होनेवाली निवृत्तदशा... आहाहा! उसे भी परद्रव्य के भाव गिनकर, आत्मा में वह नहीं... तब उसे (जीव का) क्यों कहा?—कि एक समय की (स्थिति देखकर कहा)। एक ही समय (रहती है)। भगवान तो त्रिकाली प्रभु है, उसमें एक समय की स्थिति देखकर इसके हैं – ऐसा व्यवहार से कहा है। आहाहा! निश्चय से इसके नहीं। आहा! देखो! यह तीन लोक के नाथ की वाणी! आहाहा! यह दिगम्बर सन्तों की वाणी! आहा! गजब काम किया है! काम तो कर गये परन्तु जगत् को समझाने की शैली (भी गजब!) आहाहा!

जो विकल्प आया, उसका कर्ता नहीं और उस काल में जो क्षयोपशम की पर्याय हुई है, वह मुझमें नहीं। आहाहा! ऐसी दृष्टि को, अभेद की दृष्टि होने पर भी पर्याय में क्षयोपशम की पर्याय हो, राग हो, (वह) है तो पर का, कहते हैं। आहाहा! भगवान! तेरी महिमा का पार नहीं, प्रभु! तू अन्दर कौन है? साक्षात् भगवान स्वरूप है!! आहाहा! सच्चिदानन्द प्रभु है! भाई! आहाहा! शाश्वत् ज्ञान और आनन्द का भण्डार परमात्मा है। उसे यह पर्यायवालाऔर ...वाला कहना, वह तो एक समय की स्थिति इसमें देखकर कहा

जाता है। आहाहा! नहीं तो वह पर्याय और रागादि सब अजीव कहे गये हैं, त्रिकाली जीव की अपेक्षा से। आहाहा! और वह भी अनुभूति के काल में कहा न! जब अखण्ड-अभेद चीज़ ऐसे जानने में आयी, ऐसे जब अनुभव हुआ, तब अनुभूति से यह सब बात भिन्न रह जाती है। आहाहा! यह समयसार! अजोड़ चक्षु है!!

श्रोता : कथंचित् वक्तव्य।

पूज्य गुरुदेवश्री : कथंचित वक्तव्य और कथंचित् अवक्तव्य। यह वक्तव्य कहना भी एक उपचार से है। आहाहा! वाणी के काल में वाणी निकलती है, उसमें जीव का निमित्त देखकर; निमित्त देखकर अर्थात् उसका कोई कर्तव्य नहीं। आहाहा! बहुत अलौकिक बात है प्रभु! ओहोहो! यहाँ तो अभेद चीज़ की दृष्टि में भेद है, वह भी पर का है-अजीव का है, पुद्गल के परिणाम हैं। आहाहा! गजब काम किया है न, नाथ! यहाँ जाना, बापू! यहाँ तक। आहाहा! यह कोई अपूर्व अनन्त पुरुषार्थ है! आहाहा! शास्त्र से कोई काम पार न पड़े, शास्त्र के पठन से भी यह पार न पड़े। आहाहा!

त्रिकाली चीज़ भगवान आत्मा ध्रुव (है)। उसमें, ये स्थिति प्राप्त जगत के पदार्थ तो पर हैं, परन्तु एक समय की स्थिति का सम्बन्ध देखकर... आहाहा! व्यवहार से (इसके कहे गये हैं)। त्रिकाली में तो है नहीं, निश्चय से तो है नहीं परन्तु यह स्वयं परिणमन करते-करते एक समय की मुद्दतवाले ऐसे साथ में दिखायी दिये, इससे व्यवहार से उन्हें जीव का कहा। आहाहा! ऐसा है, भाई! यह कोई शास्त्र के पठन से यह मिले, ऐसा नहीं है। आहाहा! अलौकिक बात है! आहाहा! यह दिगम्बर दर्शन, वह जगत में कहीं है नहीं। यह वस्तु का स्वभाव है, वह दिगम्बर दर्शन है। आहा! क्योंकि जो त्रिकाली वस्तु है, उसमें एक समय की स्थितिवाली (वह चीज़ है), वे हुए हैं तो उनके कारण परन्तु यहाँ एक समय की स्थिति देखकर व्यवहार कहे। आहाहा! अभूतार्थनय से कहे। आहाहा! भगवान आत्मा भूतार्थ प्रभु! आहाहा! भगवान का विरह पड़ा परन्तु विरह भुलावे, ऐसी यह बात है!! आहाहा! क्या शैली! क्या प्रवाह! इनकी वाणी के प्रवाह का प्रपात! आहा!

कहते हैं, प्रभु! एक बार शान्ति से सुन, भाई! तू तो अभेदस्वरूप है, वह तू है, परन्तु ये सब शरीर, वाणी, मन, भेद, गुणस्थान आदि हैं, वे हैं तो सब अजीव; वे हैं तो सब पुद्गल

के परिणाम। आहाहा! अखण्डानन्द प्रभु त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव की अपेक्षा से तो वे सब अजीव हैं। आहाहा! वास्तव में तो क्षायिक और क्षयोपशमभाव पर्याय है, वह त्रिकाली की अपेक्षा से अजीव है। व्यवहार जीव हुआ न! इसलिए निश्चय से अजीव। आहाहा! वाह, प्रभु वाह! क्या इनकी शैली!! आहाहा! है तो इसके परिणमते इसके काल में वे अजीव, उसमें हैं वे तो; परन्तु यहाँ भगवान त्रिकाली ज्ञायकस्वरूप प्रभु को एक समय का ऐसा सम्बन्ध है न? एक समय की स्थिति से वहाँ टिका है न? एक समय, इतनी अपेक्षा से उसे व्यवहार है। आहाहा!

श्रोता : पंचास्तिकाय में इन्हें संयोग-वियोग कहा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सम्बन्ध है न इतना! एक समय रहता है न! क्षयोपशमभाव, भेदभाव भी एक समय पर्याय में रहते हैं। त्रिकाल में नहीं, इसलिए निश्चय से (नहीं) परन्तु एक समय ऐसा सम्बन्ध है, इतना गिनकर व्यवहार से इसके कहे हैं। आहाहा! अरे! ऐसा तत्त्व सुनने को नहीं मिलता, आहाहा! और बाहर आया तो इसका विरोध करते हैं, प्रभु! परन्तु क्या हो? भाई! आहाहा! दुनिया को ऐसे व्यवहार से होता है (ऐसा कहे) तो उसे मजा आये। अरे प्रभु! आहाहा! व्यवहार—यह क्षायिकभाव है, वह व्यवहार है। आहाहा! पर्यायमात्र व्यवहार है, भाई! इस व्यवहार से निश्चय हो, ऐसा तीन काल में नहीं है। आहाहा!

भगवान पंचम भाव की भावना... पाठ तो ऐसा लिया है न? भाई! क्षायिक, उपशम, आदि चार भाव आवरणसंयुक्त होने से जीव के नहीं हैं। फिर कहा कि इसलिए... आहा! पंचम भाव की भावना से मोक्ष प्राप्त करते हैं, चार भाव से मोक्ष प्राप्त नहीं करते। आहाहा! मोक्ष की पर्याय, मोक्ष की पर्याय से प्राप्त नहीं करते। आहाहा! यह तो पंचम भाव जो भगवान ज्ञायक प्रभु वीतरागमूर्ति एकरूप अभेद वस्तु की भावना—पंचम भाव की भावना! भावना है तो उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक परन्तु भावना उसकी (स्वभाव की)। भावना की भावना नहीं! आहाहा! ऐसी बातें हैं।

एक ओर कहते हैं कि ये चार भाव जीव के नहीं। दूसरी ओर कहते हैं कि पंचम भाव की भावना से मुक्ति होती है। यह भावना है तो क्षयोपशम, उपशम परन्तु इसकी

(त्रिकाली की) भावना है; पर्याय की भावना नहीं। आहाहा! अरे रे! जिन्दगी जाती है, शरीर चला जाता है, गति बदल जाती है। उसमें यह बात नहीं समझे तो... बापू! ये सब करोड़पति और अरबोंपति, बापू! मरकर कहाँ जायेंगे? आहाहा! आहाहा! जिन्हें ऐसा सुनने को नहीं मिलता... आहाहा! उन्हें समझने का कहाँ रहा? आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि पंथ का (दृष्टान्त) देकर गजब बात की है! आहाहा! लुटता है वह (संघ), परन्तु पंथ लुटता है - ऐसा उपचार से (कहा है)। क्योंकि उस पंथ में संघ की एक समय की स्थिति है न? आहा! इसी प्रकार ये सब भाव—जितना २९ बोल का घूरा कहा है न, वे सब हैं तो अजीव के, भेदभाव हैं, वे अजीव हैं। अरे रे! जीवद्रव्य नहीं, इस अपेक्षा से अजीव। एक समय की पर्याय है, वह जीवद्रव्य नहीं। पूरा जीवद्रव्य नहीं, इससे एक समय की पर्याय को भी जीवद्रव्य नहीं, अजीव है - ऐसा कहा। दूसरी भाषा से उसे परद्रव्य कहा। आहाहा!

यह स्वयं तो भगवान अमूर्त है और **उपयोगगुण के द्वारा अन्य द्रव्यों से अधिक है...** जानन-देखन जो त्रिकाली स्वभाव भगवान, उसकी वर्तमान अनुभूति होने पर... आहाहा! आहाहा! वे अन्य द्रव्य हैं। आहाहा! गुणस्थान के भेद, लब्धिस्थान के भेद, वे अन्य द्रव्य हैं। गजब करते हैं न! आहाहा! क्षायिकभाव भी अन्य द्रव्य है। यह द्रव्य नहीं, इसलिए अन्य द्रव्य, ऐसा। त्रिकाली जो ज्ञायकभाव भगवान पूर्णानन्द प्रभु, अतीन्द्रिय आनन्द का पूर्ण भण्डार... आहाहा! वह क्षायिकभाव नहीं, इसलिए वह क्षायिकभाव जीवद्रव्य नहीं। आहाहा! परन्तु आत्मा की त्रिकाली चीज़ में एक समय की स्थिति-सम्बन्ध है—ऐसा देखकर व्यवहार से आत्मा का है, ऐसा कहने में आया है। आहाहा! अरे! प्रभु! सन्त और गणधर जो इसके अर्थ करते होंगे... आहाहा! अलौकिक बातें हैं, बापू! आहाहा!

इस जीव का वर्ण नहीं, गन्ध नहीं। है न? **ऐसे जीव का कोई भी वर्ण नहीं है।** गन्ध नहीं, रस नहीं, स्पर्श नहीं, रूप नहीं, शरीर, संस्थान, संहनन (नहीं)। यहाँ तक तो ठीक; ये तो पर की पर्याय, यहाँ तक तो पर की पर्याय है। अब **राग, द्वेष, मोह,...** मोह अर्थात् मिथ्यात्व। आहाहा! **प्रत्यय...** अर्थात् आस्रव। **कर्म, नोकर्म...** ये चार कहे, वे भी

आत्मा के नहीं। आहाहा! कोई भी मोह, राग, द्वेष जीव के नहीं हैं। आहाहा! ये सब तो अजीव के हैं।

कर्म, नोकर्म, वर्ण, वर्गणा, स्पर्धक,... ये तो जड़ के गये। अब यहाँ तो **अध्यात्म -स्थान,...** जीव के अध्यवसाय के प्रकार, वे जीव में नहीं हैं। आहाहा! एक समय की पर्याय है; इस कारण व्यवहार से इसके कहे हैं, वस्तु में वे नहीं हैं। आहाहा! **अनुभागस्थान,..** वे तो जड़ के हैं। वे (जीव के) नहीं। **योगस्थान,...** कम्पन आदि भी आत्मद्रव्य में नहीं है। कम्पन भले इसकी पर्याय में है, परन्तु द्रव्य में (नहीं)। अजीव में जाता है। **बंधस्थान, उदयस्थान, मार्गणास्थान,...** आहाहा! मार्गणास्थान। समकित और उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक और सब मार्गणास्थान, वे जीव में नहीं हैं। आहाहा! ऐसा कहना कि इसे खोजना हो तो किस स्थिति में है, इसलिए मार्गणा कही। आहा! परन्तु वह तो पर्याय की मार्गणा कही। आहाहा! भले ज्ञान के पाँच भेद हों, समकित के भेद हों, सब आत्मा में नहीं हैं। अभेद में भेद नहीं है, भेद को तो यहाँ उपाधि में डाल दिया है। आहाहा!

स्थितिबंधस्थान,... कर्म की अवधि। **संक्लेशस्थान,...** अशुभभाव। वह अशुभभाव है तो जड़ का, परन्तु एक समय में ऐसे संक्लेश की पर्याय का सम्बन्ध है, ऐसा देखकर जीव का व्यवहार से कहा। आहाहा! यह गले उतरना, आत्मा में बैठना, हों! आहाहा! **विशुद्धिस्थान,...** शुभराग के प्रकार हैं, वे सब अजीव हैं परन्तु त्रिकाली जीव के साथ एक समय की ऐसी स्थिति-सम्बन्ध देखकर, एक समय की स्थिति देखकर व्यवहार से इसके कहे हैं। आहाहा!

संयमलब्धिस्थान,... आहाहा! एक समय की जो पर्याय निर्मल हुई, एक समय की देखकर इसके है, ऐसा कहा। बाकी वह स्थान जीवद्रव्य का नहीं है। आहाहा! सामने है न पुस्तक? आहाहा! यह **संयमलब्धिस्थान,...** जीव के नहीं, जीवद्रव्य के नहीं परन्तु एक समय की स्थिति देखकर व्यवहार से जीव के कहे गये हैं। आहाहा! वरना वे क्षयोपशम के भाव हैं, तथापि क्षयोपशम भी एक समय की अवधिवाला है। भगवान त्रिकाली के साथ एक समय की अवधि देखकर जीव का कहा है, बाकी जीवद्रव्य का है नहीं। आहाहा!

जीवस्थान... चौदह जीवस्थान—पर्याप्त-अपर्याप्त आया था न? एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय,

त्रिइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, पर्याप्त और अपर्याप्त, सूक्ष्म और बादर (ऐसे) चौदह बोल। वे एक समय की स्थिति देखकर इसके (जीव के कहे), बाकी वस्तु में नहीं है। आहाहा! जीवद्रव्य में नहीं, परन्तु एक समय की स्थिति देखकर व्यवहार से इसके कहे हैं। आहाहा! गजब टीका! अमृतचन्द्राचार्य की टीका... आहाहा! अमृत उड़ेला है अकेला!

गुणस्थान... चौदह (गुणस्थान) वे अजीव हैं, अजीव के हैं परन्तु जीव की एक समय की पर्याय (में देखकर इसके हैं ऐसा कहा)। परमेश्वर सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ अरिहन्तदेव जिनेश्वर परमात्मा! यह जीव के नहीं परन्तु एक समय की स्थिति देखकर व्यवहार से जीव के कहे हैं। आहाहा! अरिहन्तदेव सर्वज्ञ जिनेश्वर परमात्मा! ...ये जीव के नहीं परन्तु एक समय की स्थिति देखकर व्यवहार से जीव के कहे हैं। आहा! अब यहाँ तो शुभभाव से होता है, शुभभाव से होता है (ऐसा लोग कहते हैं)। लो! आहा! कल भाई आये थे न, मुरैनावाले, वहाँ (ऐसा कहते हैं) शुभभाव कारण है, यह शुभभाव कारण है न? अरे! प्रभु... प्रभु... प्रभु... प्रभु... वह शुभभाव है, अजीव का स्थान है, परन्तु एक समय की ऐसी पर्याय देखकर व्यवहार से कहा, उससे आत्मा का कल्याण होता (-ऐसा नहीं है)। आहाहा! कल्याण तो पर्याय के आश्रय से नहीं होता। आहा! त्रिकाली पंचमभाव भगवान पूर्णानन्द प्रभु की भावना से कल्याण होता है। भले वह भावना क्षयोपशम, उपशम, क्षायिकरूप हो परन्तु भावना पंचम भाव त्रिकाल... त्रिकाल... त्रिकाल... ज्ञायकभाव... आहाहा! इसके आश्रय से कल्याण होता है। पर्याय के आश्रय से पर्याय में कल्याण नहीं होता। ऐसी बात कहाँ है? आहाहा!

श्रोता : यह बात सोनगढ़ में है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वीतराग के घर की बात है प्रभु, हों! आहाहा! दोनों को समझाने की विधि भी कैसी, देखो न! द्रव्य में तो नहीं परन्तु तब उसे व्यवहार से कहना क्यों? एक समय का ऐसा इतना (सम्बन्ध) है न! आहाहा! इसलिए व्यवहार से कहा। आहाहा! अब ऐसी बात सुने (परन्तु) राजकीय व्यक्ति को बैठे किस प्रकार यह? भाई कान्तिभाई आये थे, ऐसा कहते थे, मोरारजी देसाई निकलनेवाले हैं। अपने को उन्हें कुछ कहना या नहीं? कहा—हमारा काम नहीं। अपने आप आवे तो भले आवें। हम यहाँ कहें नहीं कि यहाँ

आओ। यह कहाँ मार्ग ? बापू! आहाहा! अरे! जैन के बाड़ा में पड़े, उन्हें सुनना कठिन पड़ता है। आहाहा! कठिन बात, बापू!

यह सब ही (भाव) व्यवहार से अरहन्त भगवान... आहा! स्वयं कहते हैं, ऐसा नहीं कहते... आहाहा! भगवान सर्वज्ञदेव, परमेश्वर जिनेन्द्रदेव ने ऐसा कहा है, कहते हैं। **व्यवहार से अरहन्तभगवान जीव के कहते हैं, तथापि...** ऐसा होने पर भी... आहाहा! **निश्चय से, सदा ही जिसका अमूर्त स्वभाव है...** भगवान का तो अमूर्त स्वभाव है। यह भगवान आत्मा, हों! **और जो उपयोगगुण के द्वारा अन्य से अधिक है...** इस उपयोगगुण द्वारा भेद से भी भिन्न है। आहाहा! जानन-देखन उपयोग द्वारा! वह भले जानन-देखन उपयोग त्रिकाल है परन्तु इसे वर्तमान उपयोग द्वारा इसकी ओर के जुड़ान से... आहाहा! अनुभूति से। **अन्य से अधिक है...** इस भेद से भिन्न है, राग से भिन्न है, द्वेष से भिन्न है, जीवस्थान से भिन्न, मार्गणास्थान से भिन्न है। आहाहा!

ऐसे जीव के वे सब नहीं हैं,... वे जीवद्रव्य के नहीं हैं। आहाहा! वे जीवद्रव्य में नहीं हैं। आहाहा! **क्योंकि इन वर्णादि भावों के और जीव के तादात्म्यलक्षण सम्बन्ध का अभाव है।** आहाहा! क्या कहते हैं ? राग-द्वेष, गुणस्थान आदि को, जैसे उष्णता और अग्नि को तादात्म्य सम्बन्ध है, वैसे भगवान ज्ञायकस्वभाव को और इन गुणस्थान भेद को तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! एक समय की स्थिति का सम्बन्ध है, वह तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! ऐसे संयमलब्धि के स्थान जो भेद हैं, उन्हें और अभेद को तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! अब यह समयसार, एक व्यक्ति पन्द्रह दिन में पढ़ गया, बापू! भाई! आहाहा!

श्रोता : पढ़ गया न! समझ गया नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह ऐसा कहता है, मैं पढ़ गया। क्या पढ़ा ? बापू! इसकी एक लाईन, एक गाथा... आहा! भगवान की दिव्यध्वनि का सार है यह! अजोड़ चक्षु है!!

क्योंकि इन वर्णादि... अथवा रंग-गन्ध को तो तादात्म्य सम्बन्ध नहीं, वैसे राग-द्वेष के परिणाम और जीवद्रव्य को तादात्म्य सम्बन्ध नहीं। तत्-सम्बन्ध। परन्तु लब्धिस्थान आदि जो भाव पर्याय में इन्हें, और आत्मा को त्रिकाली तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है, एक

समय की पर्याय का अनित्य सम्बन्ध है। आहाहा! **तादात्म्यलक्षण सम्बन्ध का अभाव है।** भगवान ज्ञायकभाव की जो अभेद अनुभूति, उसमें वे नहीं आते। आहाहा! इसलिए उन्हें तादात्म्य सम्बन्ध लक्षण का अभाव है। आहाहा! तादात्म्य सम्बन्ध होवे तो अनुभूति में भी आना चाहिए। आहाहा! आनन्द को और भगवान को तादात्म्य सम्बन्ध है, ज्ञान को और भगवान आत्मा को तादात्म्य सम्बन्ध है कि जिससे अनुभूति में वे ज्ञान और आनन्द आते हैं। आहाहा! समझ में आया?

यह तो ५६ में नहीं कहा? रुई का दृष्टान्त देकर। दृष्टान्त पाठ में नहीं था, टीका में कहा और पाठ में तो ५७ गाथा में आया क्षीर और पानी, दूध और पानी एक जगह रहने पर भी दोनों के भाव भिन्न हैं। इसी प्रकार भगवान आत्मा और यह गुणस्थान आदि और यह लब्धिस्थान आदि एक क्षेत्र में रहने पर भी भाव भिन्न है। आहाहा! अब यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि व्यवहार है—साधक जीव को व्यवहार ही होता है। यह व्यवहार ही होता है? यह व्यवहार तो ज्ञायक का भान होकर, है, उसे जानने के लिये कहा। आहाहा! उसके बदले (ऐसा कहे कि) साधक को व्यवहार ही होता है, निश्चय तो सिद्ध को (होता है)। अरे... प्रभु! क्या किया यह तूने? अरे!

भावार्थ - ये वर्ण से लेकर गुणस्थान पर्यन्त भाव... (उनतीस) **सिद्धान्त में जीव के कहे हैं, वे व्यवहारनय से कहे हैं,...** एक समय की पर्याय का सम्बन्ध देखकर। **निश्चयनय से वे जीव के नहीं हैं,...** द्रव्यस्वभाव में वे नहीं हैं। **क्योंकि जीव तो परमार्थ से उपयोगस्वरूप है।** वह तो ज्ञान-दर्शन के उपयोगस्वरूप है, उसमें भेद कहाँ से आये? आहाहा! उसमें ये गुणस्थान और जीवस्थान और मार्गणास्थान कहाँ से आये? कहते हैं। आहा! गजब टीका की है न। कुन्दकुन्दाचार्य! कुन्दकुन्दाचार्य ने महान, गहन, गम्भीर गाथा (रची है)। इसका टीकाकार ने स्पष्ट किया, तब वे कहते हैं कि 'दुरुह' कर डाला। भगवान.. भगवान.. भगवान..! प्रभु.. प्रभु! तू क्या करता है? भाई! वे आचार्य हैं। समर्थ आचार्य परमेष्ठी हैं। कुन्दकुन्दाचार्य के कथनों को परमेष्ठी ने स्पष्ट किया है, उन्हें ऐसा नहीं कहा जाता। उन्होंने 'दुरुह' कर डाला, प्रभु! ऐसा नहीं कहा जाता। उन्होंने स्पष्ट कर दिया है, ऐसा कहा जाता है। आहा! प्रभु, प्रभु! क्या करता है? भाई! आहाहा! आहाहा! यह

दुनिया मान और सम्मान और ऐसा, हा... हो... (करे) बापू! पड़े रहोगे, भाई! आहा! यह शल्य लेकर जो पड़ा है, वह चला जायेगा अन्दर से! आहाहा! दुनिया महिमा करे, दुनिया माने कि आहा... आहा... आहा...! वह कोई साथ नहीं आयेगा वहाँ। आहाहा!

श्रोता : आचार्य ने उपकार माना है कि आप महाविदेह जाकर ऐसा न लाये होते तो हम कहाँ से पाते?

पूज्य गुरुदेवश्री : कहा न, कहा न! देवसेनाचार्य (ने कहा)। अहो! भगवान के पास कुन्दकुन्दाचार्य न गये होते तो हम मुनिपना कैसे पाते? आहाहा! यह शैली... अनुभव और चारित्र तो था परन्तु वहाँ भगवान के पास साक्षात् गये। आहाहा! भले क्षायिक न हुआ परन्तु अप्रतिहत सम्यग्दर्शन-ज्ञान हो गया। आहाहा! उनके वे सम्यग्दर्शन-ज्ञान से आगे जाकर केवल (ज्ञान) प्राप्त करेंगे।

यह यहाँ कहते हैं, अरहन्तदेवों ने व्यवहार से कहा है। **यहाँ ऐसा जानना कि — पहले व्यवहारनय को असत्यार्थ कहा था...** ग्यारह गाथा में झूठा कहा था। **सो वहाँ ऐसा न समझना कि वह सर्वथा असत्यार्थ है,...** यह पर्याय नहीं ही, गुणस्थान नहीं ही, पर्याय में नहीं ही - ऐसा नहीं जानना। पर्याय असत्यार्थ कही कि वह तो त्रिकाल की अपेक्षा से उसे असत्यार्थ कहकर गौण करके असत्यार्थ कहा। आहाहा! पर्याय में भेद गुणस्थान आदि की पर्याय है। व्यवहार झूठा है, अर्थात् वह तो त्रिकाल की अपेक्षा से उसे झूठा कहा परन्तु वर्तमान की अपेक्षा से व्यवहार है, सत्य है। आहा! है अर्थात् सत्य, हों! आश्रय करनेयोग्य है, यह प्रश्न यहाँ नहीं। आहा!

वहाँ ऐसा नहीं समझना कि सर्वथा झूठा ही है, पर्याय है ही नहीं। गुणस्थान और ये सब पर्याय में है ही नहीं - ऐसा नहीं समझना। **कथंचित् असत्यार्थ जानना; क्योंकि जब एक द्रव्य को भिन्न, पर्यायों से अभेदरूप,...** आहाहा! **उसके असाधारण गुणमात्र को प्रधान करके...** त्रिकाली गुण को मुख्य गिनकर। **कहा जाता है, तब परस्पर द्रव्यों का निमित्तनैमित्तिकभाव...** निमित्तनैमित्तिकभाव रागादि, भेद आदि **तथा निमित्त से होनेवाले पर्यायें - वे सब गौण हो जाते हैं,...** गौण हो जाती है, अभाव हो जाती है - ऐसा नहीं; नहीं - ऐसा नहीं। आहाहा! गौण होकर उन्हें झूठा कहा है। आहाहा!

देखो! वहाँ लिया था न भाई! पर्याय को अभूतार्थ कहा, वह तो गौण करके कहा। ग्यारह (गाथा) में अर्थ लिया था। वह ये ही (अर्थ करनेवाले) पण्डित जयचन्द (हैं)। आहाहा! वेदान्त की तरह पर्याय नहीं, जीव में नहीं, द्रव्य में (नहीं); इसलिए पर्याय में पर्याय नहीं – ऐसा नहीं है। आहाहा! **पर्यायों से अभेदरूप,...** पर से भिन्न और **उसके असाधारण गुणमात्र...** (अर्थात्) त्रिकाली उपयोग। **प्रधान करके कहा जाता है, तब परस्पर द्रव्यों का निमित्तनैमित्तिकभाव तथा निमित्त से होनेवाले पर्यायें – वे सब गौण हो जाते हैं,...** अभाव हो जाते हैं – ऐसा नहीं; गौण हो जाते हैं। **वे एक अभेदद्रव्य की दृष्टि में वे...** आहाहा! ज्ञायकभाव के अनुभव की अभेददृष्टि में **वे प्रतिभासित नहीं होते,...** यह आ गया न? (३७) कलश आ गया है। '**नो दृष्टाः स्युर्दृष्टमेकं परं स्यात्।**' अभेद चैतन्यवस्तु का अनुभव होने पर, उसमें—अभेद में वे भेद दिखायी नहीं देते। आहाहा!

इसलिए वे सब उस द्रव्य में नहीं हैं। इस प्रकार कथंचित् निषेध किया जाता है। पर्याय नहीं है – ऐसा नहीं है। अभेद में भेद दिखायी नहीं देता, इस अपेक्षा से उन्हें कथंचित् निषेध किया जाता है। **यदि उन भावों को उस द्रव्य में कहा जाये...** पर्याय अपेक्षा से, पर्याय अपेक्षा से, **तो वह व्यवहारनय से कहा जा सकता है...** आहाहा! गुणस्थान, जीवस्थान, मार्गणा, भेदस्थान व्यवहार से इसमें (जीव में) कहे जाते हैं। यह व्यवहार से.. असत्यार्थ कहा था परन्तु व्यवहार से सत्यार्थ इतनी स्थिति है – ऐसा कहा जाता है। आहाहा! **ऐसा नयविभाग है।** व्यवहार की और निश्चयनय की विभाजन की यह अविरोधता है।

विशेष कहेंगे..... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १३४ गाथा-५८ से ६०-६१ दिनाङ्क १२-११-१९७८, रविवार
कार्तिक शुक्ल १३, वीर निर्वाण संवत् २५०४

समयसार, गाथा ५८, ५९, ६० है न, उनका अन्तिम भाग है। **यहाँ शुद्धनय की दृष्टि से कथन है...** शुद्धनय कहो, निश्चयनय कहो या शुद्ध द्रव्यार्थिकनय कहो, उसका यह कथन है। **इसलिए ऐसा सिद्ध किया है कि जो यह समस्त भाव सिद्धान्त में जीव के कहे गये हैं,...** शुभभाव, अशुभभाव, गुणस्थान, जीवस्थान आदि भेद, जीव के कहे, वे

व्यवहार से कहे गये हैं। पर्याय में कथंचित् हैं, इसलिए कहे हैं। **यदि निमित्तनैमित्तिकभाव की दृष्टि से देखा जाये...** अर्थात् कर्म निमित्त है और भेद पड़ता है आत्मा की पर्याय में रागादि, गुणस्थान आदि, उस **निमित्तनैमित्तिकभाव की दृष्टि से देखा जाये तो वह व्यवहार कथंचित् सत्यार्थ भी कहा जा सकता है।** क्योंकि पर्याय में गुणस्थान भेद, शुभरागादि हैं, उस निमित्तनैमित्तिक के सम्बन्ध से कहें तो नैमित्तिक में वह पर्याय है व्यवहार से... आहाहा! ऐसा है।

कथंचित् सत्यार्थ अर्थात् पर्याय में है – ऐसा भी यथार्थ है। **यदि सर्वथा असत्यार्थ ही कहा जाये...** ये गुणस्थान भेद, शुभरागादि आत्मा में बिल्कुल नहीं हैं–ऐसा निश्चय से कहा, ऐसा कहने में आवे, **तो सर्व व्यवहार का लोप हो जायेगा...** तो पर्याय में गुणस्थान भेद, शुभ-अशुभभाव, संयमलब्धिस्थान हैं, वे सर्वथा लोप हो जायेंगे। यदि सर्वथा नहीं ऐसा कहो तो (सर्वथा लोप हो जायेगा)। समझ में आया यह ?

मुमुक्षु : व्यवहार का लोप होगा तो फिर निश्चय होगा ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह यहाँ कहाँ बात है! यहाँ तो पर्याय में व्यवहार है या नहीं, इतनी बात है। उसके आश्रय से समकित होता है या नहीं, यह प्रश्न यहाँ नहीं है। यहाँ तो इसकी पर्याय में... द्रव्य की दृष्टि से उन्हें पर्याय में तादात्म्यसम्बन्ध नहीं, गुणस्थान का शुभ-अशुभभाव का तादात्म्यसम्बन्ध नहीं, इसलिए उन्हें पुद्गल का कहा है। आहाहा! पुद्गल के साथ उन्हें नित्य तादात्म्यसम्बन्ध है, इसलिए उन्हें पुद्गल का कहा। आत्मा ज्ञायकस्वभाव के साथ आत्मा को तादात्म्यसम्बन्ध है, वैसे इन भावों के साथ तादात्म्यसम्बन्ध नहीं है, पर्याय में एक समय का सम्बन्ध है। आहाहा! आहाहा! ये पर्याय में हैं ही नहीं, ऐसा हो तो सर्वथा लोप हो जाता है, कि व्यवहार है ही नहीं... यहाँ व्यवहार से निश्चय होता है, यह यहाँ प्रश्न नहीं। यहाँ तो व्यवहार-पर्याय में गुणस्थान भेद, रागादि हैं। पहले निषेध किया था कि निश्चयनय से ये आत्मा के नहीं हैं, ये तो पुद्गल के हैं। आहाहा! समझ में आया ?

वस्तु का तद् (रूप) द्रव्यस्वभाव, ज्ञान-आनन्द आदि जो तादात्म्यसम्बन्ध है, उस प्रकार से इस विकार को और वर्तमान भेद को तादात्म्य / तद् (रूप) सम्बन्ध उष्णता

और अग्नि की भाँति नहीं। उष्णता को और अग्नि को तद्रूप सम्बन्ध-तादात्म्यसम्बन्ध है, वैसे इन पुण्य-पाप के भाव, गुणस्थान, जीवस्थान आदि को आत्मा के साथ कायम, कायम तादात्म्यसम्बन्ध नहीं है। आहाहा! ऐसी बात है। परन्तु पर्याय में नहीं, ऐसा जो कहा, पुद्गल का कहा, वह निश्चय की अपेक्षा से तादात्म्यसम्बन्ध नहीं है, इसलिए (कहा है) परन्तु इसकी पर्याय में व्यवहारनय से वे नहीं, ऐसा नहीं है। व्यवहारनय से, हों! निश्चयनय से तो तादात्म्यसम्बन्ध नहीं, इसलिए नहीं है। आहाहा! ऐसी बातें अब! आहाहा!

परन्तु व्यवहारनय से इसकी पर्याय में शुभ-अशुभभाव, ये लब्धिस्थान, जीवस्थान, गुणस्थान पर्याय में है। द्रव्य में नहीं परन्तु पर्यायदृष्टि से पर्याय में है। यदि पर्याय में नहीं तो सर्व व्यवहार का लोप... व्यवहार अर्थात् संसार, रागादिभाव हैं ही नहीं -ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसा। यहाँ शुद्धनय की दृष्टि कही है। शुद्धनय कहो या निश्चय कहो, वापस ऐसा नहीं कि यहाँ शुद्धनय कहने का आशय त्रिकाली शुद्ध है, उसे देखनेवाली दृष्टि वह शुद्धनय है ऐसा। बाकी उसे ही यहाँ निश्चयनय कहते हैं। आहाहा! उसमें आता है न, ११-१२ '**जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहारणिच्छए मुयह**।' ऐसा आया वहाँ निश्चय शब्द आया है, वह तो यहाँ त्रिकाली ज्ञायकभाव शुद्धस्वभाव... आहाहा! दोपहर को आया था न, पूर्ण गुण से अभेद पूर्ण आत्मद्रव्य, वह चीज़ / वस्तु है, निश्चय से वह है और इसलिए उसकी दृष्टि करने से-उसका आश्रय लेने से पर्याय की पूर्णता प्रगट होती है। आहाहा! कल दोपहर को (तुम) नहीं थे, बहुत सरस आया था, बहुत, पूरा १७६। पूर्ण गुणों से अभेद,... गुण हैं वे अपूर्ण नहीं होते। चाहे तो सैंतालीस शक्ति कही-जीवत्व, चिति, दृशि, ज्ञान, वे अनन्त गुण पूर्ण हैं, वे अनन्त गुण जो पूर्ण हैं, उनसे अभेद ऐसा जो आत्मद्रव्य है, उस पर दृष्टि देने से पर्याय में पूर्ण पर्याय की प्राप्ति होती है। आहाहा!

बहुत सादी भाषा! 'पूर्णोभवन्ति जीवन्ति भवन्ति' आता है न? पीछे नहीं! 'पूर्णो भवन जीवति' यह आज सबेरे श्लोक निकाला था। द्रव्य का अस्तित्व है न? चौदह बोल, पहले तत्-अतत्, एक-अनेक, सत्-असत्, नित्य-अनित्य, स्व से है और पर से नहीं। पहले बोल में 'पूर्णो भवन्ति'- पूर्ण होकर वह जीता है-रहता है। वह पर्याय में लिया है वहाँ... आहाहा! पाँचवाँ श्लोक है। चौदह-चौदह बोल का (श्लोक है)। सबेरे निकाला

था, उस पूर्ण के साथ मिलान करने, गहराई के साथ मिलान करने वह निकाला था कल। विशति, आहाहा!

यहाँ भगवान आत्मा वस्तुदृष्टि से पूर्ण गुण अनन्त... अनन्त... अनन्त... हैं परन्तु वे सब पूर्ण हैं। पर्याय में हीनाधिकता, वह तो व्यवहारनय का विषय है। आहाहा! पूर्ण गुणों से अभेद, पूर्ण आत्मद्रव्य पर दृष्टि करने से पर्याय में पूर्णता प्रगट होती है। आहाहा! यह निश्चय से कहा था, परन्तु इसकी पर्याय में राग-द्वेष और गुणस्थान आदि नहीं - ऐसा कहा, वह तो शुद्धनय से-निश्चयनय से कहा परन्तु पर्याय में है। अनित्य सम्बन्ध इसे एक समय का है। आहाहा! वह तो आया, न उस बन्ध का-पन्थ का एक समय की अवस्था से, आहाहा! इससे व्यवहार का निषेध करे कि, पर्याय में है ही नहीं... कथंचित् सत्यार्थ है, पर्याय की अपेक्षा से उसमें है, ऐसी बात है। त्रिकाल की अपेक्षा से उसमें नहीं। आहाहा!

सर्व व्यवहार का लोप होने से परमार्थ का भी लोप हो जायेगा। यहाँ ऐसा नहीं कहना है कि जो व्यवहार है तो उससे निश्चय होता है। यहाँ यह बात नहीं है। व्यवहार-शुभराग है, वह तो निश्चय से तो पुद्गल का परिणाम कहा और पर्याय में है, इसके राग में, वह तो है, इतनी बात सिद्ध करनी है परन्तु राग से आत्म (दर्शन)-सम्यग्दर्शन होता है, यह यहाँ प्रश्न नहीं है। समझ में आया? आहाहा! **इसलिए जिनेन्द्रदेव का उपदेश स्याद्वादरूप समझना ही सम्यक्ज्ञान है,...** समझना ही सम्यक्ज्ञान है। अर्थात्? पर्याय में... यह चौदहवीं गाथा के भावार्थ में भरा है, चौदहवीं गाथा के (भावार्थ में) कि पर्याय में है, ऐसा इसे ज्ञान तो रखना चाहिए। फिर द्रव्यार्थिकनय से वे अन्दर में नहीं परन्तु पर्याय में विकार है, ऐसा ज्ञान तो इसे लक्ष्य में रखना चाहिए। रखकर स्व का आश्रय लेना। '**जो पस्सदि अप्पाणं**' १४ गाथा का अर्थ है न? आहा! पण्डित जयचन्दजी ने बहुत अच्छा अर्थ किया है। ऐसा मार्ग है, भाई! आहाहा!

यह तो ४६ गाथा में आ गया कि यदि पर्याय में भी राग-द्वेष-मोह नहीं तो फिर राग-द्वेष-मोह को छेदने का-मोक्ष का उपाय भी नहीं। समझ में आया? क्योंकि यह भी व्यवहार है। राग-द्वेष और मोह द्रव्यस्वभाव में नहीं, परन्तु यदि पर्याय में भी नहीं, तब तो राग-द्वेषरहित है, तो उसे राग-द्वेष-मोहरहित करना रहता नहीं। पर्याय में राग-द्वेष-

मोहसहित है, आहाहा! पर्याय में बन्धभावसहित है, इसलिए इसे स्व के आश्रय से मोक्ष का मार्ग प्रगट करके... यह मोक्ष उपाय भी व्यवहार है। स्व के आश्रय से पर्याय प्रगटे, वह भी एक व्यवहार है। आहाहा! तो वह मोक्ष का उपाय भी सिद्ध नहीं होता। यदि आत्मा को ऐसा कह दे कि उसे कोई राग-द्वेष है ही नहीं। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि उसके त्रिकाल सम्बन्ध में नहीं है। भगवान आत्मा वस्तु से चैतन्यरत्न प्रभु, कि उसके अनन्त गुण जो पूर्ण हैं, उसमें वे नहीं-राग-द्वेष, पुण्य-पाप, संसारभाव उसमें नहीं। इसलिए तो उन्हें पुद्गल के-पुद्गल के साथ तादात्म्यसम्बन्ध कहकर पुद्गल के हैं, ऐसा कहा; शुभाशुभ, गुणस्थान भेद पुद्गल के-जड़ के परिणाम जड़ कहे परन्तु उन्हें सर्वथा आत्मा के साथ अनित्य भी सम्बन्ध नहीं,.. आहाहा! अत्यन्त पुद्गल के साथ ही सम्बन्ध है और पुद्गल के ही हैं, ऐसा कह दे तो पर्याय में उसमें राग-द्वेष विकार है, वह पुद्गल में सिद्ध हो और अपने में है, ऐसा सिद्ध नहीं हो तो व्यवहार से है और इसलिए उन्हें छेदने का उपाय भी है। आहाहा! ऐसी बात है।

ऐसे व्यवहार... स्याद्वादी... निश्चयस्वभाव भगवान आत्मा में वह विकार नहीं है, इसलिए उस विकार को पुद्गल कह दिया, परन्तु उसकी पर्याय में है, कथंचित् सत्य है। है, है इतनी बात। ऐसा स्याद्वाद का कथन समझकर सम्यग्ज्ञान करना चाहिए। आहाहा! परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि आत्मा में वह व्यवहार रागादि है; इसलिए उससे आत्मा का कल्याण होता है और सम्यग्दर्शन होता है। यह बात यहाँ नहीं है। वे 'हैं' इतनी बात सिद्ध करनी है। द्रव्य में नहीं, पर्याय में हैं, व्यवहारनय से (हैं) - इतनी बात सिद्ध करनी है, परन्तु ऐसा कहकर यह कहे कि यदि व्यवहार भी सत् है, इसलिए व्यवहार से भी सम्यग्दर्शन, आत्मा का अवलम्बन होता है (तो) यह बात झूठी है। आहाहा!

अरे रे! जिन्हें यहाँ पुद्गल का परिणाम (कहा) शुभराग—दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा को तो यहाँ पुद्गल का परिणाम कहा, पुद्गल कहा; अब वह पुद्गल, आत्मा के स्वरूप में / साधन में सहायक हो? आहाहा! परन्तु उसे वह साधन-मददगार नहीं होता किन्तु फिर भी वह पर्याय में नहीं है, ऐसा (नहीं है)। यहाँ सिद्ध करना है कि पर्याय में नहीं ऐसा नहीं। है; बस इतना ही। आहाहा! अरे! अनन्त काल से भगवान अन्दर पूर्णानन्द प्रभु अनन्त... अनन्त... अनन्त... गुणों से पूर्ण भरपूर प्रभु अभेदवस्तु... आहाहा! उसकी इसने

दृष्टि नहीं की, इसलिए दृष्टि कराने को पर्यायदृष्टि को उठाकर त्रिकाल ज्ञायकभाव का- अनन्त गुण का पूर्णरूप ऐसा अभेदद्रव्य, उसकी दृष्टि कराने को, पर्याय में भी इसके नहीं, ऐसा कहने में आया था। आहाहा! **सर्वथा एकान्त वह मिथ्यात्व है**। पर्याय में भी रागादि नहीं, ऐसा माने तब तो मिथ्यात्व है, ऐसा कहते हैं।

आहाहा! ऐसा अटपटा कथन! तब अब इसका अर्थ ऐसा हो गया कि व्यवहार (से) पर्याय में हैं रागादि; हैं, इसलिए उनसे सम्यग्दर्शन होता है - ऐसा नहीं है। उनका अभाव करके त्रिकाली ज्ञायकभाव के सद्भाव में अवलम्बन ले तो उसे सम्यग्दर्शन होता है। आहाहा! ऐसी बातें अब! पण्डितजी! लोगों को निवृत्ति नहीं मिलती, अकेले संसार के धन्धे में-पाप में रचे-पचे, अब उसमें ऐसी बातें, इसे सुनने को नहीं मिलती। अरे! क्या करे यह! आहाहा! नटुभाई है न, ये सब तुम्हारे वकील होते हैं तो भी ऐसी बातें नहीं होती वहाँ, सब वहाँ गप्प मारते हैं। आहाहा!

आहाहा! वस्तु भगवान आत्मा... ऐसा तो उस १८९ गाथा प्रवचनसार में कहा न, शुद्धनय से रागादि जीव के हैं - ऐसा वहाँ कहा है। यहाँ व्यवहारनय से कहा है। आहाहा! वे शुद्धनय से-निश्चय से इसके जीव में राग है - ऐसा कहा है। वह ज्ञेय अधिकार है न? ज्ञेय का ज्ञान आत्मा की पर्याय में वह है न? राग-द्वेष, पुण्य-पाप, इसकी पर्याय में है न? या पर में है और पर से है? आहाहा! इतना सिद्ध करने के लिये प्रवचनसार १८९ गाथा में शुद्धनय से अर्थात् निश्चयनय से पुण्य और पाप के भाव जीव की पर्याय में हैं। पर के कारण नहीं, पर में नहीं। आहाहा! वे तो इसमें हैं, इतना सिद्ध करने के लिये (ऐसा कहा है)। निश्चय क्यों कहा? कि स्वद्रव्य में है, इसलिए निश्चय कहा। पर में है और पर के कारण से है - ऐसा अशुद्धनय का / व्यवहारनय का कथन वहाँ है। आहाहा! यहाँ जो कहना है वह तो द्रव्यदृष्टि कराने के लिये (कहा है)। आहाहा! है, वह तो पर्याय में है। उसे यहाँ तो व्यवहारनय सिद्ध करते हैं। वहाँ तो निश्चय से है - ऐसा कहा है अर्थात् इसकी पर्याय का जो भाव, उसका वह निश्चय है। पर का-जड़ का भाव, वह व्यवहार है। अपना रागादि वह निश्चय है। आहाहा! अशुद्धनिश्चय कहो परन्तु है निश्चय। वहाँ शुद्धनय लिया है, अशुद्ध नहीं लिया। ऐई! वहाँ अशुद्धनिश्चयनय नहीं लिया, शुद्धनिश्चयनय लिया है, यह अपेक्षा समझनी चाहिए न? आहाहा! है?

(प्रवचनसार, गाथा) १८९। १८९ आया न देखो, देखा? ***राग परिणाम ही आत्मा का कर्म है।*** राग, राग जिसे यहाँ पुद्गल का कहा था। आहाहा! ***राग परिणाम ही आत्मा का कर्म है, वही पुण्य-पापरूप द्वैत है, आत्मा रागपरिणाम का ही कर्ता है, उसी का ग्रहण करनेवाला है और उसी का त्याग करनेवाला है—यह, शुद्धद्रव्य का निरूपणस्वरूप निश्चयनय है।*** शुद्धद्रव्य का अर्थ कि पर्याय अपनी है न? वहाँ पर की अपेक्षा नहीं है। आहाहा! शुद्धद्रव्य के... आहाहा! ***निश्चयनय मात्र स्वद्रव्य के परिणाम को बतलाता है, इसलिए उसे शुद्धद्रव्य का कथन करनेवाला कहा है, और व्यवहारनय परद्रव्य के परिणाम को आत्मपरिणाम बतलाता है, इसलिए उसे अशुद्धद्रव्य का कथन करनेवाला कहा है। यहाँ शुद्धद्रव्य का कथन एक द्रव्याश्रित परिणाम की अपेक्षा से जानना चाहिए...*** परिणाम की अपेक्षा से, हों! उस द्रव्य के परिणाम की अपेक्षा से जानना। ***अशुद्धद्रव्य का कथन एक द्रव्य के परिणाम अन्य द्रव्य में आरोपित करने की अपेक्षा से जानना चाहिए।*** ऐसी बात अब! कितने भेद पड़ते हैं! शुद्धद्रव्य के निरूपणस्वरूप निश्चयनय है – ऐसा कहा है। राग, दया, दान, पुण्य-पाप, काम-क्रोध के भाव, आत्मा की पर्याय में-स्व में होने से निश्चयनय से उसमें है – ऐसा कहा। आहाहा! वह ज्ञेय अधिकार है और ज्ञेय अधिकार है, वह सम्यग्दर्शन का अधिकार है। आहाहा!

यहाँ क्या अपेक्षा है? यहाँ तो त्रिकाली भगवान पूर्णानन्द का नाथ आत्मा अनन्त-अनन्त गुण का चैतन्य चिन्तामणिरत्न प्रभु है। आहाहा! उसका आश्रय करने से धर्म और सम्यग्दर्शन होता है, यह बताने के लिये पर्याय में रागादि हैं, वे सब पुद्गल के हैं-ऐसा कहकर वहाँ से लक्ष्य छुड़ाया है परन्तु व्यवहार से इसकी पर्याय में भी नहीं – ऐसा नहीं है। ऐसी बातें हैं।

जिनेन्द्रदेव का उपदेश स्याद्वादरूप समझना ही सम्यक्ज्ञान है,... देखा? आहाहा! पर्याय में है – ऐसा इसे ज्ञान भलीभाँति रखना चाहिए। आहाहा! तो उसका नाम सम्यक्ज्ञान है। यहाँ जो कहा है, वह तो त्रिकाली ज्ञायकभाव और जो उसके गुण हैं-भगवान आत्मा में अनन्त गुण अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... वे सब गुण पूर्ण हैं। गुण में अपूर्णता, आवरण और पर की अपेक्षा उनमें नहीं हो सकती। आहाहा! ऐसा जो भगवान आत्मा, उसके अनन्त गुणों का रूप अभेद, वह शुद्ध द्रव्य है और उसका आश्रय करने से ही धर्म

की पर्याय प्रगट होती है। समझ में आया ? आहाहा ! यह '**भूदत्थमस्सिदो**' वहाँ आया था। आहाहा ! पर्याय में रागादि होने पर भी, उसका आश्रय करने से सम्यग्दर्शन हो, यह तीन काल-तीन लोक में नहीं है। आहाहा ! ऐसी बातें हैं। अब इसमें धन्धे के कारण निवृत्ति कब और इतनी सब बातें ! ऐ, देवानुप्रिया ! आहाहा ! वीतराग तीन लोक के नाथ परमेश्वर का स्याद्वाद अपेक्षा से कथन है। वे (रागादि) त्रिकाल में (त्रिकाली स्वभाव में) नहीं, इस अपेक्षा से पुद्गल के कहे; पर्याय में हैं, इसलिए इसके कहे, यह स्याद्वाद कथन है। आहाहा ! परन्तु स्याद्वाद कथन है; इसलिए आत्मा को शुभराग से भी धर्म हो और स्वभाव के आश्रय से भी हो - ऐसा नहीं है। ऐसा स्याद्वाद नहीं है। आहाहा ! समझ में आया ? आहाहा !

यहाँ तो शुभ को पुद्गल का परिणाम कहा। दया, दान, व्रत, भक्ति, तपस्या, भगवान का स्मरण, भगवान की पूजा और यात्रा ये सब शुभराग हैं और ये सब यहाँ तो पुद्गल के कहे हैं, क्योंकि त्रिकाली के साथ त्रिकाल तादात्म्यसम्बन्ध है, इस अपेक्षा से कहा और पुद्गल के साथ त्रिकाल तादात्म्यसम्बन्ध है, ऐसा वास्तव में है। आहाहा ! समझ में आया ? इसलिए इसके नहीं, ऐसा कहकर, द्रव्य का आश्रय लेने के लिये पर्याय में नहीं है, इसलिए वे पुद्गल के हैं - ऐसा कहा। परन्तु पर्याय में है—ऐसा एक नय-व्यवहारनय है, उसका लक्ष्य में ज्ञान रखकर द्रव्य का आश्रय करने को कहा है। समझ में आया ? ऐसी बातें !

मुमुक्षु : आज का विषय तो सूक्ष्म है।

पूज्य गुरुदेवश्री : विषय तो यही है बापू ! प्रभु ! क्या हो ? आहाहा ! आहाहा ! वहाँ (प्रवचनसार में) शुद्धनय-निश्चयनय से जीव में है, ऐसा कहा। वह इसकी-स्व की पर्याय है न, इसलिए निश्चय (कहा); परद्रव्य वह व्यवहार, ऐसा। वहाँ इतनी अपेक्षा ली है। यहाँ निश्चय अर्थात् त्रिकाली ज्ञायक के सम्बन्ध में वे नहीं हैं, इसलिए उन्हें पुद्गल का परिणाम कहकर, निषेध (कराकर) लक्ष्य छुड़ा दिया। आहाहा ! समझ में आया ? धीरे-धीरे (समझना) बापू ! ऐसा मार्ग ! आहाहा ! जिनेश्वर त्रिलोकनाथ जिस अपेक्षा से कहते हैं, उनकी वह अपेक्षा जाननी चाहिए। भगवान का कथन दो नय का है, आता है न ? नियमसार, पंचास्तिकाय पहली (प्रारम्भिक) गाथाओं में। भगवान का कथन दो नय का है। आहाहा ! शुरुआत में आता है पहले नियमसार और पंचास्तिकाय में। निश्चय और व्यवहार। निश्चय कथन है, वह त्रिकाल ज्ञायकभाव को बताता है; व्यवहार कथन है, वह

वर्तमान पर्याय है, रागादि है, अरे! रागादि को भी पर्याय है, ऐसा बताता है। पर्याय, वह व्यवहार है और द्रव्य, वह निश्चय है। आहाहा! पंचाध्यायी में लिया है। पर्याय है, वही व्यवहार है। आहाहा! वह राग है, वह व्यवहार है-वह तो असद्भूतव्यवहार। क्या कहा? जो राग है, वह असद्भूतव्यवहार और यहाँ तो निर्मल पर्याय प्रगट हुई है, वह सद्भूतव्यवहार है। इतने पक्ष! अरे प्रभु! क्या हो? आहाहा! यह अनादि से एकान्त में फँस गया है। प्रभु का अनेकान्त वास्तविक स्वरूप है। आहाहा! या तो द्रव्य को मानकर पर्याय को न माने, पर्याय को मानकर द्रव्य को न माने...

मुमुक्षु : यह तो अनादि का है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! वेदान्त ने द्रव्य को माना, पर्याय को नहीं माना। बौद्ध ने पर्याय को माना और द्रव्य को नहीं माना। इसी तरह जैन में रहे हुए जीव, पर्याय को ही मानें तो वे बौद्ध जैसे हैं और द्रव्य को माने, पर्याय को न माने तो वे वेदान्ती जैसे निश्चय (आभासी) हैं, अज्ञानी हैं। आहाहा! शान्तिभाई!

यह तो इस आँख से मोतिया (मोतियाबिन्द) उतारने की बात है। आहाहा! प्रभु! अरे! ऐसा अवसर कहाँ मिले! आहाहा! २५-२५ वर्ष के, ३०-३० वर्ष के युवक चले जाते हैं, कोई कहीं शरण नहीं है। आहाहा! शरण (है) भगवान आत्मा, पूर्ण गुणों का पिण्ड प्रभु अन्दर,.. आहाहा! वह शरण है, वह मांगलिक है और वह उत्तम है। आहाहा! पर्याय भी शरण नहीं, मांगलिक नहीं, वह उत्तम नहीं। नहीं; फिर भी है अवश्य, आहाहा! ऐसा स्वरूप है प्रभु का।

अभी तो जगत की यह पुकार है कि शुभभाव... शुभभाव... शुभभाव... करो... करो... करो..., इससे कल्याण होगा। अर र र! यह भी मिथ्यात्व का पोषण है। आहाहा! तथा द्रव्य में भी नहीं और पर्याय में भी नहीं, यह भी मिथ्यात्व का पोषण है। आहाहा! एकान्त आया है न अन्त में? सर्वथा एकान्त, वह मिथ्यात्व है। आहाहा! पण्डित जयचन्दजी ने भी... उस समय के पण्डित भी... आहाहा!

'जहाँ जहाँ जो जो योग्य है, वहाँ समझना वही;
वहाँ वहाँ वह वह आचरे आत्मार्थीजन सही' (श्रीमद् राजचन्द्र)

आहाहा ! आहाहा ! देह छूटने पर राग और देह की एकता होगी, वह दब जायेगा- मर जायेगा। प्रभु ! आहाहा ! आहाहा ! और यहाँ जिसे मरण के अन्तिम भाव रहे, उस भाव का फल उसे भविष्य में मिलेगा। है ? वर्तमान तो मिला है परन्तु उसका फल भविष्य में अवतार होगा। आहाहा ! यहाँ करोड़पति-अरबोंपति सेठ हो और जिसे राग तथा देह की एकता है, वह मरकर कौवे-कुत्ते में जायेगा।

अर र र! बापू, प्रभु! ऐसे अवतार अनन्त बार किये हैं। भाई! तुझे पता नहीं। आहाहा ! यहाँ खम्मा.. खम्मा क्षण देवों में होता हो... ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती, जिसे मणिरत्न के पलंग, ढोलिया (पलंग का गुजराती शब्द) क्या कहलाता है वह ? पलंग, उसमें सोता था। सोलह हजार देव सेवा करते, ९६ हजार स्त्रियाँ आहाहा ! वह मरकर, देह छूटकर सातवें नरक गया बापू! जिसके क्षण के दुःख करोड़ों भव और करोड़ों जीभों से नहीं कहे जा सकते—ऐसे दुःख एक क्षण के हैं, ऐसे तैंतीस सागर के (दुःख) प्रभु ! वह क्या होगा ? आहाहा ! उसमें भी जीव अनन्त बार गया है, प्रभु ! आत्मा के ज्ञान बिना, और सम्यग्दर्शन के बिना मिथ्यात्व के कारण... आहाहा ! ऐसे अनन्त भव किये हैं, प्रभु ! आहाहा ! भूल गया, इसलिए नहीं थे - ऐसा कैसे कहा जाये ? प्रभु ! आहाहा ! जन्म लेने के पश्चात् छह महीने में-बारह महीने में क्या हुआ, पता है ? इसकी माता ने कैसे पिलाया, कहाँ सुलाया, पता है ? पता नहीं, इसलिए नहीं था - ऐसा इसे कौन कहे भाई ? आहाहा ! ऐसे अनन्त-अनन्त भव तुझ पर बीत गये, नाथ ! पता नहीं, इसलिए वे नहीं थे-ऐसा कैसे कहा जाये भाई ! आहाहा ! इस भवभ्रमण को मिटाने का उपाय यहाँ बताते हैं कि वस्तु जो भगवान आत्मा निश्चय वस्तु है, उसमें वे (रागादि) पुद्गल के परिणाम गिनकर उसमें नहीं—ऐसा त्रिकाली का आश्रय कराने के लिये और त्रिकाली के आश्रय से धर्म / सम्यक् (दर्शन) होता है, इसलिए कहा परन्तु इसके लक्ष्य में रहना चाहिए कि पर्याय में रागादि है। पुद्गल के ही हैं—ऐसा जो कहा था, वह व्यवहार मुझमें है, ऐसा इसे जानना चाहिए। देवीलालजी ! आहाहा ! यह एकान्त मान लिया जाये और व्यवहार से धर्म होता है, यह भी एकान्त मिथ्यात्व है। समझ में आया ? आहाहा ! और पर्याय में रागादि नहीं हैं, यह भी एकान्त मिथ्यात्व है। आहाहा ! यह गाथा पूरी हुई।

गाथा ६१

कुतो जीवस्य वर्णादिभिः सह तादात्म्यलक्षणः सम्बन्धो नास्तीति चेत्–

तत्थ भवे जीवाणं संसारत्थाण होंति वण्णादी।
संसारपमुक्काणं णत्थि हु वण्णदओ केई।।६१।।

तत्र भवे जीवानां संसारस्थानां भवंति वर्णादयः।
संसारप्रमुक्तानां न सन्ति खलु वर्णादयः केचित्।।

यत्किल सर्वास्वप्यवस्थासु यदात्मकत्वेन व्याप्तं भवति तदात्मकत्वव्याप्तिशून्यं न भवति तस्य तैः सह तादात्म्यलक्षणः सम्बन्धः स्यात्। ततः सर्वास्वप्यवस्थासु वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तस्य भवतो वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्ति शून्यस्याभवतश्च पुद्गलस्य वर्णादिभिः सह तादात्म्यलक्षणः सम्बन्धः स्यात्। संसारावस्थायां कथंचिद्वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तस्य भवतो वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तिशून्यस्याभवतश्चापि मोक्षावस्थायां सर्वथा वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तिशून्यस्य भवतो वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तस्याभवतश्च जीवस्य वर्णादिभिः सह तादात्म्यलक्षणः सम्बन्धो न कथंचनापि स्यात्।

अब यहाँ प्रश्न होता है कि वर्णादि के साथ जीव का तादात्म्यलक्षण सम्बन्ध क्यों नहीं है? उसके उत्तरस्वरूप गाथा कहते हैं —

संसारी जीव के वर्ण आदिक, भाव हैं संसार में।
संसार से परिमुक्त के नहिं, भाव को वर्णादिके॥६१॥

गाथार्थ - [वर्णादयः] जो वर्णादिक हैं वे [संसारस्थानां] संसार में स्थित [जीवानां] जीवों के [तत्र भवे] उस संसार में [भवन्ति] होते हैं और [संसार प्रमुक्तानां] संसार से मुक्त हुए जीवों के [खलु] निश्चय से [वर्णादयः केचित्] वर्णादिक कोई भी (भाव) [न सन्ति] नहीं हैं; (इसलिए तादात्म्यसम्बन्ध नहीं हैं)।

टीका - जो निश्चय से समस्त ही अवस्थाओं में यद्-आत्मकपने से अर्थात् जिसस्वरूपपने से व्याप्त हो और तद्-आत्मकपने की अर्थात् उस स्वरूपपने की व्याप्ति से रहित न हो, उसका उनके साथ तादात्म्यलक्षण सम्बन्ध होता है। (जो वस्तु सर्व अवस्थाओं में जिस भावस्वरूप हो और किसी अवस्था में उस भावस्वरूपता को न छोड़े, उस वस्तु का उन भावों के साथ तादात्म्यसम्बन्ध होता है।) इसलिए सभी अवस्थाओं में जो वर्णादिस्वरूपता से व्याप्त होता है और वर्णादिकस्वरूपता की व्याप्ति से रहित नहीं होता, ऐसे पुद्गल का वर्णादिभावों के साथ तादात्म्यलक्षण सम्बन्ध है और यद्यपि संसार अवस्था में कथंचित् वर्णादिस्वरूपता से व्याप्त होता है तथा वर्णादिस्वरूपता की व्याप्ति से रहित नहीं होता, तथापि मोक्ष अवस्था में जो सर्वथा वर्णादिस्वरूपता की व्याप्ति से रहित होता है और वर्णादिस्वरूपता से व्याप्त नहीं होता—ऐसे जीव का वर्णादि भावों के साथ किसी भी प्रकार से तादात्म्यलक्षण सम्बन्ध नहीं है।

भावार्थ - द्रव्य की सर्व अवस्थाओं में द्रव्य में जो भाव व्याप्त होते हैं, उन भावों के साथ द्रव्य का तादात्म्यसम्बन्ध कहलाता है। पुद्गल की सर्व अवस्थाओं में पुद्गल में वर्णादि भाव व्याप्त हैं, इसलिए वर्णादि भावों के साथ पुद्गल का तादात्म्यसम्बन्ध है। संसारावस्था में जीव में वर्णादि भाव किसी प्रकार से कहे जा सकते हैं किन्तु मोक्ष अवस्था में जीव में वर्णादि भाव सर्वथा नहीं हैं, इसलिए जीव का वर्णादि भावों के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध नहीं है, यह बात न्यायप्राप्त है।

गाथा - ६१ पर प्रवचन

अब यहाँ प्रश्न होता है कि वर्णादि... वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श, गुणस्थान भेद **के साथ जीव का तादात्म्यलक्षण सम्बन्ध क्यों नहीं है ?** अब क्या कहते हैं! भगवान जो पूर्ण गुण का अभेद द्रव्यस्वभाव वस्तु, भगवान आत्मा अनन्त-अनन्त गुण भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर ने कहे। आहाहा! ऐसे जो आत्मा में पूर्ण... पूर्ण... पूर्ण... पूर्ण... जीवत्वशक्ति पूर्ण, चितिशक्ति पूर्ण, दृशिशक्ति पूर्ण, ज्ञानशक्ति पूर्ण। आहाहा! सुखशक्ति पूर्ण, वीर्यशक्ति पूर्ण, प्रभुत्वशक्ति पूर्ण, विभुत्वशक्ति पूर्ण, सर्वज्ञ-सर्वदर्शि शक्ति पूर्ण—ऐसे-ऐसे अनन्त गुण,

पूर्ण प्रभु में हैं। उन अनन्त पूर्ण गुणों का रूप, वह स्वद्रव्य है। आहाहा! उसमें ये सब नहीं ऐसा कहकर स्वद्रव्य का आश्रय कराया है। समझ में आया?

इसके जो त्रिकाली गुण और द्रव्य में तादात्म्यसम्बन्ध है अर्थात् क्या? जैसे अग्नि को और उष्णता को तद्‌रूप-तादात्म्यसम्बन्ध है, वैसे आत्मा को और ज्ञान-दर्शन-आनन्द गुणों को तादात्म्यसम्बन्ध है परन्तु इन रागादि के परिणाम को तादात्म्यसम्बन्ध त्रिकाल, जैसे दो का एकरूप सम्बन्ध है, वैसा पुण्य-पाप, दया-दान और गुणस्थान भेद का तादात्म्यसम्बन्ध नहीं है। इतना बताने को यहाँ पर के कहे हैं। आहाहा!

आहाहा! भगवान का विरह पड़ा, पंचम काल में; केवलज्ञान की दशा रही नहीं और ऐसी बात समझने के लिये बहुत दुष्करता लगे परन्तु यह समझी जा सके, ऐसी इसकी चीज़ है। आहाहा! आहाहा! '**येन वातापि हि श्रुता**' अध्यात्म की ऐसी बात भी जिसने '**श्रुता**' सुनी है-जिसने रुचिपूर्वक (सुनी है) वह भविष्य में '**भाविनिर्वाणभाजनम्**' आहाहा!

जिसे द्रव्य पर नजर लगी है, ऐसा अखण्डानन्द हूँ, रागादि नहीं, पुण्य आदि नहीं। आहाहा! बापू! आहाहा! ऐसे जो संस्कार अन्दर पड़ते हैं न? आहाहा! रुचिपूर्वक, हों! अपने लिये.. आहाहा! कहते हैं कि वह '**भाविनिर्वाणभाजनम्**' वह भविष्य काल में सर्वज्ञ होनेवाला है। आहाहा! वह भविष्य में सिद्ध की पर्याय का पात्र हो जानेवाला है। आहाहा!

अरे! ऐसी बात भाई! आहा! यहाँ यह कहते हैं ये वर्णादि अथवा रागादि और पुण्य-पाप के भाव, गुणस्थान के भाव को जीव के साथ तादात्म्यसम्बन्ध क्यों नहीं है? भगवान आत्मा के साथ तद्‌रूप—जैसे अग्नि और उष्णता—वैसा सम्बन्ध क्यों नहीं है? समझ में आया? और तुमने इन्हें पुद्‌गल के परिणाम कहे और आत्मा के साथ सम्बन्ध नहीं है - ऐसा कहा। उसका उत्तर (**गाथा कहते हैं—**) उसका उत्तर अर्थात्? जिसे ऐसी जिज्ञासा से प्रश्न उठा है, उसे उत्तर दिया जाता है। आहाहा! जिसे अन्दर से प्रश्न उठा है, प्रभु! आप जब राग-द्वेष और गुणस्थान भेद तथा भगवान आत्मा के साथ तादात्म्यसम्बन्ध नहीं है और तादात्म्यसम्बन्ध तो पुद्‌गल के साथ है - ऐसा प्रभु! आपने कहा। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! वह क्यों नहीं? प्रभु! क्यों नहीं? मुझे प्रश्न उठता है। शंका नहीं

परन्तु आशंका (है कि) मुझे समझ में नहीं आता। आहाहा! ऐसा शिष्य का समझने के लिये जिज्ञासा का प्रश्न है, उसे उत्तर दिया जाता है। ऐसा कहकर यों ही सुनने के लिये बैठे और समझना नहीं और अन्तर में यह धगश नहीं, उसके लिये यह उत्तर नहीं है, कहते हैं। आहाहा!

आहाहा! क्या अमृतचन्द्राचार्य! क्या कुन्दकुन्दाचार्य दिगम्बर सन्त!! आहाहा! केवलज्ञानी का विरह भुलाया, ऐसी बातें हैं! आहाहा! मानो साक्षात् भगवान कहते हों, ऐसी बात है। इस प्रकार शिष्य के मुख में (प्रश्न डालकर) ऐसा कहलवाया स्वयं ने कि जिस शिष्य को ऐसा होता है कि प्रभु! ये राग-द्वेष, पुण्य-पाप, गुणस्थान के भेद वे आत्मा के साथ तादात्म्य त्रिकाल सम्बन्ध नहीं और उनका सम्बन्ध पुद्गल के साथ है, पुद्गल के साथ तादात्म्यसम्बन्ध है। आहाहा! प्रभु! वह सम्बन्ध क्यों नहीं है? उसका उत्तर कहा जाता है।

तत्थ भवे जीवाणं संसारत्थाण होंति वण्णादी।
संसारपमुक्काणं णत्थि हु वण्णदओ केई।।६१।।
संसारी जीव के वर्ण आदिक, भाव हैं संसार में।
संसार से परिमुक्त के नहिं, भाव को वर्णादिके।।६१।।

देखो, ये वचन देखो! रागादि सब, हों! सब २९ बोल लेना। आहाहा! इसलिए तादात्म्यसम्बन्ध नहीं - ऐसा कहते हैं। समझ में आया? तादात्म्यसम्बन्ध हो तो छूटे नहीं। आहाहा! क्या कहते हैं?

टीका - जो निश्चय से समस्त ही अवस्थाओं में यद्-आत्मकपने से अर्थात् जिसस्वरूपपने से... अर्थात् जिस स्वरूपपने से देखा? **व्याप्त हो.... जो निश्चय से समस्त ही अवस्थाओं में...** व्याप्त हो, किसी अवस्था में न हो, ऐसा नहीं। ऐसे लॉजिक-न्याय रखकर बात करते हैं। आहाहा! करुणाबुद्धि से जगत के लिये प्रसिद्ध करते हैं, प्रभु! तूने तेरी करुणा नहीं की, नाथ! आहाहा! तू पूर्णानन्द का नाथ, तेरे साथ उनका सम्बन्ध नहीं। यदि सम्बन्ध हो तो मुक्ति में भी-मुक्ति हो वहाँ भी रहना चाहिए। मुक्ति हो, वहाँ वे नहीं रहते; इसलिए तेरे त्रिकाल के साथ उनका सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! यह स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब

की बात नहीं, हों! यहाँ। यह तो इसकी पर्याय में निमित्त के सम्बन्ध से नैमित्तिकदशायें होती हैं, वे इसके त्रिकाली सम्बन्ध में नहीं हैं। आहाहा! आहाहा! क्योंकि यदि त्रिकाली सम्बन्ध हो तो मुक्त होने पर भी वहाँ रहना चाहिए। आहाहा! यह यहाँ कहा है।

जो निश्चय से समस्त ही अवस्थाओं में यद्-आत्मकपने से अर्थात् जिसस्वरूपपने से व्याप्त हो और तद्-आत्मकपने की अर्थात् उस स्वरूपपने की व्याप्ति से रहित न हो,... उसकी उस अवस्था में से रहित न हो, प्रत्येक अवस्था में हो और किसी भी अवस्था में न हो-ऐसा न हो। **उसका उनके साथ तादात्म्यलक्षण सम्बन्ध होता है।** प्रत्येक अवस्था में हो और किसी भी अवस्था बिना न हो, उसे यहाँ तादात्म्यसम्बन्ध कहते हैं। अरे... ऐसे वचन। इसका अर्थ किया कोष्ठक में किया। (**जो वस्तु सर्व अवस्थाओं में जिस भावस्वरूप हो...**) पर्याय में। **सर्व अवस्थाओं में जिस भावस्वरूप हो और किसी अवस्था में उस भावस्वरूपता को न छोड़े, उस वस्तु का उन भावों के साथ तादात्म्य -सम्बन्ध होता है।**) आहाहा! ऐसा है। बनियों को ऐसा समझना, भाई!

क्या कहा? जो द्रव्य की प्रत्येक अवस्था में हो और उसकी किसी भी अवस्था में न हो (-ऐसा न हो) उसे तादात्म्यसम्बन्ध कहते हैं। यह तो अवस्था-संसार अवस्था में है और मोक्ष अवस्था में नहीं, इसलिए तादात्म्यसम्बन्ध है नहीं, आहाहा! यहाँ तो वे वकील कानून निकालते हैं न, वैसे कानून हैं ये सब। आहाहा! भगवान तीन लोक के नाथ, सन्तों द्वारा यह बात कहलवाते हैं, आहाहा! कि भाई! जो वस्तु है, उसकी प्रत्येक अवस्था में हो और किसी भी अवस्था में न हो, ऐसा न हो, उसे तादात्म्यसम्बन्ध कहते हैं, तो विकार आदि भाव, संसार अवस्था में है परन्तु मुक्ति अवस्था में नहीं; इसलिए उन्हें तादात्म्यसम्बन्ध है नहीं। आहाहा! सुमनभाई! आहाहा! ऐसी गाथाएँ सूक्ष्म। आहाहा!

इसलिए सभी अवस्थाओं में जो वर्णादिस्वरूपता से व्याप्त होता है... आहाहा! **और वर्णादिकस्वरूपता की व्याप्ति से रहित नहीं होता, ऐसे पुद्गल का वर्णादिभावों के साथ तादात्म्यलक्षण सम्बन्ध है...** आहाहा! यहाँ तो पर्याय में है, परन्तु त्रिकाल तादात्म्यसम्बन्ध नहीं है। प्रत्येक अवस्था में नहीं होते परन्तु पुद्गल की अवस्था में तो प्रत्येक में वे ही होते हैं, कहते हैं। भेदरूपी आदि गुणभेद, वे सब पुद्गल की अवस्था में होते हैं और पुद्गल की अवस्था से रहित नहीं होते। आहाहा! गजब काम किया है न?

आहाहा! यह शुभराग है, यह आया, रागादिस्वरूपपने का सम्बन्ध है और व्याप्ति से रहित होता नहीं। सर्व अवस्था में होता है, यह वणादिस्वरूपपने से व्याप्त पुद्गल और वर्णादिस्वरूपपने की व्याप्ति से रहित नहीं होता ऐसे पुद्गल, उस पुद्गल के साथ उन्हें तादात्म्यसम्बन्ध है – ऐसा कहते हैं। ऐ! क्योंकि निमित्तनिमित्तसम्बन्ध, वह पुद्गल के साथ हुआ, इन दोनों का सम्बन्ध जानकर इन्हें पुद्गल गिना। आहाहा! पुद्गल जो जड़कर्म है, वह निमित्त है परन्तु उसके लक्ष्य से इसे यह नैमित्तिकदशा हुई, वे सब दशायें पुद्गल के साथ तादात्म्य है – ऐसा कहा। आहाहा! सूक्ष्म तो है भाई! आहाहा! वीतराग का मार्ग बहुत सूक्ष्म, बापू! यह वीतराग के अतिरिक्त कहीं ऐसी बात जिनेन्द्र के अतिरिक्त कहीं नहीं होती। आहाहा!

सन्त, करुणा से जगत के लिये प्रसिद्ध करते हैं। प्रभु! ये गुणस्थान भेद, यह राग, दया, दान के परिणाम, ये पुद्गल के साथ व्याप्त हैं और पुद्गल से व्याप्त (हों वे) कभी पुद्गल... रहित नहीं होते। आहाहा! त्रिकाली द्रव्यस्वभाव के साथ सम्बन्ध नहीं परन्तु पुद्गल के साथ कायम सम्बन्ध है, इसलिए जहाँ-जहाँ पुद्गल-निमित्त है, वहाँ वहाँ नैमित्तिक अवस्था, उसके साथ सम्बन्ध है। आहाहा! गजब बात की है न! इसकी एक लाईन-एक कड़ी, बापू! समझना भारी। आहाहा! यह तो भागवत् शास्त्र, भगवान परमात्मा का कहा हुआ, त्रिलोकनाथ की दिव्यध्वनि में आया, वह यह सन्त वाणी में कहते हैं। आहाहा! भाई! तूने जो प्रश्न किया कि पुण्य और पाप, दया और दान आदि तथा गुणस्थान भेद जीव के साथ तादात्म्यसम्बन्ध क्यों नहीं है? ऐसा तूने पूछा तो उसका उत्तर ऐसा कहते हैं कि आत्मा को प्रत्येक जो जिसकी अवस्था में प्रत्येक अवस्था में हो और कोई भी अवस्था उनके बिना न हो, उसे तादात्म्यसम्बन्ध कहते हैं तो यह पुद्गल की अवस्था है और पुद्गल की अवस्था बिना नहीं होते ये कोई, इसलिए पुद्गल के हैं। पुद्गल के साथ तादात्म्यसम्बन्ध है। आहाहा! आत्मा के साथ एक समय का-एक समय का अनित्य सम्बन्ध है, उसे यहाँ गौण करके पर के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है – ऐसा सिद्ध किया है। क्या कहा? कि इस पर्याय में एक समय का है, यह तो सिद्ध किया परन्तु एक समय का जो है, वह कर्म का जो जड़भाव निमित्त है, उसके सम्बन्ध में वह है। इसलिए जहाँ-जहाँ

पुद्‌गल, वहाँ-वहाँ वह और जहाँ-जहाँ पुद्‌गल नहीं, वहाँ-वहाँ वह नहीं। आहाहा! यह सूक्ष्म तो है भाई! वीतरागमार्ग बापू! सूक्ष्म बहुत भाई! आहाहा! जन्म-मरण करके यह महा दु:खी है, इसे पता नहीं है। आकुलता की अग्नि से सुलग रहा है, भाई! आहाहा!

शान्तस्वभाव भगवान आत्मा के साथ, भगवान आत्मा को तादात्म्यसम्बन्ध है परन्तु उसका भान नहीं और जिसके साथ-पुद्‌गल के साथ तादात्म्यसम्बन्ध, उसके परिणाम को अपना मानकर, आहाहा! और अग्नि—कषाय की अग्नि—से दु:खी / सुलग रहा है। आहाहा! इसका इसे पता भी नहीं। यह यहाँ कहते हैं-कषाय की अग्नि से सुलग रहा है। आहाहा! उस पुद्‌गल की पर्याय को पुद्‌गल के साथ तादात्म्यसम्बन्ध है और उसके सम्बन्ध बिना वह पुद्‌गल नहीं होता। आत्मा के साथ प्रत्येक अवस्था में हो और किसी अवस्था में न हो, वह उसके साथ तादात्म्यसम्बन्ध नहीं है। आहाहा! ऐसे लॉजिक से-न्याय से तो बात करते हैं। आहाहा!

वर्णादिकस्वरूपता की व्याप्ति से रहित नहीं होता, ऐसे पुद्‌गल का वर्णादिभावों के साथ... आहाहा! वे संयमलब्धिस्थान, शुभभाव, गुणस्थान, जीवस्थान, ये मार्गणास्थान.. आहाहा! यह सब तादात्म्यलक्षण सम्बन्ध एक संसार अवस्था में। **यद्यपि संसार अवस्था में कथंचित् वर्णादिस्वरूपता से व्याप्त होता है...** जीव पर्याय में, संसार अवस्था में **वर्णादिस्वरूपता की व्याप्ति से रहित नहीं होता, तथापि मोक्ष अवस्था में जो सर्वथा वर्णादिस्वरूपता की व्याप्ति से रहित होता है...** आहाहा! इन भेदभावों से भी मोक्ष अवस्था में तो रहित है। आहाहा! संहनन की जड़ की पर्याय से रहित है, गुणस्थान के भेद से रहित है और जीव के गुण की जो भेद अवस्था है, उससे भी यह तो रहित है। आहाहा! **सर्वथा वर्णादिस्वरूपता की व्याप्ति से रहित होता है...** सर्वथा, देखा? कहाँ? मोक्ष अवस्था में; और **वर्णादिस्वरूपता से व्याप्त नहीं होता, ऐसे जीव का वर्णादि भावों के साथ तादात्म्य सम्बन्ध किसी भी प्रकार से...** किसी भी प्रकार से नहीं है। क्या कहा यह? कि भगवान आत्मा को संसार अवस्था में पर्याय में उसकी अवस्था का सम्बन्ध है परन्तु जहाँ मोक्ष अवस्था होती है, तब वह सम्बन्ध नहीं रहता, इसलिए उसकी प्रत्येक अवस्था में सम्बन्ध हो, वह उसका लक्षण तादात्म्य कहलाता है, जब प्रत्येक अवस्था में ये नहीं;

इसलिए इनका तादात्म्यसम्बन्ध नहीं है। आहाहा! कहो, नटुभाई! यही तुम्हारी वकालात का यह तो चलता है सब। यह तो वीतराग की वकालात है। आहाहा!

भाई! तादात्म्यसम्बन्ध उसे कहते हैं कि प्रत्येक अवस्था में हो और किसी अवस्था में न हो (-ऐसा न हो), उसे तादात्म्य अवस्था कहा जाता है। अत: रागादि के भाव को जीव के साथ संसार में कथंचित् (सम्बन्ध है) परन्तु मोक्ष अवस्था में नहीं, इसलिए तादात्म्यसम्बन्ध नहीं है, आहाहा! और इसलिए तो उस पुद्गल के साथ तादात्म्यसम्बन्ध ले लिया। इसके (जीव के) साथ अनित्य है, उसके साथ नित्य है। आहाहा! क्या कहा यह? रागादि-गुणस्थान भेद एक समय की अवस्था में संसार अवस्था में अनित्य सम्बन्ध है, संयोग सम्बन्ध अनित्य एक समय का है और पुद्गल के साथ इनका कायम सम्बन्ध है-ऐसा कहा। जहाँ-जहाँ पुद्गल निमित्त है, वहाँ-वहाँ उसका नैमित्तिकभाव, उसके साथ होता है - ऐसा कहा है। आहाहा!

अरे, ऐसी बात! परन्तु क्या कहने की पद्धति! है? आहाहा! तादात्म्यसम्बन्ध क्यों नहीं-ऐसा अभी शिष्य का प्रश्न था, उसका यह उत्तर दिया कि तादात्म्यसम्बन्ध उसे कहते हैं कि जो वस्तु के साथ में प्रत्येक अवस्था में हो, किसी भी अवस्था में न हो, उसे तादात्म्यसम्बन्ध नहीं कहते। प्रत्येक अवस्था में हो, उसे तादात्म्यसम्बन्ध (कहते हैं)। इसे तो-संसार अवस्था में तो यह राग-द्वेष और गुणस्थान भेद की अवस्था है परन्तु मोक्ष अवस्था में ये नहीं; इसलिए तादात्म्यसम्बन्ध नहीं। तादात्म्यसम्बन्ध हो तो नित्य रहना चाहिए परन्तु पुद्गल के साथ तादात्म्यसम्बन्ध है। आहाहा! क्योंकि उस निमित्त के आश्रय से-लक्ष्य से भेद पड़े हैं सब रागादि। यह जहाँ-जहाँ है, वहाँ-वहाँ भेद है-पुद्गल के साथ सम्बन्ध है, कहते हैं। आहाहा! समझ में आया?

अब ऐसी बात। यह घर में समझे तो ऐसा समझ में नहीं आता। ऐ ई... देवानुप्रिया! ऐसा सूक्ष्म है, यह तो। यह तो क्या दो-चार दिन आवे सूँघने, यह कहता है न सुँघने आता हूँ। नेवला लड़े तो सर्प के साथ, फिर जाये वहाँ वनस्पति सूँघने। नेवले का आता है, ऐसा यह दृष्टान्त देते हैं। भाई! वीतराग का मार्ग प्रभु अलौकिक मार्ग है भाई! अरे! जिसे सुनने को भी नहीं मिले, बेचारे को, वह क्या करे? आहाहा! कहते हैं ऐसा मार्ग है। आत्मा के

साथ प्रत्येक अवस्था में हो तो तादात्म्य आत्मा के साथ प्रत्येक अवस्था में नहीं, तब पुद्गल की अवस्था में-प्रत्येक अवस्था में है। आहाहा! जहाँ-जहाँ निमित्त पुद्गल है, वहाँ-वहाँ उसके सम्बन्ध में भेदभाव आदि वहाँ होते हैं। आहाहा! इसलिए उन्हें पुद्गल के साथ सम्बन्ध कहा है; आत्मा के साथ सम्बन्ध है नहीं।

विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १३५ गाथा-६१ से ६२ दिनाङ्क १३-११-१९७८, सोमवार
कार्तिक शुक्ल १४, वीर निर्वाण संवत् २५०४

समयसार, ६१ गाथा का भावार्थ है। भावार्थ है न? ६१ गाथा। क्या कहते हैं? सुनो! **द्रव्य की सर्व अवस्थाओं में द्रव्य में जो भाव व्याप्त होते हैं, उन भावों के साथ द्रव्य का तादात्म्यसम्बन्ध कहलाता है।** क्या कहा? द्रव्य अर्थात वस्तु-पदार्थ। उस द्रव्य के साथ सर्व अवस्थाओं में—प्रत्येक अवस्था, अनादि अनन्त जितनी अवस्थाएँ हैं, उन सभी अवस्थाओं में द्रव्य में जो भाव, जो भाव व्यापता है, उस भाव के साथ द्रव्य का तादात्म्यसम्बन्ध-तद्रूपसम्बन्ध है।

जैसे कि आत्मा की प्रत्येक अवस्था में ज्ञान-आनन्दादि रहते हैं तो ज्ञान और आनन्द के साथ तादात्म्यसम्बन्ध है, उसे आत्मा कहते हैं और राग, दया, दानादिभाव (होते हैं, वे) आत्मा की प्रत्येक अवस्था में नहीं, इसलिए वे पुद्गल अवस्था में जाते हैं। पुद्गल के साथ तादात्म्यसम्बन्ध में जाते हैं। आहाहा!

पहला सिद्धान्त तो इतना कहा कि कोई भी द्रव्य-वस्तु जो है, उसकी सभी अवस्थाओं में रहे और व्याप्त हो तो उस द्रव्य के साथ उस भाव को तादात्म्य कहते हैं परन्तु किसी समय हो और किसी समय न हो तो उस द्रव्य के साथ भाव को तादात्म्यसम्बन्ध नहीं है। ये रागादिभाव, दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के भाव हैं, वे आत्मा की प्रत्येक अवस्था में नहीं रहते। संसार अवस्था में हैं, तथापि मोक्ष अवस्था में नहीं तो यह तादात्म्यसम्बन्ध, राग का आत्मा के साथ तादात्म्य-तद्रूपसम्बन्ध नहीं है। आहाहा! इस राग का सम्बन्ध पुद्गल के साथ तादात्म्यसम्बन्ध है। आहाहा! ऐसी बात है। सूक्ष्म बात है, भाई!

पुद्‌गल की सर्व अवस्थाओं में पुद्‌गल में वर्णादि भाव... वर्ण अर्थात् रंग, गंध, रस, स्पर्श, शुभभाव, अध्यवसाय, गुणस्थान आदि **व्याप्त हैं...** यहाँ तो पुद्‌गल में व्याप्त हैं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! शरीर, वाणी, मन, कर्म, यह जड़ पर्याय पुद्‌गल है। यहाँ कर्म जो पुद्‌गल हैं, उसके साथ ये पुण्य आदि परिणाम शुभभाव (व्याप्त हैं)। जहाँ-जहाँ कर्म है, वहाँ-वहाँ राग है। राग है, वहाँ कर्म है, ऐसे कर्म के साथ राग का तादात्म्यसम्बन्ध है। आहाहा! ऐसी बात है। अब यहाँ तो ये दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के भाव धर्म हैं और धर्म का कारण है, ऐसा मानते हैं। दृष्टि विपरीत (है), मिथ्यात्व है। आहाहा! समझ में आया?

पुद्‌गल की सर्व अवस्थाओं में... पुद्‌गल के साथ, इसका अर्थ यह जो भेद अन्दर पड़ता है न? गुण की पर्याय में भेद पड़ता है। लब्धिस्थान संयम, आदि लिये न? यह भेद भी अभेद आत्मा के साथ व्यापक नहीं है। किसी समय हो और किसी समय न हो, वह आत्मा के साथ व्यापक नहीं है। आहाहा! शरीर, वाणी, मन, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श को पुद्‌गल के साथ तादात्म्यसम्बन्ध है। ऐसे शुभराग, दया, दान भाव को पुद्‌गल के साथ सम्बन्ध है। ऐसे साधक की जो संयम की पर्याय, भिन्न-भिन्न अवस्था, लब्धिस्थान को पुद्‌गल के साथ सम्बन्ध है; अभेद आत्मा के साथ सम्बन्ध नहीं। आहाहा! ऐसा काम है। अरे! सम्यग्दर्शन आदि जो पर्याय है, वह भेदरूप है। आहाहा! अन्तर त्रिकाल ज्ञान के साथ वह अभेद नहीं है। आहाहा! कठिन बात है। चौदह प्रकार की जो मार्गणा है—ज्ञान के भेद, दर्शन के भेद, चारित्र के भेद, वे सब भेद पुद्‌गल के साथ सम्बन्ध रखते हैं-ऐसा कहते हैं। आहाहा! यहाँ पहले कहा, सुना नहीं? जयन्तीभाई! ढूँढ़ा करते हैं। तीन बार तो कहा, ६१ वीं गाथा का भावार्थ। ध्यान नहीं रखा। ६१ वीं गाथा का भावार्थ। बीच में सब व्यर्थ गया। सुननेवाले को भी अभी... आहाहा! क्या कहा, समझ में आया? इसे पहले से ध्यान रखना चाहिए, यह तो वीतराग की वाणी है। आहाहा! यह तो सर्वज्ञ परमात्मा का कथन है, ये सन्त-दिगम्बर सन्त यह कथन करते हैं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि **द्रव्य की सर्व अवस्थाओं में द्रव्य में जो भाव व्याप्त होते हैं, उन भावों के साथ द्रव्य का तादात्म्यसम्बन्ध कहलाता है**। कितनी बात! अब इतनी बात

करके कहते हैं कि **पुद्गल की सर्व अवस्थाओं में...** कर्म जो जड़ पुद्गल है... आहाहा! उसकी सर्व अवस्थाओं में। रंग, गन्ध, शुभभाव, गुणस्थान भेद आदि भाव **व्याप्त हैं इसलिए वर्णादि भावों के साथ पुद्गल का तादात्म्यसम्बन्ध है।** पुद्गल का तादात्म्य -सम्बन्ध है। आहाहा! उस पुद्गल के साथ (सम्बन्ध है)। भेद, राग और जड़ की पर्याय, इन सबका पुद्गल के साथ तादात्म्यसम्बन्ध है। आहाहा! जीव-अजीव अधिकार है न?

मुमुक्षु : इसमें से निकल जाते हैं, इसलिए इसके नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसमें है नहीं। अभेद है, उसके साथ तादात्म्यसम्बन्ध है। भेद पड़ा, वह तादात्म्यसम्बन्ध नहीं। भेद तो अमुक काल रहे, पश्चात् नहीं रहता। इसकी प्रत्येक अवस्था में भेददशा नहीं रहती; इस कारण से पुद्गल की यह भेद अवस्था है। राग पुद्गल में है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! जैनदर्शन परमात्मा ने कहा हुआ, वह समझना सूक्ष्म है, सूक्ष्म है। आहाहा! यहाँ जीव-अजीव अधिकार लिया है।

यहाँ तो कहते हैं कि आत्मा में जो दया, दानादि राग होता है और पर्याय में जो भेद पड़ते हैं, वे आत्मा की प्रत्येक अवस्था में नहीं रहते; इसलिए प्रत्येक अवस्था में रहनेवाले पुद्गल के साथ उन्हें सम्बन्ध है। आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा!

संसारावस्था में जीव में... भेद, राग, रंग आदि भाव। **किसी प्रकार...** पर्यायनय से, व्यवहारनय से समय की स्थिति देखकर कहे जाते हैं। **किन्तु मोक्ष अवस्था में जीव में वर्णादि भाव...** गुणस्थान आदि, भेद आदि, दया-दानादि राग, ये भाव मोक्ष अवस्था में **सर्वथा नहीं हैं, इसलिए जीव का रंग, गन्ध और राग भावों के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध नहीं है,...** आहाहा! जैसे अग्नि को और उष्णता को तादात्म्यसम्बन्ध है, वैसे भगवान आत्मा के साथ दया, दान का राग और गुणस्थान भेद का तादात्म्यसम्बन्ध नहीं है। आहाहा! ऐसी बात है। है?

जीव का वर्णादि भावों के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध नहीं है, यह बात न्यायप्राप्त है। यह बात न्याय से सिद्ध है। आहाहा! जिसे आत्मद्रव्य दृष्टि में लेना हो तो उसे तो अभेद है, उसकी दृष्टि करना। आहाहा! जिसे सम्यग्दर्शन प्राप्त करना हो, धर्म की पहली सीढ़ी

प्राप्त करनी हो, उसे आत्मद्रव्य अभेद पूर्ण गुण का अभेद आत्मद्रव्य है, वह दृष्टि में लेना है। दोपहर को ३७६ में आ गया; नहीं ? पूर्ण गुणों का अभेद पूर्ण द्रव्य। आहाहा ! उसे दृष्टि में लेना। आहाहा ! सम्यग्दर्शन का विषय पूर्ण गुण से पूर्ण भरा हुआ द्रव्यस्वभाव है, वह सम्यग्दर्शन का विषय है। आहाहा !

सम्यग्दर्शन का विषय वर्तमान राग भी नहीं, भेद भी नहीं, मनुष्यपना आदि संहनन, संस्थान भी नहीं। आहाहा ! अभेद चिदानन्द भगवान पूर्ण स्वरूप, जिसके साथ अनन्त गुणों को तादात्म्यसम्बन्ध है। भगवान आत्मा के साथ अनन्त ज्ञानादि गुणों का तद्रूप-तादात्म्यस्वरूप है, तो उस पर दृष्टि करने से सम्यग्दर्शन होता है। आहाहा ! अभी तो धर्म की पहली सीढ़ी की बात है। चारित्र की बात कहीं दूर है। यह तो बापू ! आहाहा ! यह ६१ गाथा का भावार्थ पूरा हुआ। ६२ (गाथा)।

गाथा ६२

जीवस्य वर्णादितादात्म्यदुरभिनिवेशे दोषश्चायम्–

जीवो चेव हि एदे सव्वे भाव त्ति मण्णसे जदि हि।
जीवस्साजीवस्स य णत्थि विसेसो दु दे कोई।।६२।।

जीवश्चैव ह्येते सर्वे भावा इति मन्यसे यदि हि।
जीवस्याजीवस्य च नास्ति विशेषस्तु ते कश्चित्।।

यथा वर्णादयो भावा: क्रमेण भाविताविर्भावतिरोभावाभिस्ताभिस्ताभिर्व्यक्तिभि: पुद्गलद्रव्यमनुगच्छंत: पुद्गलस्य वर्णादितादात्म्यं प्रथयंति, तथा वर्णादयो भावा: क्रमेण भाविताविर्भावतिरोभावाभिस्ताभिस्ताभिर्व्यक्तिभिर्जीवमनुगच्छंतो जीवस्य वर्णादितादात्म्यं प्रथयंतीति यस्याभिनिवेश: तस्य शेषद्रव्यासाधारणस्य वर्णाद्यात्मकत्वस्य पुद्गललक्षणस्य जीवेन स्वीकरणाज्जीवपुद्गलयोरविशेषप्रसक्तौ सत्यां पुद्गलेभ्यो भिन्नस्य जीवद्रव्यस्या –भावाद्भवत्येव जीवाभाव:।

अब, यदि कोई ऐसा मिथ्या अभिप्राय व्यक्त करे कि जीव का वर्णादि के साथ तादात्म्य है, तो उसमें यह दोष आता है ऐसा इस गाथा द्वारा कहते हैं —

ये भाव सब हैं जीव जो, ऐसा हि तू माने कभी।
तो जीव और अजीव में कुछ, भेद तुझ रहता नहीं॥६२॥

गाथार्थ - वर्णादिक के साथ जीव का तादात्म्य माननेवाले को कहते हैं कि हे मिथ्या अभिप्रायवाले! [यदि हि च] यदि तुम [इति मन्यसे] ऐसे मानोगे कि [एते सर्वे भावा:] यह वर्णादिक सर्व भाव [जीव: एव हि] जीव ही हैं, [तु] तो [ते] तुम्हारे मत में [जीवस्य च अजीवस्य] जीव और अजीव का [कश्चित्] कोई [विशेष:] भेद [नास्ति] नहीं रहता।

टीका : जैसे वर्णादिक भाव, क्रमशः आविर्भाव (प्रगट होना, उपजना) और तिरोभाव (छिप जाना, नाश हो जाना) को प्राप्त होती हुई ऐसी उन-उन व्यक्तियों के द्वारा (अर्थात् पर्यायों के द्वारा) पुद्गलद्रव्य के साथ ही साथ रहते हुए, पुद्गल का वर्णादि के साथ तादात्म्य प्रसिद्ध करते हैं-विस्तारते हैं, इसी प्रकार वर्णादिक भाव, क्रमशः आविर्भाव, और तिरोभाव को प्राप्त होती हुई ऐसी उन-उन व्यक्तियों के द्वारा जीव के साथ ही साथ रहते हुए, जीव का वर्णादिक के साथ तादात्म्य प्रसिद्ध करते हैं — ऐसा जिसका अभिप्राय है उसके मत में, अन्य शेष द्रव्यों से असाधारण ऐसी वर्णादिस्वरूपता कि जो पुद्गलद्रव्य का लक्षण है, उसका जीव के द्वारा अंगीकार किया जाता है इसलिए जीव-पुद्गल के अविशेष का प्रसंग आता है, और ऐसा होने से, पुद्गलों से भिन्न ऐसा कोई जीवद्रव्य न रहने से, जीव का अवश्य अभाव होता है।

भावार्थ - जैसे वर्णादिकभाव पुद्गलद्रव्य के साथ तादात्म्यस्वरूप हैं, उसी प्रकार जीव के साथ तादात्म्यस्वरूप हों तो जीव-पुद्गल में कोई भी भेद न रहे और ऐसा होने से जीव का ही अभाव हो जाये यह महादोष आता है।

गाथा - ६२ पर प्रवचन

अब, यदि कोई ऐसा मिथ्या अभिप्राय व्यक्त करे... कोई ऐसी मिथ्याश्रद्धा-अभिप्राय प्रगट करे कि **जीव का वर्णादि के साथ तादात्म्य है,...** आत्मा को रंग और राग, रंग और राग के साथ तादात्म्य है, एकरूप है-ऐसा मिथ्या अभिप्राय करे **तो उसमें यह दोष आता है, ऐसा इस गाथा द्वारा कहते हैं —** कोई ऐसा कहे कि आत्मा भगवान ज्ञायकस्वभाव के साथ राग, दया, दानादि राग, गुणस्थान आदि भाव और पर्याय के भेद को आत्मा के साथ तादात्म्यसम्बन्ध है, ऐसा कोई भ्रम करे तो उसे यहाँ दोष बताते हैं। आहाहा! ६२ (गाथा)

जीवो चेव हि एदे सव्वे भाव त्ति मण्णसे जदि हि।
जीवस्साजीवस्स य णत्थि विसेसो दु दे कोई।।६२।।

नीचे हरिगीत। आहाहा!

ये भाव सब हैं जीव जो, ऐसा हि तू माने कभी।
तो जीव और अजीव में कुछ, भेद तुझ रहता नहीं॥६२॥

ये रागादि पुद्गलादि के परिणाम तेरे हैं, ऐसा माने... यह भाव सब जीव है – ऐसा माने तो जीव और अजीव में कोई भेद नहीं रहता। आहाहा!

टीका.. सूक्ष्म गाथायें हैं। पूरा समयसार ही सूक्ष्म है।

श्रोता : पूरा आत्मा सूक्ष्म।

पूज्य गुरुदेवश्री : सूक्ष्म में सूक्ष्म भगवान आत्मा है। आहाहा! चैतन्य भगवान अनन्त गुण से तादात्म्यस्वरूप प्रभु पर दृष्टि देने से धर्म की-सम्यग्दर्शन की पहली शुरुआत होती है। आहाहा! बाकी लाख, करोड़ अनन्त दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, यात्रा अनन्त करे, उससे सम्यग्दर्शन नहीं होता, वह तो राग है। आहाहा! वह तो पुद्गल के परिणाम के साथ तादात्म्य है। जहाँ-जहाँ पुद्गल, वहाँ-वहाँ भेद और राग – ऐसा कहते हैं। आहाहा! जहाँ-जहाँ भगवान आत्मा, वहाँ-वहाँ राग और पुद्गल भेद नहीं। आहाहा! ऐसा तो अभी सुनना कठिन पड़े! वीतराग जिनेश्वरदेव परमेश्वर त्रिलोकनाथ दिव्यध्वनि में ऐसा कहते थे, वे यह कुन्दकुन्दाचार्यदेव, अमृतचन्द्राचार्यदेव दिगम्बर सन्त वह बात जगत के समक्ष प्रसिद्ध करते हैं। आहाहा! ऐसी बात अन्यत्र कहीं नहीं है। आहाहा! ओहोहो! अलौकिक बात है, प्रभु! शान्ति से सुनना।

जैसे वर्णादिक... रंग, गन्ध, रागादिभाव **क्रमशः आविर्भाव (प्रगट होना, उपजना) और तिरोभाव (छिप जाना, नाश हो जाना) को प्राप्त होती हुई ऐसी उन-उन व्यक्तियों के द्वारा (अर्थात् पर्यायों के द्वारा) पुद्गलद्रव्य के साथ ही साथ रहते हुए,...** आहाहा! यह तो कल एक बार कहा था न? निमित्त से हुआ है, वह हुआ है तो स्वयं से हुआ है। उस समय में गुणस्थान भेद, राग उत्पन्न होने का जन्मक्षण है तो उससे उत्पन्न हुए हैं परन्तु वे जो उत्पन्न हुए हैं, वह आत्मा में त्रिकाल व्याप्त नहीं है। इस कारण वे रंग, गन्ध और दया, दान के भाव पुद्गल के साथ पुद्गल जहाँ व्यक्त होता है, वहाँ होते हैं, और उसमें व्यापते हैं। आहाहा! ऐसा काम।

एक ओर ऐसा कहना कि पुण्य और पाप के भाव आत्मा की पर्याय में होते हैं और

उसका कर्ता–भोक्ता जीव है, यह ज्ञान प्रधान कथन है। यहाँ दृष्टि प्रधान कथन में... आहाहा! चाहे तो दया, दान, व्रत, भक्ति पंच महाव्रत के भाव हों... यहाँ कहते है प्रभु! दिगम्बर सन्त प्रभु कहते हैं वह कहते हैं। वे केवली के पथानुगामी दिगम्बर सन्त हैं। वे केवली परमात्मा ने कहा, उसकी साक्षी से वे कहते हैं। आहाहा! प्रभु! एक बार सुन! यह राग और पुण्य–पाप के भाव आदि की प्रगटता होती है... आहाहा! उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं, वह सब पुद्गल के साथ में है। आहाहा! यह उत्पाद–व्यय तेरे साथ नहीं–ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? ऐसा सूक्ष्म तत्त्व।

दया, दान, व्रत, शुभवाँचन आदि करना, उसका राग होना, आहा! श्रवण का जो राग आता है, वह राग पुद्गल के साथ उत्पन्न होता है और पुद्गल में व्यय होता है। आत्मा का वह उत्पाद–व्यय नहीं है। आहाहा! समझ में आया? यहाँ द्रव्यस्वभाव का वर्णन है न? और जीवद्रव्य का वर्णन है, उसमें अजीव के भेद नहीं हैं तो यह भेद और राग भी अजीव है। आहाहा! देव–गुरु–शास्त्र की श्रद्धा, शास्त्र का ज्ञान, विकल्प, नवतत्त्व की श्रद्धा का राग, छहकाय की दया का राग यह सब, कहते हैं कि पुद्गल के साथ उत्पन्न होता है और पुद्गल में नाश पाता है; स्वयं के साथ नहीं। देवीलालजी! ऐसी बात दिगम्बर सन्त के अतिरिक्त कहीं नहीं है। आहाहा! समझ में आया? यह तो (क्या) बात! आहाहा! कितना स्पष्ट कर दिया है!

उत्पाद–व्यय है उसमें परन्तु द्रव्यस्वभाव में वह नहीं है। इस कारण से राग की उत्पत्ति और राग का नाश पुद्गल के साथ सम्बन्ध रखता है। आविर्भाव–तिरोभाव। क्या कहा? आया न? आविर्भाव। रागादि का उत्पन्न होना और रागादि का तिरोभाव–नाश पाना। **ऐसी उन–उन व्यक्तियों के द्वारा (अर्थात् पर्यायों के द्वारा) पुद्गलद्रव्य के साथ ही साथ रहते हुए,...** आहाहा! शुभ–अशुभराग जो उत्पन्न होता है और व्यय–नाश होता है तो कहते हैं कि उसका पुद्गल के साथ व्याप्तपना है। आहाहा! और आविर्भाव तथा तिरोभाव–प्रगट होना और छूट जाना, वह सब पुद्गल के साथ है। आहाहा!

उन–उन व्यक्तियों के द्वारा (अर्थात् पर्यायों के द्वारा) पुद्गलद्रव्य के साथ ही साथ रहते हुए, पुद्गल का वर्णादि के साथ तादात्म्य प्रसिद्ध करते हैं... उस पुद्गल के

साथ तादात्म्य प्रसिद्ध करते हैं, विस्तारित करते हैं। वह पुद्गल का विस्तार है। आहाहा! भगवान सच्चिदानन्द प्रभु का वह विस्तार नहीं है, स्वभाव का विस्तार नहीं है, यहाँ यह लेना है। भगवान चिदानन्द प्रभु अखण्डानन्द जिनस्वरूपी प्रभु, उस जिनस्वभावी भगवान का वह रागादि विस्तार नहीं है। आहाहा! रागादि की प्रसिद्धि, वह भगवान स्वरूप -जिनस्वरूप की प्रसिद्धि नहीं है। आहाहा! देखो! ये सन्त! सर्वज्ञ कहते हैं, वह दिगम्बर सन्त कहते हैं। आहाहा! और वह भी पंचम काल के प्राणी को कहते हैं। यह कहीं चौथे काल के साधु नहीं और चौथे काल के (शिष्य को) समझाते नहीं। आहाहा! पंचम काल के प्राणी को पंचम काल के सन्त (समझाते हैं)। आहाहा! कोई ऐसा कहे कि यह बात तो चौथे काल की है, चौथे काल में समझने की है। ऐसा नहीं, प्रभु! सुन तो सही! पंचम काल में भी तू आत्मा है या नहीं? आत्मा क्या है? वह अपने गुण से अभेद ऐसा आत्मा है। अभी ऐसा है।

यहाँ कहते हैं कि जिसे अभेद आत्मा की दृष्टि करना हो, उसे ये रागादि परिणाम अजीव के परिणाम हैं (-ऐसा लेना)। आहाहा! अब यहाँ अभी ऐसा कहते हैं कि शुभयोग ही अभी होता है, धर्म नहीं होता। अर र! और शुभयोग ही अभी धर्म का कारण है। अरे! प्रभु! क्या करता है? प्रभु तू?

वे पुद्गल में व्यापनेवाले भाव अपने हैं और उनसे लाभ मानना, वह तो महामिथ्यात्व अज्ञान है। आहाहा! ए... देवानुप्रिया! अन्दर है या नहीं? क्या सुनते हो यह? ये कहते थे न? आहा! ऐसा मार्ग है, बापू! आहाहा! (ये) कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं। (वे) भगवान के पास गये थे। सीमन्धर परमात्मा त्रिलोकनाथ महाविदेह में विराजमान हैं, उनके पास गये थे। ओहोहो! आठ दिन रहे थे। वहाँ से आकर शास्त्र बनाये और फिर हजार वर्ष में अमृतचन्द्राचार्यदेव (हुए)। ये कुन्दकुन्दाचार्यदेव (हैं और ये) अमृतचन्द्राचार्यदेव हैं, उन्होंने यह टीका बनायी है। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं प्रभु! शान्ति से सुन! आहाहा! यह शुभ-अशुभराग की उत्पत्ति और व्यय पुद्गल के साथ सम्बन्ध रखता है। भगवान आत्मा के साथ उसे सम्बन्ध नहीं है। यह सम्बन्ध हो तो उसमें त्रिकाल रहना चाहिए। राग की उत्पत्ति और राग का व्यय

आत्मा में त्रिकाल रहना चाहिए। (त्रिकाल नहीं रहता) तो वह आत्मा की चीज़ नहीं। आहाहा! पैसा, शरीर, धूल, लक्ष्मी आदि तो कहीं पर रह गये, वे तो पुद्गल पर रह गये। उनके साथ यहाँ कुछ सम्बन्ध ही नहीं। आहाहा! यह शरीर, मिट्टी, धूल यह अन्दर आ गया। व्रजनाराचसंहनन औदारिक, वैक्रियिक शरीर आ गया है। आहाहा! वह सब तो पुद्गल के साथ वह पर्याय उत्पन्न होती है और व्यय होती है, वह पुद्गल के साथ है परन्तु यहाँ तो राग उत्पन्न होता है और राग का व्यय होता है, वह सम्बन्ध भगवान के साथ नहीं। यदि आत्मा के साथ हो तो कायम अवस्था में रहना चाहिए। आहाहा! आहाहा!

अरे! यह सुनने को मिले नहीं और मनुष्यपना चला जाता है। कहाँ जायेगा यह अवतार? आहाहा! यदि ये संस्कार अन्दर नहीं पड़े (तो) चौरासी के अवतार में कहाँ उतारा होगा? भाई! आहाहा! भगवान तो अनादि-अनन्त नित्य रहनेवाला है, तो यह भव पलटकर कहीं जायेगा तो अवश्य। आहाहा! तो जिसने राग मेरा है और मुझे राग से लाभ होगा (-ऐसा माना है, ऐसे) मिथ्यादृष्टि कहाँ जायेंगे? मिथ्यात्व में नरक और निगोद के अवतार में जायेंगे। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, प्रभु! आहाहा! जिस कारण से तीर्थंकरगोत्र बँधे... प्रभु! सुनो! आहाहा! वह भाव राग है, वह पुद्गल के साथ सम्बन्ध रखता है। इसमें है या नहीं यह? आहाहा! जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधता है, वह भाव तो शुभराग है, बन्ध का कारण, वह कहीं धर्म नहीं है। है तो राग। षोडश कारणभावना... आहाहा! वह राग, अजीव है। आहाहा! जिसके फल में अजीव बँधता है। आहाहा! वह राग पुद्गल के साथ सम्बन्ध रखता है। वह उत्पन्न और व्यय, पुद्गलद्रव्य के साथ उसके उत्पाद-व्यय का सम्बन्ध है। आहाहा! चिमनभाई! ऐसी सूक्ष्म बातें हैं। लोगों को सोनगढ़ का ऐसा लगता है। यह सोनगढ़ का है या यह भगवान का है? आहाहा! आहाहा!

प्रभु! तेरा घर खोजने के लिए बात करते हैं। तेरा घर देख। उसमें राग और द्वेष की उत्पत्ति और व्यय नहीं है। आहाहा! तेरा नाथ भगवान है, वहाँ तो आनन्द की उत्पत्ति और आनन्द का व्यय है, उसके साथ भगवान को तो सम्बन्ध है। आहाहा! कहो, शान्तिभाई! आहा! यह राग चाहे तो पंच महाव्रत का विकल्प / राग हो, चाहे तो दया, दान, भक्ति का

राग हो... आहाहा! इस राग का उपजना-प्रगट होना, व्यय होना-नाश होना—ऐसा उत्पाद-व्यय का सम्बन्ध, आविर्भाव-तिरोभाव पुद्गल के साथ सम्बन्ध रखता है। आहाहा! जगत को ऐसा बैठना कठिन पड़ता है।

मुमुक्षु : आचार्य को भय नहीं लगा कि कोई निश्चयाभासी हो जायेगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : दुनिया दुनिया की जाने। नागा, वे बादशाह से आघा। उन्हें दुनिया की क्या पड़ी है? मार्ग यह है। वे तो एक भव करके मोक्ष जानेवाले हैं। दिगम्बर सन्त कुन्दकुन्दाचार्यदेव! आहाहा! उन्हें जगत की कुछ नहीं पड़ी। समाज संगठित रहेगा या नहीं? (उसकी दरकार नहीं है)। आहाहा!

तीन लोक के नाथ सर्वज्ञ परमात्मा ने कहा, वह यह सन्त जगत को कहते हैं। आहाहा! ऐसी वाणी और ऐसा भाव दिगम्बर शास्त्रों के अतिरिक्त कहीं नहीं है, प्रभु! आहाहा! परन्तु उसके बाड़ा में रहे, उन्हें पता नहीं होता। आहाहा! भगवान अमृतचन्द्राचार्यदेव, कुन्दकुन्दाचार्यदेव की पुकार है, प्रभु! तेरी प्रसिद्धि राग से होगी? आहाहा! राग की प्रसिद्धि तो पुद्गल की प्रसिद्धि है, कहते हैं। आहाहा! गजब बात करते हैं न! तेरी प्रसिद्धि प्रभु! ज्ञान और आनन्द की पर्याय से तेरी प्रसिद्धि होती है। उस द्रव्यस्वभाव के अभेद पर दृष्टि पड़ने से... आहाहा! जो शान्ति और आनन्द की पर्याय उत्पन्न और व्यय हो, वह तेरी प्रसिद्धि है। इस टीका का नाम आत्मख्याति है न? इस टीका का नाम आत्मख्याति है। यह तो अलौकिक बातें हैं बापू! समयसार अर्थात् जगत चक्षु, अजोड़ चक्षु!! आहाहा! पंचम काल के सन्त और ये टीकाकार भी अभी हजार वर्ष पहले हुए। कुन्दकुन्दाचार्यदेव तो दो हजार वर्ष पहले हुए और ये टीकाकार हजार वर्ष पहले हुए। आहाहा! जगत की बेदरकारी करके सत्य यह है, यह सत्य का डंका मारा है! आहाहा!

प्रभु! आहा! एक बार यह आया था, नहीं? 'प्रभुता प्रभु तारि तो खरी, मुजरो, मुझ रोग ले हरी' प्रभु! तेरी प्रभुता तो तब कहते हैं कि निर्मल पर्याय की उत्पत्ति और व्यय हो, वह तेरी प्रभुता है। राग की उत्पत्ति और व्यय होना, वह तेरी प्रभुता नहीं, नाथ! आहाहा! पहले तो दूसरा कहा था। आहाहा! 'प्रभुता प्रभु तारि तो खरी' हे नाथ! तेरी प्रभुता तो तब खरी कि 'मुजरो मुझ रोग ले हरी' राग की उत्पत्ति मुझमें नहीं, राग की उत्पत्ति और व्यय

मुझमें नहीं। आहाहा! ए... शान्तिभाई! यह पुत्र को उत्पन्न करते और पैसे को उत्पन्न करते... क्या है यह सब? क्या है यह भ्रमणा? आहाहा! अरे रे! इसे कहाँ जाना है? आहाहा! ऐसी बातें हैं, भाई! आहाहा!

यह तो इसका (पुद्गल का) विस्तार है, कहते हैं। क्या कहते हैं? शुभ-अशुभ, दया, दान, व्रत, भक्ति आदि का भाव तो पुद्गल का विस्तार है, पुद्गल की प्रसिद्धि है, पुद्गल प्रसिद्ध होता है; उसमें भगवान प्रसिद्ध नहीं होता। आहाहा! क्या उसकी गम्भीरता! क्या इस टीका के मर्म!! आहाहा! अमृत वाणी अमृतचन्द्राचार्यदेव की! सन्त-दिगम्बर सन्त अर्थात्... आहाहा! भगवान को १००८ नाम दिये हैं न? भाई! भगवान को १००८ नाम जिनसेनाचार्य ने दिये हैं, आदिपुराण कर्ता। वहाँ प्रभु को कहा, प्रभु! आहाहा! क्या कहना था? उसमें प्रभु को ऐसा कहा, प्रभु! तुम मुमुक्षु हो। प्रभु! तुम मनीष हो। हमारे इन भाई का मनीष नाम है? प्रवीण के पुत्र का। मनीष कहा है, मनीष। मनीष अर्थात् प्रभु! आप ज्ञान के ईश्वर हो, प्रभु! तेरी महिमा किस प्रकार करें? आहाहा! ऐसी बात परमात्मा... आहाहा! जिनकी पर्याय में अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द खिल निकला है... आहाहा! परमात्मा हजार पंखुड़ी से खिला है। जैसे गुलाब हजार पंखुड़ियों से खिले, वैसे यह प्रभु तो अनन्त पंखुड़ियों से खिला। यह इसकी प्रसिद्धि है। अनन्त आनन्द, ज्ञान की अनन्त गुण का उत्पाद-व्यय होना, गुण के आश्रय से होना, वह आत्मा का स्वभाव है। पर के आश्रय से जो रागादि हों, वह आत्मा का स्वभाव नहीं। आहाहा! ऐसा कठिन पड़ता है परन्तु क्या हो, भाई! मार्ग तो यह है।

त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव परमेश्वर, इन्द्र और गणधरों के बीच यह कहते थे, वह ये सन्त कहते हैं। आहाहा! भगवान महाविदेह में विराजते हैं, वहाँ यह कहते थे, यह बात कुन्दकुन्दाचार्य, अमृतचन्द्राचार्य यहाँ कहते हैं। कुन्दकुन्दाचार्यदेव तो वहाँ गये थे परन्तु अमृतचन्द्राचार्यदेव नहीं गये थे, तथापि अन्दर के भगवान के पास गये थे, इससे यह प्रसिद्धि की है। आहाहा!

हम आत्मा हैं कौन? आहाहा! हम आत्मा आनन्द का नाथ प्रभु, अनन्त-अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त शान्ति, अनन्त स्वच्छता, अनन्त प्रभुता—ऐसी

एक-एक गुण की पूर्णता ऐसे अनन्त गुण की पूर्णता का प्रभु मैं आत्मा हूँ। आहाहा! उसकी उत्पत्ति तो निर्मल पर्याय हो, निर्मल पर्याय व्यय हो, वह उसका स्वभाव है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! अरे रे! प्रभु! क्या करे? कितने ही यह व्रत और तप और भक्ति से धर्म माने तो कितने गुरु-देव की और शास्त्र की भक्ति करे तो धर्म (होगा ऐसा) मानते हैं। सब एक प्रकार के हैं। आहाहा! देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति है, वह राग है और राग है, वह पुद्गल के साथ सम्बन्ध रखता है, कहते हैं। अर र! आत्मा के साथ सम्बन्ध रखता हो तो आत्मा है, वहाँ सर्वत्र होना चाहिए। आहाहा! भगवान आत्मा तो निर्मलानन्द जब हो, तब वह होता नहीं; इसलिए उस राग की उत्पत्ति और व्यय भगवान आत्मा के साथ सम्बन्ध नहीं रखते। आहाहा!

मुमुक्षु : दुनिया से बात एकदम छेदी जाती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ये सब बातें दुनिया की, पागल की। पुण्य किसे कहना, पाप किसे कहना, इसका पता नहीं। शुभभाव और अशुभभाव दोनों में पुण्य ठीक है और पाप अठीक है—ऐसा माने, उसे कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रवचनसार ७७ गाथा में कहते हैं —**घोर हिंडंदि संसारं मोह संछण्णो**—मिथ्यात्व से आच्छादित घोर संसार में भटकेगा। ए... देवानुप्रिया! यहाँ कुछ चले ऐसा नहीं है।

मुमुक्षु : दुनिया में चले?

पूज्य गुरुदेवश्री : वहाँ चले। शान्तिभाई और सब बैठे हों न जहाँ, वहाँ चलावे। आहाहा! ७७ गाथा में कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने प्रवचनसार में ऐसा कहा है कि जो कोई शुभ-अशुभभाव है, उन दोनों में विशेष माने कि शुभ ठीक है और अशुभ अठीक है तो दोनों में विशेष (अन्तर) माननेवाले घोर संसार में मोह से-मिथ्यात्व से आच्छादित रहा हुआ भटकेगा। आहाहा! **मोह संछण्णो** ऐसा पाठ है। भाई! दिगम्बर धर्म समझना, वह कोई अलौकिक बातें हैं। यह कहीं वाड़ा मिल गया, इसलिए दिगम्बर धर्म (हो गया, ऐसा नहीं है)। आहाहा!

दिगम्बर धर्म, वह कोई पन्थ / पक्ष नहीं है, वह वस्तु का स्वभाव है। आहाहा! वस्तु का स्वभाव है कि जिसमें दया, दान और तीर्थंकर (गोत्र) बँधे, वह भाव भी आत्मा में नहीं

है। वह आत्मा के साथ सम्बन्ध नहीं रखता, वह यह मार्ग है। आहाहा!

वर्णादिक भाव, क्रमशः आविर्भाव, और तिरोभाव को प्राप्त होती हुई ऐसी उन-उन व्यक्तियों के द्वारा जीव के साथ ही साथ रहते हुए,... क्या कहते हैं? पहले ऐसा कहा कि पुद्गल के साथ आविर्भाव-तिरोभाव, उत्पन्न और व्यय होते हैं - ऐसा बताया। वैसे आत्मा के साथ भी उत्पन्न और व्यय हो... आहाहा! है? **जीव के साथ ही साथ रहते हुए, जीव का वर्णादिक के साथ तादात्म्य प्रसिद्ध करते हैं...** प्रसिद्ध करते हैं, ऐसा मानता है। **ऐसा जिसका अभिप्राय है, उसके मत में, अन्य शेष द्रव्यों से असाधारण ऐसी वर्णादिस्वरूपता कि जो पुद्गलद्रव्य का लक्षण है, उसका जीव के द्वारा अंगीकार किया जाता है...** आहाहा! जो पुद्गल का स्वरूप है, वह जीव द्वारा अंगीकार किया जाता है। आहाहा! **जीव-पुद्गल के अविशेष का प्रसंग आता है,...** जीव और पुद्गल दोनों एक हैं, ऐसा प्रसंग आता है। आहाहा! क्या टीका!

विशेष (कहते हैं) जैसे पुद्गल जड़कर्म अजीव है, उसके साथ में रागादि अजीव उत्पन्न होता है और व्यय होता है, उसके साथ तादात्म्यसम्बन्ध है। ऐसा कोई अभिप्राय रखे कि जीव के साथ राग का-अजीव का उत्पन्न होना और व्यय होना जीव के साथ सम्बन्ध रखता है तो उसने पुद्गल को ही जीव माना। आहाहा! जीवद्रव्य भिन्न है, ऐसा नहीं माना। आहाहा! यह बात वीतरागमार्ग... बापू! और जो वीतरागमार्ग समझे, एक क्षण भी समझ में आये तो भव का अन्त आ जाता है। आहाहा! ऐसी बात है। आहाहा!

क्या कहते हैं? कि जैसे पुद्गल के साथ में, जड़कर्म के साथ राग-द्वेष उत्पन्न होता है और व्यय होता है, वह वहाँ सम्बन्ध रखता है। ऐसा यदि आत्मा के साथ राग और द्वेष की साथ में उत्पत्ति का सम्बन्ध रखे तो आत्मा, पुद्गल हो जाये, तो जीवद्रव्य तो रहे नहीं। आहाहा! जो पुण्य-पाप के भाव का आत्मा के साथ सम्बन्ध मानता है, तो उसे जीवद्रव्य नहीं रहा, पुद्गल (द्रव्य) हो गया, ऐसा कहते हैं। सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा!

जिस आत्मा ने ऐसा अभिप्राय रखा कि मेरे साथ राग की उत्पत्ति और राग का व्यय होता है तो उसने पुद्गल को ही अपना माना; आत्मा भिन्न है-ऐसा नहीं माना। आहाहा! ऐसी बात! अगास है न? श्रीमद् का-

श्रीमद् में अगास में एक घण्टे व्याख्यान हुआ। रात्रि को थोड़े प्रश्न (हुए) परन्तु यह बात सच्ची, इसका साधन क्या ? साधन ऐसा कि यह भक्ति आदि करें वह साधन। अरे रे! प्रभु! आहाहा! भगवान की और गुरु की तथा शास्त्र की भक्ति तो राग है, राग की उत्पत्ति और व्यय का सम्बन्ध निश्चय से तो पुद्गल के साथ है। व्यवहार से एक समय की पर्याय में संसार अवस्था में हो, परन्तु तादात्म्यसम्बन्ध नहीं है।

मुमुक्षु : वह व्यवहार से कहलाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह व्यवहार से एक समय की पर्याय की अपेक्षा से कहा परन्तु तादात्म्यसम्बन्ध नहीं। कायम नहीं रहता, इसलिए सम्बन्ध नहीं। आहाहा! बाद की गाथा में यह कहेंगे। आहाहा! इसके बाद की गाथा में कहेंगे। संसार में है, उसे भी तू मान कि यह मेरा है, तो वह पुद्गल हो गया और पुद्गल की मुक्ति हुई। आहाहा! क्या यह बात! यह श्वेताम्बर के ४५, ३२ सूत्र पढ़े तो यह बात वहाँ से नहीं निकलती। आहाहा!

यह तो भगवान त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव के पास गये (और) अन्तर में जिनेश्वर प्रभु के पास गये, उनकी यह सन्तों की वाणी है। आहाहा! जहाँ हम गये, वहाँ तो राग और द्वेष है नहीं न! आहाहा! हमारा प्रभु जो आत्मा शुद्ध चिदानन्द, वहाँ हम गये, वहाँ तो राग-द्वेष संसार है नहीं न! उस राग-द्वेष का सम्बन्ध आत्मा के साथ है नहीं। आहाहा! यह तो अमृतचन्द्राचार्यदेव, कुन्दकुन्दाचार्यदेव के बाद हजार वर्ष में हुए और ये तो भगवान के पास भी नहीं गये थे। वे तो यहाँ के (निज भगवान) के पास न! गये न! आहाहा!

श्रोता : उनके हजार वर्ष बाद आप हुए।

पूज्य गुरुदेवश्री : वाणी सुनना मुश्किल पड़ जाये ऐसा है।

एक ओर ऐसा कहे कि पुण्य-पाप और राग जीव की पर्याय में (होता है), जीव उसका कर्ता-भोक्ता है-यह ज्ञान की अपेक्षा से (कहे)। और एक ओर दृष्टि की अपेक्षा से कहे कि राग और द्वेष की उत्पत्ति को पुद्गल के साथ सम्बन्ध है। स्वभाव की दृष्टि से देखने पर वे पर के हैं। आहाहा! ऐसी बात है।

यदि ये पुण्य और पाप के भाव, दया, दानादि के भाव जैसे पुद्गल के साथ उत्पाद-व्यय धारण करते, व्याप्त होते दिखायी देते हैं, वैसे यदि आत्मा के साथ भी वे

दिखायी दें, तब तो पुद्गल हुआ, आत्मा पुद्गल हुआ; जीव रहा नहीं। राग बिना अखण्डानन्द प्रभु रागरहित उस जीवद्रव्य का तो नाश हुआ और पुद्गलद्रव्य की प्रसिद्धि हुई। आहाहा! आहाहा! भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय ज्ञान का सागर प्रभु विराजता है न! प्रभु! नाथ! आहाहा! उसे तू रागवाला माने तब तो वह पुद्गलमय हो गया; वह जीव वहाँ नहीं रहा, प्रभु! आहाहा! अरे! राग के शुभभाव को तू धर्म माने और वह राग मेरा माने, प्रभु! वहाँ आत्मा नहीं रहा, हों! आहाहा! वह पुद्गल की ख्याति और प्रसिद्धि हुई। आहाहा! कहो, देवानुप्रिया! इसमें इनकार किया जाये, ऐसा कुछ नहीं है। आहाहा! ऐसा है। यह धीर का काम है, बापू! आहाहा! क्या सन्तों ने भी गजब किया है!

न्याय प्राप्त शब्द आया है न? आहाहा! वहाँ पहले में आया था न? **यह बात न्याय है प्राप्त है।** भावार्थ में अन्तिम शब्द है। लॉजिक से-न्याय से यह मार्ग प्राप्त है। आहाहा! भगवन्त तेरे स्वरूप में जो राग-द्वेष की उत्पत्ति तुझसे हो, तब तो तू पुद्गलमय हो गया, आत्मा रहा नहीं। आहाहा! क्योंकि राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है, वह राग-द्वेष तो अजीव है। समझ में आया? यह दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम अजीव हैं, वे अजीव तुझसे उत्पन्न हों तो तू जीव तो रहा नहीं। ए..ई! यह जीव-अजीव अधिकार है। आहाहा! वहाँ धनबाद में लेने जाये वहाँ नहीं मिले ऐसा वहाँ।

मुमुक्षु : इसलिए तो यहाँ आते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : तभी तो आते हैं- ऐसा कहते हैं। आहाहा! ऐसी बात, बापू! क्या हो? अभी तो बहुत गड़बड़ी कर डाली है। पण्डित लोग और साधु ऐसी प्ररूपणा करते हैं कि यह व्रत, तप और भक्ति करो (तो) धर्म होगा... प्रभु... प्रभु... प्रभु...! पंचम काल में दूसरा नहीं होता, शुभभाव ही होता है - ऐसा कहते हैं। अर र! परन्तु आत्मा में शुभभाव है ही नहीं। वह शुभभाव पुद्गल के साथ सम्बन्ध रखता है।

मुमुक्षु : आप अकेले हो गये।

पूज्य गुरुदेवश्री : अकेला कौन दोकला कौन? भगवान! यहाँ तो है वह है। आहाहा! दिगम्बर सन्त-मुनियों ने भी क्या गजब काम किया! प्रभु! आहाहा! केवलज्ञानी का विरह भुलाया है सन्तों ने-प्रभु ने। आहाहा! भाई! तू ऐसा कहे कि इस शुभराग से मुझे

लाभ होता है, शुभराग मेरा... प्रभु! यह तो पुद्गल की प्रसिद्धि हुई, नाथ! तेरी प्रसिद्धि इसमें नहीं आयी, इसमें तेरी प्रसिद्धि नहीं आयी। आहाहा! तूने तो राग को प्रधान पद दे दिया। है? आहाहा! राग तो पुद्गल के साथ सम्बन्ध रखता है। तादात्म्यसम्बन्ध वहाँ है। जहाँ-जहाँ कर्म, वहाँ-वहाँ राग।

आत्मावलोकन में एक (बात) आयी है, भाई! जहाँ तक निमित्त है, वहाँ तक राग है। यह किसलिए कहा? दो का सम्बन्ध बताना है। आत्मावलोकन में ऐसा है। जहाँ तक कर्म है, वहाँ तक राग है। कर्म न हो तो राग नहीं, ऐसा कहकर अनित्यता स्थापित करना है और पुद्गल के सम्बन्ध के लक्ष्य से होता है, इसलिए वह आत्मा का स्वरूप नहीं है। आहाहा! आत्मावलोकन में है। उस दिन पढ़ा, तब चिह्न किया था। कल देखा था। भाई हिम्मत लाया था। आहाहा!

भगवान आत्मा तो अनन्त-अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द, अनन्त शान्ति, अनन्त वीतरागता का भण्डार भगवान है। उसमें से-भण्डार में से निकले तो राग निकले? उसमें कहाँ है? राग की उत्पत्ति का कोई गुण ही नहीं न! आहाहा! ऐसा जो भगवान अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु, उसका जहाँ स्वीकार होता है, वहाँ तो पर्याय में अनन्त आनन्द, शान्ति आदि की पर्याय प्रस्फुटित होती है, उस उत्पाद-व्यय का सम्बन्ध द्रव्य के साथ है। आहाहा! कि जो उत्पाद और व्यय सिद्ध में भी रहता है। आहाहा!

एक बार मस्तिष्क में आया था, प्रभु! तुमने मुझे यहाँ भेजा? ऐसा आया था। उसका अर्थ कि प्रभु! तुम्हारे ज्ञान में मैं आया, ऐसा कहाँ से ज्ञान में आया? तेरे ज्ञान में ऐसा आया प्रभु! कि मैं यहाँ आऊँगा। यह तूने भेजा, ऐसा मैंने कहा, भाई! समझ में आया? आहाहा! इसका अर्थ यह कि प्रभु! तुम्हारे ज्ञान में ऐसा था न कि यहाँ आवे। आहाहा! इस अपेक्षा से ऐसी बात है। आहाहा! आहाहा! अमृतचन्द्राचार्यदेव ने अमृत बहाया है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं प्रभु! एक बार सुन! चाहे तो भक्ति का राग, परमात्मा के स्मरण का, पंच परमेष्ठी के स्मरण का (राग हो)... और एक व्यक्ति ने ऐसा कहा है, नाम नहीं देते, ऐसा कि भगवान का स्मरण है, उसमें कषाय कहाँ आयी? पता नहीं? ऐसा कि वहाँ कषाय कहाँ आयी? भगवान का स्मरण करना उसमें (कषाय क्या)? परन्तु स्मरण करना,

वही विकल्प / राग है। वहाँ से–ईसरी से आया है, उसमें आया है। ऐसा कि परमात्मा के गुणों का स्मरण करना। परन्तु उन परद्रव्य के गुणों का स्मरण करने से विकल्प (होता है) भाई! आहाहा! ऐसा कहते हैं कि कषाय कहाँ आयी? बापू! वह स्वयं कषाय है, भाई! और उस कषाय की उत्पत्ति तथा व्यय पुद्गल के साथ सम्बन्ध रखता है, प्रभु! आहाहा! गजब बात है, भाई! आहाहा!

यह जब भगवान तीन लोक के नाथ दिव्यध्वनि द्वारा ये अर्थ करते होंगे... आहाहा! और गणधर तथा एकावतारी इन्द्र जहाँ (हों)! गणधर उस भव में मोक्ष जानेवाले, इन्द्र एकावतारी हैं, उन्हें भी जहाँ विस्मय लगता होगा, वह वस्तु कैसी होगी?

यह यहाँ कहते हैं कि **जो पुद्गलद्रव्य का लक्षण है,...** द्रव्यों से असाधारण है न? **ऐसा जिसका अभिप्राय है उसके मत में, अन्य शेष द्रव्यों से असाधारण ऐसी वर्णादि -स्वरूपता कि जो पुद्गलद्रव्य का लक्षण है,...** रागादि। **उसका जीव के द्वारा अंगीकार किया जाता है...** उस पुद्गल के स्वभाव को जीव के साथ उसने अंगीकार किया। **जीव-पुद्गल के अविशेष...** जीव और पुद्गल की भिन्नता नहीं रही, **एकरूपता का प्रसंग आया।** आहाहा! कहो! इस शुभराग से आत्मा को धर्म होता है – ऐसा माननेवाले, उसे कहते हैं कि तूने पुद्गल को आत्मा माना है। आहाहा! **जीव का अवश्य अभाव होता है।** आहाहा! यह राग का विकल्प जो है, वह आत्मा के साथ सम्बन्ध रखता है–ऐसा यदि माने तो वह तो पुद्गल का–अजीव का लक्षण है। वह तो अजीव के साथ तादात्म्य है और अजीव का लक्षण है। आहाहा! क्योंकि राग स्वयं अजीव है। आहाहा! वह जीवस्वरूप नहीं। आहाहा! और जीवस्वरूप नहीं, तथापि उसका सम्बन्ध अपने में माने तो आत्मा, पुद्गल हो गया, जीव तो भिन्न रहा नहीं। आहाहा! **जीव का अवश्य अभाव होता है।** लो बहुत सरस टीका आयी!

विशेष कहेंगे... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १३६ गाथा-६२ से ६४ दिनाङ्क १५-११-१९७८, बुधवार
कार्तिक कृष्ण ९, वीर निर्वाण संवत् २५०४

(क्या कहते हैं) ? **जैसे वर्णादिकभाव...** वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, शुभ-अशुभभाव ये **पुद्गलद्रव्य के साथ तादात्म्यस्वरूप हैं,...** आहाहा ! राग आवे, आता है-दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के विकल्पभाव, वे **पुद्गलद्रव्य के साथ तादात्म्यस्वरूप हैं,...** आत्मा के साथ तादात्म्य नहीं। आहाहा ! कठिन बात ! जीव-अजीव अधिकार है न !

जीव स्वभाव तो अभेद-अखण्ड, आनन्द-पूर्ण आनन्दस्वरूप आदि अभेद, उसमें जो ये राग-भेद आदि हैं, वे सब पुद्गल के साथ सम्बन्ध रखते हैं। यहाँ स्वभाव की दृष्टि करानी है।

उसी प्रकार जीव के साथ तादात्म्यस्वरूप हों... ये दया, दान, राग आदि के भाव, पुद्गल के साथ सम्बन्ध रखते हैं। जीव के साथ (तादात्म्य) सम्बन्ध रखें **तो जीव-पुद्गल में कोई भी भेद न रहे...** आहाहा ! इस राग को यहाँ अजीव और अचेतन गिनने में आया है। आहाहा ! चैतन्यभगवान आत्मा शुद्धस्वभाव में राग है ही नहीं, राग का सम्बन्ध पुद्गल के साथ लेकर, अपना स्वभाव (आत्मस्वभाव) अभेद भिन्न कर दिया है। आहाहा ! सूक्ष्म बात है।

यह यहाँ राग और वर्ण, गन्ध से लेकर... राग शुभराग का पुद्गल के साथ तादात्म्यसम्बन्ध है। (यदि) जीव के साथ भी तादात्म्य (सम्बन्ध) होवे तो जीव-पुद्गल में कोई भेद नहीं रहा। आहाहा ! **ऐसा होने से जीव का ही अभाव हो जाये...** राग अचेतन शुभराग है, वह यदि आत्मा के साथ तादात्म्य कहो तो आत्मा अचेतन हो जाये। आहाहा ! ऐसी बात है।

भगवान आत्मा चैतन्य जलहल ज्योति प्रकाश की मूर्ति प्रभु तो अन्दर... आहाहा ! ज्ञायक चैतन्यज्योति भगवान है। वह राग के साथ तादात्म्य हो तो आत्मा अचेतन हो जाये। आहाहा !

यहाँ तो कहते हैं, आहाहा ! शरीर-कर्म आदि पुद्गल अचेतन हैं, इसी प्रकार राग-

शुभ (राग) वह अचेतन है तो उसमें चेतनस्वभाव का कोई अंश नहीं है। इस कारण से राग को अचेतन (कहकर) पुद्गल के साथ तद्रूप / तादात्म्य (सम्बन्ध) कहा है। आहाहा! यह व्यवहाररत्नत्रय का राग (पुद्गल है)। गजब बात है, भाई! क्योंकि राग में चैतन्यपने का (अभाव है)। आहाहा! ज्ञान प्रकाश का पुंज प्रभु (आत्मा)... आहाहा! एक ओर भगवान चैतन्यप्रकाश विराजमान हैं, उसके साथ में राग का-अचेतन का सम्बन्ध हो जाये तो भगवान (आत्मा) अचेतन हो जाये। (समयसार की) छठवीं गाथा में यह कहा कि ज्ञायकस्वभाव चैतन्यज्योत वस्तु है, वह यदि शुभाशुभभावरूप हो तो जड़ हो जाये। देखो! वहाँ यह कहा। आहाहा! क्योंकि यह तो चैतन्य ज्ञानरस, स्व-परप्रकाशक स्वभाव का रसकन्द जलहल ज्योति वह चैतन्य है और (जो) राग है-व्यवहाररत्नत्रय का (शुभ) राग है, वह अचेतन है। आहाहा! ७२ गाथा में भी (आस्रवों को) जड़ कहा है। छठवीं गाथा में यही कहा है कि जो ज्ञायक है, वह शुभाशुभभाव (रूप) हो जाये तो जड़ हो जाये! आहाहा! ऐसी बात है।

(आत्मा राग के साथ तन्मय हो तो) जड़ हो जाये-ऐसा दिखाया है। है न? आहाहा! चैतन्य प्रकाश की मूर्ति प्रभु में राग कैसे हो? ऐसा कहते हैं। राग की पर्याय, जड़ के साथ सम्बन्ध रखती है। आहाहा! है तो राग की पर्याय अपने में चारित्रगुण की विपरीत (दशा) आहाहा! परन्तु स्वभाव की दृष्टि से देखने से त्रिकाली चैतन्यज्योति-जलहल ज्योति परमात्मस्वरूप ध्रुव प्रवाह-ध्रुव की धारा, चैतन्यधारा देखने से... राग तो अचेतन है। आहाहा! ऐसी बात है। यह राग जैसे पुद्गल के साथ तद्रूप (तादात्म्य है), वैसे यदि आत्मा के साथ तद्रूप हो तो आत्मा अचेतन हो जाये। आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म बात भाई! जैनदर्शन, जैन परमेश्वर की बात तो बहुत सूक्ष्म है। आहाहा! क्योंकि चैतन्य जलहल ज्योति प्रकाश चैतन्य के नूर का पूर (अभेद आत्मा) उसमें राग का सद्भाव हो जाये तो आत्मा अचेतन हो जाये। वह तो (आत्मा तो) चैतन्य के प्रकाश की मूर्ति है। आहाहा!

ये दया, दान, व्रत, भक्ति (आदि के शुभभाव) राग है, वह पुद्गल के साथ तादात्म्य (सम्बन्ध से) है। गजब, प्रभु! क्योंकि उसमें (रागभाव में) चैतन्यपना नहीं है,

इस कारण वह अचेतन के साथ तादात्म्यसम्बन्ध है। आहाहा! चैतन्यप्रकाश का पूर प्रभु, (वह चेतन है), उसके साथ यदि राग (अचेतन) का तादात्म्य (सम्बन्ध) हो तो चेतन स्वयं अचेतन हो जाये। ऐसी बात कहाँ? आहाहा!

चैतन्यज्योति प्रकाश की मूर्ति प्रभु, स्व-पर प्रकाश की मूर्ति आत्मा तो त्रिकाल... आहाहा! राग को प्रकाशे-जाने, परन्तु रागरूप नहीं हो जाती। आहाहा! बहुत पर से उदास होना चाहिए, कहते हैं। यह अचेतन राग और पुद्गल एक होकर तादात्म्यसम्बन्ध है, तो उससे उदास हो जा, प्रभु! (वह राग) तेरी चीज़ नहीं है। आहाहा! है (अभेद आत्मा) वहाँ आसन लगा दे! ज्ञायकस्वरूप चैतन्यमूर्ति (अभेद) में (आसन लगा दे)। आहाहा! जहाँ चैतन्य जलहल ज्योति स्व-पर प्रकाशक का पूर प्रभु-ध्रुवपूर, चैतन्य के नूर के तेज का पूर प्रभु यह स्वयं है। आहाहा! इसके साथ राग का तादात्म्यसम्बन्ध कर दे (अर्थात् मान ले) तो जीव, अजीव हो जायेगा-अचेतन हो जायेगा। आहाहा! कठिन बात है प्रभु! आहाहा! जीव का ही अभाव हो जाये! **यह महादोष आता है**। है, भावार्थ?

गाथा ६३-६४

संसारावस्थायामेव जीवस्य वर्णादितादात्म्यमित्यभिनिवेशेऽप्ययमेव दोष-

अहं संसारत्थाणं जीवाणं तुज्झ होंति वण्णादी।
तम्हा संसारत्था जीवा रूवित्तमावण्णा।।६३।।
एवं पोग्गलदव्वं जीवो तहलक्खणेण मूढमदी।
णिव्वाणमुवगदो वि य जीवत्तं पोग्गलो पत्तो।।६४।।

अथ संसारस्थानां जीवानां तव भवंति वर्णादय:।
तसमात्संसारस्था जीवा रूपित्वमापन्ना:।।
एवं पुद्‌गलद्रव्यं जीवस्तथालक्षणेन मूढमते।
निर्वाणमुपगतोऽपि च जीवत्वं पुद्‌गल: प्राप्त:।।

यस्य तु संसारावस्थायां जीवस्य वर्णादितादात्म्यमस्तीत्यभिनिवेशस्तस्य तदानीं स जीवो रूपित्वमवश्यमवाप्नोति। रूपित्वं च शेषद्रव्यासाधारणं कस्यचिद्द्रव्यस्य लक्षणमस्ति। ततो रूपित्वेन लक्ष्यमाणं यत्किंचिद्भवति स जीवो भवति। रूपित्वेन लक्ष्यमाणं पुद्‌गलद्रव्यमेव भवति। एवं पुद्‌गलद्रव्यमेव स्वयं जीवो भवति, न पुनरितर: कतरोपि। तथा च सति, मोक्षावस्थायामपि नित्यस्वलक्षणलक्षितस्य द्रव्यस्य सर्वास्वप्यवस्थास्वन-पायित्वादनादिनिधनत्वेन पुद्‌गलद्रव्यमेव स्वयं जीवो भवति, न पुनरितर: कतरोऽपि। तथा च सति, तस्यापि पुद्‌गलेभ्यो भिन्नस्य जीवद्रव्यस्याभावाद्भवत्येव जीवाभाव:।

अब, 'मात्र संसार-अवस्था में ही जीव का वर्णादि के साथ तादात्म्य है' — इस अभिप्राय में भी यही दोष आता है, सो कहते हैं —

वर्णादि हैं संसारी जीव के, योहिं मत तुझ होय जो।
संसारस्थित सब जीवगण, पाये तदा रूपित्व को॥६३॥

इस रीत पुद्गल वो हि जीव, हे मूढ़मति! समचिह्न से।
अरु मोक्ष प्राप्त हुआ भि पुद्गलद्रव्य जीव बने अरे॥६४॥

गाथार्थ - [अथ] अथवा यदि [तव] तुम्हारा मत यह हो कि [संसारस्थानां जीवानां] संसार में स्थित जीवों के ही [वर्णादयः] वर्णादिक (तादात्म्यस्वरूप से) [भवंति] हैं, [तस्मात्] तो इस कारण से [संसारस्थाः जीवाः] संसार में स्थित जीव [रूपित्वम् आपन्नाः] रूपित्व को प्राप्त हुए; [एवं] ऐसा होने से, [तथालक्षणेन] वैसा लक्षण (अर्थात् रूपित्वलक्षण) तो पुद्गलद्रव्य का होने से, [मूढमते] हे मूढ़बुद्धि! [पुद्गलद्रव्यं] पुद्गलद्रव्य ही [जीवः] जीव कहलाया [च] और (मात्र संसार-अवस्था में ही नहीं किन्तु) [निर्वाणम् उपगतः अपि] निर्वाण प्राप्त होने पर भी [पुद्गलः] पुद्गल ही [जीवत्वं] जीवत्व को [प्राप्तः] प्राप्त हुआ।

टीका - फिर, जिसका यह अभिप्राय है कि संसार-अवस्था में जीव का वर्णादिभावों के साथ तादात्म्यसम्बन्ध है, उसके मत में संसार-अवस्था के समय वह जीव अवश्य रूपित्व को प्राप्त होता है और रूपित्व तो किसी द्रव्य का, शेष द्रव्यों से असाधारण ऐसा लक्षण है। इसलिए रूपित्व (लक्षण) से लक्षित (लक्ष्यरूप होता हुआ) जो कुछ हो वही जीव है। रूपित्व से लक्षित तो पुद्गलद्रव्य ही है। इस प्रकार पुद्गलद्रव्य ही स्वयं जीव है, किन्तु उसके अतिरिक्त दूसरा कोई जीव नहीं है। ऐसा होने पर, मोक्ष-अवस्था में भी पुद्गलद्रव्य ही स्वयं जीव (सिद्ध होता) है, किन्तु उसके अतिरिक्त अन्य कोई जीव (सिद्ध होता) नहीं; क्योंकि सदा अपने स्वलक्षण से लक्षित ऐसा द्रव्य सभी अवस्थाओं में हानि अथवा ह्रास को न प्राप्त होने से अनादि-अनन्त होता है। ऐसा होने से, उसके मत में भी (संसार-अवस्था में ही जीव का वर्णादि के साथ तादात्म्य माननेवाले के मत में भी), पुद्गलों से भिन्न ऐसा कोई जीवद्रव्य न रहने से, जीव का अवश्य अभाव होता है।

भावार्थ - यदि ऐसा माना जाय कि संसार-अवस्था में जीव का वर्णादि के साथ तादात्म्यसम्बन्ध है तो जीव मूर्तिक हुआ और मूर्तिकत्व तो पुद्गलद्रव्य का लक्षण है; इसलिए पुद्गलद्रव्य ही जीवद्रव्य सिद्ध हुआ, उसके अतिरिक्त कोई चैतन्यरूप जीवद्रव्य नहीं रहा। और मोक्ष होने पर भी उन पुद्गलों का ही मोक्ष हुआ; इसलिए मोक्ष में भी पुद्गल ही जीव ठहरे, अन्य कोई चैतन्यरूप जीव नहीं रहा। इस प्रकार संसार

तथा मोक्ष में पुद्गल से भिन्न ऐसा कोई चैतन्यरूप जीवद्रव्य न रहने से जीव का ही अभाव हो गया। इसलिए मात्र संसार-अवस्था में ही वर्णादि भाव जीव के हैं — ऐसा मानने से भी जीव का अभाव ही होता है।

गाथा - ६३-६४ पर प्रवचन

अब, 'मात्र संसार-अवस्था में ही जीव का वर्णादि... राग के साथ... वर्ण तो साधारण है। **के साथ तादात्म्य है' — इस अभिप्राय में भी यही दोष आता है, सो कहते हैं—** ६३, ६४

अहं संसारत्थाणं जीवाणं तुज्झ होंति वण्णादी।
तम्हा संसारत्था जीवा रूवित्तमावण्णा।।६३।।
एवं पोग्गलदव्वं जीवो तहलक्खणेण मूढमदी।
णिव्वाणमुवगदो वि य जीवत्तं पोग्गलो पत्तो।।६४।।

वर्णादि हैं संसारी जीव के, योहिं मत तुझ होय जो।
संसारस्थित सब जीवगण, पाये तदा रूपित्व को।।६३।।
इस रीत पुद्गल वो हि जीव, हे मूढ़मति! समचिह्न से।
अरु मोक्ष प्राप्त हुआ भि पुद्गलद्रव्य जीव बने अरे।।६४।।

टीका - फिर, जिसका यह अभिप्राय है... जिसका यह अभिप्राय (अर्थात्) आशय, श्रद्धा आदि **है कि संसार-अवस्था में...** (वर्णादिभाव-रागभाव) जीव के हैं, भले मोक्ष अवस्था में न हो, परन्तु संसार-अवस्था में तो राग आदि का तादात्म्यसम्बन्ध है या नहीं? आहाहा! **संसार-अवस्था में जीव का वर्णादि...** रागादि, **भावों के साथ तादात्म्य -सम्बन्ध है, उसके मत में संसार-अवस्था के समय वह जीव अवश्य रूपित्व को प्राप्त होता है...** आहाहा!

आहाहा! एक ओर राग को अजीव-अचेतन कहा, यह रूपी कहा। आहाहा! भगवान चैतन्यस्वरूप प्रभु-अरूपी चैतन्यस्वरूप, उसमें राग तो रूपीस्वरूप है, कहते हैं।

आहाहा! चैतन्यस्वरूप से (वह राग) रूपी (अर्थात्) विपरीतस्वरूप से है। आहाहा! शुभराग, हों! मुख्य बात तो यह है, बाकी तो सब ठीक है, गुणस्थान-जीवस्थान आदि। आहाहा!

संसार-अवस्था में... अवस्था में, हों! संसारदशा में। आत्मा के त्रिकाल भाव में वे नहीं; यहाँ तो पर्याय की बात है। संसार की अवस्था में जीव का रंग और राग के भावों के साथ तादात्म्यसम्बन्ध है, रंग और राग लिया। ठीक! दो... हुकमचन्द (भारिल्ल के काव्य में) आता है न? रंग, राग, और भेद (ये तीन)। यहाँ रंग, राग और भेद तीनों ही आ गये। ज्ञानान्दी (पद में) है। रंग, राग और भेद, आहाहा! यहाँ भी रंग, राग और भेद की व्याख्या है। रंग, राग और भेद का पुद्‌गल के साथ तादात्म्यसम्बन्ध है, ऐसा है। तुम ऐसा मानो कि संसारदशा में तो (जीव का) सम्बन्ध है न? भले मोक्ष की अवस्था में उनके साथ सम्बन्ध नहीं। तो ऐसा तेरा अभिप्राय हो तो, आहाहा! **उसके मत में संसार-अवस्था के समय वह जीव अवश्य रूपित्व को प्राप्त होता है...** भगवान ज्ञानानन्दस्वरूप प्रभु, संसारदशा में राग के साथ तादात्म्य हो तो आत्मा रूपित्व को प्राप्त हो जाता है। आहाहा!

जीव अवश्य रूपित्व को प्राप्त होता है... आहाहा! **और रूपित्व तो किसी द्रव्य का, शेष द्रव्यों से असाधारण ऐसा लक्षण है।** यह जड़ का-पुद्‌गल का रूपित्व लक्षण है। आहाहा! किसी वस्तु का अर्थात् पुद्‌गल का, शेष द्रव्यों से-अलग पुद्‌गल, वह जीवादि से भिन्न / अलग पुद्‌गल का लक्षण है। इसलिए रूपित्व लक्षण से लक्षित जो कुछ है, वह जीव है-ऐसा यदि तू मान ले तो हो गया! आत्मा रूपी हो गया। आहाहा!

यहाँ तो अभी व्यवहार करो—दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, तप से कल्याण होगा। अरे प्रभु! शुभराग, आहाहा! यहाँ तो शुभभाव / राग, रंग, और भेद तीनों को पुद्‌गल के साथ (तादात्म्य) सम्बन्ध है (- ऐसा) कहा है। वरना तो आत्मा रूपी हो जायेगा। आहाहा! (आत्मा) रंगरूप हो जायेगा और रागरूप हो जायेगा और भेदरूप हो जायेगा और तब तो वह रूपी हो जायेगा। आहाहा!

मुमुक्षु : कथंचित् शब्द का प्रयोग क्यों नहीं किया साहेब?

पूज्य गुरुदेवश्री : कथंचित् नहीं, बिल्कुल नहीं। अज्ञान अवस्था में तो (ये तीनों

भाव) अपने (आत्मा के) हैं, ऐसा माने, परन्तु (आत्मा) वस्तु में ये (भाव) नहीं है। आहाहा!

अज्ञान अवस्था में ये मेरे हैं, कर्ता हूँ-ऐसा माने परन्तु वस्तु के स्वरूप की दृष्टि से उस अज्ञान अवस्था में जो माना है, वह भी पुद्गल का है। आहाहा! स्याद्वाद का अर्थ ऐसा नहीं है कि ऐसा भी है और ऐसा भी है। स्याद्वाद की अपेक्षा पर्याय में, उसमें है, इस अपेक्षा से, एक पर्यायदृष्टि से मानना परन्तु स्वभाव की दृष्टि से वे रूपी हैं तो उनका तादात्म्य है नहीं, ऐसा है। कठिन मार्ग, बापू! आहाहा! चैतन्यप्रकाश का पूर प्रभु, उसे यहाँ अरूपी कहा और रंग-राग और भेद को रूपी कहा, आहाहा! तो रूपी लक्षण तो पुद्गल का है, वह लक्षण आत्मा में लगा दे तो आत्मा रूपी हो जाये-पुद्गल हो जाये। आहाहा! (तब तो) जीव तो भिन्न रहा नहीं।

चैतन्य के प्रकाश का पूर प्रभु... आहाहा! उसे भी-उसके साथ जो रंग, राग और भेद का तादात्म्यसम्बन्ध अवस्था में (अर्थात् संसार अवस्था में) मान ले तो भी आत्मा रूपी हो जाये। रूपी तो पुद्गल का लक्षण है। आहाहा! किस दृष्टि से? यह यहाँ जीवतत्त्व का वर्णन है, अकेला जीवतत्त्व! उसमें राग आदि अजीवतत्त्व का सम्बन्ध छोड़ना, वह सम्बन्ध तेरा है ही नहीं। समझ में आया? आहाहा! अब यह बात (वाद-विवाद से) कहाँ पार पड़े!

मुमुक्षु : आत्मा में जाये तो पार पड़े।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! वाद-विवाद करे तो! भाई ने कहा न कि कथंचित् करो, कथंचित् का अर्थ...? है-पर्याय में (है), ऐसा पर्यायदृष्टि से है, वह कथंचित्, परन्तु स्वभावदृष्टि से इसमें (आत्मा में) वे (भाव) है नहीं। आहाहा! यहाँ तो त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव का पूर प्रभु... समझ में आया? उसमें यह राग, रंग और भेद तीनों नहीं हैं। आहाहा! रंग, राग और भेद को तो पुद्गल के साथ सम्बन्ध ले लिया है। आहाहा! ऐसा ही जो पुद्गल के साथ सम्बन्ध है, वैसा ही आत्मा के साथ सम्बन्ध हो जाये तो आत्मा रूपी हो जाये! जीव का अभाव हो जाये। आहाहा! ऐसी बात है। ओहोहो! पहले से लिया है न यह - वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श आदि; रागादि; और भेद.. आहाहा! (अर्थात्) रंग, राग और भेद से भिन्न!

यह आता है, हुकमचन्दजी। का क्या कहलाता है वह ? 'ज्ञानानन्दस्वभावी' (वह पद) हाँ, यह उसमें लिखा है। (कहा है) राग, रंग और भेद से भिन्न भगवान आत्मा चैतन्यस्वरूप है। उन्होंने-हुकमचन्दजी ने अच्छा लिखा है। उसमें संक्षिप्त में बहुत सरस लिखा है, वह इसमें से डाला है। (कहा) रंग, वर्ण से उठाया है। राग-शुभाशुभभाव से उठाया है, गुणस्थान आदि से उठाया है, भेद-निवृत्ति कर्म की निवृत्ति लब्धिस्थान यह भेद है। आहाहा! रंग, राग और भेद से निराला प्रभु (आत्मा) है। आहाहा! अरे रे! ऐसा कब सुनें! ऐसे झगड़े करते... यह तो देश सेवा करो, कल्याण हो जायेगा। किसकी-देश की सेवा ? तेरा देश तो अरूपी (ज्ञायकभाव), तेरा देश तो रूपी जो रंग, राग और भेद से भिन्न... किससे भिन्न ? रूपी से भिन्न तेरा देश है। भगवान आत्मा का देश असंख्य प्रदेशी और अभेद है। उस तेरे देश में तो रंग, राग और भेद का अभाव है। आहाहा! आहाहा! ओहोहो!

रूपित्व से लक्षित तो पुद्गलद्रव्य ही है। रूपीलक्षण तो पुद्गल द्रव्य (का है), आहाहा! राग भी रूपी है, भेद भी रूपी है। आहाहा! रंग, गन्ध, रस, स्पर्श वे तो रूपी (हैं ही परन्तु) शुभ-अशुभराग रूपी है (और) गुणस्थान, जीवस्थान, मार्गणास्थान रूपी, आहाहा! और भेद है, वह भी रूपी। पर्याय में भेद दिखते हैं, आहाहा! वे त्रिकाली अभेद में नहीं हैं, इस अपेक्षा से त्रिकाली को अरूपी कहा, तब भेद को रूपी कहा। अब यहाँ अभी राग से भिन्न नहीं मानते। यहाँ तो कहते हैं कि भेद से भी (आत्मद्रव्य) भिन्न है। है ? आहाहा! निवृत्ति-कर्म की निवृत्ति होते-होते जो संयमलब्धि प्राप्त हो, उसे भी भेद को यहाँ तो रूपी में डाल दिया है।

आहा! एक ओर ऐसा कहना कि भाई! यह ज्ञान का-क्षयोपशम का अंश है, वह स्वयं तो निरावरण का अंश है, शुद्ध है; वह शुद्ध बढ़-बढ़कर केवल (ज्ञान) होता है - ऐसा कहते हैं। आहाहा! एक ओर यह किस अपेक्षा से ? यह तो अंश है, यह स्पष्ट है। इस अपेक्षा से, परन्तु यहाँ तो जो अंश है, भेद है, आहाहा! वह तो पर्यायनय से बात कही परन्तु त्रिकाली ज्ञायक के नूर में-पूर में-तेज में वह अन्धकार-रागादि का अन्धकार उसमें है ही नहीं। आहाहा! और (यदि) होवे तो निकले नहीं। आहाहा! वीतरागमार्ग अलौकिक, भाई! आहाहा! उसमें जैनदर्शन-समयसार!! आहाहा!

प्रवचनसार में ऐसा कहते हैं कि ज्ञानी गणधर हो, उन्हें भी राग का परिणमन है, इसलिए उसके वे कर्ता हैं। आहाहा! यहाँ उसे रूपी और पुद्गल कहा। ऐई! वह ज्ञान की प्रधानता में ज्ञान का स्वभाव स्व-पर सब जानना है। इसलिए उसकी अपेक्षा लेकर वहाँ कहा। यहाँ तो कहा कि राग है, वह रूपी है; भेद है, वह रूपी है, उसे यदि आत्मा कहेगा / मानेगा तो आत्मा अचेतन और रूपी हो जायेगा। आहाहा! किस अपेक्षा से कथन (है वह यथार्थ समझना)। भेद का कथन आया नहीं? (आया है)। ११ वीं गाथा, एक तो भेद की-व्यवहार की श्रद्धा जीवों को है, भेद की और व्यवहार की प्ररूपणा परस्पर करते भी हैं और भेद का-व्यवहार का कथन जैनदर्शन में वीतराग में भी किया-बहुत किया है। आहाहा! परन्तु इन तीनों को फल संसार है। गजब बात है! आहाहा! यह बात (अभिप्राय) बदलना, भगवान! आहाहा!

अन्दर भगवान पूर्णानन्द का नाथ, आनन्दस्वरूप प्रभु (है)। आहाहा! उसकी दृष्टि में ये भाव-सभी भाव—रंग, राग और रूपी को भेद-रूपी और पुद्गल का लक्षण कहा। ऐसा है। कहीं वाद-विवाद से पार पड़े, ऐसा नहीं है। (कहते हैं) भेद को हस्तावलम्ब जानकर शास्त्र में भी बहुत कथन आता है। लिखा नहीं? बहुत कथन... बहुत कथन आता है। अब यह बात करने जाये और वह सामने (व्यवहार की बात) चर्चा में रखे! आहाहा! भाई! यह तो पर्यायनय से अन्दर रागादि हैं, वह ज्ञान कराया परन्तु इसके (आत्मा के) स्वरूप में नहीं ऐसी दृष्टि अभेद में करना है और अभेददृष्टि हुए बिना सम्यग्दर्शन नहीं होगा। आहाहा! इस दृष्टि के बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता।

आहाहा! सम्यग्दर्शन, त्रिकाली भगवान ज्ञानानन्दस्वभावी प्रभु एकरूप त्रिकाली स्वभाव का स्वीकार-सत्य का (स्वीकार), उस सत्य के स्वीकार में पर्याय का स्वीकार नहीं। आहाहा! अर्थात् भेद का स्वीकार नहीं, राग का स्वीकार नहीं, निमित्त का स्वीकार नहीं। आहाहा! (तब सम्यग्दर्शन होता है)। अब ऐसी बातें! अरे! आहाहा! लोग इसे एकान्त कहकर छोड़ देते हैं। अरे! प्रभु! आहाहा! तेरी अभेद चीज़ में ये (भेद) नहीं हैं, तो (जो जिसमें) नहीं, उसका निषेध करना, वह तो यथार्थता है। आहाहा! यह तो एक श्लोक में आया न! कि भेदज्ञान होने से पहले राग का कर्ता मानो-अज्ञानभाव में। है न

कलश ? आहाहा ! किस अपेक्षा से है (यह समझना चाहिए) । परन्तु भेदज्ञान होने पर तेरी चीज़ में (आत्मा में) है नहीं। आहाहा! ऐसी बात है। कठिन पड़े और महँगा पड़े (इसलिए) कहीं दूसरे प्रकार से बदल डाला जाये इसे ? इसका अभ्यास करना चाहिए, प्रभु ! आहा ! अन्दर जलहल ज्योति चैतन्य (अभेद बिराजता है) ।

(प्रात:काल) पाँच से पहले, पौने पाँच बजे जरा एक स्वप्न आया, वहाँ कोई लड़का गृहस्थ का बड़ा, बड़े गृहस्थ के घर में ठहरे-बड़ा पैसेवाला कोई था, लड़का छोटा। कहा-बापू ! जो यह आत्मा अन्दर चैतन्यप्रकाश का नूर, वह आत्मा, हों ! आज पाँच बजे ! अन्दर चैतन्य का प्रकाश भगवान, वह आत्मा है, बापू ! शरीर-वरीर नहीं, हों ! (लड़का) दस-बारह वर्ष का कोई गृहस्थ का था। कहा - यह शरीर-वरीर तू नहीं है। बालक था। कहा-भाई ! बापू, बापू ! जो यह शरीर है न, वह (तू) नहीं है; अन्दर चैतन्य के प्रकाश का नूर वह आत्मा है। आहाहा ! आहाहा ! चाहे जो कोई आ गया हो, कोई था गृहस्थ का, वहाँ ठहरे थे, बड़े पैसेवाले का वह लड़का आया। भाई ! अन्दर चैतन्य के प्रकाश का नूर है-जानता है-जाननेवाला... जाननेवाला... जाननेवाला... चैतन्य वह आत्मा है; (देह-शरीर) वह तो मिट्टी-धूल है।

यहाँ तो राग को भी रूपी और पुद्गल कह दिया। आहाहा ! यहाँ तो भेद को भी रूपी अजीव और पुद्गल-रूपी, अजीव अचेतन और रूपी-पुद्गल (कहा है) । आहाहा ! भाई ! यह तो तीन लोक के नाथ सर्वज्ञदेव (तीर्थंकर) परमेश्वर सत्य की बात को प्रसिद्ध करते हैं। आत्मा प्रसिद्ध कब होता है ? कि वह रूपी, भेद और अचेतन रागादि से भिन्न पड़कर, अभेद की दृष्टि करे, तब प्रसिद्ध होता है। आहाहा ! आहाहा ! नहीं तो राग, रंग और भेद तीनों को अचेतन कहा, अजीव कहा, रूपी कहा और पुद्गल कहा। आहाहा ! अरे रे ! **पुद्गलद्रव्य ही है।... रूपित्व से लक्षित तो पुद्गलद्रव्य ही है**। पुद्गलद्रव्य ही है, ऐसा कहा, देखो। अब। यह राग, भेद और रंग पुद्गलद्रव्य ही है। आहाहा ! है न ? सामने पुस्तक है। आहाहा !

मुमुक्षु : एकान्त हो गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सम्यक् एकान्त है। यह सम्यक् एकान्त है। रात्रि को प्रश्न

था न ? आहाहा ! सम्यक् एकान्त ऐसा हो, तब पर्याय में राग ओर अल्पज्ञता है, उसका ज्ञान होता है, उसका नाम अनेकान्त है । आहाहा ! पर्याय में है, ऐसा जानता है । नय के अधिकार में आया न ! आहाहा ! ऐसा मार्ग ! सुनने में कठिन पड़े ! आहाहा ! वस्तु तो इस प्रकार से अन्दर है ।

जिसके-चैतन्य के प्रकाश में भेद और राग का कहाँ सम्भव है ? आहाहा ! रूपी की-वर्ण की तो बात क्या करना ? राग और भेद का भी वहाँ अवकाश कहाँ है अन्दर ? आहाहा !

मुमुक्षु : भेद, वस्तु में किस प्रकार हों ?

पूज्य गुरुदेवश्री : (यह सब) पर में-पर में, अभी जब वह अभेद में नहीं, इसलिए भेद (आदि) पर में है, ऐसा ले लिया, रूपी ले लिया-पुद्गल में ले लिया-अचेतन लिया । आहाहा ! ऐसी बात है । आहाहा ! चौरासी के अवतार इसमें से (आत्मा में से) उतर गये । आहाहा ! वहाँ जन्म-मरण रहे नहीं । आहाहा ! क्योंकि राग, रंग, और भेद पुद्गल में डाल दिये, अपने स्वभाव में नहीं । (ऐसे) अपने स्वभव की जहाँ दृष्टि हुई, भव का अन्त आ गया । आहाहा ! जन्म-मरण के अनन्त अवतार बन्द हो गये ! इस राग और भेद को अपना मानता था । आहाहा ! वहाँ तक मिथ्यात्व था और वहाँ तक अनन्त-अनन्त संसार में भटकने की उसमें (मिथ्यात्व में) शक्ति थी । आहाहा ! (परन्तु) जब आत्मा भगवान पूर्णानन्द प्रभु, अभेद प्रभु आत्मा है, उसमें रंग, राग और भेद नहीं; उन्हें अचेतन / अजीव में डाल दिया तो मुझमें (निजात्मा में) हैं ही नहीं; है तो मेरा स्वरूप अभेद है । आहाहा ! ऐसी जहाँ दृष्टि हुई, संसार का अभाव हो गया । आहाहा ! ऐसी सम्यक्दृष्टि की कीमत है । इसका तो पता नहीं होता और बाह्यत्याग किया और यह किया और त्यागी हुए... लोग भी बेचारे इस बाह्य में पड़े हैं । क्या करें वे लोग ? अन्तर में ऐसे भेद, रंग का भी जहाँ त्याग है और अभेद का ग्रहण (आश्रय) है, उसकी कीमत नहीं मिलती ! है ? आहा ! दूसरा पुरुषार्थ है (लोगों को तो) । क्या हुआ ? अन्तर अभेद में रहना, वह पुरुषार्थ है । वही पुरुषार्थ है । अभेद (आत्मा) जो दृष्टि में आया और उसमें लीन (एकाग्र) विशेष हुआ, वह चारित्र है । परन्तु पहले सम्यग्दर्शन में क्या है, उसका पता नहीं और चारित्र तो कहाँ से हो ?

आहाहा! (ऐसा अभेद आत्मा) प्रभु! यहाँ ख्याल में लेना बहुत कठिन है। अन्दर ज्ञान प्रकाश का पूर-चैतन्य की जलहल ज्योति ध्रुव अभेद। आहाहा! ऐसी दृष्टि करने से भेद, रंग और राग भिन्न पड़ जाते हैं। आहाहा! इसकी (आत्मा की) पर्याय में भी आते नहीं। सम्यग्दर्शन की पर्याय में भी (वे तीनों) नहीं आते। आहाहा!

सम्यग्दर्शन की पर्याय में तो त्रिकाली अभेद (आत्मा) आया है। आहाहा! उस सम्यग्दर्शन की पर्याय में भेद, रंग और राग नहीं आते प्रभु! आहाहा! यह कितना त्याग (हो गया)! (कितना) त्याग है? ऐसे त्याग की (दुनिया को) कीमत नहीं। आहाहा! देवानुप्रिया! और बाहर से वस्त्र बदल लिये और यह किया-कुछ करे-नग्न हो गये! कुछ धूल भी नहीं है। बाहर का त्याग-ग्रहण आत्मा के स्वरूप में है ही नहीं न! आहाहा! है? विकार का त्याग भी स्वरूप में नहीं है। (वह तो) जहाँ स्वरूप की दृष्टि होती है, उसमें (आत्मा में) स्थिरता (एकाग्रता) होने पर विकार उत्पन्न ही नहीं होता तो उसने (राग का) त्याग किया-ऐसा नाममात्र से कथन है। आहाहा! क्योंकि ज्ञायकस्वभाव विकाररूप हुआ ही नहीं, तो त्याग करना, वहाँ कहाँ रहता है? आहाहा! (समयसार) ३४ गाथा में आता है कि यह ज्ञान (स्वरूप) आत्मा, रागरूप हुआ ही नहीं, (रागरूप) हुआ ही नहीं तो राग का त्याग किस प्रकार करे? आहाहा!

अपने ज्ञायकस्वभाव में जहाँ दृष्टि हुई और उसमें जहाँ स्थिर हुआ तो वह रागरूप हुआ ही नहीं और राग (उत्पन्न) ही नहीं हुआ तो राग का त्याग किस प्रकार हुआ? ऐई! ऐसी बातें हैं। वहाँ समझ में आये ऐसा नहीं, वहाँ घर में। वहाँ आज जानेवाले हैं! एक-एक लाईन अलौकिक है। आहाहा! समझ में आया?

इस प्रकार पुद्गलद्रव्य ही स्वयं जीव है,... ऐसा हो गया। यदि राग, रंग और भेद को जीव के साथ तादात्म्य मानो, पुद्गल के साथ तादात्म्य है, वैसा जीव के साथ मानो तो पुद्गलद्रव्य ही स्वयं जीव है (-ऐसा हुआ)! आहाहा! गजब बात है न! भेद तथा रंग और राग ये पुद्गल के लक्षण हैं। आहाहा! रूपी हैं-अजीव हैं-अचेतन हैं-जड़ हैं, उन्हें यदि आत्मा में जोड़ दो तो आत्मा, रूपी-जड़ हो गया-आत्मा पुद्गल हो गया। आहाहा! अभेद भगवान (आत्मा) भेदरूप हो गया। आहाहा! आत्मा पुद्गल हो गया। अभेद भगवान

(आत्मा) भेदरूप हो गया। आहाहा! यह समयसार! जिसका पेट बहुत गहरा!! आहाहा!

उसके अतिरिक्त दूसरा कोई जीव नहीं है। क्योंकि राग, भेद और रंग को जहाँ आत्मा के साथ तादात्म्य (सम्बन्ध) लिया, तो पुद्गल ही जीव हो गया, जीव तो भिन्न रहा नहीं। आहाहा! सूक्ष्म बात है भाई! यह कोई साधारण गाथा नहीं। आहाहा! भगवान चैतन्यस्वरूप प्रभु, अकेला चैतन्यरस, स्व-पर प्रकाशक स्वभाव का पिण्ड (है)। त्रिकाली, हों! पर्याय में यह है, यह बात नहीं। ऐसा अभेद भगवान आत्मा है। उसमें भेद, रंग और राग है ही नहीं, और भेद, रंग और राग तो यहाँ पुद्गल के कहे-रूपी कहे, उसरूप यदि आत्मा हो जाये तो आत्मा, पुद्गल और रूपी हो गया। आहाहा!

आत्मा जो भिन्न-अरूपी आनन्दकन्द है (वह तो रंग, राग भेदरूप हो) तो जीव रहा नहीं। आहाहा! धीरज का काम है भाई! कहीं उतावल से आम पक जाये, ऐसी यह चीज़ नहीं है। आहाहा! और सर्वोत्कृष्ट वस्तु ही तू है। कल आया था न? आहाहा! आतमपदार्थ महाप्रभु सर्वोत्कृष्ट जगत् में जो सार (रूप) है, वह तू ही है। ऐसे आत्मा में यदि राग और भेद तथा रंग लगा दे (जोड़ दे) (इसीलिए तो) भगवान आत्मा रूपी और अचेतन हो जाये। जीवपना रहे नहीं। आहाहा! अरे रे! **इस प्रकार पुद्गलद्रव्य ही स्वयं जीव है, किन्तु उसके अतिरिक्त दूसरा कोई जीव नहीं है। ऐसा होने पर,...** ऐसा होने से **मोक्ष-अवस्था में भी...** अब मोक्ष में, **मोक्ष-अवस्था में भी पुद्गलद्रव्य ही स्वयं जीव (सिद्ध होता) है,...** वहाँ (मोक्ष में) भी पुद्गल रहा वहाँ, क्योंकि पुद्गल के साथ-रंग के साथ (भेद के साथ) अभेद (जीव) था, उसे तू जीव कहता है तो मोक्ष हुआ, वहाँ भी वह पुद्गल रहा, जीव तो भिन्न रहा नहीं।

इस संसार अवस्था में भी यदि रूपित्व जो पुद्गल का लक्षण है (वह) तुझमें (आत्मा में) आ जाये तो उस आत्मा का मोक्ष (होवे तब) मोक्ष में भी वे (रंग, राग और भेद) साथ-साथ आते हैं क्योंकि वे तादात्म्य हैं तो (जीव तो) भिन्न रहता नहीं। आहाहा! अब जैसे अभी पुद्गल हुए, उसी प्रकार मोक्ष हुआ तो पुद्गल वहाँ गया, आहाहा! यहाँ मोक्ष (अवस्था) क्यों नहीं? कि यहाँ (अभी) संसार अवस्था में उन रूपी रंग, राग और भेद को अपना माने तो उसका जो तादात्म्यसम्बन्ध (माने) तो वे तो आगे जाकर-वहाँ

मोक्ष में जाने पर भी (उनका) तादात्म्यसम्बन्ध रहेगा तो पुद्गल ही वहाँ रहेगा, वहाँ आत्मा (जीव) रहेगा नहीं। यहाँ तो अवस्था का विचार है न! मोक्ष की अवस्था अर्थात्? यह यहाँ नहीं। यहाँ तो संसार अवस्था में भी राग, रंग और भेद जो पुद्गल-लक्षण हैं, उन्हें आत्मा में लगा दे (तादात्म्यसम्बन्ध से) संसार अवस्था में (लगा दे) तो वे मोक्ष अवस्था प्रगट करे उसका मोक्ष हो, तो वह अवस्था प्रगट करे तब मोक्ष होता है, वे तो वहाँ-वहाँ रह गये, उस स्थिति में, ऐसा। जहाँ संसार अवस्था में तादात्म्य है तो आगे जाकर भी वहाँ तादात्म्य रहेगा ही। यह संसार अवस्था और मोक्ष अवस्था दो की अपेक्षा से बात लेनी है। अत्यन्त मोक्ष अवस्था निर्मल, वह यहाँ बात नहीं है - नहीं समझना है।

यहाँ तो तू कहे कि संसारदशा में-अवस्था में, द्रव्य-गुण में तो भले नहीं, परन्तु संसार की मलिन अवस्था में वह आत्मा रंग, राग और भेद से तन्मय है। तब तो तन्मयपना (रंग-राग-भेद का) वह तो पुद्गल के लक्षण हैं। (यदि ऐसा माने तो) संसार अवस्था में आत्मा रूपी-पुद्गल हो गया और संसार अवस्था पलटकर जब तू ऐसा कहता है कि मोक्ष होगा, तो मोक्ष किसका होगा? तो वहाँ भी पुद्गल ही रहेगा-ऐसा कहते हैं। समझ में आया? यह तो दो अवस्था की अपेक्षा से बात है, हों! मोक्ष-निर्मल अवस्था, वह अभी यहाँ बात नहीं है।

आहाहा! क्या कहते हैं? यहाँ तो दो अवस्था के साथ मिलान करके (कहा) है कि एक इस अवस्था में भी यदि राग-रंग और भेद तेरा है-तन्मय तादात्म्यलक्षण से (तेरा है) तो वह (आत्मा) रूपी हो गया। अब तू ऐसा कहता है (मानता है) कि इस (संसार) अवस्था में एकमेक है, ऐसी दूसरी मोक्ष अवस्था होगी वहाँ भी (आत्मा तद्रूप) एकरूप रहेगा। मोक्ष-यहाँ निर्मल यह बात अभी नहीं है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! क्या आचार्य ने गजब काम किया है न! दिगम्बर सन्तों ने, केवली का सब क का घुँटाया है। आहाहा! 'क' अर्थात् आत्मा होता है, हों! 'क' 'क' 'क' अर्थात् आत्मा, यह आत्मा! यह जो राग और रंग के साथ (भेद के साथ) वह अभेद हो जाये तो आत्मा रहे नहीं। आहाहा! इसलिए अन्य (भिन्न) कोई जीव सिद्ध होगा नहीं। वह तो यदि संसार अवस्था में भी - दशा में-अवस्था में भी विकार अवस्था में भी विकार-रंग, राग और भेद जीव के त्रिकाल

साथ में (तादात्म्य) मान ले तो आत्मा अभी यहाँ रूपी हो गया! और वह आत्मा आगे जहाँ जाये, वहाँ रूपी का रूपी रहेगा। मोक्ष-निर्मल होगा, यह प्रश्न अभी नहीं है। समझ में आया?

तेरा आत्मा संसार अवस्था में भेद-रंग और रागरूप, वह आत्मा रहा, तो आत्मा रूपी हुई और यही रूपीपना उसमें तादात्म्य है तो आगे तादात्म्यपना-रूपीपना वहाँ रहेगा। समझ में आया? तेरी मोक्षदशा भी इस रूपी की हो गयी। आहाहा! समझ में आया? मोक्ष अर्थात् यह निर्मल मोक्ष अवस्था, वह यहाँ प्रश्न नहीं है। यहाँ तो इन दो अवस्थाओं के साथ मिलान (तुलना) करनी है।

त्रिकाली द्रव्य-गुण में तो है नहीं परन्तु संसार अवस्था में तू रूपीपना-राग, रंग को अपना माने, तब तो आत्मा वर्तमान रूपी हुआ, भिन्न तो रहा नहीं, तो वही रूपी आगे जाने पर भी रूपीपना ही रहेगा, वहाँ अरूपी आत्मा भिन्न तो रहेगा नहीं। आहाहा! यह तो अवस्था, दो अवस्था की अपेक्षा से बात की है। समझ में आया? अब ऐसा उपदेश! अब (इसे) पकड़ने में देरी लगे, ऐसा उपदेश, भाई! मार्ग ऐसा है, आहाहा!

वस्तु में तो है नहीं, द्रव्य-गुण में तो भले है नहीं-ऐसा तू कहता है परन्तु पर्याय में तो है न? राग, रंग और भेद संसारदशा में (तो है न)? तो राग और रंग संसार अवस्था में है, तब तो (ऐसा मानने से तो) आत्मा रूपी हुआ (अरूपी) तो रहा नहीं। पुद्गल का मोक्ष हुआ। पुद्गल का मोक्ष क्या? वहाँ पुद्गल रहा... आहाहा! बहुत कठिन बात, गजब की बात है! एक-एक श्लोक! दिगम्बर सन्त, केवलज्ञानी के मार्गानुसारी हैं। आहाहा! केवलज्ञान के, केवलज्ञान को घोंटाते हैं और केवलज्ञान का विरह भुला दिया है। आहाहा! इन सर्वज्ञ परमात्मा को क्या कहना था, वह सन्तों ने कह दिया है। आहाहा! प्रभु! ऐसी बात कहाँ है! अन्यत्र तो नहीं परन्तु अभी जैन सम्प्रदाय नाम धराते हैं-दिगम्बर, उसमें भी यह बात नहीं है। आहाहा! वहाँ तो बस यह त्याग करो और व्रत पालो, भक्ति करो, त्याग किया, (इसलिए) पंच महाव्रत आ गये और पंच महाव्रत धर्म है और ऐसे शुभभाव से संवर-निर्जरा होती है, लो! (ऐसी बात चलती है)।

अभी आया था न! श्रुतसागर का-श्रुतसागर दिगम्बर साधु है न! शुभभाव (से)

अनिवृत्ति (अनिवृत्तिकरण में) शुभभाव से निर्जरा होती है तो फिर आगे शुभभाव से निर्जरा क्यों नहीं होगी ? अरे रे ! प्रभु ! क्या करता है भाई ! (यहाँ तो) शुभभाव को पुद्गल कहा -रूपी कहा-अचेतन कहा-अजीव कहा। उससे संवर-निर्जरा होती है ? निर्जरा होती है ? उससे भिन्न होकर अपने ज्ञायकस्वभाव को दृष्टि में लिया तो ज्ञायकरूप परिणति हुई, वह संवर-निर्जरा है। आहाहा ! कठिन बात है। आहाहा ! कार्तिक शुक्ल पूर्णिमा व्यतीत हो गयी है, अनन्त कार्तिक शुक्ल पूर्णिमा व्यतीत हो गयी है। आहाहा !

ओहोहो ! (आचार्यदेव) जब इसकी टीका करते होंगे, जो विकल्प आया है, वह भी मेरा नहीं। पुद्गल के साथ (उसका तादात्म्य) सम्बन्ध है। टीका की क्रिया का मैं कर्ता नहीं। आहाहा ! विकल्प आया, उसका पुद्गल के साथ सम्बन्ध है, मेरा सम्बन्ध है ही नहीं। मैं तो उससे भिन्न रहकर जानूँ-जाननेवाला हूँ और पर्याय में भेद पड़ता है-मतिश्रुत-अवधि और मन:पर्यय भेद आदि है, उसका मैं जाननेवाला हूँ, मुझमें भेद नहीं है। आहाहा ! निमित्त को जाननेवाला, राग को जाननेवाला, भेद को जाननेवाला। आहाहा ! जिसे जानूँ उसरूप मैं नहीं। भेद को जानूँ-राग को जानूँ-निमित्त को जानूँ (परन्तु) उसरूप मैं नहीं। आहाहा ! कहो, देवीलालजी ! ऐसी बात है तुम्हारे वहाँ स्थानकवासी में है ?

मुमुक्षु : हिन्दुस्तान में नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : पहले स्थानकवासी थे न ? हम भी पहले उसी में थे न ? यह तो दृष्टान्त ! अरे ! यह तत्त्व कहाँ था, भाई ! यह भेदज्ञान करने की अलौकिक कला है।

आहाहा ! भेद से, रंग से, राग से भिन्न... आहाहा ! अभेद, अरंगी और अरागी प्रभु... आहाहा ! ऐसे चैतन्य द्रव्य की दृष्टि-ऐसे आत्मा की दृष्टि करना, उसका नाम सम्यक्-यथार्थ है परन्तु राग और उसके साथ आत्मा है-ऐसी दृष्टि करना तो वह दृष्टि मिथ्यात्व है।

(अब कहते हैं) **किन्तु उसके अतिरिक्त अन्य कोई जीव (सिद्ध होता) नहीं; क्योंकि सदा अपने स्वलक्षण से लक्षित...** अब क्या कहते हैं ? कि राग, रंग और भेद यदि आत्मा के हैं तो वे सदा अपने स्वलक्षण से लक्षित **ऐसा द्रव्य सभी अवस्थाओं में हानि अथवा ह्रास को न प्राप्त होने से...** आहाहा ! क्या कहते हैं ? कि राग-भेद और रंग अपने साथ (आत्मा के साथ) का लक्षण हो तो वह लक्षण (आत्मा का) तो ह्रास किसी भी

अवस्था में नहीं होती और हानि नहीं पाता और ह्रास नहीं होता, वह तो ऐसा का ऐसा रहता है। आहाहा! बहुत बात बदली है। आहाहा! क्या कहते हैं? भगवान आत्मा ज्ञायकभाव जो चैतन्य रसकन्द है, उसके साथ, राग, भेद और रंग का यदि तादात्म्य (सम्बन्ध) मान ले तो द्रव्य उस लक्षण से लक्षित हुआ और उस लक्षण का किसी भी समय हानि और ह्रास नहीं होता। आहाहा!

मुमुक्षु : सिद्धान्त बराबर है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सदा अपने स्वलक्षण से लक्षित ऐसा द्रव्य... वाह! गजब बात की है न! प्रभु आत्मा को तू रागवाला माने, भेदवाला माने, रंगवाला माने तो वह लक्षण तो तेरे (आत्म) द्रव्य का हुआ, तो वह लक्षण आया, वह कभी हानि-ह्रास और हानि को प्राप्त नहीं होता। आहाहा! अमृतचन्द्राचार्य दिगम्बर सन्त, हजार वर्ष पहले हुए, यह टीका (रचकर) अमृत बहाया है। आहाहा!

जिसका जो लक्षण है वह त्रिकाल... राग और रंगवाला आत्मा मानेगा तो रंग, राग और भेद तेरे आत्मा का लक्षण होगा और त्रिकाल रहेगा। कभी हानि और ह्रास उसमें मानेगा तो तेरा आत्मा रहेगा नहीं। विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १३७ गाथा-६३ से ६७ तथा श्लोक ३७ दिनाङ्क १६-११-१९७८, गुरुवार
कार्तिक शुक्ल २, वीर निर्वाण संवत् २५०४

समयसार, ६३-६४ (गाथा का) भावार्थ। जीव-अजीव अधिकार है न? यहाँ जीव किसे कहना, उसकी बात है। जीव तो अनन्त-अनन्त गुण से अभेद है, वह जीव है। उसमें जितने रंग, राग और भेद तीनों ले लिये हैं। भाई ने-हुकमचन्दजी ने तीनों लिये हैं। राग, रंग से भिन्न, भेद से भिन्न-यह इसमें से निकाला है। रंग में वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, शरीर, वाणी, मन, कर्म सब आ गया और राग में शुभ-अशुभराग, अध्यवसाय इत्यादि आये और भेद में निमित्त के लक्ष्य से अन्दर भेद पड़ता है। लब्धिस्थान कहे न! उस भेद से भी

निराली चीज़ है। आहाहा! जीव उसे कहते हैं कि जो भेद से भिन्न, राग से भिन्न, रंग से भिन्न है। आहाहा!

भावार्थ - यदि ऐसा माना जाय कि संसार-अवस्था में जीव का वर्णादि के साथ तादात्म्यसम्बन्ध है... ऐसा कोई कहे **तो जीव तो मूर्तिक हुआ...** आहाहा! ऐसे रंग, राग और भेद सब मूर्त है-ऐसा यहाँ तो कहते हैं। पुद्गल कहना है न? आहाहा! **जीव तो मूर्तिक हुआ और मूर्तिकत्व तो पुद्गलद्रव्य का लक्षण है;...** यदि आत्मा को रंगवाला, रागवाला, भेदवाला मानो तो वह लक्षण तो पुद्गल का है, तो जीव मूर्तिक लक्षणवाला हुआ तो आत्मा मूर्तिक हो जाता है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात की है।

भेद भी मूर्तस्वरूप है। राग, दया, दान, व्रतादि के विकल्प तो पुद्गल हैं, मूर्तिक हैं, रूपी हैं, अजीव हैं। आहाहा! उनसे तो जीव भिन्न है। यदि उसे मूर्तिक कहो तो मूर्तिक तो पुद्गलद्रव्य का लक्षण है। **इसलिए पुद्गलद्रव्य ही जीवद्रव्य सिद्ध हुआ,...** आहाहा! **उसके अतिरिक्त कोई चैतन्यरूप जीवद्रव्य नहीं रहा।** मूर्तिक से भिन्न कोई अरूपी अभेद चैतन्यतत्त्व रहा नहीं। आहाहा! यहाँ तो अभी राग के विकल्प दया-दान को अपना मानता है। आहाहा!

यहाँ तो कल वहाँ तक सूक्ष्म आया, बहिन की वाणी में नहीं? ज्ञेय निमग्न। आहाहा! भाषा देखो उनकी! शास्त्र-ज्ञान वह परज्ञेय है, वह कहीं वस्तु-स्वज्ञेय नहीं है। आहाहा! उसे भी यहाँ तो मूर्त कहकर पुद्गल कहा। आहाहा! भगवान आत्मा तो अखण्ड अभेद, जिसमें गुणभेद भी नहीं, पर्यायभेद भी नहीं; राग और रंग की तो बात ही क्या करना? आहा! ऐसे जीव को, अमूर्त प्रभु आत्मा को भेद और रंग, रागवाला मानना, वह तो मूर्तिक का स्वरूप है, वह तो पुद्गल का (स्वरूप है) तो आत्मा, पुद्गल हो गया। आहाहा! गजब सूक्ष्म!

एक ओर ऐसा कहना कि राग-द्वेष आदि पर्याय है, वह जीव में है; निश्चय से जीव में है ऐसा कहा। प्रवचनसार। यह पर्याय को सिद्ध करना है। ज्ञेय आत्मा की पर्याय में यह बात है, यह सिद्ध करना है। यहाँ तो त्रिकाली स्वभाव सिद्ध करना है। समझ में आया? दृष्टि का विषय जो अभेद चैतन्य है, वह यहाँ सिद्ध करना है। आहाहा! इसलिए मूर्तिक

पुद्गल का लक्षण है, वह यदि जीव में आ जाये तो जीव तो चैतन्यद्रव्य रहा नहीं। आहाहा!

और मोक्ष होने पर भी उन पुद्गलों का ही मोक्ष हुआ;... भेद और राग, रंग यदि आत्मा के हों तो वे तो मूर्तिक हुए, वे मोक्ष में भी रहेंगे। आहाहा! ऐसी बात! **अन्य कोई चैतन्यरूप जीव नहीं रहा। इस प्रकार संसार तथा मोक्ष में पुद्गल से भिन्न ऐसा कोई चैतन्यरूप जीवद्रव्य न रहने से जीव का ही अभाव हो गया।** आहाहा! राग, भेद और रंग, संहनन इत्यादि यदि आत्मा के हैं, ऐसा मानो तो आत्मा का तो अभाव हो जायेगा। आहा! आत्मा तो अभेद चैतन्यमूर्ति भगवान है। आहा! उसका अभाव हो जायेगा। आहाहा! कैसी बात की है, देखो न!

अब अभी तो ऐसा कहते हैं कि व्यवहारनय के जो रागादि हैं, उसका आचरण करने से अनुग्रह-आत्मा को लाभ होता है। आहाहा! बहुत अन्तर। गौतमस्वामी ने भी व्यवहार किया-ऐसा कहते हैं। परन्तु वह तो भेद से समझाया है। इसलिए कहीं उसके आश्रय से लाभ होता है और धर्म होता है, ऐसा कहा है? व्यवहार से समझाना है, दूसरा करे क्या? भेद से समझाया है। जयधवल में। यह तो पता नहीं, वहाँ चिह्न तो पहले से किया था, उस दिन पढ़ा, तब किया था। आहाहा! भेद से समझाये बिना शिष्य को समझ में नहीं आता, इस अपेक्षा से समझाया है। आहाहा! परन्तु वह भेद है, वह आश्रय करनेयोग्य है और आत्मा की चीज़ है, ऐसा नहीं है। आहाहा! यहाँ भेद को पुद्गल में डाल दिया। गजब बात है। आहाहा! आत्मा में रहते नहीं, अकेली अभेद वस्तु रहती है। आहाहा! लोग कुछ की कुछ गड़बड़ में अटक गये हैं। कोई कहीं, कोई कहीं, कोई कहीं (अटक गये हैं)। आहाहा!

भगवान आत्मा पूर्णानन्दस्वरूप प्रभु में तो रंग नहीं, राग नहीं और भेद नहीं; उसे यहाँ आत्मा कहते हैं। वह आत्मा सम्यग्दर्शन का विषय है। आहाहा! **इस प्रकार संसार तथा मोक्ष में पुद्गल से भिन्न ऐसा कोई चैतन्यरूप जीवद्रव्य न रहने से जीव का ही अभाव हो गया।** अभाव हो गया। हो जायेगा, ऐसा नहीं कहा। **इसलिए मात्र संसार-अवस्था में ही वर्णादि भाव जीव के हैं — ऐसा मानने से भी जीव का अभाव ही होता है।** लो! आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात, भाई! आहाहा! ऐसे चैतन्यस्वभाव को पकड़ने से

उपयोग बहुत सूक्ष्म होता है। आहाहा! स्थूल उपयोग में वह ज्ञात नहीं होता। आहाहा! बहुत सूक्ष्म! आहाहा! सूक्ष्म तो ठीक है, परन्तु मतिज्ञान का उपयोग बाहर पर में जाता है, वह भी नहीं। यहाँ तो जो उपयोग स्वयं को पकड़ता है वह सूक्ष्म है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

रंग, राग और भेदरहित चीज़ प्रभु... आहाहा! उसे पकड़ने के लिये उपयोग बहुत सूक्ष्म चाहिए। आहाहा! इसके बिना आत्मा पकड़ में नहीं आता। सम्यग्दर्शन तब होता है, जब सूक्ष्म उपयोग अन्दर में जाता है, तब सम्यग्दर्शन होता है। आहाहा! ऐसी बात है भाई! देह की क्रिया, वाणी की क्रिया तो जड़ है। वह जड़ की क्रिया आत्मा करता है, ऐसा माने तो आत्मा जड़ हो गया। आहाहा! और राग भी जड़ तथा अजीव है। दया, दान, भक्ति, व्रत, पूजा, यात्रा का भाव राग है, वह तो अजीव है। वह अजीव, आत्मा का हो जाये तो आत्मा, अजीव हो जाये। आहाहा! समझ में आया? ऐसे भेद, ज्ञान की पर्याय में भेद, दर्शन की पर्याय में भेद, चारित्र की पर्याय में भेद... आहाहा! वे भेद भी अपना स्वरूप नहीं है। आहाहा! यदि वे स्वरूप हों तो भेद तो कायम आत्मा में रहेंगे। आहाहा! सिद्ध में तो है नहीं। यदि संसार अवस्था में है-ऐसा कहो तो संसार अवस्था में भेद आदि है तो वह तो पुद्गलद्रव्य है-ऐसा कहा। आहाहा! वह भेद-पुद्गल, आत्मा के हैं (ऐसा कहो तो) पुद्गल, मोक्ष में भी रहेगा। आहाहा! ऐसी बातें हैं। बहुत सूक्ष्म बात भाई!

मुमुक्षु : समझ में आये ऐसी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो साधारण-भाषा तो बहुत सादी है। ये तीन शब्द भाई ने निकाले, वे इसमें से निकाले हैं। रंग, राग से भिन्न। भाई हुकमचन्दजी का क्षयोपशम बहुत है, फिर भी निर्मान व्यक्ति है, घमण्ड नहीं। आहाहा!

आत्मा है, उसे जानना, वह सम्यग्दर्शन है। वह आत्मा कैसा है? आहाहा! अभी तो प्रथम सम्यग्दर्शन की बात है। आहा! धर्म तो-चारित्र तो कहीं रह गया! यहाँ तो प्रथम सम्यग्दर्शन होता है तो किस प्रकार से होता है? उस सम्यग्दर्शन का विषय अभेद चैतन्य में भेद नहीं, राग नहीं, रंग नहीं। आहाहा! रंगरहित, रागरहित, भेदरहित! आहाहा! रंगसहित, रागसहित, भेदसहित, वह तो पुद्गल है। आहाहा! अरे! इसे बहुत धीर होना पड़ेगा, भाई!

आहा ! शास्त्र का ज्ञान है, वह भी वास्तव में तो रूपी है। वह पुद्गल है–ऐसा यहाँ तो कहा। ऐई ! आहाहा ! यदि अपना ज्ञान हो, तब तो साथ में आनन्द आना चाहिए। यह तो पुद्गल है, दु:ख है। आहाहा ! शास्त्र का ज्ञान, देव–शास्त्र–गुरु की श्रद्धा, नौ तत्त्व की श्रद्धा, पंच महाव्रत के (विकल्प), छह काय की दया ली, परन्तु उसका अर्थ (यह कि) पंच महाव्रत के भाव सब पुद्गल हैं। आहाहा ! वे यदि आत्मा हो जाये तो आत्मा, पुद्गल हो जाये। आहाहा ! बहुत गजब बात की है। यथार्थ वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। आहाहा !

मुमुक्षु : शास्त्र में तो ऐसा आता है कि सोलह भगवान कंचन वर्ण और एक भगवान श्याम वर्ण....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह वस्तु ही नहीं। कहा न, वह तो शरीर का गुणगान है। वहाँ लिया नहीं ? वे आत्मा के नहीं। राजा की ऋद्धि के गुणगान हों, वे राजा के गुणगान नहीं। आहाहा ! स्तुति में तो यह आया है। आहाहा ! स्तुति, स्तुति आयी न ? आहाहा ! ये जड़ इन्द्रियाँ, भावेन्द्रियाँ और भगवान की वाणी तथा भगवान, ये सब इन्द्रिय में रखे हैं। आहाहा ! और वाणी से अपनी पर्याय में जो ज्ञान हुआ, वह भी इन्द्रिय है। आहाहा ! गजब बात है। उसे भी यहाँ तो पुद्गल कह दिया है। भाई ! आहाहा !

ऐसा मानने से तो जीव का अभाव हो जाता है। आहाहा ! शास्त्र का ज्ञान, वह आत्मा का ज्ञान है—ऐसा मानने से जीव का अभाव हो जाता है। आहाहा ! दया, दान, व्रत के भाव, वे जीव के भाव हैं (–ऐसा मानने से तो) जीव का अभाव हो जाता है। आहाहा ! मार्गणा में लिया न ? ज्ञानमार्गणा, दर्शनमार्गणा, संयममार्गणा... आहाहा ! उस मार्गणा की पर्याय को खोजना, वह पर्याय में है। वह मार्गणा पुद्गल के परिणाम है, ऐसा कहा है। आहाहा ! आहाहा ! ज्ञान के पाँच भेद, तीन अज्ञान के (भेद), इस भेद पर लक्ष्य जायेगा तो राग होगा; इसलिए इन्हें पुद्गल कहा है। ऐसे दर्शन–सम्यग्दर्शन, क्षायिकदर्शन, उपशम–दर्शन क्षयोपशम (दर्शन) ऐसे भेद पुद्गल के परिणाम (कहे हैं)। आहाहा ! तीन में तो बहुत समाहित कर दिया है। रंग, राग और भेद। आहाहा ! सन्तों की गम्भीर भाषा बहुत गूढ़–गूढ़, आहाहा ! यथार्थ (है)।

गाथा ६५-६६

एवमेतत् स्थितं यद्वर्णादयो भावा न जीव इति-

एक्कं च दोण्णि तिण्णि य चत्तारि य पंच इन्दिया जीवा।
बादरपज्जत्तिदरा पयडीओ णामकम्मस्स।।६५।।
एदाहि य णिव्वत्ता जीवट्ठाणा उ करणभूदाहिं।
पयडीहिं पोग्गलमइहिं ताहिं कहं भण्णदे जीवो।।६६।।

एकं वा द्वे त्रीणि च चत्वारि च पंचेन्द्रियाणि जीवाः।
बादरपर्याप्तेतराः प्रकृतयो नामकर्मणः।।
एताभिश्च निर्वृत्तानि जीवस्थानानि करणभूताभिः।
प्रकृतिभिः पुद्गलमयीभिस्ताभिः कथं भण्यते जीवः।।

निश्चयतः कर्मकरणयोरभिन्नत्वात् यद्येन क्रियते तत्तदेवेति कृत्वा, यथा कनकपत्रं कनकेन क्रियमाणं कनकमेव, न त्वन्यत्, तथा जीवस्थानानि बादरसूक्ष्मैकेंद्रियद्वित्रिचतुःपंचेन्द्रियपर्याप्तापर्याप्ताभिधानाभिः पुद्गलमयीभिः नामकर्मप्रकृतिभिः क्रियमाणानि पुद्गल एव, न तु जीवः। नामकर्मप्रकृतीनां पुद्गलमयत्वं चागमप्रसिद्धं दृश्यमानशरीरादिमूर्त-कार्यानुमेयं च। एवं गंधरसस्पर्शरूपशरीरसंस्थानसंहननान्यपि पुद्गलमयनामकर्मप्रकृति-निर्वृत्तत्वे सति तदव्यतिरेकाज्जीवस्थानैरेवोक्तानि। ततो न वर्णादयो जीव इति निश्चयसिद्धान्तः।

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि वर्णादिक भाव जीव नहीं हैं, यह अब कहते हैं—

जीव एक-दो-त्रय-चार-पंचेन्द्रिय, बादर, सूक्ष्म हैं।
पर्याप्त अनपर्याप्त जीव जु नामकर्म की प्रकृति है।।६५।।

जो प्रकृति यह पुद्गलमयी, वह करणरूप बने अरे।
उससे रचित जीवथान जो हैं, जीव क्यों हि कहाय वे ॥६६ ॥

गाथार्थ - [एकं वा] एकेन्द्रिय, [द्वे] द्वीन्द्रिय, [त्रीणि च] त्रीन्द्रिय, [चत्वारि च] चतुरिन्द्रिय, और [पंचेन्द्रियाणि] पंचेन्द्रिय, [बादरपर्याप्तेतराः] बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त और अपर्याप्त [जीवाः] जीव तथा-यह [नामकर्मणः] नामकर्म की [प्रकृतयः] प्रकृतियाँ हैं; [एताभिः च] इन [प्रकृतिभिः] प्रकृतियों [पुद्गलमयीभिः ताभिः] जो कि पुद्गलमयरूप से प्रसिद्ध हैं उनके द्वारा [करणभूताभिः] करणस्वरूप होकर [निर्वृत्तानि] रचित [जीवस्थानानि] जो जीवस्थान (जीवसमास) हैं, वे [जीवः] जीव [कथं] कैसे [भण्यते] कहे जा सकते हैं ?

टीका - निश्चयनय से कर्म और करण की अभिन्नता होने से, जो जिससे किया जाता है (-होता है) वह वही है - यह समझकर (निश्चय करके), जैसे सुवर्ण-पत्र सुवर्ण से किया जाता होने से सुवर्ण ही है, अन्य कुछ नहीं है, इसी प्रकार जीवस्थान बादर, सूक्ष्म, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, पर्याप्त, अपर्याप्त नामक पुद्गलमयी नामकर्म की प्रकृतियों से किये जाते होने से पुद्गल ही हैं, जीव नहीं हैं और नामकर्म की प्रकृतियों की पुद्गलमयता तो आगम से प्रसिद्ध है तथा अनुमान से भी जानी जा सकती है क्योंकि प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाले शरीर आदि जो मूर्तिक भाव हैं, वे कर्म-प्रकृतियों के कार्य हैं, इसलिए कर्मप्रकृतियाँ पुद्गलमय हैं - ऐसा अनुमान हो सकता है।

इसी प्रकार गन्ध, रस, स्पर्श, रूप, शरीर, संस्थान और संहनन भी पुद्गलमय नामकर्म की प्रकृतियों के द्वारा रचित होने से पुद्गल से अभिन्न हैं; इसलिए, मात्र जीवस्थानों को पुद्गलमय कहने पर, इन सबको भी पुद्गलमय ही कथित समझना चाहिए।

इसलिए वर्णादिक जीव नहीं हैं, यह निश्चयनय का सिद्धान्त है।

गाथा - ६५-६६ पर प्रवचन

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि... रंग, राग और भेद जीव नहीं है। **यह अब कहते हैं—** ६५-६६ गाथा।

एक्कं च दोण्णि तिण्णि य चत्तारि य पंच इन्दिया जीवा।
बादरपज्जत्तिदरा पयडीओ णामकम्मस्स।।६५।।
एदाहि य णिव्वत्ता जीवट्ठाणा उ करणभूदाहिं।
पयडीहिं पोग्गलमइहिं ताहिं कहं भण्णदे जीवो।।६६।।

यहाँ जीवस्थान लेना है। जीवस्थान भी पुद्गल है। आहा! जीवस्थान भी पुद्गल है। जीवस्थान! आहाहा! मार्गणास्थान पुद्गल है, जीवस्थान पुद्गल है, गुणस्थान पुद्गल है। आहाहा! यहाँ तो दृष्टान्त इस जीव का दिया।

जीव एक-दो-त्रय-चार-पंचेन्द्रिय, बादर, सूक्ष्म हैं।
पर्याप्त अनपर्याप्त जीव जु नामकर्म की प्रकृति है॥६५॥
जो प्रकृति यह पुद्गलमयी, वह करणरूप बने अरे।
उससे रचित जीवथान जो हैं, जीव क्यों हि कहाय वे॥६६॥

आहाहा! **टीका - निश्चयनय से कर्म और करण की अभिन्नता होने से,...** आहाहा! कार्य और करण की अभिन्नता होने से। करण अर्थात साधन और कर्म अर्थात् कार्य। **कर्म और करण की अभिन्नता होने से, जो जिससे किया जाता है (-होता है), वह वही है - यह समझकर (निश्चय करके), जैसे सुवर्ण-पत्र सुवर्ण से किया जाता होने से...** सोने का पत्र, पत्र उससे किया जाता है। **सुवर्ण-पत्र सुवर्ण से...** सुवर्ण का पत्र, हों! स्वर्णपत्र। **सुवर्ण से किया जाता होने से सुवर्ण ही है,...** स्वर्ण से पत्र हुआ तो वह स्वर्ण ही है। आहाहा! **अन्य कुछ नहीं है, इसी प्रकार जीवस्थान बादर, सूक्ष्म, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, पर्याप्त, अपर्याप्त नामक पुद्गलमयी नामकर्म की...** पुद्गलमयी नामकर्म की, हों! पुद्गल की - ऐसा नहीं। आहाहा! **पुद्गलमयी नामकर्म की प्रकृतियों से किय जाते होने से पुद्गल ही हैं,...** चौदह भेद पुद्गल ही हैं।

एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त, अपर्याप्त यह चौदह पुद्‌गल हैं। आहाहा! यह पर्याप्त जीव और यह अपर्याप्त जीव... आहाहा! **जीव नहीं है...**

पुद्‌गलमयी नामकर्म की प्रकृति करण होकर वह कर्म अर्थात् कार्य हुआ, इसलिए वह पुद्‌गल ही है। क्या कहा, समझ में आया? नामकर्म करण / साधन है। उसके यह चौदह भेद कार्य है। करण से कार्य हुआ तो वह पुद्‌गल से हुआ, नामकर्म पुद्‌गल है; इसलिए पुद्‌गल से भेद हुए। आहाहा! यहाँ से शुरु किया। जीवस्थान, ऐसा। जीव, जीवस्थान नहीं। आहाहा! जीव भगवान आत्मा, वह जीवस्थान में नहीं। आहाहा! जीव के प्रकार-भेद में जीव नहीं; इसलिए यह दृष्टान्त दिया कि नामकर्म करण है, वह करण होकर, साधन होकर पर्याप्त-अपर्याप्त का कार्य होता है, वह तो पुद्‌गल है, नामकर्म पुद्‌गल है तो उसका कार्य भी पुद्‌गल है। आहाहा! **जीव नहीं....**

नामकर्म की प्रकृतियों की पुद्‌गलमयता तो आगम से प्रसिद्ध है... पुद्‌गलमयपना, पुद्‌गलमय। आहाहा! **आगम से प्रसिद्ध है...** नामकर्म पुद्‌गल जड़ है न? आगम से प्रसिद्ध है कि वह पुद्‌गल है। **अनुमान से भी जानी जा सकती है...** कैसे? **क्योंकि प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाले शरीर आदि जो मूर्तिक भाव हैं, वे...** मूर्तिक हैं। **वे कर्म-प्रकृतियों के कार्य...** है, जड़ का कार्य है। आहाहा! बादरपना, सूक्ष्मपना, एकेन्द्रियपना, दोइन्द्रियपना, पंचेन्द्रियपना, पर्याप्त और अपर्याप्त यह तो प्रत्यक्ष पुद्‌गल है तो ये पुद्‌गल का कार्य है। आहाहा! **प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाले शरीर आदि जो मूर्तिक भाव हैं, वे कर्म-प्रकृतियों के कार्य हैं, इसलिए कर्मप्रकृतियाँ पुद्‌गलमय हैं...** पुद्‌गलमय है। पुद्‌गल है, ऐसा तीन बार लिया है। आहाहा! पुद्‌गलमय, आहाहा! पुद्‌गलमयता, पुद्‌गलमय-ऐसे तीन बार आया। **ऐसा अनुमान हो सकता है।** अनुमान भी हो सकता है और प्रकृति जड़ है तो उसका कार्य है, ऐसा भी सिद्ध होता है।

इसी प्रकार गन्ध, रस, स्पर्श, रूप, शरीर, संस्थान और संहनन भी पुद्‌गलमय नामकर्म की प्रकृतियों के द्वारा रचित होने से पुद्‌गल से अभिन्न हैं;... वे पुद्‌गलमय हैं। **इसलिए, मात्र जीवस्थानों को पुद्‌गलमय कहने पर, इन सबको भी पुद्‌गलमय ही कथित समझना चाहिए।** ऊपर के ये सब। **इसलिए वर्णादिक जीव नहीं हैं, यह**

निश्चयनय का सिद्धान्त है। लो! यह तो निश्चयनय का सिद्धान्त है। वे कहते हैं निश्चयनय सिद्ध को होता है। आहाहा! यह तो बहुत अन्तर है! वस्तुस्थिति ऐसी है, वहाँ... आहाहा! उसकी वापस सब लोगों ने महिमा की। व्यवहार साधक को होता है, निश्चय होता ही नहीं, निश्चय तो सिद्ध को होता है... यहाँ तो कहते हैं निश्चयनय से यह होता नहीं। आहाहा! सम्यग्दर्शनपना तो निश्चय के आश्रय से, स्वभाव के आश्रय से होता है, यह निश्चय है। शुद्धनय आया नहीं, ग्यारहवीं गाथा में? शुद्धनय के आश्रय से, निश्चयनय के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है। शुद्धनय लिया है। शुद्ध कहो या निश्चय कहो, परमनिश्चय। आहाहा!

यहाँ सम्यग्दर्शन होता है, वही शुद्धनय अर्थात् परम आत्मस्वभाव के आश्रय से होता है। वह शुद्धनय का विषय है। आहा! ग्यारहवीं (गाथा) में कहा नहीं? '**भूदत्थो देसिदो सुद्धणओ**' भूतार्थ है, वह शुद्धनय है। '**ववहारोऽभूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ**' जो भूतार्थ है, वही शुद्धनय है, त्रिकाली वस्तु है, वह शुद्धनय है-ऐसा कहा। आहाहा! आहाहा! फिर कहा कि शुद्धनय का आश्रय। '**भूदत्थमस्सिदो खलु**' तीसरा पद। परन्तु पहले तो कहा कि जो त्रिकालीवस्तु है, वही निश्चयनय है और वही शुद्धनय है। आहाहा! समझ में आया? बहुत सूक्ष्म विषय! आहाहा! गजब किया है। सादी भाषा में कितनी गम्भीरता! आया न यह? अब श्लोक कहते हैं, नहीं? ३८

कलश-३८

यहाँ इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं —

निर्वर्त्यते येन यत्र किंचित्
तदेव तत्स्यान्न कथंचनान्यत्।
रुक्मेण निर्वृत्तमिहासिकोशं
पश्यंति रुक्मं न कथंचनासिम्।।३८।।

श्लोकार्थ - [येन] जिस वस्तु से [अत्र यद् किंचित् निर्वर्त्यते] जो भाव बने,

[ततः] वह भाव [तद् एव स्यात्] वह वस्तु ही है, [कथंचन] किसी भी प्रकार [अन्यत् न] अन्य वस्तु नहीं है; [इह] जैसे जगत में [रुक्मेण निर्वृत्तम् असिकोशं] स्वर्ण निर्मित म्यान को [रुक्मं पश्यन्ति] लोग स्वर्ण ही देखते हैं, (उसे) [कथंचन] किसी प्रकार से [न असिम्] तलवार नहीं देखते।

भावार्थ - वर्णादि पुद्गल-रचित हैं, इसलिए वे पुद्गल ही हैं, जीव नहीं ॥३८ ॥

कलश - ३८ पर प्रवचन

निर्वर्त्यते येन यत्र किंचित्
तदेव तत्स्यान्न कथंचनान्यत्।
रुक्मेण निर्वृत्तमिहासिकोशं
पश्यंति रुक्मं न कथंचनासिम्।।३८।।

जिस वस्तु से जो भाव बने,... जिस वस्तु जो भाव बने... वस्तु से। **वह भाव वह वस्तु ही है,...** आहाहा! **किसी भी प्रकार अन्य वस्तु नहीं है;...** किसी भी प्रकार से अन्य वस्तु नहीं-ऐसा कहते हैं। आहाहा! **जैसे जगत में स्वर्ण निर्मित म्यान को...** सोने से म्यान (बनी) उसे **लोग स्वर्ण ही देखते हैं,...** आहाहा! सोने की म्यान को सोनारूप से देखते हैं। उसमें तलवार रही है और तलवार सोने में नहीं देखते। आहाहा! तलवार भिन्न है और सोने की म्यान भिन्न है। आहाहा! इसी प्रकार रंग, राग और भेद, ये पुद्गल से हुए हैं। आहाहा! उससे भगवान तो भिन्न है-ऐसा कहते हैं। वह तलवार जैसे सोने की म्यान से भिन्न है। आहाहा! सोने की म्यान सोनारूप से ही लोग देखते हैं, तलवार नहीं देखते। इसी प्रकार भेद, रंग और राग, वे पुद्गल के कर्म के हुए हैं तो उन्हें पुद्गल देखते हैं। आहाहा! भेद, रंग और राग से भिन्न अभेद को लोग नहीं देखते। अभेद तलवार जैसे भिन्न है, वैसे यह अभेद भिन्न है। आहाहा! बनियों को संसार के कारण ऐसा निर्णय करने का समय नहीं मिलता। आहाहा! अभी तो बनियों को यह धर्म मिला है न! आहाहा! क्या कहा?

सोने की म्यान है तो लोग सोने को देखते हैं, तलवार को नहीं देखते। सोने की तलवार है-ऐसा कहते हैं। सोने की तलवार, सोने की तलवार है? आहाहा! इसी प्रकार

भगवान आत्मा को भेद, रंग और राग-जैसे सोने की म्यान है, वैसे ये पुद्गल के हैं, पुद्गल से हुए हैं तो ये पुद्गल के हैं। ये आत्मा हैं, ऐसा नहीं देखते। आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म कठिन, भाई! एक-एक गाथा... आहाहा! आहाहा!

लोग सोने की तलवार को सोना देखते हैं, तलवार को नहीं देखते। इसी प्रकार आत्मा में जो राग, रंग और भेद दिखते हैं, वे पुद्गल हैं। उस पुद्गल से, जैसे तलवार म्यान से भिन्न रहती है, वैसे आत्मा भिन्न है। आहाहा! कहो, देवीलालजी! आहाहा! ऐसी बात कहाँ है? यह परम सत्य। इस टीका का नाम आत्मख्याति है न! आहाहा! भेद, राग, रंग जैसे सोने की म्यान है, उसे सोने की म्यान देखते हैं, वह सोने की तलवार है, ऐसा नहीं देखते; वैसे भेद, रंग और राग पुद्गल के हैं। वे पुद्गल के हैं, ऐसा देखते हैं। उससे भिन्न भगवान आत्मा है, उसमें नहीं देखते, उस आत्मा के भेद, रंग, राग है – ऐसा नहीं देखते। आहाहा! ऐसी सूक्ष्म बातें! आहाहा! अरे! कितनी योग्यता अन्दर चाहिए।

कहते हैं, सोने की म्यान को कोई सोने की तलवार कहता है, वह तो व्यवहार-उपचार से कहता है, वह वस्तु नहीं। आहाहा! इसी तरह भगवान आत्मा में शरीर, वाणी, मन, रंग, राग, द्वेष, पुण्य-पाप के भाव और भेद पुद्गल से बने हुए हैं। आहाहा! तो पुद्गल के हैं, ऐसा देखता है; जीव के हैं, ऐसा नहीं देखता। ऐसी बातें अब, कहाँ पहुँचना? शास्त्र में भाषा ऐसी आवे, (कि) एकेन्द्रिय जीव, दोइन्द्रिय जीव, पर्याप्त जीव, अपर्याप्त जीव। देखो! ये जीव नहीं, छह काय के जो हैं, वे जीव नहीं। जीव तो ज्ञानस्वरूप है। है न अन्दर? आहाहा! अभी तो यहाँ नवतत्त्व में जीवतत्त्व कैसा है, उसकी बात चलती है। आहाहा! उस जीवतत्त्व को भेद, रंग और राग से जानो तो वह तो पुद्गल है, ऐसा कहते हैं। भगवान तो उनसे निराला-भिन्न है। आहाहा!

भावार्थ - वर्णादि पुद्गल-रचित हैं... भेद, रंग और राग पुद्गल से बनते हैं। **इसलिए वे पुद्गल ही हैं, जीव नहीं**। आहाहा!

कलश–३९

अब दूसरा कलश कहते हैं :—

वर्णादिसामग्र्यमिदं विदंतु
निर्माणमेकस्य हि पुद्गलस्य।
ततोऽस्त्विदं पुद्गल एव नात्मा
यतः स विज्ञानघनस्ततोऽन्यः।।३९।।

श्लोकार्थ - अहो ज्ञानी जनों! [इदं वर्णादिसामग्र्यम्] ये वर्णादिक से लेकर गुणस्थानपर्यन्त भाव हैं, उन समस्त को [एकस्य पुद्गलस्य हि निर्माणम्] एक पुद्गल की रचना [विदन्तु] जानो; [ततः] इसलिए [इदं] यह भाव [पुद्गलः एव अस्तु] पुद्गल ही हों, [न आत्मा] आत्मा न हों; [यतः] क्योंकि [सः विज्ञानघनः] आत्मा तो विज्ञानघन है, ज्ञान का पुंज है, [ततः] इसलिए [अन्यः] वह इन वर्णादिक भावों से अन्य ही है॥३९॥

कलश - ३९ पर प्रवचन

दूसरा कलश। इसमें तो गुणस्थान को भी साथ में डाला है। कहा, आया है तो तीनों में... (कलश ३९)

वर्णादिसामग्र्यमिदं विदंतु
निर्माणमेकस्य हि पुद्गलस्य।
ततोऽस्त्विदं पुद्गल एव नात्मा
यतः स विज्ञानघनस्ततोऽन्यः।।३९।।

आहाहा! **श्लोकार्थ - अहो ज्ञानी जनों!...** आहाहा! **ये वर्णादिक से लेकर गुणस्थानपर्यन्त...** २९ बोल आये न अन्दर? सब आ गये। गुणस्थान अन्त में है, पहला वर्ण है। पहला वर्ण-रंग है, अन्त में गुणस्थान है। २९ बोल आ गये। आहाहा! शुभराग आया, संयमलब्धि के भेद आये। आहाहा! हे ज्ञानीजनों! ये रंग, राग, भेद और गुणस्थानपर्यन्त

(भाव हैं वे) **समस्त को एक पुद्गल की रचना जानो;...** आहाहा! ये मार्गणास्थान, जीवस्थान, गुणस्थान... आहाहा! पुद्गल की रचना जानो। आहाहा! भगवान इनमें आया नहीं। चैतन्यभगवान भेद में आया नहीं, रंग में आया नहीं, राग में आया नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : श्रद्धा और ज्ञान में पूर्व-पश्चिम जितना अन्तर है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अन्तर है न! पर्याय है, वह तो स्व की अपेक्षा से निश्चय कहा। बाकी विकल्प की अपेक्षा से भेद है। वास्तविक अभेद स्वभाव की अपेक्षा से तो वह पुद्गल है। आहाहा! एक ओर तो ऐसा भी कहते हैं कि उसमें भेद है, वह जीव का है। भेद स्वरूप ही है। ज्ञान के पाँच भेद आते हैं, वह ज्ञान कराना है। अभेद की दृष्टि हुई, उसे ज्ञान कराना है। आहाहा!

यहाँ तो अभी पहले अभेददृष्टि करानी है। आहाहा! भगवान आत्मा एक समय में रंग, राग, और भेद से निराला है। उसे यहाँ आत्मा कहा जाता है। वहाँ यह शब्द पड़ा है। ज्ञानानन्दस्वभावी मैं हूँ, उसमें निराला हूँ, फिर अखण्ड पूर्ण एक हूँ-ऐसा है। भाई ने अच्छा किया है, हुकमचन्दजी ने इसकी शैली ली है। रंग, गंध से लेकर गुणस्थानपर्यन्त अर्थात् ये २९ बोल। ५० से ५५ गाथा। **उन समस्त को 'एकस्य पुद्गलस्य हि निर्माणम्'...** देखो! **एक पुद्गल की रचना...** एक पुद्गल की रचना, आत्मा की कोई रचना नहीं। आहाहा! कितना स्पष्ट कर दिया है! ये गुणस्थान, मार्गणास्थान, जीवस्थान, राग-द्वेष, पुण्य-पाप के भाव, वे एक पुद्गल की रचना जानो। आहाहा! ऐसी बात है। ज्ञायक, अभेद। आहाहा!

'एकस्य पुद्गलस्य हि' है? शब्द तो यह है। **एक पुद्गल की रचना जानो;...** परन्तु पाठ में तो **'एकस्य पुद्गलस्य हि'** ऐसा जोर है। एक पुद्गल की रचना, इतना आया, इसमें एक पुद्गल की ही रचना जानो। निश्चय। आहाहा! आहाहा! यह पुद्गल की ही... एकान्त (किया है)। कथंचित् पुद्गल की और कथंचित् जीव की (-ऐसा नहीं कहा)। आहाहा! क्या शैली! **'एकस्य पुद्गलस्य'** वापस ऐसा। **'एकस्य पुद्गलस्य हि निर्माणम्'** रचना। आहाहा! गुणस्थान, मार्गणास्थान एक ही, पुद्गल ही की रचना है। आहाहा! कलश ऐसा साधारण लगे परन्तु अन्दर कितना भरा है! ओहोहो!

मुमुक्षु : इसमें स्याद्वाद का लोप नहीं हो गया?

पूज्य गुरुदेवश्री : स्याद्वाद कहा न! निश्चय से यह है और पर्याय में है, इसलिए व्यवहार कहा। यह स्याद्वाद, परन्तु यह निश्चय जिसे हुआ, उसे पर्याय का सच्चा ज्ञान होता है। आहाहा! अनेकान्त भी सम्यक् एकान्त के अतिरिक्त (अन्य हेतु से उपकारी नहीं)। आहाहा! अभेद सम्यक् एकान्त जो है, वह सम्यक् एकान्त है। उसका ज्ञान होने से पर्याय और रागादि है, उनका ज्ञान होता है, अनेकान्तरूप से (ज्ञान होता है)। सम्यक् एकान्त का ज्ञान हुआ तो उसमें अनेकान्त का ज्ञान हो जाता है। आहाहा! परन्तु पहले सम्यक् एकान्त का ज्ञान नहीं, उसे तो यह राग मेरी पर्याय है, उसका ज्ञान नहीं। उसे व्यवहार ज्ञान आया कहाँ से?

उन समस्त को... रंग से लेकर गंध, रस, स्पर्श, अध्यवसाय... आहाहा! संहनन, संस्थान, संक्लेशपरिणाम, असंक्लेशपरिणाम, शुभपरिणाम... आहाहा! वे सब जीव के निवृत्तिस्थान, लब्धि आदि एक ही पुद्‌गल की रचना जानो। आहाहा! यह निश्चयनय का सिद्धान्त है। परमशुद्धनय। आहा! **एक पुद्‌गल की रचना जानो; इसलिए यह भाव...** यह भाव '**पुद्‌गलः एव अस्तु' पुद्‌गल ही हों,...** समझ में आया? कितना स्पष्ट! अमृतचन्द्राचार्य ने टीका की और टीका पर कलश चढ़ाया! आहाहा!

नियमसार में तो क्षायिकभाव, क्षयोपशमभाव को भी परद्रव्य कह दिया है। आहाहा! त्रिकाल ज्ञायकभाव में वे नहीं हैं। इस अपेक्षा से (परद्रव्य कहा है)। जीव में है नहीं, क्षायिकभाव जीव में नहीं, वहाँ गुणस्थान, मार्गणास्थान की बात कहाँ? आहाहा! और वहाँ परद्रव्य कहा है, ऐसा मुझे कहना है। गुणस्थान जीव में नहीं, यह तो ठीक, परन्तु क्षायिकभाव को, क्षयोपशम को उपशम को, परद्रव्य कहा है। आहाहा! स्वद्रव्य भगवान अखण्डानन्द अभेद... आहाहा!

मुमुक्षु : कुन्दकुन्दाचार्य की बात में अमृतचन्द्राचार्य और पद्मप्रभमलधारिदेव ने पुष्टि की है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सबने एक ही कहा है न! पद्मनन्दि ने भी यह कहा है वह निश्चय और व्यवहार डाला है। '**जो पस्सदि अप्पाणं**' वहाँ लिखा है। दिगम्बर आचार्य चाहे जो हों, उन्होंने तो एक ही सिद्धान्त सिद्ध किया, वही सबने किया है। कहीं व्यवहार से भले

बात की हो परन्तु व्यवहार जानने के लिये कहा है, आश्रय करने के लिये नहीं। आहाहा! वहाँ पद्मनन्दि में तो व्यवहार को पूज्य कहा है, व्यवहार से पूज्य है, क्योंकि देव-गुरु-शास्त्र, भगवान साक्षात् हैं, वे व्यवहार से पूज्य न हों तो फिर (पूज्यपना) नहीं रहता। भगवान! व्यवहार से व्यवहार पूज्य है, निश्चय से नहीं। आहाहा!

आत्मा कौन है? **पुद्गल ही हों, आत्मा न हों;...** क्यों? **क्योंकि 'सः विज्ञानघनः'** भगवान तो विज्ञानघन है। आहाहा! देखो! अभेद लिया। अकेला विज्ञानघन है। आहाहा! ज्ञान का तो पुंज है, अकेला पुंज है, अकेला ज्ञान का पुंज है। आहाहा! उसे आत्मा कहते हैं। भेद भी निकल गये न? रंग, राग तो निकल गये परन्तु भेद भी निकल गये। '**सः विज्ञानघनः**' सः अर्थात् यह, **आत्मा तो...** ऐसा कहकर डाला है। **विज्ञानघन है,...** आहाहा! '**न आत्मा**' तब आत्मा कौन है? यह भेद, रंग, राग आदि आत्मा नहीं तो आत्मा कौन? '**सः विज्ञानघनः**' वह तो **विज्ञानघन है,...** आहाहा! '**न आत्मा**' '**पुद्गलः एव अस्तु न आत्मा**' वे भेद आदि। '**सः विज्ञानघनः**' आहाहा! प्रभु! भगवान आत्मा तो विज्ञानघन है न! आहाहा! राग तो नहीं, रंग तो नहीं परन्तु भेद भी नहीं। आहाहा! वह तो विज्ञानघन है न! उसे यहाँ आत्मा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? जो दृष्टि का विषय विज्ञानघन है, उसे आत्मा कहते हैं।

इसलिए वह इन वर्णादिक भावों से अन्य ही है। है न? '**सः विज्ञानघनः ततः अन्यः**' दूसरी सब चीज़ उससे अन्य है। **वर्णादिक भावों से अन्य ही है।** ऐसा। भेद आदि अन्य ही है, राग से अन्य ही है। आहाहा! **वर्णादिक भावों से अन्य ही है।** वह अन्य ही है, वापस (ऐसा कहा)। आहाहा!

गाथा ६७

शेषमन्यद्व्यवहारमात्रम्–

पज्जत्तापज्जत्ता जे सुहुमा बादरा य जे चेव।
देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता।।६७।।

पर्याप्तापर्याप्ता ये सूक्ष्मा बादराश्च ये चैव।
देहस्य जीवसंज्ञाः सूत्रे व्यवहारतः उक्ताः।।

यत्किल बादरसूक्ष्मैकेन्द्रियद्वित्रिचतुःपंचेन्द्रियपर्याप्तापर्याप्ता इति शरीरस्य संज्ञाः सूत्रे जीवसंज्ञात्वेनोक्ताः अप्रयोजनार्थः परप्रसिद्ध्या घृतघटवद्व्यवहारः। यथा हि कस्यचिदाजन्मप्रसिद्धैकघृतकुम्भस्य तदितरकुम्भानभिज्ञस्य प्रबोधनाय योऽयं घृतकुम्भः स मृण्मयो न घृतमय इति तत्प्रसिद्ध्या कुम्भे घृतकुम्भव्यवहारः, तथास्याज्ञानिनो लोकस्यासंसारप्रसिद्धाशुद्धजीवस्य शुद्धजीवानभिज्ञस्य प्रबोधनाय योऽयं वर्णादिमान् जीवः स ज्ञानमयो न वर्णादिमय इति तत्प्रसिद्ध्या जीवे वर्णादिमद्व्यवहारः।

अब, यह कहते हैं कि इस ज्ञानघन आत्मा के अतिरिक्त जो कुछ है, उसे जीव कहना, सो सब व्यवहारमात्र है —

पर्याप्त अनपर्याप्त जो, हैं सूक्ष्म अरु बादर सभी।
व्यवहार से कही जीवसंज्ञा, देह को शास्त्रन महीं।।६७।।

गाथार्थ - [ये] जो [पर्याप्तापर्याप्ताः] पर्याप्त, अपर्याप्त [सूक्ष्माः बादराः च] सूक्ष्म और बादर आदि [ये च एव] जितनी [देहस्य] देह की [जीवसंज्ञाः] जीव-संज्ञा कही हैं, वे सब [सूत्रे] सूत्र में [व्यवहारतः] व्यवहार से [उक्ताः] कही हैं।

टीका - बादर, सूक्ष्म, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय,

पर्याप्त, अपर्याप्त — इन शरीर की संज्ञाओं को (नामों को) सूत्र में जीवसंज्ञारूप से कहा है, वह, पर की प्रसिद्धि के कारण, 'घी के घड़े' की भाँति व्यवहार है कि जो व्यवहार अप्रयोजनार्थ है (अर्थात् उसमें प्रयोजनभूत वस्तु नहीं है)। इसी बात को स्पष्ट कहते हैं —

जैसे किसी पुरुष को जन्म से लेकर मात्र 'घी का घड़ा' ही प्रसिद्ध (ज्ञात) हो, उसके अतिरिक्त वह दूसरे घड़े को न जानता हो, उसे समझाने के लिए ''जो यह 'घी का घड़ा' है सो मिट्टीमय है, घीमय नहीं'' — इस प्रकार (समझानेवाले के द्वारा) घड़े में घी के घड़े का व्यवहार किया जाता है, क्योंकि उस पुरुष को 'घी का घड़ा' ही प्रसिद्ध (ज्ञात) है; इसी प्रकार इस अज्ञानी लोक को अनादि संसार से लेकर 'अशुद्ध जीव' ही प्रसिद्ध (ज्ञात) है, वह शुद्ध जीव को नहीं जानता, उसे समझाने के लिए (शुद्ध जीव का ज्ञान कराने के लिए) ''जो यह 'वर्णादिमान जीव' है, सो ज्ञानमय है, वर्णादिमय नहीं'' इस प्रकार (सूत्र में) जीव में वर्णादिमानपने का व्यवहार किया गया है, क्योंकि उस अज्ञानी लोक को 'वर्णादिमान जीव' ही प्रसिद्ध (ज्ञात) है।

गाथा-६७ पर प्रवचन

अब, यह कहते हैं कि इस ज्ञानघन आत्मा के अतिरिक्त जो कुछ है, उसे जीव कहना, सो सब व्यवहारमात्र है — देखा? आहाहा!

पज्जत्तापज्जत्ता जे सुहुमा बादरा य जे चेव।
देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता।।६७।।

पर्याप्त अनपर्याप्त जो, हैं सूक्ष्म अरु बादर सभी।
व्यवहार से कही जीवसंज्ञा, देह को शास्त्रन महीं॥६७॥

शास्त्र में तो यह कहा है।

टीका - बादर जीव, सूक्ष्म जीव, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, पर्याप्त, अपर्याप्त — इन शरीर की संज्ञाओं को... ये तो शरीर के नाम हैं, ये आत्मा के नहीं। आहाहा! **इन शरीर की संज्ञाओं को (नामों को) सूत्र में जीवसंज्ञारूप**

से कहा है,... आहाहा ! क्या कहा ? यह बादर, सूक्ष्म, एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, पंचेन्द्रिय जो कहा... आहाहा ! वह तो शरीर की संज्ञा से सूत्र में कहा है। शरीर के नाम से जीव का नाम कहा है। शरीर के नाम से जीव का नाम कहा है। आहाहा ! **वह, पर की प्रसिद्धि के कारण,...** किस कारण से कहा ? कि यही प्रसिद्ध है। एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, बादर और पर्याप्त,... आहाहा !

'घी के घड़े' की भाँति व्यवहार है... आहाहा ! जैसे घी का घड़ा प्रसिद्ध है। घी प्रसिद्ध है ? आहाहा ! **'घी के घड़े' की भाँति व्यवहार है कि जो व्यवहार अप्रयोजनार्थ है...** प्रयोजनार्थ नहीं। आहाहा ! जानना, परन्तु उसमें प्रयोजन नहीं है। आहाहा ! घी का घड़ा क्यों (कहा) ? घी का घड़ा प्रसिद्ध है। घी की प्रसिद्धि नहीं। घी का घड़ा (प्रसिद्ध है) इसी प्रकार आहारक शरीर का नाम जीव के नाम से प्रसिद्ध है, इसलिए कहा। वस्तु ऐसी नहीं। आहाहा ! अभी तो एक जीव को कैसा कहना, यह पहले तत्त्व की बात है। आहाहा ! **'घी के घड़े' की भाँति व्यवहार है कि जो व्यवहार अप्रयोजनार्थ है (अर्थात् उसमें प्रयोजनभूत वस्तु नहीं है)। इसी बात को स्पष्ट कहते हैं—** आहाहा ! ऐसा क्यों कहा ? जीव की संज्ञा में शरीर के नाम से क्यों कहा ? पर्याप्त, अपर्याप्त यह शरीर संज्ञा / नाम है, उसे जीव के नाम से क्यों कहा ? क्योंकि जगत ऐसा ही प्रसिद्धरूप से देखता है। देखता है इसलिए कहा। आहाहा ! जगत घी का घड़ा देखता है; घी है, ऐसा नहीं देखता। पानी का घड़ा, घी का घड़ा, दूध का घड़ा, यह अज्ञानी को प्रसिद्ध है न, ऐसा कहते हैं। इसी प्रकार बादरजीव, पर्याप्त जीव बाहर में प्रसिद्ध है, (मूल) चीज प्रसिद्ध नहीं है। आहाहा !

जैसे किसी पुरुष को जन्म से लेकर... अब दृष्टान्त देते हैं। **'घी का घड़ा' ही प्रसिद्ध (ज्ञात) हो,...** देखो ! उसे तो घी का घड़ा ही ख्याल में है। **किसी पुरुष को जन्म से लेकर मात्र 'घी का घड़ा'...** आहाहा ! घी का घड़ा ही प्रसिद्ध है। **उसके अतिरिक्त वह दूसरे घड़े को न जानता हो,...** वह दूसरे घड़े को नहीं जानता; वह घड़े को तो नहीं जानता। घी का घड़ा, घी का घड़ा – ऐसा (जानता है)। **उसे समझाने के लिए ''जो यह 'घी का घड़ा' है सो मिट्टीमय है,...** आहाहा ! क्या कहा ? देखा ? दूसरे घड़े को जानता न हो। दूसरा घड़ा जानता न हो, घी का घड़ा, घी का घड़ा, पानी का घड़ा, मधु का घड़ा यह कुछ जानता

नहीं। यह घी का घड़ा, ऐसा **उसे समझाने के लिए ''जो यह 'घी का घड़ा' है....** वापस भाषा क्या है? **'घी का घड़ा' है, सो मिट्टीमय है,...** प्रसिद्धि के कारण से पहले ऐसा कहा। घी का घड़ा उसे जन्म से प्रसिद्ध है तो उसे उस शब्द से कहा कि यह घी का घड़ा मिट्टीमय है। आहाहा! दूसरे घड़े को जानता नहीं था। पानी का घड़ा (जानता नहीं था)। यह घी का घड़ा, घी का घड़ा एक ही देखता था। आहाहा!

उससे कहा, **यह 'घी का घड़ा' है सो मिट्टीमय है,...** घी का घड़ा है, वह मिट्टीमय है। **घीमय नहीं...** आहाहा! यह घड़ा घीमय नहीं। घी का घड़ा है, वह मिट्टीमय है, वह घीमय नहीं। आहा! समझाने में इस प्रकार लिया। **इस प्रकार (समझानेवाले के द्वारा) घड़े में घी के घड़े का व्यवहार किया जाता है,...** देखा? घड़े में घी के घड़े का व्यवहार किया जाता है। घड़े में घी के घड़े का व्यवहार किया जाता है। **क्योंकि उस पुरुष को 'घी का घड़ा' ही प्रसिद्ध (ज्ञात) है;...** पहली बात ली थी न? **जन्म से लेकर मात्र 'घी का घड़ा' ही प्रसिद्ध (ज्ञात) है,...** आहाहा!

इसी प्रकार इस अज्ञानी लोक को... आहाहा! **अनादि संसार से लेकर 'अशुद्ध जीव' ही प्रसिद्ध (ज्ञात) है,...** आहाहा! बादर और पर्याप्त और अपर्याप्त... इस प्रकार से अनादि से प्रसिद्ध है, इसकी दृष्टि वहाँ है न! आहाहा! **'अशुद्ध जीव' ही प्रसिद्ध (ज्ञात) है, वह शुद्ध जीव को नहीं जानता,...** जैसे उसे घी का घड़ा प्रसिद्ध है, वह अन्य घड़े को नहीं जानता और घी को नहीं जानता। घी का घड़ा। घड़ा है तो मिट्टी का; उसे जानता नहीं। घी का घड़ा, घी का घड़ा... घी का घड़ा नहीं, घड़ा तो मिट्टी का है। घी का घड़ा कहकर मिट्टीमय घड़ा है, ऐसा कहा। आहाहा! **'घी का घड़ा' ही प्रसिद्ध (ज्ञात) है; इसी प्रकार इस अज्ञानी लोक को अनादि संसार से लेकर 'अशुद्ध जीव' ही प्रसिद्ध (ज्ञात) है, वह शुद्ध जीव को नहीं जानता, उसे समझाने के लिए शुद्ध जीव का ज्ञान कराने के लिए ''जो यह 'वर्णादिमान जीव' है, सो ज्ञानमय है,...** आहाहा! वर्णादिमान जीव है-ऐसा कहकर, वह ज्ञानमय है (ऐसा कहना है)। वर्णादिमान तो उसे प्रसिद्ध है तो (ऐसा कहा कि) वर्णादिमान जीव है, वह ज्ञानमय है। लो! यह तो गौतम ने कहा, भाई! ऐई! चेतनजी! धवल में समझाने के लिये व्यवहार से कहा है। आहाहा! वहाँ ऐसा कहे, देखो! व्यवहार

से भी लाभ होता है। अरे! आहाहा! क्या हो ? जगत की स्वच्छन्दता का पार नहीं होता। आहाहा!

वह शुद्ध जीव को नहीं जानता, उसे समझाने के लिए शुद्ध जीव का ज्ञान कराने के लिए... देखा ? शुद्ध जीव का ज्ञान कराने के लिये, **जो यह 'वर्णादिमान जीव' है, सो ज्ञानमय है,...** वर्णादिमान जीव है, वह ज्ञानमय है – ऐसा व्यवहार से बताया। आहाहा! वह **वर्णादिमय नहीं...** वह ज्ञानमय भगवान है। भेद नहीं, राग नहीं, रंग नहीं। आहाहा! **इस प्रकार (सूत्र में) जीव में वर्णादिमानपने का व्यवहार किया गया है,...** वर्णादिमान का व्यवहार किया गया है। **क्योंकि उस अज्ञानी लोक को 'वर्णादिमान जीव' ही प्रसिद्ध (ज्ञात) है।** इस कारण से—उसे प्रसिद्ध है इसलिए, वर्णादिमान कहकर, वह ज्ञानमय है (ऐसा) यह व्यवहार कहा गया है। परन्तु व्यवहार कहा है, इसलिए वह सत्य है और उससे लाभ है, ऐसा नहीं है। उसका ज्ञान होता है न ? परन्तु ज्ञान होता है, वह तो उसे समझ में आता है। वर्णादिमान नहीं, ज्ञानमय है, यह व्यवहार से ज्ञान हुआ परन्तु उसे व्यवहार आदरणीय है और अनुसरण करनेयोग्य है, ऐसा नहीं है।

विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

कलश-४०

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :—

घृतकुम्भाभिधानेऽपि कुम्भो घृतमयो न चेत्।
जीवो वर्णादिमज्जीवजल्पनेऽपि न तन्मयः।।४०।।

श्लोकार्थ - [चेत्] यदि [घृतकुम्भाभिधाने अपि] 'घी का घड़ा' ऐसा कहने पर भी [कुम्भः घृतमयः न] घड़ा है, वह घीमय नहीं (-मिट्टीमय ही है), [वर्णादिमत्-जीवजल्पने अपि] तो इसी प्रकार 'वर्णादिमान जीव' ऐसा कहने पर भी [जीवः न तन्मयः] जीव है, वह वर्णादिमय नहीं है (-ज्ञानघन ही है)।

भावार्थ - घी से भरे हुए घड़े को व्यवहार से 'घी का घड़ा' कहा जाता है, तथापि निश्चय से घड़ा घी-स्वरूप नहीं है; घी, घीस्वरूप है, घड़ा मिट्टीस्वरूप है; इसी प्रकार वर्ण, पर्याप्ति, इन्द्रियों इत्यादि के साथ एक क्षेत्रावगाहरूप सम्बन्धवाले जीव को सूत्र में व्यवहार से 'पंचेन्द्रिय जीव, पर्याप्त जीव, बादर जीव, देव जीव, मनुष्य जीव' इत्यादि कहा गया है, तथापि निश्चय से जीव उस स्वरूप नहीं है; वर्ण, पर्याप्ति, इन्द्रियाँ इत्यादि पुद्गलस्वरूप हैं, जीव ज्ञानस्वरूप है।।४०।।

प्रवचन नं. १३८ श्लोक-४० तथा गाथा-६८ दिनाङ्क १७-११-१९७८, शुक्रवार
कार्तिक कृष्ण ३, वीर निर्वाण संवत् २५०४

समयसार, ४० श्लोक का भावार्थ है। आज तो गुजराती चलेगी, हिन्दी गये।

भावार्थ - घी से भरे हुए घड़े को व्यवहार से 'घी का घड़ा' कहा जाता है, तथापि निश्चय से घड़ा घी-स्वरूप नहीं है; घी, घीस्वरूप है, घड़ा मिट्टीस्वरूप है;... आहाहा! यह तो दृष्टान्त (कहा)। **इसी प्रकार वर्ण, पर्याप्ति, इन्द्रियों इत्यादि के साथ**

एक क्षेत्रावगाहरूप सम्बन्धवाले जीव को सूत्र में व्यवहार से 'पंचेन्द्रिय जीव, पर्याप्त जीव, बादर जीव, देव जीव, मनुष्य जीव' इत्यादि कहा गया है, तथापि निश्चय से जीव उस स्वरूप नहीं है;... यह तो बाह्य की स्थिति की बात की। यह क्या कहा? वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, शरीर, संहनन तो बाह्य की चीज़ है; पर्याप्त, अपर्याप्त भी बाह्य की चीज़ है, वह अन्तर में है नहीं। व्यवहार से कहे गये हैं, इसलिए वस्तु-आत्मा की नहीं। आत्मा उसमय नहीं। **इत्यादि पुद्गलस्वरूप हैं, जीव ज्ञानस्वरूप है।** उसे कहा कि प्रभु! जीव ज्ञानस्वरूप है। जैसे घड़ा मिट्टीस्वरूप है, वैसे यह जीव ज्ञानस्वरूप है- ऐसा कहा।

अब इतना कहा, इसलिए उसे-समझनेवाले को ज्ञान हो गया - ऐसा नहीं है। उसे कहा कि ज्ञानस्वरूप है-ऐसे उसका लक्ष्य कराया। अब उसे अनुभव कब हो? वह तो अन्तरजीवद्रव्य का-ज्ञानमय वस्तु का आश्रय करे तो उसे ज्ञानमय है, ऐसा अनुभव हो। गुरु ने, भगवान ने या आचार्यों ने कहा कि घी का घड़ा नहीं, घड़ा मिट्टीमय है। यह तो ठीक है। इसी प्रकार पर्याप्त, अपर्याप्त आदि, संहनन, संस्थान आदि अजीव है, वे जीव नहीं; जीव तो ज्ञानमय है। आहा! इतना कहा, इसलिए उसे-शिष्य को ज्ञानमय जीव स्वभाव का अनुभव हुआ, ऐसा नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : ऐसा इसमें से कहाँ निकलता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : इसमें यह निकलता है। वह तो बाह्य की बात है न? अभ्यन्तर की अब आयेगी। गुणस्थान, रागादि अभ्यन्तर भी जीवस्वरूप नहीं है। यह तो बाह्य की बात की। वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, रंग, राग - इसके पश्चात् आयेगा। यहाँ तो रंग, गंध, रस, स्पर्श, शरीर, संहनन, संस्थान, पर्याप्त-अपर्याप्त, ये सब जीव नहीं हैं। जीव ज्ञानस्वरूप है —ऐसा इन सन्तों ने-आचार्यों ने कहा, तथापि उसे ज्ञानस्वरूप का ख्याल आया कि यह ज्ञानस्वरूप है इतना, परन्तु इससे उसे आत्मा का-ज्ञानस्वरूप का अनुभव हुआ - ऐसा नहीं है। यह तो उसे व्यवहार से समझाया कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है, भाई!

आचार्यों ने भी व्यवहार विकल्प में आकर इसे समझाया और समझनेवाले के

ख्याल में आया इतना कि यह ज्ञानस्वरूप है, ऐसा कहते हैं, बस! यह लक्ष्य में आया कि ज्ञानस्वरूप है परन्तु उसे ज्ञानस्वरूप का अनुभव कब हो? आहाहा! वह अन्तर में ज्ञायकस्वभाव का अवलम्बन करे, (तब अनुभव हो)। यहाँ त्रिकाली द्रव्यस्वभाव का वर्णन है न? द्रव्यवस्तु जो द्रव्य है, वह ये बाह्य रंग, गंध आदि तो नहीं। वह ज्ञानस्वरूप है, ऐसा कहा परन्तु वह ज्ञानस्वरूप इसके ख्याल में आया कि ज्ञानस्वरूप है इतना, परन्तु सुननेवाले को आत्मा-ज्ञानस्वरूप का अनुभव नहीं हुआ। आहाहा! कहा, इसलिए उसे ज्ञान हो गया और सुना, इसलिए उसे ज्ञान हो गया... आहाहा! ऐसा नहीं है। आहाहा!

ज्ञायकस्वभाव जो त्रिकाल ज्ञानस्वरूप द्रव्य, हों! उस द्रव्यस्वरूप की दृष्टि करने से (अनुभव होता है) यह तो सुना और ख्याल में आया कि वह तो ज्ञानमय है। अब शास्त्र दिशा दिखाकर अलग रहे, ऐसे गुरु भी दिशा दिखाकर अलग रहते हैं। ज्ञानमय है, ऐसा जब यह स्वयं अन्दर में जाये... आहाहा! पर्याय में ज्ञानमय है - ऐसा ख्याल में आया, वह तो व्यवहार हुआ, निश्चय नहीं। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई!

निश्चय तो ज्ञायकस्वरूप का अनुभव करे, तब यह ज्ञायकस्वरूप है, ऐसा इसे ख्याल आवे, तब सच्चा निर्णय (कहलाता है)। आहाहा! यह तो वह चला न, गौतमस्वामी का व्यवहार का... कहा हुआ, उस पर से यह अधिक आया। गौतमस्वामी ने व्यवहार का आश्रय लेकर शिष्यों की प्रवृत्ति व्यवहार से कराते हैं, लाभदायक है इसलिए। ऐसा है नहीं। आहाहा! गौतम गणधरों ने जीव को चौदह भेदस्थान द्वारा शिष्य को समझ में आये, इसलिए अनुग्रह करके कहा है परन्तु इससे उसे ख्याल में आया कि यह तो भेद से कहते हैं, परन्तु इस भेद का ज्ञान उसे कब होता है? कि अभेददृष्टि करे, तब इस भेद का ज्ञान अनेकान्त का (ज्ञान) होता है। ऐसी बात है। बहुत फेरफार, बड़ा फेरफार! ऐसा कर डाला, देखो न! व्यवहार से समझाया, इसलिए व्यवहार की प्रवृत्ति लाभदायक है, ऐसा (अज्ञानियों ने) सिद्ध किया।

मुमुक्षु : उसमें से कुछ लाभ होता हो तो समझाये न।

पूज्य गुरुदेवश्री : लाभ कुछ नहीं। उसे मात्र ख्याल में आवे, इतनी बात है। यहाँ

जाना है, इतना ख्याल में आवे, चलना है वह तो इसे फिर स्वयं को (चलना है) । आहाहा ! सूक्ष्म बात है भाई !

यहाँ तो लिया बाह्य; अब ६८ में अभ्यन्तर की बात लेते हैं। क्या कहा ? २९ बोल में कितने ही बाह्य हैं और कितने ही अभ्यन्तर हैं। जो वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, संहनन, संस्थान हैं, वे सब बाह्य हैं; वे तो आत्मा की पर्याय में भी नहीं, इसलिए उन्हें भिन्न कहा। अब इसे जीवद्रव्य वस्तु जो अखण्ड है, वह अभ्यन्तर के राग-द्वेष, गुणस्थान, मार्गणास्थान के भेद से रहित है, अभ्यन्तर के भेद से भी रहित है। आहाहा ! समझ में आया ? आहाहा ! इसलिए अन्तिम गाथा (कहते हैं) ।

गाथा ६८

एतदपि स्थितमेव यद्रागादयो भावा न जीवा इति-

मोहणकम्मस्सुदया दु वण्णिया जे इमे गुणट्ठाणा।
ते कह हवंति जीवा जे णिच्चमचेदणा उत्ता।।६८।।

मोहनकर्मण उदयात्तु वर्णितानि यानीमानि गुणस्थानानि।
तानि कथं भवंति जीवा यानि नित्यमचेतनान्युक्तानि।।

मिथ्यादृष्ट्यादीनि गुणस्थानानि हि पौद्गलिकमोहकर्मप्रकृतिविपाकपूर्वकत्वे सति नित्यमचेतनत्वात् कारणानुविधायीनि कार्याणीति कृत्वा, यवपूर्वका यवा यवा एवेति न्यायेन, पुद्गल एव, न तु जीवः। गुणस्थानां नित्यमचेतनत्वं चागमाच्चैतन्यऽस्वभावव्याप्त -स्यात्मनोऽतिरिक्तत्वेन विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वाच्च प्रसाध्यम्।

एवं रागद्वेशमोहप्रत्ययकर्मनोकर्मवर्गवर्गणास्पर्धकाध्यात्मस्थानानुभागस्थानयोगस्थान -बंधस्थानोदयस्थानमार्गणास्थानस्थितिबंधस्थानसंक्लेशस्थानविशुद्धिस्थानसंयमलब्धि -स्थानान्यपि पुद्गलकर्मपूर्वकत्वे सति, नित्यमचेतनत्वात् पुद्गल एव, न तु जीव इति स्वयमायातम्। ततो रागादयो भावा न जीव इति सिद्धम्।

तर्हि को जीव इति चेत्-

अब कहते हैं कि (जैसे वर्णादिभाव जीव नहीं हैं, यह सिद्ध हुआ, उसी प्रकार) यह भी सिद्ध हुआ कि रागादिभाव भी जीव नहीं हैं —

मोहनकरम के उदय से, गुणस्थान जो ये वर्णये।
वे क्यों बने आत्मा, निरंतर जो अचेतन जिन कहे?॥६८॥

गाथार्थ - [यानि इमानि] जो यह [गुणस्थानानि] गुणस्थान हैं, वे

[मोहनकर्मणः उदयात् तु] मोहकर्म के उदय से होते हैं [वर्णितानि] ऐसा (सर्वज्ञ आगम में) वर्णन किया गया है; [तानि] वे [जीवाः] जीव [कथं] कैसे [भवंति] हो सकते हैं [यानि] कि जो [नित्यं] सदा [अचेतनानि] अचेतन [उक्तानि] कहे गये हैं ?

टीका - ये मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थान पौद्गलिक मोहकर्म की प्रकृति के उदयपूर्वक होते होने से, सदा ही अचेतन होने से, कारण जैसा ही कार्य होता है ऐसा समझकर (समझकर, निश्चय कर) जौ पूर्वक होनेवाले जो जौ, वे जौ ही होते हैं, इसी न्याय से, वे पुद्गल ही हैं-जीव नहीं और गुणस्थानों का सदा ही अचेतनत्व तो आगम से सिद्ध होता है, तथा चैतन्यस्वभाव से व्याप्त जो आत्मा, उससे भिन्नपने से वे गुणस्थान भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलभ्यमान हैं, इसलिए भी उनका सदा ही अचेतनत्व सिद्ध होता है।

इसी प्रकार राग, द्वेष, मोह, प्रत्यय, कर्म, नोकर्म, वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, अध्यात्म -स्थान, अनुभागस्थान, योगस्थान, बन्धस्थान, उदयस्थान, मार्गणास्थान, स्थितिबन्ध -स्थान, संक्लेशस्थान, विशुद्धिस्थान और संयमलब्धिस्थान भी पुद्गलकर्मपूर्वक होते होने से, सदा ही अचेतन होने से पुद्गल ही हैं-जीव नहीं, ऐसा स्वतः सिद्ध हो गया। इससे यह सिद्ध हुआ कि रागादिभाव जीव नहीं हैं।

भावार्थ - शुद्धद्रव्यार्थिकनय की दृष्टि में चैतन्य अभेद है और उसके परिणाम भी स्वाभाविक शुद्ध ज्ञान-दर्शन हैं। परनिमित्त से होनेवाले चैतन्य के विकार, यद्यपि चैतन्य जैसे दिखाई देते हैं तथापि, चैतन्य की सर्व अवस्थाओं में व्यापक न होने से चैतन्यशून्य हैं-जड़ हैं और आगम में भी उन्हें अचेतन कहा है। भेदज्ञानी भी उन्हें चैतन्य से भिन्नरूप अनुभव करते हैं, इसलिए भी वे अचेतन हैं, चेतन नहीं।

प्रश्न - यदि वे चेतन नहीं हैं तो क्या हैं ? वे पुद्गल हैं या कुछ और ?

उत्तर - वे पुद्गलकर्मपूर्वक होते हैं, इसलिए वे निश्चय से पुद्गल ही हैं क्योंकि कारण जैसा ही कार्य होता है।

इस प्रकार यह सिद्ध किया कि पुद्गलकर्म के उदय के निमित्त से होनेवाले चैतन्य के विकार भी जीव नहीं, पुद्गल हैं।

गाथा – ६८ पर प्रवचन

अब कहते हैं कि (जैसे वर्णादिभाव जीव नहीं हैं, यह सिद्ध हुआ, उसी प्रकार) यह भी सिद्ध हुआ कि रागादिभाव भी जीव नहीं हैं— रागादि, गुणस्थान, मार्गणास्थान इत्यादि जीव नहीं है। सुन,

मोहणकम्मस्सुदया दु वण्णिया जे इमे गुणट्ठाणा।
ते कह हवंति जीवा जे णिच्चमचेदणा उत्ता।।६८।।

मोहनकरम के उदय से, गुणस्थान जो ये वर्णये।
वे क्यों बने आत्मा, निरंतर जो अचेतन जिन कहे ?॥६८॥

जैसे वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, संहनन को अचेतन कहा, वैसे गुणस्थान, मार्गणास्थान के भेदों को भी अचेतन कहा। आहाहा! ये सब भेद जीव की पर्याय में होते हैं, तथापि जीवद्रव्य त्रिकाल है (वह) इनरूप नहीं, इसलिए इन्हें अचेतन कहा है। आहाहा!

मुमुक्षु : चेतन की पर्याय अचेतन।

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ चैतन्य त्रिकाली है, उसका यह स्वरूप नहीं है। आहाहा! जो दृष्टि का विषय द्रव्यस्वभाव कहना है, वह द्रव्य है, वह तो किसी प्रकार इनरूप नहीं हुआ है। आहाहा! गुणस्थान, मार्गणास्थान के भेदरूप जीवद्रव्य नहीं हुआ है। आहाहा!

मुमुक्षु : उसकी पर्याय हुई है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय को यहाँ व्यवहार में डाल दिया है। वह पर्याय इसमें नहीं। आहाहा! समझ में आया ? यह तो अलौकिक बातें हैं, बापू! आहाहा! समयसार अर्थात्... आहाहा!

टीका – ये मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थान... पहले लिया था वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, शरीर, संहनन, संस्थान आदि, वह तो बाह्य चीज़ थी। अब यह तो अभ्यन्तर में ही इसके भेद हैं। समझ में आया ? आहाहा! **मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थान पौद्गलिक मोहकर्म की प्रकृति के...** आहाहा! जयसेनाचार्य की टीका में है, भाई! '**मोहजोगभवा**' यह गाथा जयसेनाचार्य की टीका में है।

मुमुक्षु : गोम्मटसार में है।

पूज्य गुरुदेवश्री : गोम्मटसार में है परन्तु वह तो यहाँ है यह। गोम्मटसार का शब्द है, वह यहाँ रखा है, जयसेनाचार्य ने। गोम्मटसार में है, बात सच्ची। '**मोहजोगभवा**' गुणस्थान है मोह और योग से भेदस्वरूप से हुए हैं, वस्तु में नहीं है। आहाहा!

मिथ्यात्वपना... ओहोहो! वह जीव द्रव्य में नहीं है। ऐसे तेरहवाँ गुणस्थान और चौदहवाँ गुणस्थान वह **पौद्गलिक मोहकर्म की प्रकृति के उदयपूर्वक होते होने से, सदा ही अचेतन होने से,...** आहाहा! भगवान चैतन्य द्रव्य है, ज्ञायक ध्रुवद्रव्य है, उसमें यह वस्तु-भेद नहीं है। ये सब भेद पड़े हैं मोहकर्म के उदय के निमित्त से भेद पड़े हैं। स्वभाव के प्रगट होने से भेद पड़े हैं - ऐसा नहीं। आहाहा! यहाँ एक ही लिया, उसमें योग लिया।

मोहकर्म की प्रकृति के उदयपूर्वक होते होने से,... प्रकृति का उदय अर्थात् जड़ है वह; उसके निमित्त से यहाँ भेद पड़ा, कहते हैं। मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरति समकित, विरताविरति श्रावक, विरति प्रमत्त, अप्रमत्त इत्यादि भेद से ठेठ सयोगी और अयोगी (गुणस्थानपर्यन्त)। आहाहा! यह मोहकर्म की प्रकृति, मोहकर्म की प्रकृति के **उदयपूर्वक होते होने से, सदा ही अचेतन होने से,...** आहाहा! **कारण जैसा ही कार्य होता है...** कारण पुद्गल प्रकृति है, इसलिए उसका कार्य भी ये सब वैसे हैं-ऐसा कहते हैं। गुणस्थान, मार्गणास्थान, जीवस्थान, राग-द्वेष, पुण्य-पाप, लब्धिस्थान। आहाहा! यह कारण जैसे कार्य होते हैं। कारण मोहकर्म की प्रकृति है, उसके गुणस्थान उसके भेद हैं, वह उसका कार्य है, कहते हैं। आहाहा! भगवान कारणस्वभाव प्रभु का यह कार्य नहीं है। आहाहा! आहाहा! चैतन्यघन, विज्ञानघन ध्रुव का कार्य तो निर्मल कार्य हो, वह (उसका कार्य है)। ये सब भेद हैं, वह तो मलिन अचेतन कार्य है। आहाहा!

मुमुक्षु : .... कैसे होता है पर्याय में?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह चेतन की पर्याय ही अचेतन है। इसमें ज्ञानस्वभाव आया नहीं। सयोगपने में, अयोगपने में कहीं ज्ञानस्वभाव तो आया नहीं। आहाहा! अविरति सम्यग्दर्शन, अविरतिभाव में ज्ञानस्वभाव आया नहीं। भगवान चैतन्य ज्योत है, आहाहा! क्या स्वरूप और क्या गाथा!!

कारण जैसा... मोहप्रकृति जो पुद्गल कारण हैं, उसके ये कार्य हैं; इसलिए पुद्गल हैं। आहाहा! कठिन बात है भाई! यहाँ तो त्रिकाली जीवद्रव्य है, उसमें उदयभाव तो नहीं, उपशम, क्षयोपशम भी उसमें नहीं। यहाँ तो अभी उदयभाव के प्रकार के भेद का वर्णन है। समझ में आया? आहाहा! भगवान अन्दर चैतन्य पिण्ड प्रभु ऐसे भिन्न अखण्ड चैतन्यज्योति, जलहल ज्योति, चन्द्र शीतल ध्रुव (विराजता है)। आहाहा! ऐसे भगवान / द्रव्य में ये नहीं हैं; इसलिए द्रव्य चैतन्यस्वरूप है तो ये अचेतनस्वरूप हैं – ऐसा (कहते) हैं। आहाहा!

अब यहाँ तो मुझे तो दूसरा कहना है कि ऐसा इसे गुरु ने कहा (तो) इसके ख्याल में आया कि ये गुरु और शास्त्र ऐसा कहते हैं कि इस प्रकृति के कारण से कार्य होता है, वह सब अचेतन है; ये चैतन्यद्रव्य के नहीं, ऐसा इसे ख्याल में आया, बस इतना! परन्तु ख्याल में आया, यह व्यवहार से आया है। गुरु ने कहा और इसे परलक्ष्य से (ज्ञान) हुआ, वह ख्याल में व्यवहार से आया है। आहाहा! सूक्ष्म बात बहुत, बापू! सूक्ष्म बात कहकर लोग उपहास करते हैं। सूक्ष्म... सूक्ष्म करके यह सब उड़ा देना है। अरे! भगवान! तू प्रभु है, भगवान! तुझे यह न जँचे तो क्या हो? आहाहा!

यहाँ तो भगवान अन्दर है, वह तो गुणस्थान में आता नहीं, ऐसा कहते हैं। भेद में आता नहीं। तू स्वयं प्रभु है न! प्रभु! आहाहा! तेरा द्रव्य, भेद में आता नहीं न प्रभु! ऐसा तुझे क्या लगता है? आहाहा! ओहो! गजब बात! सन्तों ने तो केवलज्ञान को खड़ा कर दिया है!! आहाहा!

दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम, कहते हैं कि प्रकृति के कारण हुए हैं, इसलिए प्रकृति का कार्य है; जीव का नहीं। आहाहा! व्यवहाररत्नत्रय, देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का राग, शास्त्र के पठन का विकल्प, नवतत्त्व की श्रद्धा का विकल्प... आहाहा! यह प्रकृति के कारण उत्पन्न हुआ कार्य पुद्गल का है, कहते हैं। व्यवहाररत्नत्रय की श्रद्धा का भाव, वह पुद्गल का है, कहते हैं। अरे रे! द्रव्य ज्ञायकस्वरूप प्रभु है, उसमें यह कहाँ है? आहाहा! निमित्त के आधीन हुआ भाव निमित्त का है; प्रकृति के आधीन हुआ भाव, प्रकृति का है; पुद्गल के आधीन हुआ भाव, पुद्गल का है; स्वाधीन आत्मा का भाव नहीं है।

आहाहा! वीतरागी सन्तों के अतिरिक्त कौन कहे? भाई! आहाहा! जिसे जगत की दरकार नहीं, समाज संगठित रहेगा या नहीं (इसकी दरकार नहीं)। आहाहा! ये दिगम्बर सन्त! 'नागा बादशाह से आघा।' जिन्हें समाज की कुछ पड़ी नहीं है। समाज को यह समझ में आयेगा या नहीं? समाज संगठित रहेगा या नहीं? उपहास तो नहीं करेगा न? अरे! सुन, प्रभु सुन, भाई!

इसकी पर्याय में होनेवाले दया, दान, व्रत, भक्ति के भाव और इसकी पर्याय में होनेवाले गुणस्थान, मार्गणास्थान के भाव... आहाहा! परन्तु यहाँ कहते हैं ये पर्याय में होते भाव, वे द्रव्य से हुए भाव नहीं हैं। आहाहा! भगवान ज्ञायक चैतन्यमूर्ति प्रभु, वह प्रभु आत्मा तो वीतरागस्वभाव का बिम्ब है। वह वीतरागस्वभाव के कार्य ऐसे कहाँ होंगे? आहाहा! वे तो अचेतन प्रकृति जो पुद्गल, उसके कारण से हुए कार्य हैं, इसलिए वे पुद्गल हैं। आहाहा! ऐसा स्वरूप है। अभी तो लक्ष्य में ऐसा आना कठिन (पड़ता है)। शास्त्र ऐसा कहते हैं, प्रभु ऐसा कहते हैं, उसे ख्याल में ले। ख्याल में आने पर भी, वह वस्तु का अनुभव नहीं, वह परलक्ष्यी ज्ञान हुआ। आहाहा! चैतन्यद्रव्यस्वभाव, उस भेद का भी लक्ष्य छोड़कर जो ख्याल में आया, लक्ष्य में आया कि सन्त, आचार्य, मुनि, केवली ऐसा कहते हैं, तथापि उस लक्ष्य का भी लक्ष्य छोड़कर... आहाहा!

आठ वर्ष के राजकुमार बालक... आहाहा! वे हीरा-माणिक के स्फटिकमणि के मकान हों, आहाहा! उसमें यह भान हो। अरे! हम तो आनन्दस्वरूप हैं, हम तो ज्ञायकस्वरूप प्रभु हैं। आहाहा! आहाहा! जिसे अन्तर के आनन्द का स्वाद आया, आहाहा! वह उसका कार्य है। यह भेद उसका कार्य नहीं। आहाहा! ये वन में बाघ और सिंह के बीच अकेले चले जाते हैं। कोई मुझे जाने या पहचाने, ऐसा कुछ रहा नहीं। आहाहा! मेरा प्रभु पूर्णानन्द का नाथ है, उसे पर्याय में पूर्णानन्द प्रगट करने के लिये हम जंगल में, बाहर में नहीं परन्तु अन्दर में, जाते हैं। आहाहा! भाई! इसकी चमत्कारी दशा, वस्तु कैसी होगी? आहाहा!

यह भगवान आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु! गुरु इसके ख्याल में कहा (इसलिए) आया। इसलिए वहाँ अटके नहीं यह! आहाहा! उसे साधने को अन्तर में जाता है। आहाहा! यह है तो अभ्यन्तरभाव, परन्तु वह पर्याय का अभ्यन्तरभाव है। संहनन, संस्थान,

शरीर वह बाह्य-अत्यन्त बाह्य का भाव है और यह इसकी पर्याय के अभ्यन्तर भाव हैं। आहाहा! वह भी तू नहीं। वह जीवद्रव्य नहीं, ऐसा जहाँ इसे लक्ष्य में-ख्याल में आया... आहाहा! वहाँ यह अन्तर में उतर जाता है। अभ्यन्तर के भाव के भेद से छूटकर... आहाहा! अभ्यन्तर भगवान पूर्णानन्द का नाथ जीवद्रव्य है, वहाँ चला जाता है। आहाहा! ऐसी बातें हैं, प्रभु! मार्ग तो ऐसा है, भाई! अरे! जगत सत्य को अभी आरोप देता है कि यह एकान्त हैं, महावीर के मार्ग से विरुद्ध कर दिया है। अरे! प्रभु! सुन न भाई! महावीर और सन्त सब एक ही बात करते हैं। आहाहा! इसे दया, दान, व्रत, तप, और भक्ति से धर्म मनाना है, (इसलिए यह बात) इसे खटकती है।

यहाँ तो ये (रागादिक) तो नहीं, परन्तु गुणस्थान के, मार्गणास्थान के भेद भी जीव के नहीं हैं, तो उनसे जीव को लाभ नहीं। इस गुणस्थान के भेद का आश्रय-लक्ष्य करे तो आत्मा को लाभ होता है-यह तीन काल में नहीं। जैसे राग से लाभ नहीं होता; संहनन, संस्थान से लाभ नहीं होता; वैसे यहाँ गुणस्थान के भेद करने से भी आत्मा को लाभ नहीं होता। आहाहा! ऐसी बात है। भगवान तीन लोक के नाथ... आहाहा! जिनेश्वरदेव, इन्द्र और गणधरों की उपस्थिति में, चक्रवर्ती छह खण्ड का धनी सुनने बैठा हो... आहाहा! उसे प्रभु ऐसा कहते हैं-भगवन्त! तेरा स्वरूप तो अखण्डानन्द प्रभु अन्दर है न! आहाहा! यह भेद तेरा स्वरूप नहीं; अचेतन है। अर र! आहाहा! यह राग-फाग और स्त्री-पुत्र तो कहीं रह गये! आहाहा! तीन लोक के नाथ सीमन्धर भगवान सभा में फरमाते हैं, वह यह बात है।

मुमुक्षु : मोक्षमार्ग से मोक्ष की प्राप्ति नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : मोक्षमार्ग से मोक्ष की प्राप्ति, यह भी व्यवहार है। मोक्ष की प्राप्ति द्रव्य के आश्रय से होती है। मोक्षमार्ग है, उसका तो व्यय होता है और भाव का उत्पाद होता है, वह त्रिकाली कोई भाव है, उसके आश्रय से होता है या गया उसके आश्रय से होता है? भाई! ऐसी बात है। आहाहा! कल एक बात की थी। ३४ वर्ष की उम्र का चार दिन पीलिया होकर मर गया। वींछिया अपने, भाई! वींछिया, हरिभाई हैं न? वींछिया है, उनका एक भाई 'जसदण' में है, एक मुम्बई में है, यह छोटा ३४ वर्ष का था। कोई रोग नहीं था, चार दिन

में पीलिया हुआ। यह पीलिया, पीलिया। उसका हो गया पीलिया, देह उड़ गयी। आहाहा! वह तो परवस्तु है, उसकी बात हुई। आहाहा! वह तो तुझमें नहीं, तू वहाँ नहीं परन्तु यहाँ तो भेद पड़ा वह तुझमें नहीं और भेद में तू नहीं। आहाहा! देवीलालजी!

प्रभु! तू कहाँ है ? आहाहा! इन गुणस्थान के और मार्गणास्थान के भेद में तू नहीं है। आहाहा! तेरी मौजूदगी / अस्तित्व तो उनसे भिन्न है। अरे! यह बात! अभी तो यह स्त्री-पुत्र और पैसे में से हटना कठिन लगता है। अर र! उसमें फिर संहनन, संस्थान की पर्याय मेरी नहीं। उसमें से आगे आने पर गुणस्थान और राग भी मुझमें नहीं, उनमें मैं नहीं, वे मुझमें नहीं। आहाहा! वीतराग जिनेश्वर के पंथ में यह मार्ग है। इस प्रकार अन्यत्र कहीं वीतराग के अतिरिक्त कहीं नहीं है, भाई!

इसे पूर्णस्वरूप है वह लक्ष्य में लेने के लिये बताते हैं। आहाहा! ऐसा लक्ष्य तो कर कि यह भेद है, उनमें तू नहीं और भेद है, वह अचेतन है। चेतनस्वरूप द्रव्यस्वभाव उनमें आया नहीं और द्रव्यस्वभाव में वे हैं नहीं। आहाहा! ऐसा सन्त, गुरु, भगवान लक्ष्य कराते हैं, तथापि वह लक्ष्य गया; इसलिए वहाँ उसे अनुभव हो गया (ऐसा नहीं है)। आहाहा! ऐसा मार्ग है। जगत की बाहर की (चीज़) यह पैसा, लक्ष्मी, शरीर, वाणी, संहनन, संस्थान को तो यहाँ उड़ा दिया। तुझे बाहर की चमक दिखायी दे (परन्तु) प्रभु! वह तो सब अचेतन मिट्टी है। यह शरीर, वाणी, पैसा, मकान, संहनन, मजबूत हड्डियाँ और संस्थान - शरीर के आकार, ये सब चमक, प्रभु! यह तो जड़ की दशायें हैं। उनमें तू नहीं, तुझमें वे नहीं। आहाहा!

इसलिए यहाँ तो आगे लेकर ६८ (गाथा में बात करते हैं)। वह तो बाह्य की चमकृत का निषेध किया। आहाहा! अब अभ्यन्तर में जो त्रिकाली अभ्यन्तर है, उस स्वरूप में नहीं परन्तु पर्याय में अभ्यन्तर, अर्थात् यहाँ की अपेक्षा से अभ्यन्तर। बाकी उस पर्याय की अपेक्षा से अभ्यन्तर तो त्रिकाल है। आहाहा! कहते हैं कि यह बाहर की यह सब चमक-संहनन, संस्थान और वर्ण, गंध, रस और रूपवान, काला, हरा, और... आहाहा! मीठा रस और सुगन्धित श्वास आवे और... गंध मारे कितनों की ही श्वास गन्ध मारती है। हो जवान और श्वास गन्ध मारती हो। वे चीज़ें तो कहीं रह गयीं, कहते हैं। वह चीज तो तेरी नहीं और तुझमें नहीं और तू वहाँ नहीं। आहाहा! परन्तु तेरी पर्याय में जो गुणस्थान,

मार्गणास्थान, राग, दया, दान, व्रतादि के विकल्प आते हैं, वह बाह्य की अपेक्षा से अभ्यन्तर है और इसकी अपेक्षा से तो त्रिकाली वस्तु वह अभ्यन्तर है, वे बाह्य हैं। आहाहा! समझ में आया? ऐसा मार्ग, इसलिए लोगों को-बेचारों को लगता है, हों! सोनगढ़वाले एकान्त हैं, ऐसा है। चन्द्रशेखर विरोध करता है, बापू! उसकी दृष्टि मिथ्यात्व है, उसमें यह भाग उसे सूझता ही है। आहाहा!

चैतन्य अद्भुतता अद्भुत चमत्कार के रत्नों से भरपूर भगवान है। आहाहा! उस अभेद में-प्रभु में ये भेद नहीं है। आहाहा! और ऐसे गुणस्थान आदि भेद में तू आता नहीं है। आहाहा! **कारण जैसा ही कार्य होता है...** इसकी इतनी व्याख्या चली। पुद्गलकर्म कारण है। आहाहा! पहले पुद्गल से, कर्म से आया हुआ संयोग, संयोग, संहनन, संस्थान, शरीर (आदि) कर्म के निमित्त से आये हुए संयोग हैं। उन संयोगों से भिन्न कहा। अब प्रकृति के निमित्त से होता पर्याय में भेद... वह तो प्रकृति के निमित्त से चीज़ें मिली थी। यह शरीर, वाणी, मन, संहनन, संस्थान... आहा! रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, कर्म के निमित्त से ये प्राप्त चीजें हैं। ये चीज़े तो तेरी नहीं परन्तु अब कर्म के निमित्त से प्राप्त अन्दर का भेद। आहाहा। ये संयोग मिला, ये मिला भेद। आहाहा! इस कारण पर कार्य की व्याख्या चलती है। समझ में आया? आहाहा! उसमें भगवान कारणपरमात्मा है और यह भेद का कार्य आया है, ऐसा नहीं है। आहाहा! क्या वाणी! कुन्दकुन्दाचार्य दिगम्बर मुनि! अमृतचन्द्राचार्य! आहाहा! अमृत बहाया है!! आहा! पंचमकाल के जगत का भाग्य!

कहते हैं कि कर्म प्रकृति निमित्त और बाह्यसंयोग-यह शरीर और ये सब प्राप्त हों, वे तो बाह्य चीज़ है। उनसे तो तू भिन्न है परन्तु अब इस प्रकृति से प्राप्त तो अन्दर भेद (वह भी तू नहीं है) ऐसा का ऐसा, ऐसा आया, ऐसा आया, उससे भिन्न। कर्म के कारण यह शरीर मिला, संहनन मिला, संस्थान मिला और यह पर्याप्तपना मिला, पंचेन्द्रियपना मिला, मनुष्यपना मिला, और देवपना मिला और... आहाहा! यह तो इतना तो पहले निकाल दिया। अब प्रकृति से अन्तर में भेद मिला, पहला बाह्य में था। आहाहा! मोहकर्म की प्रकृति जो अभ्यन्तर में है। उस चीज़ की अपेक्षा से अभ्यन्तर (कही) और उससे अभ्यन्तर में यह भेद पड़े वह। ऐसी बातें हैं। तुम्हारा पंकज और अमुक तो कहीं रह गये!

आहाहा! वह तो कहीं पर के फलरूप से तो पर में संयोगरूप में रह गया। वह आत्मा में कहाँ आया? आहाहा! परन्तु वह मेरा है, ऐसा जो राग और मिथ्यात्व, वह भी प्रकृति-जड़ का कार्य है, प्रभु! तेरा नहीं। आहाहा! मिथ्यात्व आया न? पहले से है न? मिथ्यादृष्टि से लेकर। आहाहा!

यह सन्तों के ज्ञान और उनकी गर्जनायें, तीन लोक के नाथ की गर्जना। जैसे दिव्यध्वनि उठती है। आहाहा! बाघ और बिल्ली दोनों साथ बैठे (हों) शान्त... शान्त... चूहा और सर्प, काला नाग साथ खड़ा हो। दिव्यध्वनि का नाद-प्रभु का (नाद) सुनते हैं। आहाहा! बाहर का वातावरण शान्त हो जाता है। यह तो सुना कहते हैं। आहाहा! सुना जो है, यह जो ज्ञान हुआ है, यह लक्ष्य कराया है, भगवान ने कहा कि यह तू नहीं - ऐसा लक्ष्य कराया, परन्तु इससे तुझे कहीं अनुभव हो गया, ऐसा नहीं। आहाहा! यह तो व्यवहार से समझाया, इसलिए इसे आत्मा का लाभ हो गया और आत्मा के लाभ के लिये इससे कहा (ऐसा नहीं)। मात्र वह तो इसे वस्तु ख्याल में आवे, इतना कराया। सन्तों ने व्यवहार में आकर (कहा) क्योंकि यह पंचम काल की बात है न? इसलिए ऐसा लिया कि आचार्य ने कहा उन आचार्यों ने विकल्प में, व्यवहार में आकर कहा। केवली ने कहा, ऐसा नहीं आया। आहाहा! यह तो पंचम काल के सन्तों ने पंचम काल के जीव के लिये पंचम काल में शास्त्र बनाये। आहाहा! वहाँ केवली ने कहा कि तू आत्मा है और फिर आत्मा दर्शन-ज्ञान को प्राप्त हो वह आत्मा है और फिर कहते हैं कि आत्मा तो अभेद है, ऐसा ध्यान कराया। यहाँ भगवान ने कहा, ऐसा यहाँ नहीं कहा। क्या शैली प्रभु की! आहाहा!

मुमुक्षु : आचार्यों ने कहा, वह भगवान ने ही कहा।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह नहीं, नहीं, विकल्प है न यहाँ? वह बताना है। व्यवहार में आया, वह विकल्प है। वह केवली को नहीं। भाई! आहाहा! यहाँ तो निश्चय और व्यवहार दो पक्षों में खड़ा है, यह लेना है। केवली को व्यवहार है नहीं। पंचम काल के सन्त कहते हैं, इसलिए अपनी जाति से कहते हैं। उन्हें स्वयं को विकल्प उठा है। आहाहा! उस शैली की यहाँ बात है। केवली का कहना है, वह अलग बात, परन्तु अभी कहनेवाला जो है, वह विकल्प के व्यवहार के चक्र आया है, खड़ा है। यह बात करते हैं। आहाहा! केवली ने

कहा हुआ (कहते हैं) परन्तु फिर भी स्वयं ने ऐसा कहा न, कि मैं मेरे निज वैभव से कहूँगा! आहाहा! वह भी विकल्प में आये हैं, इसलिए कहूँगा। आहाहा! निर्विकल्प में हो तो उसे कहना है, यह बात आती नहीं। आहाहा! क्या कहा यह ?

यहाँ वर्तमान साधु-सन्त हैं, वे कहते हैं, यह यहाँ लेना है। केवली ने कहा हुआ कहा, परन्तु कहनेवाले वर्तमान कौन हैं ? आहाहा! यह भी स्वयं स्पष्ट कर दिया है। यह कहनेवाला तो मैं वर्तमान विकल्प में-व्यवहार में आया हूँ, इसलिए कहता हूँ परन्तु यह व्यवहार आया है; इसलिए मुझे लाभदायक है और व्यवहार से दूसरे को कहूँगा; इसलिए उसे आत्मा के लाभ के लिये है, ऐसा नहीं है। उसके ख्याल में आने के लिये इतना है। आहाहा! वह तो परलक्ष्यी है, इसलिए यहाँ तो यह बात है न! लक्ष्य कराकर वे तो अलग रह जाते हैं। अब तू अन्दर में जा! ऐसे जो अभ्यन्तर भेद हैं, वे भी अचेतन हैं, प्रभु! आहाहा!

कारण जैसा ही कार्य... इसके ऊपर से यह सब बात चलती है। ऐसे मुनियों ने कहा। केवली ने कहा, वह अभी यहाँ नहीं। वे विकल्प में आये हैं, उन्होंने कहा। आहाहा! इसलिए वह विकल्प उन्हें लाभदायक है और उसे—दूसरे को लाभदायक है; इसलिए व्यवहार कहते हैं, ऐसा नहीं है। आहाहा! मात्र उसे ख्याल में आवे, इसलिए यह बात कहते हैं। आहाहा!

ये मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थान पौद्गलिक मोहकर्म की प्रकृति के उदयपूर्वक होते होने से,... देखा ? यह प्रकृति सत्तारूप है, वहाँ तक का यहाँ कार्यभेद नहीं आता, कहते हैं। आहाहा! उदयपूर्वक। आहाहा! समझ में आया इसमें ? उदय हुआ, इसलिए यहाँ भेद पड़ा। उसमें जुड़ा है न! आहाहा! **उदयपूर्वक होते होने से,...** ये चौदह गुणस्थान उदयपूर्वक होते होने से। आहाहा! **सदा ही अचेतन होने से,...** क्योंकि प्रकृति स्वयं उदय अचेतन है। **कारण जैसा ही कार्य होता है...** आहाहा! क्या अमृतचन्द्राचार्य की टीका! क्या भगवान कुन्दकुन्दाचार्य के श्लोक! ओहोहो! उनकी क्षयोपशम की दशा!! आहाहा!

ऐसा समझकर (समझकर, निश्चय कर)... क्या करके ? कारण जैसे ही कार्य हैं। पुद्गल कारण है, इसलिए गुणस्थान भेद उसके कार्य हैं, इसलिए वे अचेतन हैं। किसकी तरह ? **जौ पूर्वक होनेवाले जो जौ,...** जौ बोअे और जौ होते हैं। गेहूँ बोअे तो जौं

होंगे ? आहाहा ! जौपूर्वक ही जौ होते हैं । आहाहा ! एकाक्षरी शब्द लिया है । गेहूँ है, वह एकाक्षरी नहीं न ? बाजरा, गेहूँ, दाल, चावल, एकाक्षरी नहीं । जऊ एकाक्षरी है जऊ (जौ) आहाहा ! जौपूर्वक, यह तो उसका कारण बतावे, परन्तु वस्तु **जौ पूर्वक होनेवाले जो जौ, वे जौ ही होते हैं...** जौ पूर्वक होता है, उसका फल जौ होता है । जौ पूर्वक उसका फल गेहूँ और बाजरा होता है ? आहाहा !

जौ पूर्वक... पूर्वक **होनेवाले जो जौ, वे जौ ही होते हैं, इसी न्याय से, वे पुद्‌गल ही हैं...** पुद्‌गलपूर्वक होते होने से पुद्‌गल है । आहाहा ! चौदह गुणस्थान, मार्गणास्थान, जीवस्थान, अरे ! राग, दया, दान, व्रत का राग । प्रभु ! यह तो क्या कहते हैं ? भाई ! आहाहा ! अब इस राग से धर्म मनवाना ! प्रभु... प्रभु ! क्या करता है ? भाई ! आहाहा ! भगवन्त ! तुझे यह शोभा नहीं देता । आहाहा ! जो राग पुद्‌गल प्रकृति के कारण हुआ है, इसलिए दया, दान के राग को भी पुद्‌गल कहा है । आहाहा ! कहो, शान्तिभाई ! यह तुम्हारे धूल के पैसे को, जवाहरात को तो पुद्‌गल कहा । आहाहा ! परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि गुणस्थान के भेद पर्याय में पड़ें (वह भी पुद्‌गल है) । प्रभु तो अभेद चैतन्य द्रव्य है न ? उस द्रव्य में ये कहाँ हैं ? आहाहा ! द्रव्य त्रिकाली तो चाहे जिस गुणस्थान में और चाहे जिस गति में हो, द्रव्य तो पूर्णानन्द का नाथ वहाँ पूरा विराजमान है । उसमें घिसावट... आ गयी है न ? नहीं ? दो बोल नहीं आये थे ? हीन, हीन, हीनपना और घिसावट नहीं होती । नहीं आया था ? उसमें आया था, देखो ! हानि और घिसावट नहीं होती । यह ६३-६४ में आया, ६३-६४ । आहाहा ! जो वस्तु है... आहाहा ! चाहे जो मिथ्यात्वादि में हो, नरक-निगोद में हो परन्तु वस्तु तो वस्तु है । उसमें हीनता और घिसावट कुछ नहीं है, वह तो अखण्डानन्द प्रभु है । आहाहा !

पुद्‌गल ही हैं-जीव नहीं... पुद्‌गल ही है । आहाहा । प्रकृति पुद्‌गल है तो उसके कार्यरूप से जो भेद है, वह पुद्‌गल ही है, कहते हैं । आहाहा ! अरे ! लब्धिस्थान भी, कहते हैं पुद्‌गल के निमित्त से यहाँ भेद हो गया न ? यहाँ थोड़ा घटता हुआ ऐसा... आहाहा ! यह भेद पुद्‌गल में डाल देते हैं । गुणस्थान का भेद, वह तो ठीक परन्तु संयम की पर्याय में भेद की प्राप्ति । शरीर जड़, गुणस्थान जड़, राग जड़ परन्तु यह लब्धि का भेद पड़ा है न इतना ? वह जड़ । ऐसी बातें बहुत कठिन, बापू ! आहाहा !

और गुणस्थानों का सदा ही अचेतनत्व तो आगम से सिद्ध होता है,... लो! **मोहजोगभवा** ...आहाहा! आगम से सिद्ध होता है। भगवान ने आगम में ऐसा कहा है। **और गुणस्थानों का सदा ही अचेतनत्व तो आगम से सिद्ध होता है, तथा चैतन्यस्वभाव से व्याप्त जो आत्मा...** क्या कहा अब? भेद है, वे व्याप्त हैं, वे पुद्गल का व्याप्य है। आहाहा! पुद्गल व्यापक है और भेद उनका व्याप्य है। आहाहा! एक ओर ऐसा कहते हैं कि आत्मा व्यापक है और विकारी पर्याय उसका व्याप्य है, अज्ञानदशा में। आहाहा! दूसरी बार कर्ता-कर्म में ऐसा कहते हैं कि कर्म व्यापक है और विकारी पर्याय उसका व्याप्य है। यहाँ यह कहते हैं। आहा! यह पुद्गलकर्म जो व्यापक है, उसका यह भेद, रागादि व्याप्य है।

और गुणस्थानों का सदा ही अचेतनत्व तो आगम से सिद्ध होता है, तथा चैतन्यस्वभाव से व्याप्त जो आत्मा... भगवान तो चैतन्यस्वभाव से व्याप्त है। आहाहा! ऐसे भेद स्वभाव से व्याप्त नहीं। आहाहा! उस भेद का व्याप्यपना, आत्मा व्यापक और भेद व्याप्य-ऐसा नहीं है, कहते हैं। आहाहा! वह तो पुद्गल का व्यापकपना और पुद्गल की पर्याय यह भेद आदि व्याप्य है। रागादि इनका व्याप्य है। आहाहा! भाषा तो सादी है परन्तु भाई! भाव जो है वह है। यह तो तीन लोक के नाथ तीर्थंकर... आहाहा!

एक वार्ता करनेवाला वारोठ हो तो भी गम्भीर वार्ता करे। वारोठ आता है न सबके? पैसा ले। एक बार राणपुर में देखा था। उपाश्रय के साथ है न? वह खत्री आता है न? उसका वारोठ था, परन्तु बड़ा नागर जैसा। सफेद वस्त्र और गृहस्थ व्यक्ति परन्तु खत्री के वारोठरूप से (कहलाता है)। वह उसका क्या कहलाता है वह? लोग साधारण बैठे हों और वह बड़ा राजा जैसा दिखे। उपाश्रय के साथ में। पोपटभाई खत्री नहीं आता? अब तो यहाँ आ गया है न! उसके दो वारोठ है, पटिये पर बैठकर बात करते। आहाहा!

यहाँ भगवान कहते हैं, अभी तो मुनि कहते हैं न? **चैतन्यस्वभाव से व्याप्त जो आत्मा...** आहाहा! इस भेद से व्याप्त आत्मा, आत्मा व्यापक और गुणस्थान के भेद व्याप्य - ऐसा नहीं है। वह पुद्गल व्यापक है और उसका यह व्याप्य है। आहाहा! १०८, १०९, ११० में तो वहाँ लिया है, नहीं? १०८, १०९, ११०, १११, ११२। पुद्गलकर्म व्यापक

है और नये कर्म उनका व्याप्य है। आता है? १०८, १०९, ११०, १११। आहाहा! क्या इनकी शैली! आहाहा! अन्दर चैतन्य भगवान चिन्तामणि रत्न पूर्णानन्द के नाथ को प्रसिद्ध करने के लिये (ऐसी शैली की है)। आहाहा! आत्मख्याति है न? आहाहा!

कहते हैं कि जो कर्म है, वह पूर्व का कर्म व्यापक होकर नये कर्म-रजकण नयी जाति है, दूसरी जाति है, तथापि उसकी जाति के हैं, इसलिये उसे कहते हैं कि व्यापक कर्म और नये कर्म आवें, वे उसका व्याप्य हैं। ठीक! पुराने कर्म हैं, वे व्यापक; नये कर्म उनका व्याप्य। अब पर के साथ व्याप्य-व्यापक तो (कहाँ होगा)? यहाँ तो कहते हैं कि कर्म व्यापक और भेद उसका व्याप्य। भगवान आत्मा व्यापक और चैतन्य उसका व्याप्य परन्तु यह (भेद) व्याप्य इसका नहीं। आहाहा!

चैतन्यस्वभाव से व्याप्त जो आत्मा... देखा? आहाहा! क्रियाकाण्डियों का रस उड़ जाये, इसमें मुश्किल पड़े, बेचारे को दु:ख हो। उसे-बेचारे को कठिन पड़े, इसलिये ऐसा कहे। उसकी दृष्टि में विपरीतता है, उसमें ऐसी बात जँचे नहीं। आहाहा!

चैतन्यस्वभाव से व्याप्त... ये भेद व्याप्य, व्यापक कर्म का है, **उससे भिन्नपने से वे गुणस्थान...** आहाहा! **भेदज्ञानियों के द्वारा...** क्योंकि भेद का लक्ष्य छोड़कर अभेद में जाता है। आहाहा! **भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलभ्यमान हैं, इसलिए भी उनका सदा ही अचेतनत्व सिद्ध होता है।** गुणस्थान आदि भेदज्ञान के अनुभव में नहीं आते, इसलिए उनका अचेतनपना सिद्ध होता है।

विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १३९ गाथा-६८ दिनाङ्क १८-११-१९७८, शनिवार
कार्तिक कृष्ण ४, वीर निर्वाण संवत् २५०४

समयसार, ६८ गाथा, दूसरा पैराग्राफ। **इसी प्रकार राग,...** पहले कहा न? कि गुणस्थान, जो चौदह गुणस्थान हैं, वे पुद्गलपूर्वक होते होने से वे अचेतन / पुद्गल हैं; आत्मा नहीं। आहाहा! जौ पूर्वक, जौ का दृष्टान्त दिया था न? जौ पूर्वक जौ होता है। जौ होने में जौ कारण है और जौ उसका कार्य है। इसी प्रकार आत्मा में जितने गुणस्थान के

भेद पड़ते हैं, वे पुद्गल कर्म के कारण से भेद पड़ते हैं, इसलिए वे पुद्गल ही हैं; वे आत्मा नहीं। आहाहा!

इसी प्रकार राग,... राग **भी पुद्गलकर्मपूर्वक होते होने से,...** तीसरी लाईन लेना। **राग, भी पुद्गलकर्मपूर्वक होते होने से, सदा ही अचेतन होने से...** आहाहा! शुभ और अशुभराग, दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा आदि का राग या हिंसा, झूठ, चोरी का राग, वह राग **पुद्गलकर्मपूर्वक होते होने से...** आहाहा! तीसरी लाईन है। **सदा ही अचेतन होने से...** आहाहा! राग अचेतन है। राग में चैतन्य ज्ञायकस्वरूप का अंश नहीं है। भगवान चैतन्य अनादि-अनन्त नित्यानन्द प्रभु है, उसका अंश राग में नहीं है। चाहे तो व्रत, तप, भक्ति आदि का राग हो, चाहे तो विषय, कमाने आदि का राग हो, वह राग पुद्गलकर्मपूर्वक होते होने से, पुद्गलपूर्वक होते होने से... ऐसा है न? **सदा ही अचेतन होने से...** इस कारण राग सदा ही अचेतन है। आहाहा! यहाँ तो अभी (लोग कहते हैं,) शुभराग से धर्म होता है। अरे रे! यह राग पुद्गलपूर्वक होते होने से पुद्गल-सदा अचेतन है। आहाहा! है? **पुद्गल ही है...** विशेष इतना कहा। पुद्गलपूर्वक होते होने से **सदा ही अचेतन होने से पुद्गल ही हैं, जीव नहीं - ऐसा स्वतः सिद्ध हो गया।** आहाहा! ऐसी बात।

इसी प्रकार **द्वेष,...** द्वेष जो होता है, अरुचि-प्रतिकूलता के प्रति द्वेष। अनुकूलता में राग, प्रतिकूलता में द्वेष। वह द्वेष, पुद्गलपूर्वक होते होने से... आहाहा! सदा ही पुद्गल ही है। इस कारण अचेतन होने से, पुद्गल ही है। आहाहा! ऐसी बात है।

मोह,... मिथ्यात्व अथवा परसन्मुख की सावधानी का भाव। आहाहा! वह भी पुद्गलपूर्वक होता होने से, सदा ही अचेतन होने से, पुद्गल ही है। पुद्गल ही है-ऐसा यहाँ कहा। पुद्गल ही है। कथंचित् आत्मा और कथंचित् (पुद्गल, ऐसा नहीं)। आहाहा! क्योंकि भगवान आत्मा तो चैतन्य अनादि-अनन्त चैतन्यद्रव्य है, वह तो अभेद है, उसमें ये जितने भेद दिखते हैं, वे सब अचेतन हैं। आहाहा! जीव नहीं।

प्रत्यय,... आस्रव। मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय, योग ये चार भाव हैं, वे पुद्गलपूर्वक होते होने से पुद्गल हैं। सदा ही अचेतन होने से पुद्गल हैं। **पुद्गलकर्मपूर्वक होते होने से, सदा ही अचेतन होने से पुद्गल ही हैं...** ऐसे तीनों सिद्ध किये। आहाहा! मिथ्यात्व,

अव्रत, कषाय, और योग ये आस्रव हैं। आहाहा! ये आस्रव **पुद्गलकर्मपूर्वक होते होने से, सदा ही अचेतन होने से...** आहाहा! **पुद्गल ही हैं-जीव नहीं...** यह जीव-अजीव अधिकार है न? आहाहा! आगे कहेंगे, जीव तो अनादि-अनन्त नित्यानन्द प्रभु... आहाहा! स्वसंवेदन-अपनी निर्मलदशा ज्ञात द्वारा जानने में आता है, वेदन में आता है। आहाहा! ऐसी बात है। श्लोक है, फिर श्लोक कहेंगे।

कर्म,... कर्म तो जड़ है, वे तो पुद्गलकर्म हैं। **नोकर्म,...** मन, वाणी, देह, वह भी जड़ है। **वर्ग, वर्गणा,...** वह तो जड़ है। **स्पर्धक, अध्यात्मस्थान,...** आहाहा! अध्यवसाय के प्रकार। आहाहा! रागादि की एकताबुद्धि का जो अध्यवसाय, उसके जो असंख्य स्थान, वे सब पुद्गलपूर्वक होते होने से, सदा ही अचेतन होने से पुद्गल ही हैं। आहाहा! उन्हें जीव नहीं कहते-ऐसा कहते हैं। आहाहा! कहाँ सुना है? यहाँ तो कहते हैं, यात्रा का भाव, भगवान की भक्ति का राग आस्रव... आस्रव है। आहाहा! वह अध्यवसाय, एकत्वबुद्धि, सब पुद्गलपूर्वक होते होने से, सदा ही अचेतन होने से पुद्गल ही हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : सभी शुभ और अशुभभाव पुद्गल है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह फिर आयेगा, अब आयेगा। अभी आयेगा। यहाँ तो अभी अध्यात्मस्थान।

अनुभागस्थान,... यह जड़ में। **योगस्थान,...** कम्पन के योग प्रकार। **बन्धस्थान, उदयस्थान,...** लो! ठीक! जितने उदयस्थान हैं, रागादि के अनेक प्रकार, वे सब पुद्गलकर्म-पूर्वक होते होने से, सदा ही अचेतन होने से, पुद्गल ही है। आहाहा! **मार्गणास्थान,...** ठीक! चौदह। आहाहा! ये मार्गणास्थान पुद्गलपूर्वक होते होने से, पुद्गल सदा अचेतन होने से पुद्गल ही है। आहाहा!

स्थितिबन्धस्थान,... कर्म में स्थिति पड़ती है न? वह तो पुद्गल है ही। **संक्लेश-स्थान,...** यह अशुभयोग, हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग, वासना, काम-क्रोध, आदि के भाव जो अशुभ हैं, वे पुद्गलपूर्वक होते होने से, पुद्गलकर्मपूर्वक होते होने से, सदा ही अचेतन होने से पुद्गल ही हैं। आहाहा! जितना व्यवहार पंच महाव्रत और दया, दान, व्रतादि के भाव हैं, वे सब पुद्गलपूर्वक होते होने से, सदा ही अचेतन होने से अर्थात्

पुद्‌गलपूर्वक हुए हैं, इसलिए सदा ही अचेतन हैं, ऐसा कहा। अर्थात् उनमें चेतन का भाव नहीं, इसलिए पुद्‌गल ही है। आहाहा! आहाहा! शान्ति से क्या वस्तु है, वह समझते नहीं और झगड़ा... झगड़ा... झगड़ा... व्यवहारनय से यह संक्लेशपरिणाम उसमें है। निश्चय से स्वभावदृष्टि से देखें तो वे पुद्‌गलपूर्वक होते होने से, सदा ही अचेतन होने से, पुद्‌गल ही हैं; जीव नहीं। यह अशुभभाव जीव नहीं। आहाहा! ऐसी बात है।

मुमुक्षु : जीव में से निकल जाते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसकी चीज़ ही कहाँ है वह? इसकी चीज़ हो तो वस्तु में शाश्वत् रहनी चाहिए। आहाहा! यह तो आ गया न? प्रत्येक अवस्था में हो और किसी अवस्था में न हो वह इसकी चीज़। यह तो निर्मल अवस्था (में) यह चीज़ रहती नहीं, यह चीज़ इसकी नहीं।

अब यहाँ तो यह लेना है, **विशुद्धिस्थान,...** राग की मन्दता के दया के, दान के, व्रत के, भक्ति के, पूजा के, नामस्मरण के, वाँचन के... आहाहा! ऐसे जो शुभभाव-विशुद्धिस्थान-शुभ के असंख्य प्रकार-शुभराग के असंख्य प्रकार, पुद्‌गलकर्मपूर्वक होते होने से, अकेला पुद्‌गल नहीं, यहाँ कर्म लेना है। पुद्‌गलकर्मपूर्वक, ऐसा। **पुद्‌गलकर्मपूर्वक होते होने से, सदा ही अचेतन होने से... क्योंकि पुद्‌गलकर्मपूर्वक होते होने से, सदा ही अचेतन होने से पुद्‌गल ही हैं...** आहाहा! कहो, पण्डितजी! यह पंच महाव्रत के परिणाम पुद्‌गल हैं-ऐसा कहते हैं। आहाहा!

शास्त्र का ज्ञान, वह शब्दज्ञान, वह पुद्‌गल है। आहाहा! नवतत्त्व की श्रद्धारूप राग पुद्‌गल है। छह काय की दया और पंच महाव्रत का भाव (पुद्‌गल)। आहाहा! चैतन्यपूर्वक चैतन्य के स्वभावपूर्वक वे होते हैं? भगवान चैतन्यस्वभाव तो निर्मल शुद्ध आनन्द है। उस चैतन्यपूर्वक यह विकार होता है? (नहीं)। आहाहा! इस कारण से शुभभाव... आहाहा! वे सब **पुद्‌गलकर्मपूर्वक होते होने से,...** होते हुए, ऐसा। **सदा ही अचेतन होने से, पुद्‌गल ही है...** आहाहा! लोगों को ऐसी बात कठिन पड़ती है।

मुमुक्षु : हमें करना क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह करना। त्रिकाली द्रव्य पर दृष्टि करना-ऐसा करना, यह

कहते हैं। चैतन्यद्रव्य भगवान जलहल ज्योति... अभी आयेगा। प्रकाश की मूर्ति अन्दर प्रभु त्रिकाल है। आहाहा! जिसमें पर्याय के भेद नहीं। आहाहा! वहाँ दृष्टि देना, उसने आत्मा जाना है और माना है, ऐसा कहने में आता है - ऐसी बात है। आहाहा! (यह) विशुद्धिस्थान (हुए)।

संयमलब्धिस्थान,... ठीक! रंग, राग और भेद। भाई ने तीन नाम दिये हैं। ये तीनों इसमें हैं। आहाहा! रंग, राग और भेद भगवान आत्मा में नहीं; निराला है। इनसे प्रभु आत्मा अन्दर निराला है। आहाहा! व्यवहारनय से पर्याय में इसके हैं। पर्यायनय से पर्याय में इसके हैं परन्तु द्रव्यदृष्टि के स्वभाव की अपेक्षा से, ये स्वभावपूर्वक नहीं हुए। स्वभाव कारण और शुभ, लब्धिस्थान आदि हुए, ऐसा नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? भगवान आत्मा पूर्णानन्द प्रभु, उस आनन्दपूर्वक संयमलब्धिस्थान नहीं। कारण यह नहीं, ऐसा कहते हैं। यह तो संयमलब्धिस्थान (कहकर) ठेठ ले गये।

पुद्गलकर्मपूर्वक होते होने से,... आहाहा! अभेद में भेद नहीं, यह बताना है। पर्याय में जो कोई भेद दिखते हैं... आहाहा! वह व्यवहारनय का विषय है। परमार्थदृष्टि से वे पुद्गल के हैं। आहाहा! है? ये लब्धिस्थान भी, ऐसा। इसलिए पूर्व में जो गुणस्थान कहे, वैसे ये स्थान भी, रागादि सब **भी पुद्गलकर्मपूर्वक होते होने से, सदा ही अचेतन होने से पुद्गल ही हैं-जीव नहीं, ऐसा स्वतः सिद्ध हो गया। इससे यह सिद्ध हुआ कि रागादिभाव जीव नहीं हैं।** राग—दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के भाव, वे जीवस्वरूप नहीं। आहाहा! पर्याय में हैं, परन्तु जीवस्वरूप जो त्रिकाली है, उसके ये नहीं। आहाहा! आहाहा! क्योंकि भगवान चैतन्यस्वभाव आत्मा, उस चैतन्यस्वभावपूर्वक भेद पड़े हैं? आहाहा! यदि चैतन्यस्वभावपूर्वक भेद पड़े तो भेद सदा ही रहे। आहाहा! सर्वत्र लोगों को अभी बस, शुभभाव करते-करते संयम व्रत, तप, प्रतिमा लेते-लेते, करते-करते निश्चय शुद्ध हो जायेगा (ऐसी मान्यता है)। आहाहा! यहाँ तो कहते हैं कि वह करते-करते पुद्गल हो जायेगा। कर्म बन्धन होगा अर्थात् पुद्गल हो जायेगा। आहाहा! यह सादड़ी-बादड़ी में कहीं नहीं है। सादड़ी में सादड़ी है मुम्बई की। आहाहा! यह तो सर्वत्र.. ओहोहो!

यहाँ तो परमात्मस्वरूप चैतन्य अनादि-अनन्त नित्यानन्द चैतन्यस्वभाव... आहाहा!

और वह स्वसंवेद्य स्वयं से ज्ञात होता है। ये रागादि पुद्गल हैं, इनसे ज्ञात नहीं होता। आहाहा! बहुत स्पष्ट! बहुत स्पष्ट!! ओहोहो! सूर्य के चमत्कार जैसी स्पष्ट बात की है, भगवान! तू तो चैतन्यस्वभावी वस्तु है न, प्रभु! उस चैतन्यस्वभावपूर्वक क्या होता है? चैतन्यस्वभावपूर्वक तो निर्मलदशा होती है, भेद नहीं। आहाहा! यह अन्दर कहेंगे।

भावार्थ - शुद्धद्रव्यार्थिकनय की दृष्टि में... क्या कहते हैं? शुद्ध द्रव्य अर्थात् त्रिकाली वस्तु, उसके प्रयोजन के नय से... आहाहा! भगवान आत्मा शुद्ध त्रिकाल, उसके द्रव्य अर्थात् वस्तु, उसके अर्थ अर्थात् प्रयोजन की दृष्टि से चैतन्य अभेद है। वस्तु अभेद है। राग भी नहीं, दया, दान भी नहीं, लब्धिस्थान आदि नहीं। आहाहा! शुद्धद्रव्यार्थिक-शुद्ध द्रव्य के प्रयोजन की दृष्टि से देखो तो वह चैतन्य तो अभेद है। आहाहा! चैतन्य अभेद और भेद... यह किस प्रकार का उपदेश? एकेन्द्रिया, द्वीइन्द्रिया, त्रीइन्द्रिया, चौइन्द्रिया... नहीं? सपाणी! इच्छामि पडिक्कमणां... तस्सुतरी करणेन...

यहाँ तो परमात्मा त्रिलोकनाथ जिनेन्द्रदेव ने कहा, वह सन्तों ने जगत में प्रसिद्ध / आत्मख्याति प्रसिद्ध करते हैं। आहाहा! प्रभु! तू तो शुद्ध द्रव्य की दृष्टि से अभेद है न! आहाहा! और वहाँ दृष्टि देने योग्य है न! आहाहा! यह करना यह। आहाहा! आहाहा! **शुद्धद्रव्यार्थिक नय की दृष्टि में...** दृष्टि में। **चैतन्य अभेद है और उसके परिणाम भी स्वाभाविक शुद्ध ज्ञान-दर्शन हैं।** देखो! वे (पूर्वकथित) भेद हैं वे नहीं। इसके परिणाम एकदम अभेद ज्ञान-दर्शन-चारित्र। शुद्धस्वभाव, इसके परिणाम ज्ञातादृष्टा के परिणाम, आनन्द के परिणाम हों। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

उसके परिणाम... किसके? जो चैतन्य अभेद है, वस्तु अभेद है, उसके परिणाम ज्ञान-दर्शन आदि परिणाम हैं। आहाहा! यह दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम जीव के नहीं। चैतन्यस्वभाव का वह परिणमन नहीं। आहाहा! ऐसी बातें, अरे! निवृत्ति नहीं मिलती। एक तो पूरे दिन धन्धा और पाप में पड़ा, उसमें धर्म की बात सुनने जाये, वहाँ मिले सब पाप का। आहाहा! व्रत करो और अपवास करो, भक्ति करो और यात्रा करो... यह सब तो राग है और राग है, वह पुद्गल का परिणाम है, ऐसा यहाँ कहा है और उसे (लोग) धर्म मानते हैं।

श्रोता : ...पुद्गल हो गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह पुद्गल ही है। आहाहा! भगवान आत्मा तो चैतन्यस्वभाव, जागृत स्वभाव... आहाहा! जागती ज्योतस्वरूप प्रभु अभेद है। शुद्ध द्रव्य की दृष्टि से तो वह अभेद है और उसके परिणाम हैं, वे जानन-देखन, आनन्द आदि परिणाम हैं। आहाहा! वे संयमलब्धिस्थान तो भेद थे। यह तो अभेद के अवलम्बन से जो ज्ञान-दर्शन हों, वे उसके परिणाम हैं। आहाहा!

उसके परिणाम भी स्वाभाविक शुद्ध ज्ञान-दर्शन हैं। देखो! **परनिमित्त से होनेवाले चैतन्य के विकार...** आहाहा! आत्मा की पर्याय में राग, द्वेष, दया, दान, काम, क्रोध, विकल्प, जो राग दिखता है, वह चैतन्य के विकार हैं। चैतन्यस्वभाव के भाव नहीं, चैतन्यस्वभाव के भाव नहीं, विकार हैं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! भगवान आत्मा चैतन्यस्वभाव के नूर का पूर, तेज है, उसके परिणाम तो ज्ञान-दर्शन के परिणाम होते हैं। आहाहा! समझ में आया? आहा!

परनिमित्त से होनेवाले चैतन्य के विकार,... अब क्या कहते हैं? चैतन्यस्वभाव से जो परिणाम होते हैं, वे तो ज्ञान-दर्शन और आनन्द। अब उसकी पर्याय में परनिमित्त से जो विकार होता है... क्योंकि विकार करने-कराने का कोई गुण नहीं, कोई स्वभाव नहीं। तब वह विकृत पर्याय आत्मा में होती है, वह परनिमित्त से होती है। निमित्त का अर्थ, होता है अपनी पर्याय में, परन्तु निमित्त के लक्ष्य से, भेद से होता है। आहाहा! इस कारण से... आहाहा! **यद्यपि चैतन्य जैसे दिखाई देते हैं...** आहाहा! ये शुभ और अशुभभाव, दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का भाव; हिंसा, झूठ, चोरी, विषय-भोग, काम का भाव, वह पर्याय में चैतन्य का विकार है। वह चैतन्य के स्वभाव के परिणाम नहीं। चैतन्यस्वभाव नहीं और चैतन्यस्वभाव के वे परिणाम नहीं, तो वह विकृत अवस्था जो होती है, वह कर्म के निमित्त से विकृत अवस्था जो है, वह चैतन्य जैसी दिखती है। मानो वह चैतन्य है, चैतन्य की पर्याय में है, ऐसी दिखती है। **तथापि, चैतन्य की सर्व अवस्थाओं में व्यापक न होने से...** भगवान चैतन्यस्वरूप प्रभु की प्रत्येक अनादि-अनन्त अवस्थाओं में वह रहनेवाला नहीं है। विकार तो, अनादि-अनन्त जो स्वभाव है, उसकी पर्याय में वह अनादि-अनन्त

रहनेवाला नहीं है। आहाहा! समझ में आया? ऐसा उपदेश अब। आहा!

चैतन्य की सर्व अवस्थाओं में व्यापक... अर्थात् रहते नहीं, इसलिए **चैतन्यशून्य हैं...** आहाहा! ये पुण्य और पाप, शुभ और अशुभभाव, गुणस्थान आदि सब चैतन्य से शून्य है, उनमें चैतन्य का अभाव है। अभाव है, इसलिये कर्मपूर्वक होते होने से उन्हें पुद्गल में डाल दिया है। आहाहा! ऐसा वीतरागधर्म! पहले सम्यग्दर्शन और उसका विषय क्या है, यह पहली समझने की आवश्यकता है, बाकी सब तो ठीक। आहाहा!

सम्यग्दर्शन-प्रथम धर्म की शुरुआत, उसका विषय चैतन्यस्वभावी अभेद वस्तु उसका विषय है। उसे शुद्ध द्रव्यार्थिकनय का विषय कहो या सम्यग्दर्शन का विषय कहो या पूर्ण स्वरूप भगवान, उसके परिणाम जो सम्यग्दर्शन आदि हैं, वे उसके परिणाम होने से वे जीव हैं। रागादि और भेदादि स्वभावपूर्वक नहीं होते होने से, निमित्तपूर्वक होते होने से, पुद्गलकर्म के निमित्तपूर्वक होते होने से, सदा ही अचेतन होने से, पुद्गल हैं। आहाहा! ऐसी बात है, लो! यहाँ तो दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का भाव किया तो धर्म हो गया (ऐसा लोग मानते हैं)। मूढ़ है, वह तो मिथ्यादृष्टि है, उसे जैनधर्म की खबर नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : खबर भी नहीं और गन्ध भी नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : बन्ध है, पक्का बँधता है। पता नहीं, पता नहीं। उसे पता नहीं, इसलिए कहीं सत्य हो जायेगा? आहाहा! देखो न पण्डित जयचन्दजी ने कितना स्पष्टीकरण किया है?

परनिमित्त से होनेवाले चैतन्य के विकार,... क्योंकि चैतन्य के स्वभाव से वे विकार नहीं होते। जो कुछ गुणस्थान, पुण्य-पाप के भाव होते हैं, वे चैतन्यस्वभावपूर्वक नहीं होते। यदि चैतन्यस्वभावपूर्वक हों, वह तो निर्मल आनन्द, ज्ञान-दर्शन के परिणाम होते हैं। आहाहा! और वे चैतन्यस्वभावपूर्वक नहीं होते होने से, पुद्गलकर्मपूर्वक होते होने से उन्हें अचेतन कहा गया है। आहाहा! अब अचेतन जो राग और दया, दान के, प्रतिमा के, व्रत के परिणाम (होते हैं,) उनसे आत्मा को धर्म होता है, यह तीन काल में नहीं है। आहाहा! समझ में आया? पुद्गल से जीव को लाभ होता है, (यह तो) ऐसा हुआ। जड़

से चैतन्य की जागृति में लाभ हुआ – ऐसा हुआ, परन्तु ऐसा नहीं है। आहाहा! बहुत अन्तर है।

जड़ है... ये पुण्य और पाप के, दया, दान, व्रत, भक्ति के भाव, चैतन्यस्वभाव से शून्य होने से और पुद्गलकर्म के कारण से इसकी विकृत अवस्था है परन्तु उसके कारण होती होने से–चैतन्यस्वभाव से राग शून्य है, शून्य होने के कारण वह जड़ है। चैतन्यस्वभाव से दया, दान, व्रत, भक्ति के भाव, वह राग, चैतन्यस्वभाव से शून्य होने से जड़ है। अरे... अरे! ऐसी बात। शान्तिभाई! यह श्वास निकल जाये ऐसा है यह सब। जवाहरात का धन्धा, स्त्री, पुत्र को सम्हालने का भाव, अकेला पाप, वह चैतन्यस्वभाव से उत्पन्न नहीं हुआ। आहाहा! वे पुद्गलकर्मपूर्वक होते होने से, अचेतन होने से पुद्गल और जड़ है। आहाहा!

और आगम में भी उन्हें अचेतन कहा है। देखा? **शुद्धद्रव्यार्थिक नय की दृष्टि में...** यह विकार है तो चैतन्य की पर्याय में, तथापि आगम में उस विकार को अचेतन कहा है। आहाहा! दो बातें हुई। **भेदज्ञानी भी उन्हें चैतन्य से भिन्नरूप अनुभव करते हैं,...** तीसरी बात। आहाहा! पहले तो न्याय से बात सिद्ध की, कि भगवान आत्मा जो है, वह तो चैतन्य निर्मलानन्द अभेद है। उसमें जो पर्याय में विकार होता है, वह चैतन्यस्वभावपूर्वक नहीं होता। चैतन्य में कहाँ विकार है तो उस पूर्वक हो? इसलिए यह पुण्य और पाप, दया, दान, रागादि के भाव, ये सब कर्मपूर्वक होते होने से चैतन्य का अभाव होने से, पुद्गल और जड़ कहे गये हैं। आहाहा! और आगम में भी ऐसा कहा है। पहले युक्ति से सिद्ध किया और आगम में भी ऐसा कहा है। दो (बातें)।

भेदज्ञानी भी... आहाहा! भेद का आश्रय न लेकर, अभेद का आश्रय लेकर अनुभव करते हैं, उसमें भेद और राग नहीं आते। आहाहा! आगम, युक्ति और भेदज्ञान तीनों से यह सिद्ध है–ऐसा कहते हैं। आहाहा! अब ऐसी बातें लोगों को एकान्त लगती है। यह कौन कहते हैं? यह तो भगवान कहते हैं आगम कहते हैं, भगवान कहते हैं और... आहाहा! भेदज्ञान करनेयोग्य है, वे भी ऐसा देखते हैं कि उसमें भेद नहीं आते। राग से, भेद से भिन्न अभेद का अनुभव करने से... आहाहा! उसमें भेद और राग नहीं आते, इसलिए वह जड़ और अचेतन है। आहाहा! अरे! आहाहा!

हमारे सम्प्रदाय में गुरु थे, वे तो बस इतना कहते, हजारों सभा-हजारों लोग (आते)। अहिंसा-परजीव की दया पालना, पर को नहीं मारना, यह सिद्धान्त का सार है और ऐसा जिसने जाना, उसने सब जाना - ऐसा कहते बेचारे! आहाहा! क्रियाकाण्ड में बहुत प्रसिद्ध थे। काठियावाड़ में हीरो कहलाते परन्तु वस्तु का (पता नहीं) आहाहा! अरे रे! सुना नहीं, यह वस्तु नहीं थी। आहाहा!

भगवान! एक बार सुन तो सही, प्रभु! तेरा स्वभाव क्या है? प्रभु! त्रिकाली शाश्वत् स्वभाव क्या है? वह तो चैतन्यस्वभावी कायम है। चैतन्यस्वभावी कायम है, उस स्वभावपूर्वक विकार होता है? स्वभावपूर्वक तो स्वभाव की निर्मल पर्याय होती है। आहाहा! न्याय से इसे कुछ समझना पड़ेगा न? जिन्दगी चली जा रही है। आहाहा! एक के बाद एक देखो न! लोग चले जाते हैं। यह मर गया, यह मर गया। मरे कौन? इस भव में से दूसरे भव में गया। आहाहा! ऐसा मनुष्यभव, उसमें तीर्थंकर तीन लोक के नाथ जिनेश्वरदेव, आत्मा को कैसा कहते हैं, यह समझ में नहीं आये... आहाहा! वह जिन्दगी निष्फल है। पशु को मनुष्यपना मिला नहीं और इसे मिला परन्तु किया नहीं; (इस प्रकार) निष्फल है। आहाहा!

तीन बात ली है। चैतन्यस्वभाव असली शाश्वत् ज्ञान-आनन्द-शान्त वीतरागस्वभाव, उस स्वभावपूर्वक विकार नहीं होता, वह स्वभाव तो शुद्धनिर्मल है। आहाहा! तो उस पूर्वक विकार नहीं होता। पर्याय में विकार तो है सही, पर्याय में विकार है तो सही, तो वह क्या? दया, दान, व्रत, काम, क्रोध के भाव तो हैं। तो कहते हैं **पुद्गल कर्मपूर्वक,** पुद्गल से नहीं; पुद्गल कर्मपूर्वक होने से वे शुभ और अशुभभाव तथा भेदभाव, वे सब पुद्गल कर्मपूर्वक होते होने से उनमें चैतन्य का तो अभाव है; इसलिए उन्हें पुद्गल कहा। आहाहा! और चैतन्य की पर्याय में से निकल जाते हैं। यदि इसका भाव हो तो शाश्वत् रहे। आहाहा! सिद्ध में तो वह है नहीं। इसका हो तब तो सदा रहे। आहाहा! पर्याय में त्रिकाल द्रव्यस्वभाव की दृष्टि से पर्याय में विकृत जो अवस्था है, वह स्वभावपूर्वक नहीं होती होने से, कर्मपूर्वक होने से सदा अचेतन कही गयी है; इसलिए वह जड़ है। आहाहा! लॉजिक से-न्याय से, आगम से और अनुभव से तीन प्रकार से बात करते हैं। आहाहा!

भेदज्ञानी धर्मी जीव आत्मा का अनुभव करता है, तो उसमें राग और भेद नहीं

आता। आहाहा! इसलिए राग और भेद आत्मा के नहीं हैं। आत्मा के हों तो आत्मा के अनुभव में वे भी आना चाहिए। आहाहा! ऐसी बात है। अनजाने व्यक्ति को तो ऐसा लगे यह क्या है? ऐसा धर्म? यह सब व्रत, तप, और अपवास करना और भक्ति करना, यात्रा करना, भगवान के दर्शन करना, भगवान की मूर्ति स्थापित करना, रथयात्रा निकालना... अरे! सुन न भाई! यह क्रिया तो पर की है, तेरा भाव जो होता है तो वह राग है और वह राग स्वभावपूर्वक का-स्वभाव का कार्य नहीं है। आहाहा! वह तो पुद्गलपूर्वक होता होने से पुद्गल का कार्य है। आहाहा! गजब बात करते हैं।

अरे! ऐसा सुनने को मिले नहीं, उसे कहाँ जाना? भव को बदलकर कहीं जायेगा। आहाहा! जिसने आत्मा अभेद, पुद्गलपूर्वक के विकार से रहित (अनुभव नहीं किया) आहाहा! ऐसे स्वभाव की दृष्टि और ज्ञान नहीं किया, वह मरकर भटक जायेगा। निगोद और नरक आदि में जायेगा। आहाहा! आहाहा! एक-एक गाथा कितने लॉजिक, न्याय, आगम और अनुभवी को सौंप (दिया है)। यह आया है न उसमें? ४९ गाथा में नहीं? भेदज्ञानी को सर्वस्व सौंप दिया है। आहाहा! है न? अर्थात् क्या?

जो आत्मा अन्दर आनन्दस्वरूप प्रभु है, उसका जो अनुभव करता है तो उस भेदज्ञानी को राग और भेद (अनुभव में) नहीं आते। तब तो सर्वस्व सौंप दिया कि तेरी चीज़ में ये नहीं। अनुभव में आता है तो वहाँ ज्ञान, आनन्द और शान्ति आते हैं; वहाँ राग और भेद अनुभव में नहीं आते। इसलिए भेदज्ञानी को सर्व सौंप दिया है। आहाहा! यह तो हा... हो... हा... हो... ऐसी बड़ी यात्रायें हों और उनमें हजारों लोग एकत्रित हों। यहाँ शत्रुंजय कितने एकत्रित हुए होंगे? वहाँ कहाँ धर्म था? वह तो सब शुभराग है। वह राग है, वह आत्मा का स्वभाव नहीं। आहाहा! वह तो पुद्गल का कार्य है। कठिन पड़ता है बापू!

प्रश्न - यदि वे चेतन नहीं हैं तो क्या हैं? वे पुद्गल हैं या कुछ और? प्रश्न - चेतन नहीं हैं। पुण्य, पाप, दया, दान, व्रत, काम, क्रोधभाव, वे चेतन आप नहीं कहते हैं, प्रभु! तो क्या है? वे पुद्गल हैं या अन्य कोई?

उत्तर - वे पुद्गलकर्मपूर्वक होते हैं, इसलिए वे निश्चय से पुद्गल ही हैं.... आहाहा! व्यवहार से पर्याय में हैं तो कहने में आते हैं, परन्तु पर्याय में रहते हैं, वे कायम

नहीं रहते। आहाहा! आहाहा! द्रव्य और गुण में तो नहीं परन्तु पर्याय में भी कायम नहीं रहते। आहाहा! आहाहा! **पुद्गलकर्मपूर्वक होते हैं, इसलिए वे निश्चय से पुद्गल ही हैं क्योंकि कारण जैसा ही कार्य होता है।** यह पुद्गल कारण है और रागादि कार्य है तो इसके (पुद्गल के) कारण का यह कार्य है। आहाहा! वापस कोई ऐसा लगा दे कि देखो! कर्म के कारण राग होता है। यहाँ ऐसा नहीं, यहाँ तो जीवद्रव्य में-पर्याय में विकार होता है तो इसे स्वयं के कारण से, परन्तु त्रिकाली स्वभाव की दृष्टि में वह नहीं, इस कारण पुद्गलकर्मपूर्वक होते होने से विकार को पुद्गल में डाल दिया, परन्तु कोई ऐसा मान ले कि कर्म के कारण हमें राग होता है, कर्म के कारण राग होता है तो ऐसा नहीं है। आहाहा! हमें तो अन्दर पुण्य-पाप के भाव होते हैं, वे कर्म के कारण होते हैं, ऐसा नहीं। होते हैं तो तेरे अपराध से, परन्तु अपराध कोई स्वभाव का कार्य नहीं है। समझ में आया?

भगवान निरपराधी भगवानस्वरूप प्रभु अनाकुल आनन्द और अनाकुल ज्ञान की मूर्ति प्रभु का यह अपराध कार्य नहीं है। निरपराधी भगवान का कार्य यह अपराध नहीं है। आहाहा! इसलिए दृष्टि के विषय में-अभेद में वह नहीं है, क्योंकि दृष्टि का विषय तो अभेद चैतन्यस्वभाव है। सम्यग्दर्शन का विषय / ध्येय तो त्रिकाल अभेद है, तो अभेद की दृष्टि में वह स्वभाव है उसका पर्याय में भेद होता है परन्तु अभेद के कारण से, स्वभाव के अभेद के कारण से राग और भेद होता है - ऐसा नहीं है। इसकी पर्याय में होते होने पर भी... आहाहा! गजब है न! आहाहा!

पुद्गल ही है... आहाहा! **निश्चय से पुद्गल ही है।** देखा? **क्योंकि कारण जैसा ही कार्य होता है।** आहाहा! जौ में से जौ होते हैं। जौ कारण और गेहूँ, बाजरा कार्य-ऐसा होता है? जौ कारण और बाहर में बाजरा उग गया! बाजरा कहते हैं न? क्या कहते हैं? बाजरा! जौपूर्वक जौ (होते हैं)। जौ कारण और उसका कार्य भी जौ। इसी प्रकार पुद्गलकर्मपूर्वक विकार होता है तो उस पुद्गलकर्मपूर्वक होते होने से पुद्गल ही है। आहाहा! परन्तु इस कारण से, हों! ऐसा मान ले कि विकार अपने से नहीं होता, पर से होता है, वह बात यहाँ नहीं है। विकार की उत्पत्ति तो अपनी पर्याय में वह जन्मक्षण है। विकार की उत्पत्ति का काल है तो अपने अपराध से उत्पन्न होता है परन्तु यहाँ तो स्वभाव की दृष्टि

में नहीं अथवा स्वभाव का कार्य नहीं, स्वभाव नहीं, स्वभाव का कार्य नहीं। आहाहा!

इस कारण से पुद्गल, कारण है और विकार, कार्य है—ऐसा कहकर भेद कराया है। समझ में आया? आहाहा! अरे रे! यह कहाँ है? क्या कहलाता है तुम्हारे? बड़ा पर्वत? यह यात्रा का... शिखरजी! 'एक बार वंदे जो कोई...' आहाहा! सम्मेदशिखर, परन्तु वह क्या है? उसे वन्दन करने का भाव तो शुभभाव है, वह कोई धर्म नहीं, क्योंकि वह तो परलक्ष्यी भाव है। आहाहा! और वह शुभभाव कोई भगवान आत्मा त्रिकाली स्वभाव चैतन्यस्वरूप भगवान, उस ध्रुवस्वभावपूर्वक वह विकार, राग हुआ है? बस! तब वह ध्रुवस्वभावपूर्वक नहीं हुआ तो पर्याय में कर्मपूर्वक विकार हुआ है, इस अपेक्षा से (पुद्गल) कहने में आया है। है तो इसका अपराध, इसके स्वतन्त्र उपादान से होता है परन्तु अब डालना किसमें, यह बात है। आहाहा! कर्म कराता है, इसलिए विकार होता है, यह प्रश्न है नहीं, परन्तु यहाँ विकार है, वह त्रिकाली ज्ञानानन्द सहजानन्द प्रभु का वह कार्य नहीं। उसका कार्य तो आनन्द, शान्ति और ज्ञान-दर्शन का कार्य आना चाहिए। इसलिए त्रिकाल ज्ञानानन्दस्वभाव का वह कार्य नहीं तो पर्याय में तेरे अपराध से होता है, तथापि वह कर्मपूर्वक होता है; इसलिए उसे कर्म में डाल दिया। समझ में आया? आहाहा! अरे रे! लोगों को कहाँ पहुँचना? यहाँ तो अभी जीव किसे कहना, यह बात है।

अन्तःतत्त्व भगवान आत्मा... आहाहा! जो परमात्मस्वरूप है, वह अन्तः तत्त्व जो परमात्मस्वरूप जो भगवान अभी है, हों! आत्मा, तो परमात्मस्वरूप का कार्य राग है? है तो उसकी पर्याय में उसके अपराध से होता है। आहाहा! परन्तु वह परमात्मस्वभाव का कार्य नहीं है। इसलिए अध्धर से पर्याय में उत्पन्न हुआ, द्रव्य-गुण के आश्रय बिना अध्धर से उत्पन्न हुआ; इसलिए उसे पुद्गल का कार्य गिनने में आया है। ऊपर-ऊपर (हुआ है)। आहाहा! यद्यपि निर्मल भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यघन, उसके निर्मल परिणाम भी ऊपर-ऊपर रहते हैं, वे कहीं अन्दर प्रवेश नहीं करते। समझ में आया? परन्तु ये जो परिणाम हैं, वे ऊपर-ऊपर से कर्म के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध से उत्पन्न हुए हैं, स्वभाव से उत्पन्न नहीं हुए। आहाहा! ऐसी बात सुनने को मिलती नहीं, वह कहाँ जाये? अरे! देह चली जाती है, एक के बाद एक। आहाहा! ये संस्कार अन्दर न पड़े तो कहाँ जायेगा? भाई! आहाहा!

बहुत सरस! जीव-अजीव अधिकार यहाँ पूरा होता है न? जीव-अजीव अधिकार यहाँ ६८ (गाथा में) पूरा होता है। अन्तिम गाथा है न! आहाहा! छेल्ली, समझे? अन्तिम।

इस प्रकार यह सिद्ध किया कि पुद्गलकर्म के उदय के निमित्त से होनेवाले... यहाँ वे प्रश्न उठाते हैं, देखो! निमित्त से हुए या नहीं? किस अपेक्षा से बात है? निमित्त-पुद्गल है, उसके आश्रय से उत्पन्न हुए हैं। हुए हैं तो अपनी पर्याय में अपने कारण से, परन्तु निमित्त के आश्रय से हुए तो स्वभाव का कार्य नहीं, तो निमित्त का कार्य है-ऐसा कहा गया है। आहाहा! विवाद... विवाद... विवाद... झगड़ा... झगड़ा... उठे। देखो! है? **पुद्गलकर्म के उदय के निमित्त से होनेवाले चैतन्य के विकार...** लो! यहाँ स्वभाव का आश्रय नहीं तो इस पुद्गल का आश्रय कहने में आया है। ऐसी बातें अब। **इस प्रकार यह सिद्ध किया कि पुद्गलकर्म के उदय के निमित्त से...** यहाँ यह विकार है तो चैतन्य की पर्याय में, परन्तु यह स्वभाव का कार्य नहीं है, इस अपेक्षा से निमित्त के लक्ष्य से, आश्रय से हुए हैं तो ये निमित्त के हैं। **चैतन्य के विकार भी जीव नहीं,...** ऐसा। जड़ तो जड़ है ही, कर्म जड़ है, शरीर जड़ है, वह तो ठीक परन्तु यह तो पुद्गल कर्म के (निमित्त से) चिद्विकार हुए वे पुद्गल हैं, इस कारण से। विकृत अवस्था निमित्त के आधीन हुई होने से, पर्याय में त्रिकाल स्वभाव का आश्रय नहीं, इस कारण से पर के आश्रय से हुए तो पर से हुए, इस प्रकार पर के कहे गये हैं। आहाहा! भारी विवाद!

कहते हैं, पुद्गलकर्म तो जड़ है परन्तु उसके निमित्त से होनेवाले चैतन्य विकार भी जीव नहीं। ऐसा। आहाहा! कर्म जो पुद्गल हैं, वे तो पुद्गल हैं ही, परन्तु उनके निमित्त से यहाँ पर्याय में (विकार हुआ), द्रव्य-गुण में तो है नहीं, पर्याय में विकार अध्धर से उत्पन्न हुआ.. आहाहा! तो वह पुद्गल ही है। आहाहा! इस अपेक्षा से समझना चाहिए। उसमें ऐसी अपेक्षा लगा दे कि देखो! उपादान से होता है, निमित्त से नहीं होता और यहाँ तो कहते हैं कि निमित्त से होता है। क्या अपेक्षा है? प्रभु! उपादान से ही होता है, जीव में विकार अवस्था उपादान से होती है। पर्याय का उपादान, हों! द्रव्य-गुण का उपादान नहीं। आहाहा! पर्याय के उपादान में स्वयं से विकारभाव कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान से षट्कारक से पर्याय में विकार होता है, परन्तु वह विकार स्वभाव का कार्य नहीं और कायम

रहनेवाली चीज़ नहीं, इसलिए पुद्‌गलकर्मपूर्वक होते होने से उसका कार्य है, इसलिए उन्हें पुद्‌गल कहने में आया है। इतनी सब बातें! आहाहा!

लोग मध्यस्थता से सुने नहीं, विचारे नहीं, पढ़े नहीं और अपनी दृष्टि रखकर पढ़े। शास्त्र को क्या कहना है, ऐसी अपनी दृष्टि न करे, अपनी दृष्टि से शास्त्र का विचार करे। शास्त्र का हल अपनी दृष्टि से करे परन्तु शास्त्र की दृष्टि क्या है, इस दृष्टि से अपनी दृष्टि नहीं करते। पण्डितजी! आहाहा!

यही प्रश्न उठा था न? २०१३ के साल, २२ वर्ष हुए। वर्णीजी के साथ में। विकार है, वह अपनी पर्याय में अपने षट्कारक से उत्पन्न होता है, परकारक से निरपेक्ष है, देखो! ६२ गाथा। सब बैठे थे। हिम्मतभाई, रामजीभाई, फूलचन्दजी, कैलाशचन्दजी सब थे। तुम थे? नहीं? आहाहा! कहा, देखो! यह ६२ गाथा तो ऐसा कहती है कि आत्मा के द्रव्य-गुण में तो विकार नहीं परन्तु पर्याय में जो विकार है, वह विकारी पर्याय षट्कारक से स्वयं से उत्पन्न होती है, द्रव्य-गुण से नहीं, परकारक-निमित्तकारक से नहीं। आहाहा! अरे! विकृत पर्याय, द्रव्य-गुण के कारण नहीं हुई, क्योंकि द्रव्य-गुण में कहाँ विकार है? आहाहा! और पर से कहाँ हुई है? पर को तो स्पर्श ही नहीं करती। पर जो निमित्त है, उसका तो यहाँ विकार में अभाव है और विकार है, उसका कर्म पर्याय में अभाव है। आहाहा! जब उसकी पर्याय ज्ञेय... यह ज्ञेय अधिकार है, यहाँ पंचास्तिकाय अधिकार है। पंचास्तिकाय, जीवास्तिकाय सिद्ध करना है। जीवास्तिकाय में जो पुण्य-पाप विकार होता है, वह जीवास्तिकाय का है। पर्याय का विकार पर्याय में स्वयं से है। आहाहा! क्या हो? आहा! शुभ आचरण से जीव को धर्म हो, यह बात उसने ऐसी दखल कर दी है। बड़े मानधाताओं को भी वहाँ से हटना कठिन पड़ता है। आहाहा! यदि तुम शुभभाव को धर्म न कहो तो क्या तुम्हें खाना-पीना है? ऐसा कहते हैं। अरे! भगवान! यह बात कहाँ है? ऐसा कहते हैं, उपवास करना और व्रत पालने में धर्म नहीं, तो क्या तुम्हारे खाना-पीना वह धर्म है? अरे! प्रभु! क्या करता है तू यह? खाना-पीना कौन कर सकता है? उसमें राग होता है, वह राग अशुभ है। आहा! और यह जो व्रत, तप का भाव है, वह शुभराग है। आहा! दोनों (भाव) पर्याय में स्वयं से हुए होने पर भी... चैतन्य विकार कहा न? चैतन्य की पर्याय में विकार

है, ऐसा होने पर भी, स्वयं हुए हैं, तथापि स्वभाव की दृष्टि से देखो तो... पर्याय में विकार है, वह स्वयं से है, परन्तु स्वभाव की दृष्टि से देखो, त्रिकाल भगवान ज्ञायकस्वरूप प्रभु, उस अभेद की दृष्टि से देखो तो विकार अवस्था अपने में अपना है नहीं। स्वभाव भगवान अनन्त... अनन्त... अनन्त... गुण का पिण्ड प्रभु, अकेला पवित्र और शुद्ध है, कोई शक्ति और कोई गुण विकृत नहीं है। आहाहा! इस कारण से अनन्त-अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु, उस स्वभाव का कार्य राग नहीं है। पर्याय में राग होता है, वह द्रव्य-गुण से नहीं। पर्याय में होता है, वह स्वयं के अपराध से होता है। उसमें द्रव्य-गुण कारण नहीं; निमित्त, कारण नहीं; परकारक की अपेक्षा नहीं। अब यहाँ स्वभाव की दृष्टि सिद्ध करनी है। आहाहा!

भगवान! तेरा त्रिकाली स्वभाव क्या है? कायम रहनेवाला... कायम रहनेवाला... कायम रहनेवाला... आहाहा! वह तो ज्ञान, दर्शन, आनन्द, शान्ति, स्वच्छता, प्रभुता-ऐसा कायम रहनेवाला द्रव्य का स्वभाव तो वह है। आहाहा! उस स्वभाव का कार्य विकार है? स्वभाव का कार्य विकार है? पहले तो कहा था कि विकार, विकार से है; द्रव्य-गुण से हुआ नहीं। समझ में आया? द्रव्य स्वभाव का कार्य नहीं। पर्याय का-अध्धर का कार्य है। आहा! परन्तु अब यहाँ चैतन्यस्वभाव की अभेददृष्टि करानी है... आहा! तो इसकी पर्याय में होने पर भी, अपने त्रिकाली स्वभाव का वह कार्य नहीं है; इसलिए उसे निकाल देने के लिये कहा है। पुद्गलकर्मपूर्वक होते होने से उन्हें पुद्गल कहा गया है, ऐसी बात है प्रभु! आहाहा! समय हो गया।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

कलश–४१

अब यहाँ प्रश्न होता है कि वर्णादिक और रागादिक जीव नहीं हैं तो जीव कौन है ? उसके उत्तररूप श्लोक कहते हैं :—

अनाद्यनंतमचलं स्वसंवेद्यमिदं स्फुटम्।
जीवः स्वयं तु चैतन्यमुच्चैश्चकचकायते।।४१।।

श्लोकार्थ - [अनादि] जो अनादि[१] है, [अनन्तम्] अनन्त[२] है, [अचलं] अचल[३] है, [स्वसंवेद्यम्] स्वसंवेद्य[४] है [तु] और [स्फुटम्] प्रगट[५] है — ऐसा जो [इदं चैतन्यम्] यह चैतन्य [उच्चैः] अत्यन्त [चकचकायते] चकचकित-प्रकाशित हो रहा है, [स्वयं जीवः] वह स्वयं ही जीव है।

भावार्थ - वर्णादिक और रागादिक भाव जीव नहीं हैं किन्तु जैसा ऊपर कहा, वैसा चैतन्यभाव ही जीव है।।४१ ।।

प्रवचन नं. १४०   श्लोक-४१   दिनाङ्क १९-११-१९७८, रविवार
कार्तिक कृष्ण ५,   वीर निर्वाण संवत् २५०४

समयसार, कलश ४१ । ४१ वाँ कलश है । **अब यहाँ प्रश्न होता है...** है न ऊपर ? ऐसा जो पूछता है, उसे उत्तर है, ऐसा कहना है – एक बात । क्या पूछता है ? रंग, गन्ध, रस, स्पर्श, संहनन, संस्थान, शरीर, वर्ग, वर्गणा, कर्म, ये सब रंग में जाते हैं और अध्यवसाय राग–द्वेष–संक्लेश ओर विशुद्ध परिणाम, ये सब राग में जाते हैं और संयमलब्धिस्थान, गुणस्थान,

१. अर्थात् किसी काल उत्पन्न नहीं हुआ । २. अर्थात् किसी काल जिसका विनाश नहीं । ३. अर्थात् जो कभी चैतन्यपने से अन्यरूप-चलाचल नहीं होता । ४. अर्थात् जो स्वयं अपने आपसे ही जाना जाता है । ५. अर्थात् छुपा हुआ नहीं ।

मार्गणास्थान, जीवस्थान, ये (सब) भेद में जाते हैं। यह रंग, राग और भेद से भिन्न, तीन में उनतीस बोल आ गये। आहाहा! जीव पूछता है कि **वर्णादिक...** अर्थात् जड़। **रागादिक...** अर्थात् जीव के विकारी परिणाम आदि। आदि अर्थात् गुणस्थान जीवस्थान आदि भेद, आहाहा! **जीव नहीं हैं तो जीव कौन है ?** ऐसा जिसे अन्दर से प्रश्न उत्पन्न हुआ है कि यह रंग, राग और भेद जीव नहीं है तो जीव है कौन ? आहाहा! ऐसा जिसे लक्ष्य में आया है, वह प्रश्न पूछता है। उसका उत्तर कहा जाता है। ऐसे प्रश्नकार को यह उत्तर कहा जाता है। आहाहा! इस प्रकार समझना चाहता है, उसे यह कहा जाता है - ऐसा कहते हैं। आहाहा!

अनाद्यनंतमचलं स्वसंवेद्यमिदं स्फुटम्।
जीव: स्वयं तु चैतन्यमुच्चैश्चकचकायते।।४१।।

तब यह भगवान आत्मा कौन है ? (कि) यह चैतन्यस्वभाव / स्वरूप आत्मा है। चैतन्य चेतनस्वभाव स्वरूप आत्मा है। इन रंग, राग और भेद से भिन्न चैतन्यस्वभावस्वरूप भगवान आत्मा है। यह चैतन्यस्वभाव कैसा है ? कि **जो अनादि है,...** आहाहा! यह चैतन्यस्वभाव जो आत्मा... जीव-अजीव अधिकार है न ? जीव, वह चैतन्यस्वभाव जीव और ये रंग, राग और भेद-ये सब पुद्‌गल-पुद्‌गल। आहाहा!

चैतन्यस्वभाव जो भगवान आत्मा, वह अनादि है। चैतन्यस्वरूप किसी काल में उत्पन्न हुआ, ऐसा नहीं है। आहाहा! **अनन्त है,...** किसी काल में चैतन्यस्वभाव भगवान आत्मा, उस चैतन्यस्वभाव का नाश किसी काल में हो, ऐसा नहीं है। **अचल है,...** वह वर्तमान में अचल है। आहाहा! आदि नहीं और अन्त नहीं तथा वर्तमान में वह कम्पन आदि चलित नहीं है, वह तो ध्रुव... ध्रुव पड़ा है। आहाहा! **अचल है,...** वर्तमान में वह ज्ञायक चैतन्यस्वभाव भगवान आत्मा, वह चैतन्यस्वभाव जो आदि-अन्तरहित, वर्तमान चलाचलतारहित है। आहाहा! अर्थात् परिणमनरहित, कम्पनरहित, ऐसा वह चैतन्यस्वभाव भगवान आत्मा अनादि-अनन्त वर्तमान अचल... आहाहा! चलाचलरहित चैतन्यपने से अन्यरूप चलाचल-अन्यरूप किस प्रकार हो, पर्यायरूप हो या रागरूप हो, वह तो है नहीं। आहाहा! चैतन्यस्वरूप रंगरूप नहीं होता; रागरूप नहीं होता और भेदरूप नहीं होता। आहाहा!

तथा, **स्वसंवेद्य है...** वह स्वयं अपने से ज्ञात हो ऐसा है, अर्थात् ? कि वह रंग, राग

और भेद से वह ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। वह तो उनसे भिन्न चीज़ है। आहाहा! परन्तु चैतन्यस्वभाव आत्मा, उस चैतन्यस्वभाव की परिणति से ज्ञात हो, ऐसा है। आहाहा! ऐसा है। **स्वसंवेद्य है...** यह चैतन्यस्वभाव चैतन्यप्रकाश की मूर्ति प्रभु, वह चैतन्यस्वभाव आत्मा स्वसंवेद्य है। वह चैतन्यस्वभाव से पर्याय में ज्ञात हो, ऐसा है। आहाहा! चैतन्यस्वभाव वह त्रिकाल, वर्तमान चैतन्य परिणति से ज्ञात हो, ऐसा है। आहाहा!

मुमुक्षु : भेद से अभेद ज्ञात हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : इस पर्याय से ही अभेद ज्ञात होता है। अनित्य से ही नित्य ज्ञात होता है। अनित्य ही नित्य को जानता है। नित्य, नित्य को कहाँ जानता है? आहाहा! समझ में आया? ऐसी बातें हैं, भाई!

स्वसंवेद्य है... अर्थात्? उसे अनादि-अनन्त और अचल सिद्ध किया। चैतन्यस्वभाव भगवान आत्मा (है) परन्तु वह चैतन्यस्वभाव वर्तमान में ज्ञात किस प्रकार हो? वह चीज़ वर्तमान चलाचलतारहित है, तब अब वर्तमान में ज्ञात किस प्रकार हो? कि **स्वसंवेद्य है...** वह ज्ञान और निर्मल आनन्द की पर्याय द्वारा जाना जा सकता है। आहाहा! वह चैतन्यस्वभाव जो अनादि-अनन्त और अचल, ऐसा जो आत्मा... मूल तो आत्मा कहना है न? चैतन्यस्वभाव की बात करनी है न? आत्मा जब ऐसा नहीं-रंग, राग और भेद नहीं, तब चैतन्यस्वभाव है, ऐसा सिद्ध करना है। आहाहा! समझ में आया? वह चैतन्यस्वभाव **स्वसंवेद्य है..** स्वयं आत्मा अपने से ही ज्ञात हो, ऐसा है। आहाहा! ऐसा कहकर अनादि-अनन्त और अचल चैतन्यस्वभाव वह आत्मा है। भेद, राग से भिन्न वह अपनी अन्तर निर्मल चैतन्य परिणति —स्व / अपने वेदन से वह ज्ञात हो, ऐसा है। आहाहा! आहाहा! ऐसी बात है।

इसीलिए कोई ऐसा कहे कि इस व्यवहाररत्नत्रय से यह आत्मा ज्ञात होता है, (किन्तु) ऐसा नहीं है।

मुमुक्षु : पुद्गल है....

पूज्य गुरुदेवश्री : पुद्गल है, पुद्गल ही है। पर्याय कहकर, परिणाम कहा परन्तु वह पुद्गल (है)। जीवद्रव्य यह है तो पुद्गल द्रव्य वह (रागादि) है। आहाहा! रंग, राग और भेद, वे पुद्गल हैं। आहाहा! उनतीस बोल को तीन बोल में समाहित कर दिया है। भाई में आता है, हुकमचन्दजी। 'मैं ज्ञानानन्दस्वभावी हूँ' उसमें ये तीन बोल लिये हैं। राग,

रंग से भिन्न, भेद से भिन्न–ऐसा लिया है। वे तीन बोल ये डाले हैं, हुकमचन्दजी। आहाहा! फिर तो उन्होंने पूर्ण हूँ, निराला हूँ, इतना लिया। निराला उससे, और यहाँ पूर्ण हूँ, चैतन्य अर्थात् आत्मा चैतन्यस्वभाव से सम्पन्न है, वह चैतन्यस्वभाव अनादि–अनन्त, वर्तमान में चलाचलतारहित, तथापि इस दूसरे प्रकार से कहें तो उसकी प्रतीति, ज्ञान और रमणता जो चैतन्य की है, उससे वह ज्ञात हो ऐसा है। आहाहा! ऐसी कठिन बातें हैं।

यह क्रियाकाण्ड लाख–करोड़ क्रियाकाण्ड करे तो उससे यह (आत्मा) ज्ञात हो, ऐसा नहीं है – ऐसा कहते हैं। आहाहा! व्यवहाररत्नत्रय का राग, वह तो राग में जाता है। रंग, राग और भेद में, देव–शास्त्र–गुरु की श्रद्धा, पंच महाव्रत के परिणाम की श्रद्धा, पंच (महाव्रत) आदि, ये सब राग में / पुद्गल में जाता है। उस पुद्गल से आत्मा ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! कहीं ऐसा कहा है साध्य–साधक में, भाई ने–दीपचन्दजी ने (कहा है कि) शुभभाव परम्परा साधक है। साध्य–साधक बोल में आता है, उसमें आता है। दीपचन्दजी के चिद्विलास में आता है। आहाहा! बाकी उनके आत्मावलोकन में आता है। आत्मावलोकन है न? दीपचन्दजी का? उसमें शुभभाव परम्परा साधक है, ऐसा कहा है। उसका अर्थ यह कि साधक तो शुद्ध चैतन्य, वही उससे ज्ञात होता है परन्तु साथ में शुभभाव है, उन्हें मिटाकर फिर जानेगा, इसलिए परम्परा का ऐसा आरोप किया है। आहाहा!

स्वसंवेद्य है... ओहोहो! एक श्लोक में तो... इसका वर्तमानरूप अनादि का, अनन्त काल का रहनेवाला और वर्तमान भी चलाचलरहित ऐसा जो ध्रुव भगवान, यह चैतन्यस्वभाव आत्मा है, वह वर्तमान चलाचलरहित वस्तु है परन्तु वर्तमान ज्ञात होता है, वर्तमान निर्मल परिणति से वह ज्ञात होता है, ऐसा है। आहाहा! ऐसी बात है। अर्थात् कि सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र तीनों एक हैं, तीनों साथ होते हैं। कलश–टीका में पूछा है कि तुम जब ऐसा कहते हो कि आत्मा दर्शन–ज्ञान से ज्ञात होता है और मोक्षमार्ग तो दर्शन–ज्ञान और चारित्र है। मिथ्यात्व जाने के पश्चात् समकित और ज्ञान तो हुआ परन्तु चारित्र तो हुआ नहीं। (उसके उत्तर में) कहते हैं, वह चारित्र आ गया, सुन! कलश–टीका में कहा है, दो–तीन बार कहा है। आहाहा! यह चैतन्य भगवान आत्मस्वभाव–चैतन्यस्वभाव आत्मा, आहाहा! उसके सन्मुख की प्रतीति, उसके सन्मुख का ज्ञान और उसके सन्मुख की स्थिरता, ये तीनों ही साथ हैं। आहाहा! चैतन्यपरिणति से स्वसंवेद्य में ज्ञात हो, उसमें तीनों ही (साथ

है) । आहाहा ! निर्विकल्प सम्यक्, रागरहित ज्ञान और अस्थिरता रहित स्थिरता का अंश। आहाहा ! उससे प्रभु चैतन्यस्वभाव आत्मा ज्ञात हो, ऐसा है । आहाहा !

जो **स्फुटम्...** जिसे ४९ गाथा में अव्यक्त कहा था, उसे यहाँ स्फुट (प्रगट) कहा है । आहाहा ! वह तो प्रगट है । चैतन्य चमत्कार, आहाहा ! चैतन्य की चमक तो प्रगट वस्तु है । आहाहा ! किसे ? कि जानता है उसे । समझ में आया ? आहाहा ! भगवान चैतन्य ज्योत, चैतन्य लक्षणस्वरूप, चैतन्यस्वभावस्वरूप... यहाँ तो (ऐसा कहा है) । ऐसा जो भगवान आत्मा प्रगट है, स्फुट है, व्यक्त है । पर्याय की अपेक्षा से गुप्त है, परन्तु स्वभाव की अपेक्षा से प्रगट-व्यक्त है । आहाहा ! पर्याय है, उसे व्यक्त कहते हैं, तब वस्तु को अव्यक्त कहते हैं । क्योंकि पर्याय में आती नहीं इसलिए । आहाहा ! ऐसी बातें हैं । परन्तु जब वस्तु को ही कहना हो, वस्तु चैतन्यस्वभाव भगवान की सत्ता चकचकाहटमय वर्तमान मौजूद प्रगट है । किसे ? जिसने उसे जाना उसको । समझ में आया ? है, भगवान आत्मा चैतन्यस्वभावस्वरूप प्रभु प्रगट है । आहाहा ! ज्वाजल्यमान ज्योति प्रगट है, व्यक्त है, प्रसिद्ध है । आहाहा ! वह चकचकाहट-चैतन्य की चकचकाहटमय भाव, द्रव्यरूप से प्रगट है । आहाहा !

मुमुक्षु : 'द्रव्यरूप से' इतना शब्द किसलिए प्रयोग किया ?

पूज्य गुरुदेवश्री : द्रव्यरूप से अर्थात् प्रगट है, वह किसे ? वह प्रगट है, परन्तु किसे ? जिसने जाना है, उसे वह प्रगट है । शब्दों में जरा अन्तर है । आहाहा ! यह तो वीतराग तीन लोक के नाथ की वाणी है, ये सन्त उस वाणी द्वारा जगत के लिये प्रसिद्ध करते हैं । आहाहा !

वस्तु तो वस्तुरूप से तो प्रगट / प्रसिद्ध / मौजूद है । आहाहा ! वह तो पर्यायबुद्धि में अप्रसिद्ध था । आहाहा ! ढँक गया था, पर्यायबुद्धि में वह इसे था ही नहीं । समझ में आया ? वर्तमान अंश और रागबुद्धि में उसे मरणतुल्य कर दिया था । आता है न ? आहाहा ! उसे यहाँ जानने में आया, वह जीवित ज्योति प्रगट है, कहते हैं । आहाहा ! समझ में आया ? ऐसी बातें हैं । जैनदर्शन अलौकिक है । उसमें इन बनियों को हाथ आया, ये बनिये व्यापार में घुस गये हैं, निवृत्त नहीं हैं, यह निर्णय करने के लिये, तुलना करने के लिये (निवृत्त नहीं हैं) । आया है न, भाई-चन्दुभाई ? जापान का-जापान का एक ऐतिहासिक है, पुराना ऐतिहासिक है । ६७ वर्ष की उम्र है इतिहास की बहुत पुस्तकें पढ़ीं और उसका लड़का भी ऐसा इतिहासकार है । बहुत खोज की, उसमें से जैनधर्म अर्थात् क्या ? ऐसा कहा कि 'जैनधर्म अनुभूति

स्वरूप है' अर्थात् वीतराग पर्यायस्वरूप है, ऐसा। वीतराग पर्यायस्वरूप जैन, जैनधर्म। जैन न ? जिसने राग को जीता है और वीतराग पर्याय प्रगट की है, वह जैनधर्म, परन्तु फिर उसने कहा भी है अन्दर...

मुमुक्षु : अभी तो सब बनियों को हाथ आया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा मार्ग इन बनियों को हाथ आ गया, बनिये व्यापार में कुशल-चतुर, वहाँ घुस गये। प्राणभाई ! ऐसा उस इतिहासकार ने कहा है, हों ! अभी जापान का लेख आया है। बनिये व्यापार के कारण निवृत्त नहीं होते। आहाहा ! यह किया और यह किया, यह किया... पूरी होली सुलगी, पूरी अज्ञान की (होली) सुलगाते हैं, उन्हें यह तुलना करने का अवसर कहाँ है - ऐसा कहते हैं। उसने-जापानवाले ऐतिहासिक ने उपहास किया है। आहाहा !

ऐसा जो भगवान आत्मा रंग, राग और भेद से भिन्न, चैतन्यस्वभाव से अभिन्न... चैतन्यस्वभाव वह आत्मा - ऐसा कहना है न यहाँ तो ? समझ में आया ? रंग, राग और भेद से भगवान आत्मा भिन्न है। वे तीनों तो पुद्‌गल हैं - ऐसा कहा है। तब वह (आत्मा) कौन है ? ऐसा शिष्य का प्रश्न था। उसका अस्तित्व किस प्रकार है ? तो इनसे तो नकार (निषेध) किया तो उसकी अस्ति किस प्रकार है ? कि उसकी अस्ति भगवान चैतन्यस्वभाव से भरपूर आत्मा चैतन्यस्वभावस्वरूप आत्मा है। यहाँ तो पहले वहाँ तक कहा था 'चैतन्यस्वभाव व्याप्त आत्मा'। आत्मा चैतन्यस्वभाव को व्याप्त ऐसा नहीं। चैतन्यस्वभाव व्याप्त आत्मा, शाश्वत् रहा हुआ चैतन्यस्वभाव, उसमें व्याप्त आत्मा है। समझ में आया ? पहले आ गया था। देखो, ६८ गाथा में, 'चैतन्यस्वभाव से व्याप्त जो आत्मा'-६८ (गाथा के) नीचे की तीसरी लाईन, ६८ गाथा। चैतन्यस्वभाव से व्याप्त जो आत्मा, है ? आत्मा चैतन्यस्वभाव को व्याप्त-ऐसा नहीं। चैतन्यस्वभाव से आत्मा व्याप्त। गुलाँट खायी है। अर्थात् ? यह यहाँ सिद्ध करना है, वह चैतन्यस्वभाव, वह शाश्वत् रहा हुआ है, आत्मा उसमें वह व्याप्त है, व्यापक चैतन्यस्वभाव है, आत्मा व्याप्य है। पीछे-सर्वविशुद्ध (अधिकार) में चेतना में आता है न ? चेतना से व्याप्त आत्मा है। आत्मा से चेतना व्याप्त है ऐसा नहीं। आहाहा !

जब आत्मा राग, रंग और भेद से भिन्न है, व्याप्त नहीं; तब वह क्या है ? कि वह

चैतन्यस्वभाव से आत्मा व्याप्त है। आहाहा! ऐसा जो चैतन्यस्वभाव वह प्रगट है। है? **स्फुटम् प्रगट है...** भगवान चैतन्यपरिणति से ज्ञात हो-ऐसा वह वर्तमान प्रत्यक्ष है। आहाहा! समझ में आया? वह चैतन्य-मति-श्रुत की परिणति से ज्ञात हो, ऐसा वह वर्तमान प्रत्यक्ष है, प्रगट है, प्रसिद्ध है, है ऐसा विराजमान, विराजमान है - ऐसा यहाँ भान होता है, कहते हैं। आहाहा! स्फुट है छुपा नहीं, वह गुप्त नहीं। राग की पर्याय की अपेक्षा से चैतन्यस्वरूप आत्मा वहाँ गुप्त है, वह उसमें-राग में आया नहीं, आहाहा! परन्तु निर्मल परिणति द्वारा वह स्फुट-प्रगट (है) आहाहा! छुपा नहीं। आहाहा! वह निर्मल परिणति द्वारा छुपा रहे, ऐसा तत्त्व नहीं है। आहाहा! आहाहा! राग और दया, दान के विकल्प के काल में वस्तु वहाँ गुप्त है, वह स्वभाव रागरूप हुआ ही नहीं। आहाहा! राग और दया, दान के विकल्प तथा अशुभ के काल में वह चैतन्य गुप्त है; वह इनमें आया नहीं; इसलिए उसकी अपेक्षा से वहाँ गुप्त है परन्तु शुद्धपरिणति की अपेक्षा से वह प्रत्यक्ष प्रगट है। आहाहा! शैली तो देखो! आहाहा! गजब बात है। कितनी स्पष्ट? आहाहा!

देखो! आत्मा ऐसे ज्ञात होता है और वह ज्ञात होता है, उसमें वह प्रत्यक्ष और प्रगट है, ऐसा ज्ञात होता है परोक्ष है और अप्रगट है, वह राग की क्रीड़ा में बैठा हो उसे है। है? आहाहा! जो व्यवहाररत्नत्रय के राग में-क्रीड़ा में पड़ा है, उसे तो भगवान अप्रत्यक्ष है, गुप्त है परन्तु फिर भी वह वस्तु रागरूप नहीं हुई, राग के काल में गुप्त चीज़ है, वह रागरूप नहीं हुई। आहाहा! और जब ज्ञान की शुद्ध परिणति द्वारा / स्वसंवेदन द्वारा ज्ञात हो, तब वह गुप्त नहीं रहता। आहाहा! आहाहा! ऐसा स्वरूप है। जिनदेव का आत्मा अर्थात् जिनदेव का अर्थात् जिनस्वरूपी आत्मा, ऐसा।

'घट घट अन्तर जिन बसै घट घट अन्तर जैन।
मत मदिरा के पान सौ मतवाला समझे न॥'

आहाहा! कहो शशीभाई! ऐसा स्वरूप है। वह प्रगट है, छिपा नहीं। आहाहा! वह ढँका हुआ नहीं है। आहाहा! वह जो गुप्त था, उसे यहाँ प्रगट हो गया है, कहते हैं। राग और दया, दान के विकल्प की परिणति में वह वस्तु गुप्त थी। आहाहा! परन्तु जिसका-भगवान आत्मा का स्वभाव चैतन्य है, ऐसी स्वपरिणति के वेदन से देखा, जाना, उसे प्रत्यक्ष और प्रगट है। आहाहा! ऐसी चीज़ है! बहुत संक्षिप्त शब्दों में, बहुत ही थोड़े शब्दों में... आहाहा!

प्रसिद्ध किया है। टीका का नाम आत्मख्याति है न? आहाहा!

यह भगवान आत्मा चैतन्यस्वभावी वस्तु, यह चैतन्यस्वभावस्वरूप अपनी परिणति से... राग-द्वेष वह अपनी परिणति नहीं। आहाहा! वह तो पुद्गल है, कहते हैं। आहाहा! उसमें उसके कारण तो वह गुप्त है, क्योंकि उसमें नहीं है परन्तु चैतन्यस्वभाव आत्मा की अपनी वेदन-स्वपरिणति ज्ञान-दर्शन-चारित्र की स्वपरिणति से वह प्रत्यक्ष है, प्रगट है। है तो वह है। राग के समय भी है, वह तो है, परन्तु जानने के काल में वह है, वह। है प्रत्यक्ष और प्रगट है - ऐसा कहते हैं। आहाहा!

आहाहा! क्या शैली! सन्तों के थोड़े शब्दों में उन्होंने प्रसिद्ध किया, किसे? आहाहा! उसकी जाति की परिणति में उसे प्रसिद्ध किया। कुजाति से वह प्रसिद्ध हो सके, ऐसा नहीं है। आहाहा! आहाहा! अभी यह पूरा विवाद है न? शुभभाव से होता है, शुभभाव से होता है... अरे भगवान! उस राग से भिन्न... राग को तो पुद्गल कहा न, प्रभु! वह चैतन्य की जाति नहीं है और राग में चैतन्य का कोई अंश नहीं है, चाहे तो देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का राग / भक्ति आदि (हो), उसमें भगवान चैतन्य जो प्रभु है, उसका कोई अंश राग में नहीं है। आहाहा! इसलिए तो उसे अचेतन कहकर पुद्गल कह दिया। जैसे पुद्गल अचेतन है, वैसे राग अचेतन है। आहाहा! समझ में आया?

गाथा, यह २९ बोल के पश्चात् यह गाथा आयी है। संसार अवस्था में भी यदि वह राग से एक हो तो रूपी हो जाये, ऐसा कहकर निकाल दिया है। रूपी हो तो मोक्ष होने पर भी रूपी साथ में रहे क्योंकि इसका स्वभाव होवे तो! आहाहा! (ऐसा) करते-करते कहकर अब यहाँ यह डाला। आहाहा! कलश चढ़ाया, कलश! मन्दिर बनाकर सोना का कलश चढ़ाते हैं न? आहाहा! सोना का अर्थात् जंगरहित; इसी प्रकार यह रागरहित चैतन्य का चमत्कार निर्मल परिणति द्वारा ज्ञात होता है। आहाहा! समझ में आया?

अरे! ऐसा अवसर कब आवे, बापू! आहाहा! यह पुरुषार्थ करे तो मिले ऐसा है। आहाहा! सूक्ष्म उपयोग करे तो वह (आत्मा) मिले ऐसा है। इसका अर्थ यह हुआ कि सूक्ष्म उपयोग अर्थात् ज्ञान की परिणति। आहाहा! स्थूल उपयोग से वह नहीं प्राप्त होता। स्थूल उपयोग वह पर्याय पुद्गल में जाती है। आहाहा! मति-श्रुत का उपयोग सूक्ष्म करके ज्ञात हो, ऐसा है। इसका अर्थ यह हुआ कि इसकी परिणति ही मति-श्रुतज्ञान की जो निर्मल

है, आहाहा! उससे वह प्रगट-स्फुट-प्रत्यक्ष-गुप्त न रहे, वैसी प्रसिद्धि होती है, ऐसा यह आत्मा है। आहाहा! अब ऐसी बातें, फिर लोगों को एकान्त लगती है। आहा! भाई! मार्ग यह है, बापू! हैं?

श्रोता : एकान्त है नहीं परन्तु एकान्त लगता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सम्यक् एकान्त ही है। सम्यक्, श्रीमद् ने नहीं कहा? 'अनेकान्त भी सम्यक् एकान्त ऐसे निज पद की प्राप्ति के अतिरिक्त अन्य हेतु से उपकारी नहीं है।' आहाहा! उन्होंने यह कहा है, वहाँ सम्यक् एकान्त है। सम्यक् एकान्त का भान हो, तब पर्याय और राग है, उसका ज्ञान होता है, वह अनेकान्त है। आहाहा! इस प्रकार सम्यक् एकान्त की ओर ढला है, तब उसे जो ज्ञान हो, वह ज्ञान स्व का भी होता है और राग बाकी है, उसका भी इसे ज्ञान होता है, तब अनेकान्त होता है। आहाहा! और अनेकान्त में भी यह सम्यक् एकान्त है, उसे रखकर, राग का ज्ञान होता है, तब अनेकान्त कहा जाता है। आहाहा! और प्रमाणज्ञान में भी त्रिकाली सम्यग्ज्ञान एकान्त निश्चय हुआ और फिर पर्याय तथा राग को जानना, वह प्रमाणज्ञान हुआ। दोनों का भेद, दो-दो हुए न? परन्तु यह प्रमाणज्ञान भी वास्तव में तो व्यवहारनय का विषय है। दो हुए न? अत: सद्भूतव्यवहारनय का विषय हुआ; इसलिए प्रमाण, वह पूज्य नहीं है - ऐसा लिया है। जिसमें पर्याय का निषेध नहीं आता, वह पूज्य नहीं है; निश्चय में पर्याय का निषेध आता है, इसलिए वह पूज्य है, तथापि प्रमाणज्ञान में भी निश्चय से अभेद है, ऐसा ज्ञान तो वहाँ है ही; उसे रखकर राग और पर्याय का ज्ञान मिलाया है, उसे उड़ाकर मिलाया है-ऐसा नहीं है; आहाहा!

मुमुक्षु : नहीं तो प्रमाणज्ञान नहीं रहे।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं तो प्रमाणज्ञान नहीं रहेगा। यह है-ऐसा रखा है, तदुपरान्त उसका ज्ञान किया, तब तो उसे प्रमाण कहा जाता है। वह निश्चय एकान्त है, उसे उड़ाकर राग का ज्ञान हो, वह प्रमाणज्ञान ही नहीं। आहाहा! समझ में आया? ऐसा सूक्ष्म मार्ग... आहाहा!

मुमुक्षु : आप सूक्ष्म-सूक्ष्म तो बात करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : सूक्ष्म नहीं, यही बात है। सूक्ष्म कहो, बारीक कहो, (परन्तु) वस्तु यही है। आहाहा!

स्फुट है 'इदं चैतन्यम्'... अब आया, कौन ? कि यह सब कहा, वह चेतन। अनादि-अनन्त, वर्तमान चलाचलतारहित, स्वसंवेद्यं प्रगट, वह क्या ? कि '**इदं चैतन्यम्**' यह चैतन्यस्वभाव। चैतन्यस्वभाव, हों! चैतन्यस्वभाव वह आत्मा फिर। वह जब आत्मा नहीं—रंग, राग, और भेद आत्मा नहीं—तब चैतन्यस्वभाव वह आत्मा, ऐसा सिद्ध करना है। आहाहा! एक कलश में तो गजब किया है न! हैं ? सन्तों की शैली ही ऐसी है, दिगम्बर सन्त अर्थात् आहाहा! **यह चैतन्य 'इदं चैतन्यम्'** यह सब कहा वह—अनादि-अनन्त, चलाचलरहित, स्वसंवेद्य, स्फुट प्रगट। क्या ? कि **इदं यह चैतन्य** स्वरूप, देखा ? यह चैतन्यस्वरूप। आहाहा! प्रत्यक्ष कहा। यह चैतन्यस्वरूप। आहाहा! **इदं** शब्द है न ? आहाहा!

दिगम्बर सन्तों की बलिहारी है, जिन्होंने केवलज्ञान का विरह भुला दिया है। हें! आहाहा! केवलज्ञानी के अभाव में भी केवलज्ञानी को जो कहना है, वह प्रसिद्ध कर दिया है। आहाहा! सूक्ष्म बात पड़े, बापू! परन्तु मार्ग तो यह है, भाई! इस प्रकार सब यात्रा करना, भक्ति करना और पूजा करना, व्रत पालना तथा अपवास करना, यह कोई धर्म नहीं।

मुमुक्षु : आप इसे सूक्ष्म बात कहते हो और दूसरे टीका करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : करें, करें, उन्हें न जँचती हो तो करें, उसमें क्या है ? उसे जो बात बैठी है, उसके साथ न जँचे तो करे, उसमें कोई विशेषता नहीं है। हो उसमें कुछ... न बैठे इसलिए बोले, ऐसा ही बोले। आहाहा!

भगवान जिनेश्वरदेव चैतन्यस्वभाव आत्मा परमात्मा त्रिलोकनाथ कहते हैं, वह कैसे ज्ञात हो ? कि चैतन्यस्वभाव स्वरूप है, उसे चैतन्य की परिणति द्वारा ज्ञात हो ऐसा, आहाहा! क्योंकि वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा वीतराग हैं, वे ऐसा कहते हैं कि सर्वज्ञ वीतरागस्वरूप, चैतन्यस्वरूप जो आत्मा... चैतन्यस्वरूप अर्थात् सर्वज्ञ और वीतरागस्वरूप आत्मा, चैतन्यस्वरूप का अर्थ 'ज्ञ' स्वरूप और चैतन्य है अर्थात् वीतरागस्वरूप है। आहाहा! भगवान तीन लोक के नाथ तीर्थंकर भी इन्द्र के समक्ष ऐसा कहते थे। आहाहा! वह यह बात है। प्रभु! हम वीतराग हैं तो तुझे कहते हैं कि तेरा स्वरूप जो है, वह वीतरागस्वरूप है, क्योंकि हम भी वीतराग हुए, वे कहाँ से हुए ? वीतरागस्वभाव में से हुए हैं। अत: हम वीतरागस्वभाव कैसे हों ? तो कहते हैं कि तू वीतराग चैतन्यस्वरूप आत्मा है। आहाहा!

कैसे जँचे ? और उसकी परिणति द्वारा, उसकी दशा द्वारा वह ज्ञात होता है। वीतराग परिणति द्वारा वीतराग ज्ञात होता है। आहाहा ! यह वीतराग का कथन है। हैं ? आहाहा !

जिनेश्वरदेव तीन लोक के नाथ तीर्थंकर प्रभु की वाणी में यह आया कि हम वीतराग-सर्वज्ञ हैं। तेरा स्वरूप भी सर्वज्ञ चैतन्य और वीतरागस्वरूप है (अर्थात्) स्वभावशक्ति। यह प्रगट; तो वीतराग चैतन्यस्वरूप, जिनस्वरूप, उसे जानने की परिणति भी वीतरागी होती है। आहाहा ! वस्तु वीतराग, परिणति वीतराग, वीतराग ने वीतरागपना बतलाया है। आहाहा ! समझ में आया ? लोगों को कठिन पड़ता है, वैसे लोगों को निवृत्ति नहीं मिलती और एकाध घण्टा हो तो यह जरा सामायिक करो, प्रौषध करना, प्रतिक्रमण किया, निवृत्त हो तो भक्ति-वक्ति शत्रुंजय की यात्रा और गिरनार की (यात्रा)। उसमें है कहाँ धर्म ?

मुमुक्षु : कार्तिक शुक्ल पूर्णिमा हो तब...

पूज्य गुरुदेवश्री : कार्तिक शुक्ल पूर्णिमा हो या होली की पूर्णिमा हो—फाल्गुन शुक्ल पूर्णिमा, उसके साथ क्या सम्बन्ध है ? आहाहा ! प्रभु ! तू कौन है ? कहाँ है ? ऐसे परमात्मा ने ऐसा कहा, प्रभु ! तू तो जिनस्वरूप है, चैतन्यस्वरूप है, वीतरागस्वरूप है। आहाहा ! प्रभु ! यदि तू जिनस्वरूप न हो तो जिनपना पर्याय में कहाँ से आयेगा ? आहाहा ! कहीं बाहर से आता है ? भाई ! तुझे पता नहीं। आहाहा ! यह चैतन्य **इदं** आत्मा-ऐसा कहा न ? '**इदं चैतन्यम्**' '**इदं चैतन्यम्**' आहाहा ! **यह चैतन्य...** अर्थात् कि सर्वज्ञस्वभावी। **यह चैतन्य...** अर्थात् वीतरागस्वभावी। आहाहा ! **यह चैतन्य...** अनादि-अनन्त है, चलाचलतारहित है, वर्तमान शुद्ध परिणति / वीतराग परिणति द्वारा वीतरागस्वरूप ज्ञात हो, ऐसा है। आहाहा ! सम्यग्दर्शन-ज्ञान वह शुरुआत, वह भी वीतरागी पर्याय है। कोई सम्यग्दर्शन को रागवाला कहे, परन्तु बापू ! वह तो जब दोषवाला बताना हो तो वह चारित्र का दोष है। सम्यग्दर्शन, है वह तो वीतरागी परिणति है। परिणति अर्थात् पर्याय। वह भगवान चैतन्य जब चैतन्यस्वरूप वीतरागस्वरूप जिनबिम्ब है, प्रभु अभी ही ऐसा है। अभी ऐसा, हों ! आहाहा ! उसे वीतरागी परिणति द्वारा स्वसंवेदन हो सकता है। आहाहा ! चैतन्यस्वभाव, चैतन्य की परिणति द्वारा ज्ञात हो, ऐसा है। चैतन्यस्वभाव, वीतरागस्वरूप जिनबिम्ब भगवान जिनबिम्ब आत्मा, वह

वीतरागी परिणति के अंश द्वारा ज्ञात हो ऐसा है। आहाहा! ऐसी भगवान की पुकार है। अनन्त तीर्थंकर-अनन्त केवलियों का (यह पुकार-फरमान है)।

अभी तो सब गड़बड़ उठी है। प्राणभाई! यह धन्धे के कारण निवृत्ति नहीं मिलती और ये सब या तो बाहर की क्रिया करे कुछ थोड़ी; इसलिए हो गया धर्म (ऐसा मानते हैं)। अरे भाई! धर्म कोई अपूर्व चीज़ है, प्रभु! आहाहा! आहाहा! यह वीतरागस्वरूप चैतन्यस्वभाव, इस वीतराग परिणति द्वारा ज्ञात होता है, वह वीतराग परिणति धर्म है। समझ में आया? आहाहा!

यह कहा - **चैतन्य 'उच्चैः' अत्यन्त...** रूप से-विशेष से-खास **'चकचकायते' चकचकित-प्रकाशित हो रहा है...** आहाहा! सूर्य का प्रकाश... वह क्या आता है तुम्हारे? सर्च लाईट, सर्च लाईट, नहीं वहाँ? बाहुबलीजी में दो सर्च लाईट ऐसे रखते हैं न? इसी प्रकार यह चकचकाहट-चैतन्य की चकचकाहट सर्च लाईट है। आहाहा! जिसमें से चैतन्य का चकचकाट प्रकाश आता है, कहते हैं। आहाहा! उसमें से पुण्य, पाप, दया, दान का राग उसमें से नहीं आता, उसमें है नहीं। आहाहा! **'उच्चैः' यह चैतन्य 'उच्चैः'...** यह तो ऊँचा-अधिक **अत्यन्त...** रूप से बिराजमान। आहाहा! **'चकचकायते' चकचकित-प्रकाशित हो रहा है...** भाई! तुझे अन्धकार में-राग के अन्धकार में दिखता नहीं। आहाहा! राग के अन्धकार में... वह तो अचेतन है, उसमें चैतन्य कहाँ से दिखायी देगा? आहाहा! चाहे तो भगवान की भक्ति का, यात्रा का राग, दया-दान का राग, दान करोड़ों रुपये दिये हों, उसमें राग मन्द किया हो कदाचित्, वह राग, वह राग सब अन्धकार है, ऐ!

मुमुक्षु : वह अन्धकार और राग, प्रकाशस्वरूप आत्मा को ढँकता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह अन्धकार है, उसका ज्ञान कब होता है? कि चकचकाहट ऐसा ज्ञानस्वभाव (है), उसकी परिणति द्वारा ज्ञात हो, तब उसका व्यवहार से ज्ञान होता है। आहाहा!

वीतराग का मार्ग ऐसा है, बापू! अरे! लोगों ने कुछ का कुछ कर दिया और बेचारे जीवन को अफल करके चले जायेंगे। आहाहा! क्या श्लोक! आज मौके पर आ गया और रविवार को... आहाहा!

चकचकित-प्रकाशित हो रहा है, वह स्वयं ही जीव है। चैतन्यस्वभाव, चैतन्य स्वयं प्रकाश, स्फुट जो चकचकित हो रहा है, वह जीव है। चैतन्यस्वभाव ऐसा, ऐसा वह जीव है – ऐसा सिद्ध करना है न यहाँ तो? उन रंग, राग और भेद से सहित, वह तो पुद्गल है; जबकि भगवान आत्मा चैतन्यस्वभाव से स्वयं चकचकित प्रकाशित हो रहा है, वह जीव है। आहाहा! (भाषा) समझ में आये ऐसी है? भाषा बहुत कड़क ऐसी कुछ नहीं है, भाई! आहाहा! बात तो ऐसी भगवान! आहाहा! तेरी महिमा क्या कहना! ओहोहो... ! भाई! तू अन्दर चैतन्यस्वभाव ऐसा जीव सिद्ध करना है न यहाँ? हें? चैतन्यस्वभाव अकेला सिद्ध नहीं करना है। जैसे रंग, राग और भेद से पुद्गल सिद्ध किया; वैसे यह जीव सिद्ध करना है, प्रभु! आहाहा! यह चैतन्यस्वभावी जीव जो कि चैतन्यस्वभाव अनादि-अनन्त, चलाचलतारहित, अपने से वेदनयोग्य और प्रगट तथा उत्कृष्ट में उत्कृष्ट / अधिक चीज़ है वह... आहाहा! ऐसा जो चैतन्यस्वभाव, **वह स्वयं ही जीव है।** वह स्वयं जीव है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

यह वाद-विवाद से कहीं पार पड़े ऐसा नहीं है। वस्तुस्थिति ऐसी है। अभी झगड़े-झगड़े व्यवहार के। आहाहा! यहाँ तो कहते हैं कि तू जो व्यवहार कहना चाहता है, वह सब पुद्गल है, सुन न! भले अन्दर राग है, परन्तु राग वह निश्चय से चैतन्य का-चैतन्यस्वभाव जीव का अंश उस राग में नहीं है; इसलिए वह अचेतन है; अचेतन है, इसलिए पुद्गल है; पुद्गल है, इसलिए जड़ है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

स्वयं ही जीव है। वह स्वयं जीव है। आहाहा! वह चैतन्यस्वभाव अनादि-अनन्त चलाचलरहित, वर्तमान वीतराग परिणति से-स्वसंवेदन से ज्ञात हो, ऐसा प्रगट, चकचकित उत्कृष्ट अतिशय विशेष वह स्वयं जीव है। आहाहा! उसे आत्मा कहते हैं। आहाहा! यह तो कहे—हिले, वह त्रस और स्थिर रहे, वह स्थावर जीव। अरे भगवान! यह सब व्याख्या ही खोटी है। आहाहा! समझ में आया? यह तो अग्नि और वायु को त्रस में डाला है, पंचास्तिकाय में। अग्नि और वायु। भाई! जरा ऐसी गति करते हैं न? एकेन्द्रिय है, तथापि पंचास्तिकाय में त्रस कहा है, पाठ है। प्रभु! तू त्रस भी नहीं, स्थावर भी नहीं, रागी भी नहीं, द्वेषी भी नहीं, पुण्यवाला नहीं, पापवाला नहीं, कर्मवाला नहीं, शरीरवाला नहीं, इज्जतवाला नहीं। आहाहा! तब तू है कौन प्रभु? कि मैं तो चैतन्यस्वभावी जीव हूँ, मेरा जीवन तो

चैतन्यस्वभाव से जीना-टिकना है। आहाहा! ऐसा जिसे अन्तर प्रतीति और ज्ञान में ज्ञात होता है, तब उसने जीव यथार्थतः जाना कहा जाता है। आहाहा! तब यह आत्मा नवतत्त्व में आत्मा जाना तब कहा जाता है। आहाहा! क्योंकि नवतत्त्व में अजीवतत्त्व तो भिन्न तत्त्व है। (क्या) कहा? पुण्य-पाप वे नौ में भिन्न तत्त्व है, आस्रव-बन्ध भिन्न तत्त्व है। आहाहा! तब आत्मा क्या है? आत्मा कहो या जीव कहो, वह तो चैतन्यस्वभावी स्वयं जीव स्वयं है। आहाहा! वह सम्यग्दर्शन का विषय है। आहाहा! ऐसा जब ज्ञात हुआ, तब फिर रागादि भाग का व्यवहार से जाना हुआ प्रयोजनवान है, यह बारहवीं गाथा का अर्थ है। आहाहा!

भावार्थ—स्वयं जीव-भाषा तो देखो! वह चैतन्यस्वभाव है... है... और है। अनादि-अनन्त और वर्तमान है, चलाचलरहित ऐसा। वह चैतन्यस्वभाव है, है और है। जो है, वह स्वसंवेदन-स्वयं से ज्ञात हो ऐसा है। उत्कृष्ट चीज़ है, वह महा अतिशय उत्कृष्ट चीज़ है, अतिशय विशेष है, खास। आहाहा! वह जगत का सूर्य है कि जो दूसरी चीज़ को भी 'है' - ऐसा वह बतलाता है। आहाहा! धर्मास्ति, अधर्मास्ति और रागादि हैं, वे यह चकचकित भगवान आत्मा ज्ञात हुआ, वह जाने, ज्ञात होता है कि यह दूसरी चीज़ है, परज्ञेयरूप से वह, हों, रागादि परज्ञेयरूप से (हो) आहाहा!

अभी तो बहिन के बोल में यह भी आया था कि शास्त्रज्ञान है, उसमें जो है वह तो ज्ञेय निमग्न है, परज्ञेय निमग्न है। आहाहा! शास्त्र का ज्ञान है न! शास्त्र का। आहाहा! उसे बन्ध अधिकार में शब्द ज्ञान कहा है। शब्द ज्ञान कहो या परज्ञेय कहो। आहाहा! और जो परज्ञेय में निमग्न है। आहाहा! वह स्वज्ञेय का अनादर करता है। आहाहा! गजब बात है, इसमें उसे तो ऐसा हो जाता है कि मुझे इतना आया, यह मुझे ज्ञात हुआ, इतने शास्त्र जानता हूँ... अरे भाई! सुन, बापू! आहाहा! इस परज्ञेय में जो निमग्न है, वह स्वज्ञेय का अनादर करता है, ऐसी बातें हैं। राग तो ठीक परन्तु ज्ञान तो परज्ञेय कह दिया।

ऐसा जो भगवान, जो **वर्णादिक और रागादिक भाव जीव नहीं हैं किन्तु जैसा ऊपर कहा वैसा चैतन्यभाव...** यहाँ लेना है, लो (वही) **ही जीव है।** वह जीव है—ऐसा अन्तर्दृष्टि में ले, उसे ज्ञान की पर्याय में ज्ञेय बना, तब वह जीव ऐसा है-ऐसा तुझे ज्ञात होगा।

विशेष कहेंगे... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

कलश–४२

अब, काव्य द्वारा यह समझाते हैं कि चेतनत्व ही जीव का योग्य लक्षण है —

वर्णाद्यैः सहितस्तथा विरहितो द्वेधास्त्यजीवो यतो
नामूर्तत्वमुपास्य पश्यति जगज्जीवस्य तत्त्वं ततः।
इत्यालोच्य विवेचकैः समुचितं नाव्याप्यतिव्यापि वा
व्यक्तं व्यंजितजीवतत्त्वमचलं चैतन्यमालंब्यताम्।।४२।।

श्लोकार्थ - [यतः अजीवः अस्ति द्वेधा] अजीव दो प्रकार के हैं - [वर्णाद्यैः सहितः] वर्णादिसहित [तथा विरहितः] और वर्णादिरहित; [ततः] इसलिए [अमूर्तत्वम् उपास्य] अमूर्तत्व का आश्रय लेकर भी (अर्थात् अमूर्तत्व को जीव का लक्षण मानकर भी) [जीवस्य तत्त्वं] जीव के यथार्थ स्वरूप को [जगत् न पश्यति] जगत् नहीं देख सकता - [इति आलोच्य] इस प्रकार परीक्षा करके [विवेचकैः] भेदज्ञानी पुरुषों ने [न अव्यापि अतिव्यापि वा] अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दूषणों से रहित [चैतन्यम्] चेतनत्व को जीव का लक्षण कहा है [समुचितं] वह योग्य है। [व्यक्तं] वह चैतन्य-लक्षण प्रगट है, [व्यंजित-जीव-तत्त्वम्] उसने जीव के यथार्थ स्वरूप को प्रगट किया है और [अचलं] वह अचल है - चलाचलता रहित, सदा विद्यमान है। [आलम्ब्यताम्] जगत उसी का अवलम्बन करो! (उससे यथार्थ जीव का ग्रहण होता है।)

भावार्थ - निश्चय से वर्णादिभाव-वर्णादिभावों में रागादिभाव अन्तर्निहित हैं—जीव में कभी व्याप्त नहीं होते, इसलिए वे निश्चय से जीव के लक्षण हैं ही नहीं; उन्हें व्यवहार से जीव का लक्षण मानने पर भी अव्याप्ति नामक दोष आता है, क्योंकि सिद्ध जीवों में वे भाव व्यवहार से भी व्याप्त नहीं होते। इसलिए वर्णादिभावों का आश्रय लेने से जीव का यथार्थस्वरूप जाना ही नहीं जाता; यद्यपि अमूर्तत्व सर्व जीवों

में व्याप्त है, तथापि उसे जीव का लक्षण मानने पर अतिव्याप्ति नामक दोष आता है, कारण कि पाँच अजीवद्रव्यों में से एक पुद्गलद्रव्य के अतिरिक्त धर्म, अधर्म, आकाश, काल—ये चार द्रव्य अमूर्त होने से, अमूर्तत्व जीव में व्यापता है, वैसे ही चार अजीव द्रव्यों में भी व्याप्त है; इस प्रकार अतिव्याप्ति दोष आता है। इसलिए अमूर्तत्व का आश्रय लेने से भी जीव का यथार्थ स्वरूप ग्रहण नहीं होता है।

चैतन्यलक्षण सर्व जीवों में व्यापता होने से अव्याप्तिदोष से रहित है, और जीव के अतिरिक्त किसी अन्य द्रव्य में व्यापता न होने से अतिव्याप्तिदोष से रहित है और वह प्रगट है; इसलिए उसी का आश्रय ग्रहण करने से जीव के यथार्थ स्वरूप का ग्रहण हो सकता है॥४२॥

प्रवचन नं. १४१ श्लोक-४२ दिनाङ्क २०-११-१९७८, सोमवार
कार्तिक कृष्ण ६, वीर निर्वाण संवत् २५०४

---

४२ वाँ कलश।

वर्णाद्यैः सहितस्तथा विरहितो द्वेधास्त्यजीवो यतो
नामूर्तत्वमुपास्य पश्यति जगज्जीवस्य तत्त्वं ततः।
इत्यालोच्य विवेचकैः समुचितं नाव्याप्यतिव्यापि वा
व्यक्तं व्यंजितजीवतत्त्वमचलं चैतन्यमालंब्यताम्॥४२॥

क्या कहते हैं ? '**यतः अजीवः अस्ति द्वेधा**' **अजीव दो प्रकार के हैं...** इस चैतन्य को अनुभव करने में ये काम नहीं करते-यह बात करते हैं। राग-द्वेष, पुण्य-पाप, यह चैतन्य के अनुभव का लक्षण नहीं है। यह चैतन्य का लक्षण नहीं है, वैसे इसे अमूर्तपना कहना, यह भी जीव का वास्तविक लक्षण नहीं है क्योंकि अमूर्त तो धर्मास्ति आदि दूसरे भी अमूर्त पदार्थ हैं। यह बात करते हैं। जरा सूक्ष्म बात है '**वर्णाद्यैः सहितः**' वर्ण, गन्ध, रागादि **और वर्णादिरहित;...** अमूर्त, **इसलिए अमूर्तत्व का आश्रय लेकर भी (अर्थात् अमूर्तत्व को जीव का लक्षण मानकर भी) जीव के यथार्थ स्वरूप को...** जगत् के प्राणी नहीं जान सकते।

यह जीव-भगवान आत्मा तो ज्ञान लक्षण से लक्षित है, ज्ञान से ज्ञात हो - ऐसी यह चीज़ है। इसे राग से ज्ञात हो, ऐसा नहीं और अमूर्त से ज्ञात हो (ऐसा नहीं)। क्योंकि अमूर्त तो परद्रव्य भी है। आहाहा! राग से ज्ञात नहीं होता और अमूर्तपने से ज्ञात नहीं होता। आहा! यह तो ज्ञानस्वरूप भगवान, ज्ञान के परिणाम से ज्ञात हो ऐसा है। आहाहा! ऐसी बात है। आहाहा! तब इसे धर्म होता है। ज्ञान द्वारा आत्मा को जाने, राग से नहीं, पुण्य—दया, दान के विकल्प से नहीं, वह विकार है, उससे ज्ञात नहीं होता, क्योंकि विकार सभी अवस्थाओं में व्याप्त नहीं है और अमूर्तपना तो दूसरों में भी है, तो उससे जीव को भिन्न नहीं जाना जा सकता।

जीव को भिन्न जानने के लिये जिसे जीव-चैतन्य है, उसे जिसे जानना है, उसे ज्ञानलक्षण द्वारा-चैतन्यलक्षण द्वारा जान सकेगा। आहाहा! इस चैतन्य द्वारा उसका अनुभव कर सकेगा। समझ में आया? अर्थात् चैतन्य-ज्ञानलक्षण चैतन्य के द्वारा वह ज्ञात होगा, तब उसे आत्मा जानने में आयेगा, तब उसे आत्मा का अनुभव चैतन्य से ज्ञात होगा, अनुभव होगा। ऐसी बातें हैं। **इस प्रकार परीक्षा करके...** हे जगत के जीवों... '**जगत् न पश्यति**' इसका अर्थ इस जगत के प्राणी। रागादि से भी आत्मा को नहीं जान सकते। अमूर्तपने से भी आत्मा को नहीं जान सकते। इसलिए हे जगत् के प्राणियों! '**न पश्यति**' इस प्रकार आत्मा नहीं जाना जा सकता। **इस प्रकार परीक्षा करके...** देखा? आहा! '**विवेचकैः**' **भेदज्ञानी पुरुषों ने...** अर्थात् जिन्हें राग से और अमूर्त से भी भिन्न ऐसा चैतन्य लक्षण है, ऐसा जो भेदज्ञानी धर्मी... आहाहा! धर्म की शुरुआतवाले जीव-धर्म की पहली सीढ़ी में रहे हुए जीव। आहाहा! वे राग से और अमूर्तपने के लक्षण से भी भिन्न, ऐसा विचारकर **भेदज्ञानी पुरुषों ने अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दूषणों से रहित...** रागादि हैं, वे सर्व अवस्थाओं में व्याप्त नहीं होते; इसलिए अव्याप्ति हैं और अमूर्तपना है, वह दूसरे में भी है; इसलिए वह अतिव्याप्ति है - ऐसे अव्याप्ति... अब ऐसी भाषा बनियों को कहाँ से आये? पुस्तक में आती नहीं और उनके उपदेश में ऐसा कुछ आता नहीं। (वहाँ तो ऐसा आता है) दया पालो, व्रत करो, अपवास करो... आहाहा! यह सब तो राग की क्रियायें हैं और राग करना तथा राग का अनुभव करना, वह तो मिथ्यात्वभाव है। आहाहा! उसमें धर्म नहीं है;

धर्म तो राग से रहित भगवान और अमूर्तपने से भी ज्ञात नहीं हो सकता क्योंकि अमूर्तत्व तो दूसरों में भी है।

ज्ञान में ज्ञान / जानना, ऐसा स्वभावलक्षण, उससे वह अनुभव किया जा सकता है। आहाहा! यहाँ तो व्यवहार दया, दान, व्रत, भक्ति से भी आत्मा जाना जा सके या अनुभव किया जा सके (-ऐसा) नहीं है। आहाहा! तथा अमूर्तपने से भी उसका दूसरे द्रव्यों से भिन्नपना जाना नहीं जा सकता। अमूर्त तो दूसरों में भी है—धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश (और काल में भी है)। आहाहा!

इसलिए ऐसा जानकर **चेतनत्व को जीव का लक्षण कहा है...** देखा? यह सार आया। जाननस्वभाव जो जानना.. जानना.. जानना.. यह चैतन्यतत्त्व का लक्षण (है)। इस ज्ञान के लक्षण द्वारा आत्मा का लक्ष्य करके अनुभव हो सकता है। वह सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है। आहाहा! धर्म की पहली श्रेणी। ज्ञान, वह आत्मा—ऐसे लक्षण से लक्ष्य को पकड़े... राग की कोई क्रिया दया, दान, व्रत, भक्ति वह कोई आत्मा का लक्षण नहीं है, वह तो राग है। आहाहा! अभी तो यही चलता है। यहाँ तो कहते हैं प्रभु! राग है, वह अव्याप्ति है, आत्मा की प्रत्येक अवस्था में नहीं रहता। संसार अवस्था में हो, परन्तु मोक्ष अवस्था में नहीं है; इसलिए वह अव्याप्ति है। आत्मा में प्रत्येक अवस्था में व्याप्ति / रहा नहीं है, इसलिए वह राग आत्मा का लक्षण नहीं है। आहाहा! इसलिए उस राग से आत्मा ज्ञात हो - ऐसा नहीं है। आहाहा! तथा अमूर्त आत्मा को जाने तो अमूर्तपना भी अतिव्याप्ति में जाता है। अपने में भी है और पर में भी है। यह धर्मास्ति, अधर्मास्ति में (भी है इसलिए) अतिव्याप्ति हो जाता है। उससे भी भगवान आत्मा जाना नहीं जा सकता। ऐसा विचार करके भेदज्ञानी जीवों ने... आहाहा! **चेतनत्व को जीव का लक्षण कहा है...** ऐसी बात है। जानने की जो दशा है, वह लक्षण है और उस द्वारा आत्मा अनुभव किया जा सकता है। आहाहा! उस चैतन्य के ज्ञान के परिणाम से चैतन्यत्रिकाली है, ऐसा जाना जा सकता है। इसका नाम धार्मिकक्रिया कहा जाता है। चैतन्य लक्षण से लक्ष्य को पकड़ना, ऐसी जो ज्ञान की क्रिया, वह धर्म है। आहाहा!

वह योग्य है। चेतनपने को जीव का लक्षण '**समुचितं**' सम+उचितं - ऐसा।

बराबर / योग्य, समुचित है, ऐसा कहते हैं। आत्मा को राग से बतलाना वह ज्ञात नहीं होगा, अमूर्त से बतलाना, वह ज्ञात नहीं होगा, वह चैतन्य के ज्ञान के लक्षण से ज्ञात होता है, वह समुचित है, सम्यक् प्रकार से उचित है। वह (राग या अमूर्तत्व) अनुचित था। राग से ज्ञात होता है, यह अनुचित था क्योंकि राग इसकी प्रत्येक अवस्था में नहीं है; अमूर्त से ज्ञात हो, वह अतिव्याप्ति-पर में भी था; इसलिए उससे भी ज्ञात नहीं होता। आहाहा!

मुमुक्षु : न्यायशास्त्र में भी ऐसा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : न्यायशास्त्र की यह युक्ति / बात की है। भाई! प्रभु! तू कौन है? इस ज्ञान के जानपने द्वारा ज्ञात हो, ऐसा तू है। आहाहा! इस राग की क्रिया दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा यह सब तो राग है। यह राग तेरी प्रत्येक दशा में नहीं है; इसलिए यह राग तेरा लक्षण नहीं है। लक्षण उसे कहते हैं कि जो प्रत्येक अवस्था में हो। आहाहा! समझ में आया? अब ऐसी बातें! आहाहा!

भगवान वीतराग सर्वज्ञदेव परमेश्वर का यह हुकम है। आहाहा! आहाहा! सम्प्रदाय में तो बस, यह दया पालो, व्रत करो और... यह सम्प्रदाय में हो तो भक्ति करो... क्या कहलाता है? पूजा और शत्रुंजय की यात्रा, सम्मेदशिखर की और गिरनार की (यात्रा), लो! यह सब तो राग है, यह तो सब राग की क्रिया है। आहाहा! यह राग की क्रिया आत्मा में प्रत्येक अवस्था में व्याप्त नहीं है; इसलिए यह इसका लक्षण नहीं है; इस कारण वह राग से ज्ञात हो - ऐसा नहीं है। इसमें तीनों काल ज्ञानस्वरूप है, इसलिए ज्ञान इसका लक्षण है और ज्ञान से यह ज्ञात हो ऐसा है। आहाहा! ऐसी बात है। वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर जिनेश्वर का मार्ग कोई अपूर्व है। आहाहा! उसकी तो अभी सब प्ररूपणा बदल गयी हैं। आहाहा! जो व्रत और तप, वह राग है, उससे तुम्हें धर्म होगा, ऐसी पूरी प्ररूपणा बदल गयी है, उपदेश बदल गया है। ओहोहो!

यहाँ तो कहते है कि प्रभु अन्दर चैतन्यबिम्ब प्रभु, ज्ञान का पिण्ड, वह तो ज्ञान का पिण्ड है। जिसमें से अनन्त... अनन्त... अनन्त... केवलज्ञान आदि प्रगट हो तो भी उसमें कमी नहीं आती - ऐसा वह ज्ञान का कन्द है। आहाहा! ज्ञान जिसका मूल है,.. आहाहा! वह वर्तमान ज्ञान-जानना जो है, राग से भिन्न, अमूर्तपने से भिन्न... आहाहा! ऐसा जो ज्ञान-

वर्तमान ज्ञान–सम्यग्ज्ञान के द्वारा आत्मा जाना जा सकता है, अनुभव किया जा सकता है, क्योंकि यह इसका समुचित लक्षण है। सम–उचित / योग्य उचित है, आहाहा! यह निर्दोष (लक्षण) है। समझ में आया? आहाहा! अब ऐसी बातें।

वे तो इच्छामि पडिक्कमूणं इरिया विरणाये गम खाण मणे.... करते थे। लो हो गया धर्म! धूल में भी नहीं। तस्स उत्तरि करणेण कऊ ठाणेणं मोणेणं माणेणं अप्पाणं वोसिरामी... अर्थ का भी पता नहीं होता। अरे! प्रभु का मार्ग कहीं रह गया, लोगों ने कुछ मान लिया। प्रभु अर्थात् तू, हों! प्रभु ने तो कहा है परन्तु तू वैसा है। ज्ञान लक्षण से ज्ञात हो, ऐसा प्रभु तू है। आहाहा! इस राग की क्रिया से, अमूर्तपने से दूसरे में भी अमूर्त है ऐसा इससे भी तू तुझे भिन्न नहीं कर सकता। आहाहा! समझ में आया?

वह योग्य है। वह चैतन्य-लक्षण प्रगट है,... आहाहा! क्योंकि जानने की पर्याय भी प्रगट है, उसके द्वारा वह ज्ञानस्वरूप त्रिकाल है, ऐसा जाना जा सकता है। गजब बातें हैं। कल आया था न? आत्मा अजायबघर है, इसमें अनन्त गुणरूप अजायब से भरपूर है। आहाहा! वर्तमान ज्ञान से इसे जाने परन्तु ज्ञात हो, वह ज्ञान तो अन्दर अनन्त और अमाप है। आहाहा! समझ में आया? इसमें अता–पता हाथ नहीं आता, इसलिए बेचारा क्या करे! अरे रे! अनन्त काल से ऐसे... अन्तर इन्द्रियों को बन्द करके आहाहा! और इन्द्रियों से विषय हो, उसका भी लक्ष्य छोड़कर और मन के लक्ष्य से जो रागादि हो, उसका भी लक्ष्य छोड़कर, अन्तर के चैतन्यस्वभावी भगवान को चैतन्यलक्षण से अनुभव करना, यह सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की विधि है। यह वस्तु है क्योंकि यह प्रभु चैतन्यबिम्ब है, इसे चैतन्य की दशा प्रगट है, यह इसका ज्ञान लक्षण है। इस लक्षण के द्वारा अन्दर जा, देख, तो तुझे अनुभव होगा। आहाहा! और यह ज्ञान की पर्याय स्व को जानेगी तो अन्दर में अद्भुत अनन्त गुण का पिण्ड–अनन्त गुण भरे हैं। आहाहा! उसे भी यह ज्ञान देखेगा। अरे! ऐसी बातें हैं!

पूरा फेरफार... फेरफार (हो गया है)। मार्ग ऐसा है, बापू! वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर ऐसा कहते हैं, ये मुनि ऐसा कहते हैं। भाई! तू तुझे पकड़कर अनुभव कब कर सकेगा? कि ज्ञान की पर्याय को लक्षण को पकड़कर वहाँ जायेगा तो अनुभव कर सकेगा। किसी

राग की क्रिया से... आहाहा! दान की क्रिया, करोड़ों के दान दिये हों, उसमें राग मन्द किया हो... किया हो तो... उससे भी भगवान ज्ञात नहीं होगा। ऐ शान्तिभाई! तब फिर यह सब क्या है? तब दान करना या नहीं करना? यह भाव होता है। राग की मन्दता का (भाव होता है) आहाहा! परन्तु उससे आत्मा ज्ञात हो अथवा उससे आत्मा प्राप्त हो, उससे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो, यह वस्तु नहीं है। आहाहा!

इसलिए **चैतन्य-लक्षण प्रगट है,...** व्यक्त कहा न व्यक्त? **'व्यंजित-जीव-तत्त्वम्' उसने जीव के यथार्थ स्वरूप को प्रगट किया है...** आहाहा! जानने की दशा जो लक्षण है, वह प्रगट है, उसने पूरे तत्त्व को प्रगट कराया है। आहाहा! जीव के यथार्थस्वरूप को उसने प्रगट किया है। आहाहा! उस ज्ञान की पर्याय को ज्ञायकभाव की ओर झुकाने पर, उसने ज्ञायक को प्रगट किया है। आहाहा! पर्याय जो ज्ञान की है... अरे! कठिन पकड़,... इसे अन्दर में झुकाने पर, चैतन्यबिम्ब का उसे अनुभव होता है। आहाहा! इसलिए **'व्यंजित'** उसके - **जीव के यथार्थ स्वरूप को...** ज्ञानलक्षण ने प्रगट किया है। आहाहा! समझ में आया?

वास्तविक जो भगवान आत्मा ज्ञान और आनन्द का कन्द प्रभु, वस्तु अनादि ऐसी ही है वह, इसे वर्तमान ज्ञानलक्षण से यह चीज़ यह है-ऐसा प्रगट करता है। आहाहा! देव-गुरु और शास्त्र की भक्ति, वह राग है, उससे भी आत्मा जाना नहीं जा सकता। आहाहा! गजब बातें हैं। भगवान तीन लोक के नाथ साक्षात् समवसरण में विराजते हों, उनकी भक्ति, साक्षात् सर्वज्ञ परमेश्वर (की भक्ति), वह भी राग है। परद्रव्य की ओर का झुकाव है, वह राग है। आहाहा! उससे आत्मा नहीं जाना जा सकता, ऐसा कहते हैं। आहाहा! परन्तु रागरहित जो अन्दर ज्ञान है, उस ज्ञान के लक्षण से जीव तुझे प्रगट दिखाई देगा। आहाहा! गजब बात है। आहा!

देव, गुरु और शास्त्र की भक्ति से भी ज्ञात हो, ऐसा नहीं है, प्रभु तो ऐसा है। आहाहा! क्योंकि पर के ओर की भक्ति का झुकाव तो राग का है। वह स्व सन्मुख का झुकाव नहीं है। आहाहा! चैतन्य का झुकाव चुकाना हो तो ज्ञानलक्षण से झुकाव चुकेगा। आहाहा। ऐसा मार्ग है। अभी तो फेरफार (करके) बिगाड़ दिया है। अरे...!

मुमुक्षु : बाहर देखने से तो हमें सब कुछ दिखायी देता है, अन्दर देखने से कुछ दिखायी नहीं देता है तो विश्वास कैसे आये ?

पूज्य गुरुदेवश्री : अन्दर देखने जाता कहाँ है ? देखने जाये तो दिखायी दे न ? आँखें उघाड़े तब दिखायी दे न ? इसी प्रकार ज्ञाननेत्र उघाड़े और अन्दर देखे तो दिखायी दे न ? नहीं देखता, ऐसा भी निर्णय किसने किया ? मैं दिखायी नहीं देता, यह निर्णय किसमें किया ? इस ज्ञान की पर्याय में निर्णय किया, यही ज्ञान है। आहाहा ! समझ में आया ? यह तो अपूर्व बातें हैं, बापू ! आहाहा ! जन्म-मरण के चक्कर में अनादि से पड़ा है, उसका अन्त लाने की यहाँ बातें हैं, बापू ! बाकी तो सब बहुत किया-भक्ति की, व्रत पालन किये.. आहाहा !

यहाँ कहते हैं, भगवान आत्मा त्रिकाली ज्ञानस्वरूप है, उसकी वर्तमान पर्याय में भी ज्ञान अंश प्रगट है। आहाहा ! वह ज्ञान अंश जो प्रगट है, उस लक्षण से त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव है, उसे पकड़, उसका अनुभव कर; उससे अनुभव हो सकेगा, क्योंकि वह (प्रगट ज्ञान अंश) उसका वास्तविक लक्षण है। आहाहा ! समझ में आया ?

जानने की पर्याय प्रगट है या नहीं ? हें ? यह राग है, यह शरीर है-ऐसा जानता कौन है ? यह ज्ञान की पर्याय। यह राग है, यह शरीर है, यह उष्ण है, यह शीतल है, यह स्त्री है, यह पुरुष है, यह मनुष्य है, यह रूखा है, यह जानता कौन है ? ज्ञान की पर्याय। परन्तु यह पर्याय उसे जानती है तो यह पर्याय (जिसे जानती है) उसका लक्षण नहीं; पर्याय तो इस द्रव्य का लक्षण है। आहाहा ! ऐसी बात भी बेचारे को सुनने नहीं मिलती। आहाहा ! कल वहाँ पालीताना गये थे न ! कच्छ में एक महिला आर्यिका है। वह क्या कहलाता है ? गणिनीजी ! बड़ा लट्ठ जैसा शरीर, वहाँ किसी समय धीरजजी जाते हैं, ऐसा कहते थे। इसीलिए उसे बेचारे को लगन थी बहुत समय से, दस वर्ष से। उसमें बराबर बारोठ मिल गया। महाराज एक गणिनीजी है, दस वर्ष से। बापू, कहा भाई ! यह मार्ग दूसरा है। आहाहा ! इस राग और शरीर से भिन्न पड़ी हुई ज्ञान की पर्याय द्वारा आत्मा ज्ञात होता है, इसके अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है। फिर दो पुस्तकें दीं। क्या करे ? नरसी केशवजी की धर्मशाला है न। दो पुस्तकें दीं। एक बहिन की और एक कल का अपना। सोगानी का। सोगानी का। बेचारी आर्यिका बैठी थी दूसरी एक बैठी थी युवा थी। क्या करे बेचारी ? मार्ग मिला नहीं। आहाहा !

अरे! हमारे सम्प्रदाय के गुरु हीराजी महाराज थे बेचारे बहुत सज्जन। आहाहा! नरम, परन्तु यह बात सुनने को नहीं मिली थी। अरे रे! क्या करे? वे ऐसी प्ररूपणा हजारों लोगों के बीच करते थे, राजकोट में बड़े-बड़े और जामनगर में (कहते थे) भाई! अहिंसा परमो धर्म: किसी भी जीव को नहीं मारना, यह धर्म है, यह सम्पूर्ण सिद्धान्त का सार है – ऐसा कहते थे। (सत्य) मिला नहीं था, क्या करे बेचारे? अरे रे! *'अहिंसा समयं चेव एता वितम वियाणियां'।* जिसने परद्रव्य की दया पाली, उसने सब जाना। यहाँ कहते हैं परजीव की दया आत्मा पालन नहीं कर सकता और परजीव की दया का भाव है, वह राग है, वह राग बन्धन का कारण है, राग से आत्मा ज्ञात नहीं होगा। अर र! परजीव की दया के भाव से आत्मा ज्ञात नहीं होगा। अब यह बात कहाँ डालना? ए..ई.. सपाणी! कहाँ था तुम्हारे वाडा में वहाँ? (नहीं) नहीं। बड़े भाई इंकार करते हैं।

मुमुक्षु : आत्मा शब्द ही नहीं सुना था।

पूज्य गुरुदेवश्री : हमें तो यहाँ सब पता है। आहाहा! अरे रे! ऐसी बातें, बापू! आहाहा! परजीव की दया पालने का भाव है, वह राग है और राग है, वह दु:खरूप दशा है, आकुलता है, वह आकुलता जीव का स्वरूप नहीं है। आहाहा! उससे निराकुल भगवान प्राप्त नहीं होता। आहाहा! परन्तु उस राग के काल में जो ज्ञान की पर्याय राग को जानती है तो उस राग का ज्ञान लक्षण नहीं है, ज्ञान का राग लक्षण नहीं है और राग का ज्ञान लक्षण नहीं है। वह ज्ञान लक्षण तो चैतन्यद्रव्य भगवान (का है)। आहाहा! ऐसी बात है।

वह इसने '**व्यंजित-जीव-तत्त्वम्**' उसने जीवतत्त्व को प्रगट किया है। आहाहा! उस ज्ञान की जो पर्याय है... आहाहा! यह बात 'चोटिला' में रतनचन्दजी के एक गुरु थे। लींबड़ी संघणा के रतनचन्दजी शतावधानी (थे)। उनके गुरु थे, मौके पर हम इकट्ठे हो गये। हम फिर किसी को साधु मानते नहीं थे, इसलिए साथ नहीं उतरते थे। उस समय हम किसी को साधु नहीं मानते थे। परन्तु साथ उतरे तो बहुत प्रसन्न हो गये। फिर यह बात हुई कि 'यह ज्ञान क्रियाभ्याम् मोक्ष' कहा है न? कहा—'ज्ञान क्रियाभ्याम् मोक्ष' अर्थात् क्या? आत्मा जो ज्ञानस्वरूप है, उसका ज्ञान करना और उस ज्ञान में स्थिर होना, यह ज्ञान क्रियाभ्याम् मोक्ष है। यह बात चोटिला में हुई थी। उपाश्रय है न, ऊपर कमरे पर बात हुई

थी। स्वीकार किया कि बात तो सत्य लगती है। मैंने कहा – भाई! बापू! मार्ग तो यह है। बात तो सत्य लगती है। एक बात; और दूसरी बात यह उन्होंने स्वयं की, हों! मैंने कहा – भाई! सिद्धान्त शास्त्र में मूर्ति है, मूर्ति पूजा शास्त्र में है। यह बात है, हमें पता है परन्तु अब क्या करें? जो शिष्य पढ़ेंगे तो उन्हें हमारी श्रद्धा नहीं रहेगी। शास्त्र में मूर्ति पूजा है। दो बातें चोटीला के उपाश्रय में हुई थी। सम्प्रदाय में, हों! अभी छोड़ना कठिन पड़ता है। आहाहा!

यहाँ तो परमात्मा अथवा सन्त यहाँ ऐसा प्रसिद्ध करते हैं, प्रभु! तू तुझे जान सके, उसका स्वरूप तो ज्ञान की पर्याय है, उस ज्ञान की पर्याय से ज्ञात हो, वह तेरा स्वरूप है। आहाहा! लाख बात की बात और करोड़ बात की बात (यह है)। आहाहा! यह ज्ञान जो पर को जानने का पर्याय काम करती है, वह ज्ञान कहीं पर का लक्षण नहीं है। इसलिए जो जानने का काम करती है, वह पर्याय जिसका लक्षण है, उसे वहाँ झुका। आहाहा! तो उससे जीव का स्वरूप **व्यंजित**-प्रगट होगा और ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा है, आनन्दस्वरूप है, ऐसा ज्ञान की व्यंजित पर्याय द्वारा जानने से तुझे आत्मा प्रगट दिखायी देगा। आहाहा! कहो शान्तिभाई! कहाँ इसमें निवृत्ति कहाँ थी वहाँ? पुत्र को सम्हालना और स्त्री को सम्हालना और पैसा एकत्रित करना... आहाहा! वह वहाँ उलझा, यह यहाँ उलझा। छोटा वहाँ हांगकांग, लाखों रुपये कमाये, अभी एक लाख रुपये वहाँ भावनगर में दिये थे। परन्तु उसमें क्या हुआ? राग का मन्दभाव किया हो तो वह शुभभाव है, वह कहीं धर्म नहीं है तथा उससे आत्मा ज्ञात हो, ऐसी कोई चीज़ नहीं है। आहाहा!

यहाँ तो दो बातें ली हैं कि जीव का तत्त्व जो है, उसे चैतन्य लक्षण से जानो क्योंकि चैतन्यपने का लक्षण कहा है, वह योग्य है और वह लक्षण प्रगट है, ऐसी दो बात की है न? क्या कहा यह? जानने के परिणाम से आत्मा ज्ञात होगा, वह जानने की पर्याय प्रगट है। है न? और उससे वह ज्ञात होगा तथा प्रगट होगा। आहाहा। दो बातें की हैं।

भगवान आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूपी प्रभु की वर्तमान पर्याय में ज्ञान की व्यक्त पर्याय प्रगट है। शक्तिरूप है, वह एक ओर रखो; यह तो प्रगट है, उसके द्वारा—यह प्रगट है, उसके द्वारा जानने पर जो शक्तिरूप है / अप्रगट है, वह तुझे प्रगट ज्ञात होगा। आहाहा! कितना समाहित किया है। दिगम्बर सन्तों ने गजब काम किया है! आहाहा! केवली के

पथानुगामी–परमात्मा जिनेश्वर के मार्गानुसारी, वे जिनेश्वर पद अल्पकाल में प्राप्त करनेवाले हैं। आहाहा!

दो बातें की हैं कि चैतन्य लक्षण उसे हमने कहा, वह चैतन्य पर्याय प्रगट है। समझ में आया ? और उस चैतन्य पर्याय से तू तेरे आत्मा को जान तो वह तुझे प्रगट ज्ञात होगा। प्रगट पर्याय से प्रगट तत्त्व ज्ञात होगा। आहाहा! आहाहा! अब इससे कितना सरल करें ? आहाहा! गजब काम किया है। आहा! इतने थोड़े शब्दों में गागर में सागर भर दिया है। आहाहा! प्रभु! तुझे राग से तू ज्ञात नहीं होगा, क्योंकि राग तेरा स्वरूप नहीं है; अमूर्त है परन्तु अमूर्त तो पर में भी है; इसलिए इस अमूर्त से तेरा भिन्नपना नहीं पड़ेगा क्योंकि अमूर्त तो दूसरे द्रव्य भी हैं तो वहाँ तो सब एक हो जायेगा। आहाहा! अमूर्तपने से भी तू तुझे पर से भिन्न नहीं कर सकेगा। एक चैतन्य लक्षण से तू भिन्न कर सकेगा। आहाहा! और वह चैतन्य लक्षण, प्रभु कहते हैं कि तुझे प्रगट है न ? पर्याय में कहीं ज्ञान नहीं है ? आहाहा! यह समुचित–यह चैतन्य प्रगट है, वह प्रगट '**व्यंजित-जीव-तत्त्वम्**' **जीव के यथार्थ स्वरूप को प्रगट किया है...** आहाहा! ऐसा कहते हैं प्रभु! कि जीव का लक्षण जो चैतन्य तुझे अभी पर्याय में प्रगट है और उस द्वारा यदि आत्मा को जाने तो वह **व्यंजित** वह द्रव्य तुझे प्रगट होगा। आहाहा!

क्या बात की है! भाषा सादी परन्तु पूरा तत्त्व भर दिया है। सब झगड़े छोड़ दे। आहाहा! उसमें आता है न ? भेदज्ञानी को सौंप दिया है। ४९ गाथा में। आहाहा!

मुमुक्षु : सर्वस्व....

पूज्य गुरुदेवश्री : सर्वस्व, आहाहा! राग से नहीं, अमूर्तपने से नहीं। (उससे) भिन्न नहीं पड़ सकता, ऐसा कहते हैं। राग से ज्ञात नहीं होता क्योंकि वह इसका स्वरूप नहीं है; अमूर्तपने से नहीं ज्ञात होता क्योंकि अमूर्तपना तो बहुतों में है, इसलिए भिन्न नहीं कर सकता। अब ज्ञान की पर्याय जो प्रगट है, जो व्यक्त है। आहाहा! उसके द्वारा लक्ष्य जो द्रव्य/ वस्तु, उसका अनुभव कर तो वह वस्तु तुझे प्रगट ज्ञात होगी। प्रगट पर्याय से वस्तु को जानेगा तो वस्तु प्रगट ज्ञात होगी। आहाहा!

ज्ञान की वर्तमान पर्याय... अभी कितनों को ही तो पर्याय का भी पता नहीं होता।

आहाहा! यह वर्तमान जो ज्ञान की पर्याय प्रगट है, उसका लक्षण प्रगट है, कहते हैं। आहाहा! उस लक्षण द्वारा लक्ष्य अर्थात् द्रव्य को पकड़ तो वह द्रव्य तुझे प्रगट होगा, ऐसा द्रव्य है—ऐसा तुझ ज्ञान की पर्याय में भासित होगा। आहाहा!

मुमुक्षु : आत्मा धारणा ज्ञान में तो पकड़ में आता है परन्तु उपयोग अन्दर में नहीं झुकता।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु इसने पुरुषार्थ नहीं किया और विपरीत है, इसे उसकी गरज कहाँ है इतनी? जिस उपयोग से पकड़ में आता है, उतना उपयोग करता कहाँ है? स्थूल उपयोग से पकड़ में नहीं आता और सूक्ष्म उपयोग से पकड़ में आता है। सूक्ष्म उपयोग तो करता नहीं। बात लॉजिक से है। आहाहा!

मुमुक्षु : सूक्ष्म उपयोग से सूक्ष्म वस्तु कैसे पकड़ में आये, यह समझाओ।

पूज्य गुरुदेवश्री : सूक्ष्म उपयोग जो मतिज्ञान का, श्रुतज्ञान का जो पर्याय है, उस सूक्ष्म उपयोग से पकड़ में आता है और उस सूक्ष्म उपयोग से द्रव्य पकड़ में आता है। आहाहा!

मुमुक्षु : सूक्ष्म द्रव्य की ओर उपयोग जाये तब पकड़ में आये न?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु वह तब जाये, सूक्ष्म उपयोग करे तो वह द्रव्य पर ही जाये। इसका अर्थ यह हुआ कि द्रव्य के आश्रय से जो पर्याय प्रगट हुई, अनुभव की, हों! वह सूक्ष्म है और सूक्ष्म से ही वह पकड़ में आया है। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

कितने ही व्रत और तपस्याओं में अटके हैं, कितने ही देव-गुरु और शास्त्र की भक्ति करते-करते कल्याण होगा, इसमें अटके हैं। सब एक ही प्रकार में-मिथ्यात्व में अटके हैं। आहाहा! क्योंकि जो ज्ञानपर्याय है, वह लक्षण तो प्रगट है। जिसका जो लक्षण है, जिसका जो लक्षण है, वह तो प्रगट है। आहाहा! वह भगवान चैतन्यस्वरूप का लक्षण है पर्याय, चैतन्यद्रव्य का, वह तो प्रगट है, अब प्रगट को इस ओर झुका दे; जिसका वह लक्षण है, उस ओर वहाँ उसे झुका दे, आत्मा प्रगट होगा। पर्याय तो प्रगट है, उसे इस ओर झुका, द्रव्य प्रगट हो जायेगा। ऐसी बातें हैं। अरे! ऐसी बातें मिलना कठिन है, बापू! आहा! जिनेश्वर त्रिलोकनाथ परमेश्वर का यह हुक्म है। आहाहा! सर्वज्ञ परमेश्वर की वाणी में ऐसा आया, प्रभु! तेरा लक्षण तो प्रगट है न? उस लक्षण द्वारा जो अप्रगट है, वस्तु गुप्त है...

आहाहा! जो पर्याय में आयी नहीं, पर्याय की-व्यक्त अपेक्षा से जो वस्तु पूरी पूर्णानन्द का नाथ गुप्त है, उस लक्षण द्वारा यदि पकड़ेगा तो वह गुप्त, (वस्तु) प्रगट हो जायेगी। आहाहा! आहाहा! इससे अब दूसरा क्या कहें? आहाहा! प्रभु! तू आत्मा है न नाथ! तू स्त्री नहीं, पुरुष नहीं, राग नहीं, द्वेष नहीं, कर्म नहीं। भाई! आहाहा! तथा ज्ञान के लक्षण की पर्याय जितना भी नहीं क्योंकि जिसका लक्षण है, ऐसा जो लक्ष्य वस्तु तो अन्दर पूर्ण पड़ी है। आहाहा! यह इसे करनेयोग्य तो यह है। बाकी सब तो ठीक है। आहा!

मुमुक्षु : दूसरा सब सरल लगता है, झुकाना मुश्किल पड़ता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कहते हैं और यह किया नहीं, इसलिए मुश्किल है। अनादि का अभ्यासी नहीं कभी... आहाहा! श्रुत परिचित-राग से भिन्न है, यह तूने सुना नहीं, यह कहा न चौथी गाथा में? सुना कब कहा जाये कि तुझे ख्याल में आवे कि इस राग से भिन्न है, तब ज्ञान की पर्याय से अभिन्न है। आहाहा! यद्यपि ज्ञान की पर्याय को लक्षण कहा, उससे लक्ष्य को प्रगट कर सकता है, तथापि उस पर्याय में लक्ष्य / वस्तु नहीं आती। पर्याय में उस वस्तु की सामर्थ्य कितनी, यह ज्ञान में आती है। आहाहा!

अब ऐसी बातें। उसका लक्ष्य करता है, ऐसा कहते हैं। ज्ञान की पर्याय जिसका लक्षण है, उसका लक्ष्य करता है। लक्ष्य किया है, तथापि वह चीज़ कहीं पर्याय में आयी नहीं। पर्याय में उस चीज़ की सामर्थ्य कितनी है, यह प्रगट पर्याय में भासित हुआ। आहाहा!

मुमुक्षु : वैसे तो पर्याय में प्राप्त करना है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय में, वह पर्याय इस ओर झुकाना, तब प्रगट हुआ, ख्याल में नहीं था - गुप्त था, वह प्रगट हो गया, तथापि वह द्रव्य, पर्याय में आया नहीं। द्रव्य, पर्याय में आ जाये, तब तो वह तो ध्रुव है और पर्याय वह तो अंश है। आहाहा!

धन्य काल! धन्य अवसर! बापू, आहाहा! ऐसी बात। जिसका वह लक्षण है, वह उसे पकड़े और वह लक्षण है, वह तो प्रगट तो है प्रभु! आहाहा! बिल्कुल प्रगट ही न हो तो उससे बतलाना उसे कठिन पड़े। आहाहा! क्या श्लोक है! आहाहा! इन श्वेताम्बर के बत्तीस सूत्र पढ़े तो भी उसमें से एक ऐसा श्लोक नहीं निकलता। आहाहा! बत्तीस सूत्र तो कितनी ही बार पढ़े हैं। आठ महीने में हमेशा सम्प्रदाय में तीस सूत्र-चन्द्र प्रज्ञप्ति, सूर्य प्रज्ञप्ति एक बार पढ़े थे (संवत्) १९७६ में। यह बात नहीं मिलती। आहाहा!

यहाँ कहते हैं - आहाहा! एक तो यह बात की है कि प्रभु! तू तो रागरूप नहीं क्योंकि रागरूप होवे तो हमेशा राग रहना चाहिए। सिद्धदशा में राग नहीं रहता, इसलिए तू रागरूप नहीं है, वह तेरा स्वरूप ही नहीं है। अब तू अमूर्त है, ऐसा यदि कहना चाहे तो अमूर्त तो दूसरी चीज़ें भी हैं—धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश और काल (भी अमूर्त हैं)। तो उनसे तू तेरे आत्मा को भिन्न नहीं कर सकेगा। अमूर्तपने में तो सब शामिल हो जायेंगे। आहाहा!

अब तुझे भिन्न करना हो, तब तो ज्ञानपर्याय जो लक्षण है, वह लक्ष्य का लक्षण है, वह अन्यत्र कहीं नहीं है। आहाहा! समझ में आया? समझ में आये इतना समझना, बापू! यह तो परमात्मा के घर की बातें हैं। आहाहा! वीतराग सीमन्धर परमात्मा प्रभु महाविदेह में विराजते हैं, उनकी यह वाणी है, यह सब सन्तों द्वारा आयी है। आहाहा! इसमें वाद-विवाद और झगड़ा खड़े करे-व्यवहार से होता है और व्यवहार से होता है... वह तो यहाँ तक कहते हैं और ज्ञानसागर, छठवें गुणस्थान तक व्यवहार ही होता है, ऐसा कहते हैं। अर र! ये ज्ञानसागर है न, समयसार, उसमें पढ़ा था। छठे गुणस्थान तक व्यवहार होता है। अरे प्रभु! व्यवहार बारहवें तक होता है परन्तु निश्चय हो उसे न? आहाहा! जिसने जीव का आश्रय लिया है, ज्ञान लक्षण से ज्ञान को पकड़ा है, उसे जो कुछ अधूरी रागदशा रही, उसे व्यवहार कहा जाता है परन्तु उसको अकेला व्यवहार ही है (तो वह) मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! निश्चय के बिना व्यवहार कैसा? आहाहा! चौथे गुणस्थान से निश्चय-स्व का आश्रय शुरु हो जाता है। आहाहा! पश्चात् पूर्ण आश्रय नहीं, इसलिए राग का भाव आये बिना रहता नहीं, तथापि वह व्यवहार से जाना हुआ प्रयोजनवान है, व्यवहार किया हुआ प्रयोजनवान है और व्यवहार से आत्मा को लाभ होगा; इसलिए प्रयोजनवान है - ऐसा नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : तिल-तुषमात्र परिग्रह हो तो उसे शुद्धोपयोग कैसे कहा जाये?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह वहाँ तक मुनिपना माने तो मिथ्यादृष्टि है। वस्त्र का एक टुकड़ा रखकर हम मुनि हैं, ऐसा माने (तो वे) निगोद जानेवाले हैं। भगवान का वचन है, कुन्दकुन्दाचार्य का (कथन है)। नवतत्त्व की भूल—वस्त्र का टुकड़ा रखकर मुनिपना माने वहाँ नवतत्त्व की विपरीतता / भूल है। आहाहा! यह ककड़ी के चोर को फाँसी की सजा - ऐसा नहीं है। उसने नवतत्त्व का बड़ा गुनाह किया है। आहाहा! ऐसा मार्ग बहुत कठिन है, बापू! परन्तु वस्तु तो वस्तु यह है। आहाहा!

चेतनत्व को जीव का लक्षण कहा है, वह योग्य है। एक बात। **वह (चैतन्य)-लक्षण प्रगट है,...** दो बात। चैतन्य लक्षण कहा, वह योग्य है—एक बात; वह चैतन्य लक्षण प्रगट है-यह दो बात। उसे चैतन्य पर दृष्टि की, इसलिए चैतन्यद्रव्य प्रगट होता है, यह तीसरी बात। आहाहा! प्रगट होता है, इसका अर्थ कि है, वह है-ऐसा पर्याय में भासित हुआ। वरना तो है तो है। आहाहा! उसे प्रगट पर्याय में भासित हुआ। ओहोहो! यह वस्तु महाप्रभु आनन्द का दल ज्ञायकभाव पूरा प्रगट है। पर्याय जहाँ ऐसे झुकी तो इसे प्रगट दिखता है। आहाहा! ऐसी बात है। आहाहा! एक मध्यस्थता से सुने (तो पता पड़े कि) मार्ग तो यह है। आहाहा!

और वह अचल है... आहाहा! इस पर्याय ने जिस द्रव्य को पकड़ा, वह द्रव्य अचल है और **चलाचलतारहित है**। आहाहा! जीव के यथार्थ स्वरूप को प्रगट किया है-ऐसा कहा न? और वह अचल है। त्रिकाली वस्तु ध्रुव **चलाचलता रहित, सदा विद्यमान है। जगत उसी का अवलम्बन करो!** जगत् अर्थात् जगत के हे भव्य जीवों! आहाहा! उस भगवान का आलम्बन करो। आहाहा! अरे रे! कहीं समय मिलता नहीं, निवृत्ति मिलती नहीं और ऐसा अपूर्व मार्ग। यहाँ परमात्मा... सन्त, वे परमात्मा की ही बात करते हैं।

हे जगत के जीवो! आहाहा! वह आया था न पहले? '**जगत न पश्यंति**' पहले आया था न? राग से जगत के जीव देख नहीं सकते, परन्तु ज्ञान से जगत के जीव देख सकेंगे। समझ में आया? ऊपर आया था न? **जगत न पश्यंति**। आहाहा! अमूर्तपने का, राग का आश्रय करके जगत जीव को नहीं देख सकेगा। जबकि ज्ञानपने के लक्षण से वह देख सकेगा। इसलिए हे जगत के जीवों! **उसी का अवलम्बन करो**। आहाहा! लक्षण की पर्याय को द्रव्य का आलम्बन दो। पर्याय वहाँ रुक रही है, उसे द्रव्य का आलम्बन दो। जिसका लक्षण है, उसका आलम्बन दो। आहाहा! आहाहा! ऐसी बातें हैं। अरे प्रभु! जगत के जीव **उसी का अवलम्बन करो! (उससे यथार्थ जीव का ग्रहण होता है।)** आहाहा! चैतन्य पर्याय द्वारा अन्तर में यथार्थ लक्ष्य जाना जा सकता है। यथार्थ जीव का ग्रहण होता है। देखा? पर्याय-ज्ञान की पर्याय द्वारा अन्दर जाने पर उस यथार्थ जीव का ग्रहण होता है। सम्पूर्ण जीव कैसा है, वह लक्षण द्वारा पकड़ में आ जाता है - ग्रहण होता है। आहाहा!

लो! एक श्लोक हुआ, एक घण्टा हुआ, तीन मिनिट बाकी रहे, लो! आहाहा!

मुमुक्षु : घोलन करने जैसा श्लोक है।

पूज्य गुरुदेवश्री : घोलन करने जैसा है। आहाहा!

भावार्थ-निश्चय से... अर्थात् वास्तव में रंग-रागादि। वर्णादि भाव में रागादि भाव आ गये। रंग और राग आ गये। **जीव में कभी व्याप्त नहीं होते...** रंग और राग, संहनन, संस्थान आदि तथा राग-द्वेष पुण्य और पापभाव वे जीव में कभी व्याप्त नहीं होते, जीव में कभी कायम नहीं रहते। आहाहा! **इसलिए वे निश्चय से जीव के लक्षण हैं ही नहीं;...** जीव में कभी व्याप्त नहीं होते अर्थात् जीव में सदा नहीं रहते। **इसलिए वे निश्चय से जीव के लक्षण हैं ही नहीं; उन्हें व्यवहार से जीव का लक्षण मानने पर भी अव्याप्ति नामक दोष आता है, क्योंकि सिद्ध जीवों में वे भाव व्यवहार से भी व्याप्त नहीं होते।** सिद्ध जीव में पर्याय में भी वह राग नहीं है। व्यवहार से भी नहीं है। आहाहा! आहाहा! **इसलिए वर्णादि...** और रागादि का **आश्रय लेने से जीव का यथार्थस्वरूप जाना ही नहीं जाता;...** रंग और राग का आश्रय करने से... आहाहा! भगवान आत्मा जाना नहीं जा सकता।

यद्यपि अमूर्तत्व सर्व जीवों में व्याप्त है... इसमें एक में डाला था रंग और राग। अब तीसरा अलग लिया एक। **यद्यपि अमूर्तत्व सर्व जीवों में व्याप्त है, तथापि उसे जीव का लक्षण मानने पर अतिव्याप्ति नामक दोष आता है,...** क्योंकि आत्मा में भी अमूर्तपना है और धर्मास्तिकाय में भी है तो अतिव्याप्ति हो गया। वह कोई समुचित-उचित लक्षण नहीं हुआ। आहाहा! धर्म-अधर्म, आकाश और काल-इन चार द्रव्यों में अमूर्तपना होने से अमूर्तपना जीव में व्याप्त है तथा चार अजीव द्रव्यों में भी व्याप्त है। इस प्रकार अतिव्याप्ति दोष आता है। अतिव्याप्ति अर्थात् अपने अतिरिक्त भी दूसरों में भी हो। पहले में अव्याप्ति अर्थात् अपनी प्रत्येक अवस्था में व्याप्त नहीं है, वह अव्याप्ति है और अपने अतिरिक्त पर में भी है, उसे अतिव्याप्ति कहते हैं। आहाहा! **इसलिए अमूर्तत्व का आश्रय लेने से भी जीव का यथार्थ स्वरूप ग्रहण नहीं होता है।**

विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १४२ श्लोक-४२-४४ दिनाङ्क २१-११-१९७८, मंगलवार
कार्तिक कृष्ण ७, वीर निर्वाण संवत् २५०४

श्री समयसार, ६८ गाथा के कलश ४२ वाँ (अन्तिम है)

चैतन्यलक्षण सर्व जीवों में व्यापता होने से (अव्याप्तिदोष से रहित है,)... यहाँ से है। क्या कहते हैं ? कि यह आत्मा जो है, वह दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम हैं, वह राग है, उनसे आत्मा जानने में नहीं आता। आत्मा तो चैतन्यलक्षण है, वह ज्ञानस्वभाव है, तो ज्ञानस्वभाव की परिणति से वह आत्मा जानने में आता है। सूक्ष्म बात है।

यह देह है-जड़, वाणी है, वह भी जड़ है परन्तु अन्दर में व्रत, भक्ति, पूजा, आदि का भाव, वह भी राग है, जड़ है, अचेतन है, वह पुद्‌गल है—यहाँ तो ऐसा कहा है। आहाहा! यह आत्मा तो ज्ञानस्वरूपी चैतन्यमूर्ति प्रभु, यह तो ज्ञान के लक्षण से-ज्ञान की परिणति से द्रव्य का लक्ष्य करे, तब अनुभव होता है। आहाहा! ऐसी सूक्ष्म बात है प्रभु!

इस शरीर की क्रिया से तो प्रभु-आत्मा भिन्न है परन्तु यह शुभ-अशुभभाव, हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग वासना, पाप, दया, दान, व्रत, भक्ति पूजा के भाव पुण्य - दोनों पुद्‌गल हैं, (ऐसा) यहाँ तो कहते हैं। क्योंकि चैतन्य की प्रत्येक अवस्था में वे नहीं रहते। आहाहा! कठिन बात है। आहाहा! यह चैतन्यलक्षण आया न! **चैतन्यलक्षण सर्व जीवों में व्यापता होने से...** जानन.. जानन... जानन...। जो ज्ञानपर्याय-जो जानन लक्षण है, वह द्रव्य का लक्ष्य करे तो (आत्मा) अनुभव में आता है, तो सम्यग्दर्शन होता है। आहाहा! धर्म की पहली सीढ़ी सम्यग्दर्शन जिसे जिनेश्वरदेव-परमेश्वर 'समकित' कहते हैं।

यह सम्यग्दर्शन किस प्रकार होता है ? कि इस चैतन्य लक्षण से आत्मा को लक्षित करे, अनुभव करे तो उसे समकित होता है। व्रत, तप, और भक्ति या पूजा के भाव सब राग हैं, उस राग से आत्मा प्राप्त नहीं होता, उससे तो बन्ध होता है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! यहाँ राग को तो पुद्‌गल कहा गया है। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य दिगम्बर सन्त का श्लोक (गाथायें) है, उसकी टीका अमृतचन्द्राचार्य ने की है। हजार वर्ष पहले दिगम्बर सन्त हुए, वे ऐसा प्रसिद्ध करते हैं कि प्रभु! तू तो ऐसा है—ज्ञान से (ज्ञात हो) ज्ञान, ज्ञान... ज्ञान, वह

ज्ञान आत्मा की प्रत्येक अवस्था में रहता है। इस कारण ज्ञान लक्षण से आत्मा अन्दर में अनुभव में आता है। आहाहा!

जितना भगवान का स्मरण, व्रत का, तप का, भक्ति का, उपवास का, यात्रा का भाव (है वह) सब राग है, सब पुद्गल है। आहाहा! यह बात है! वह जीव नहीं। भगवान उसे आत्मा नहीं कहते, उसे तो पुद्गल कहते हैं। आहाहा! क्या करे? बहुत अन्तर!

यह तो चैतन्य लक्षण द्वारा-सर्व जीवों में यह लक्षण है, राग और वह कोई उसका लक्षण नहीं है। आहाहा! उसकी जाति नहीं है-चैतन्य की जाति नहीं है; राग तो कुजात-अजीव है। आहाहा! महाव्रत के परिणाम भी अजीव-राग-विकल्प अजीव है। यह बात है! समस्त ही व्यवहार अजीव है। आहाहा!

भगवान आत्मा तो राग से भिन्न, चैतन्य ज्ञानलक्षण से-ज्ञान की वर्तमान परिणति से ज्ञायक त्रिकाली जीव जानने में आता है। आहाहा! यह बात है। जगत को कठिन (लगती है)। **और जीव के अतिरिक्त किसी अन्य द्रव्य में व्यापता न होने से...** आत्मा के अतिरिक्त ज्ञान दूसरे किसी द्रव्य में नहीं है। आहाहा!

शरीर में (चैतन्यलक्षण) नहीं है, वाणी में नहीं है, धर्मास्ति (काय) में नहीं है, अधर्मास्ति (काय) में नहीं है, आकाश और काल तथा पुद्गल में नहीं है और राग आदि भाव में भी नहीं है। आहाहा! यहाँ यह जीव का अधिकार पूर्ण होता है तो उसमें इस पूर्ण शक्ति का वर्णन करते हैं। आहाहा! **अतिव्याप्तिदोष से रहित है...** क्योंकि अन्य द्रव्यों में ऐसा जानन... जानन... जानन... जानन... जो स्वभाव, वह आत्मा के अतिरिक्त दूसरे द्रव्यों में नहीं है; आहाहा! इस कारण वह अतिव्याप्तिदोष से रहित है। **और वह प्रगट है;...** क्या कहते हैं? ज्ञान, त्रिकाली प्रभु भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूपी (ज्ञान की) ज्योति, उसकी पर्याय में ज्ञान प्रगट है, वह ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा है। चैतन्य ब्रह्म, सर्वज्ञ स्वरूपी प्रभु आत्मा है। आहाहा! यह उसकी पर्याय में ज्ञान की अवस्था प्रगट है। उसका लक्षण—ज्ञान का लक्षण वह ज्ञानलक्षण पर्याय में प्रगट है। अब ऐसी बातें!

मुमुक्षु : अभी....

पूज्य गुरुदेवश्री : अभी; त्रिकाल ज्ञान की पर्याय प्रगट है; राग हो तो राग भिन्न है,

शरीर भिन्न है और राग को जाननेवाली पर्याय है, वह ज्ञानलक्षण प्रगट है। आहाहा! मार्ग अलौकिक है!

मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायौ
पै निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो।

मुनिव्रत-पंच महाव्रत नग्नपना अनन्त बार लिया, अट्ठाईस मूलगुण जो साधु के कहे जाते हैं, वे अनन्त बार लिये, वह तो राग है; वह (कहीं) जीव नहीं है, वह जीव का स्वरूप नहीं है। आहाहा! मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायौ, पै निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो। —यह पंच महाव्रत है, अट्ठाईस मूलगुण (है), वह राग है, आकुलता है, दु:ख है। आहाहा!

मुमुक्षु : यहाँ तो पुद्गल कहा।

पूज्य गुरुदेवश्री : पुद्गल है, दु:ख है, आकुलता है, जड़ है, अजीव है। भगवान आत्मा चैतन्यलक्षण से जो लक्षित होता है, ऐसा कभी किया नहीं। आहाहा! ऐसा दिगम्बर साधु भी अनन्त बार हुआ, नग्नपना अनन्त बार, अट्ठाईस मूलगुण अनन्त बार पालन किये, वह तो राग है, वह तो अजीव है। आहाहा! वह तो पुद्गल है। आहाहा! भगवान आत्मा चैतन्यलक्षण से लक्षित है, ऐसा (समझ में) कभी नहीं लिया।

जानन... जानन जो पर्याय प्रगट है... आनन्द की पर्याय तो प्रगट नहीं, आनन्द तो अन्दर स्वभाव में शक्तिरूप आनन्द है परन्तु ज्ञान की पर्याय तो प्रगट है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! उस ज्ञान की पर्याय द्वारा द्रव्य का लक्ष्य करने से द्रव्य प्रगट होता है - यह कल आ गया है-कल आ गया था। समझ में आया? आहाहा!

व्यक्तं है न? यह चैतन्यलक्षण प्रगट है और उसमें जीव के यथार्थस्वरूप को प्रगट किया है। कल आया था, कल। आहाहा! सूक्ष्म बात है प्रभु! यह भगवान आत्मा जो सर्वज्ञ परमेश्वर ने कहा... वह अन्यमतियों में यह जो आत्मा-आत्मा करते हैं, वैसा आत्मा नहीं। यहाँ तो परमेश्वर त्रिलोकनाथ सर्वज्ञदेव जिसे आत्मा कहते हैं, ऐसे आत्मा की ज्ञान की पर्याय प्रगट है, उस पर्याय द्वारा अन्दर में लक्ष्य करने से आत्मा है, ऐसा ज्ञान में प्रगट भिन्न दिखाई देता है। आहाहा! समझ में आया?

प्रगट, जो रागादि प्रगट है परन्तु वह तो पुद्‌गल है-जड़ है। यहाँ तो चैतन्यस्वरूपी भगवान आत्मा की पर्याय में-अवस्था में चैतन्य का अंश व्यक्त / प्रगट है। आहाहा! वह चैतन्य का अंश जो प्रगट है, उसके द्वारा अन्तरद्रव्य में लक्ष्य करने से-त्रिकाली ज्ञायकभाव का लक्ष्य करने से, जो पर्याय प्रगट है, उसके द्वारा लक्ष्य करने से अन्तर में वस्तु प्रगट होती है। ज्ञान की पर्याय में, शक्तिरूप गुप्त भगवान है, वह ज्ञान में प्रगट दिखता है। आहाहा! ऐसी बात है। ऐसा वीतराग का मार्ग बहुत सूक्ष्म! अपूर्व मार्ग है। ऐसा (मार्ग) कहीं, किसी पन्थ में, किसी मार्ग में यह मार्ग नहीं है। आहाहा!

सर्वज्ञ परमेश्वर जिनेश्वर सर्वज्ञ को वीतरागदशा पूर्ण हुई तो वह (दशा) आयी कहाँ से ? अन्तर में सर्वज्ञस्वभाव और वीतरागस्वभाव भरा है, उसमें से वह पर्याय आती है। आहाहा! किसी राग की क्रिया—महाव्रत की, दया, दान की, उपवास करना, देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा करना, वह सब (भाव) तो राग है। आहाहा! उस राग में से सर्वज्ञता और वीतरागता नहीं होती। आहाहा! ऐसी बात है। पूर्व-पश्चिम का अन्तर है।

उस राग में से वीतरागता नहीं आती और राग में से सर्वज्ञता नहीं आती। सर्वज्ञ एक समय की पर्याय में से सर्वज्ञता नहीं आती। आहाहा! वह सर्वज्ञ पर्याय जो वर्तमान अवस्था प्रगट जो ज्ञानलक्षण है, वह त्रिकाली ज्ञायक को-ध्रुव को पकड़े, तब उसमें सर्वज्ञस्वभाव है और वीतरागस्वभाव से भरपूर भगवान है, तब उसकी दृष्टि जब हुई कि मैं तो ज्ञायक हूँ -चिदानन्द शुद्ध पूर्ण हूँ, पर्याय ऐसी प्रतीति करती है। आहाहा! वर्तमान ज्ञान की पर्याय ऐसी प्रतीति करती है कि मैं तो पूर्ण शुद्ध अखण्ड आनन्दकन्द हूँ, आहाहा! तब उस पर्याय में, शक्तिरूप गुप्त भगवान था,... पर्याय की अपेक्षा से गुप्त था, उस पर्याय की दृष्टि वहाँ गयी तो गुप्त था, वह प्रगट हो गया। आहाहा! ऐसी बातें हैं बापू! बहुत कठिन बात है। आहाहा! यह तो भाषा तो बहुत सादी परन्तु अब भाषा, भाषा से निकलती है! आहाहा! ऐसा स्वरूप, भगवान जिनेश्वर ऐसा फरमाते हैं, वह ये सन्त-दिगम्बर सन्त-केवलज्ञान के मार्गानुसारी, आहाहा! वे मार्ग को प्रसिद्ध / प्रगट करते हैं।

यह यहाँ तक आया है कि **इसलिए उसी का आश्रय ग्रहण करने से...** किसका ? कि जाननलक्षण जो प्रगट है, उसे ग्रहण करने से अथवा उसे अन्तर में (स्वसन्मुख) ले

जाने से, आहाहा!—यहाँ तो प्रगट है, उसे ग्रहण करने से। उस राग को ग्रहण नहीं करना। समझ में आया?

राग को और निमित्त को ग्रहण नहीं करना। जो ज्ञानपर्याय प्रगट लक्षण है, उससे ग्रहण करके, आहाहा! **जीव के यथार्थ स्वरूप का ग्रहण हो सकता है।** आहाहा! कितना? यह पण्डित जयचन्दजी! क्या कहते हैं कि राग और इन निमित्तों को ग्रहण करने से वह लक्षण आत्मा के हैं नहीं, उनसे कोई आत्मा प्राप्त नहीं होता। वे तो जड़ हैं। आहाहा! परन्तु भगवान आत्मा का प्रगट लक्षण जानन जो पर्याय में प्रगट-व्यक्त है, उसके द्वारा अन्दर व्यक्त को पकड़ने से—इसका अर्थ यह है कि उस ओर नजर का झुकाव करने से, ज्ञान की पर्याय को पकड़ने से अर्थात्? राग को पकड़ना छोड़कर, ज्ञान की पर्याय को पकड़ी तो तत्काल अन्दर में गया! आहाहा! बहुत सूक्ष्म बातें, बापू! आहाहा!

उसी का ग्रहण अर्थात् क्या? चैतन्य लक्षण, चैतन्य लक्षण का ग्रहण करने से-ऐसा कहा है। आहाहा! पर्याय कायम है न? कायम। चैतन्य... चैतन्य... चैतन्य... पर्याय—ज्ञान की पर्याय तो कायम अनादि से और अनन्त है। आहाहा! परन्तु उस पर्याय को ग्रहण करने से... राग को नहीं, अतिव्याप्ति अमूर्त को नहीं। आहाहा!

राग अव्याप्ति है; अमूर्तपना अतिव्याप्ति है और चैतन्यलक्षण यथार्थ वस्तु व्याप्ति है। आहाहा! अरे प्रभु! मार्ग बहुत-सम्यग्दर्शन कोई अलौकिक चीज़ है! और इस सम्यग्दर्शन के बिना सब व्यर्थ है। यह व्रत, तप, भक्ति साधुपना, सब क्रिया सब संसार खाते है। आहाहा! यहाँ परमात्मा तीर्थंकरदेव ने (जो) कहा, वह दिगम्बर सन्त मुनि जंगल में बसनेवाले कहते हैं।

प्रभु! एक बार सुन तो सही! तू है, तुझमें प्रत्येक अवस्था में व्याप्त हो तो वह ज्ञान है; राग प्रत्येक अवस्था में ज्ञात नहीं; इसीलिए वह तेरा स्वरूप / लक्षण नहीं है। आहाहा! तेरी ज्ञानपर्याय है, वह तो प्रत्येक अवस्था में व्याप्त है। आहाहा! इस कारण ज्ञान की पर्याय को (आत्मा का) लक्षण कहते हैं और उसे ग्रहण करने से... राग को नहीं, निमित्त को नहीं... ज्ञान की पर्याय को ग्रहण करने से दृष्टि वहाँ जाती है। आहाहा! ऐसी बात है, भाई! सुनना कठिन पड़े, लोग बाहर से कुछ का कुछ मानकर बैठे हैं। आहाहा!

इसलिए उसी का आश्रय ग्रहण करने से... अर्थात् ज्ञानलक्षण को लक्ष्य में लेने से और उससे लक्ष्य जो द्रव्य, उसके **यथार्थ स्वरूप का ग्रहण हो सकता है।** समझ में आया? आहाहा! कितनी सरस भाषा है, सादी (भाषा है) कहते हैं कि शरीर की क्रिया का लक्ष्य छोड़ दे, वह तो जड़ है। यह हलन-चलन तो जड़ की क्रिया है; अन्दर में दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध के भाव होते हैं, वे भी पुद्गल हैं जड़ हैं; तुझमें जो ज्ञान की पर्याय जो लक्षण प्रगट है, वह चैतन्यस्वभाव का लक्षण है तो तू उस लक्षण को ग्रहण करके अन्दर में जा, आहाहा! तो तेरा सर्वज्ञस्वरूप भगवान आत्मा चैतन्य के लक्षण से वह वस्तु व्याप्त हो जाती है, अर्थात् प्रगट होती है। आहाहा! ऐसी बात कहाँ? वीतराग... वीतराग... वीतराग... वीतराग... आहाहा!

दूसरी भाषा से कहें तो यह चैतन्यलक्षण जो पर्याय है, यह रागवाली नहीं, यह विकारवाली नहीं। आहाहा! भले है तो पर्याय, परन्तु विकार नहीं, ऐसी निर्विकारी चैतन्य पर्याय से... पर्याय, आत्मा का शाश्वत् लक्षण होने से, उसे ग्रहण करने से जीव की प्राप्ति होती है। कहो, देवीलालजी! ऐसी बातें हैं बापू! आहाहा! यह वस्तु (अन्यत्र कहीं) सुनने (मिले ऐसी नहीं।) देखो, पण्डित जयचन्दजी ने...

मुमुक्षु : अभी तो मानसिक ज्ञान है।

पूज्य गुरुदेवश्री : मानसिक ज्ञान पर्याय, ज्ञान की पर्याय है, वह तो ज्ञान के गुण की पर्याय है, चिन्ता-विकल्प वह तो आत्मा में नहीं, वह तो (आत्मा से) दूर कर दिया। यहाँ तो ज्ञान की जो पर्याय है, वह उस चैतन्यद्रव्य का लक्षण है क्योंकि त्रिकाल-कायम ज्ञान की पर्याय-पर्यायज्ञान रहता है। राग इसका लक्षण नहीं है। दया, दान, व्रत, भक्ति, राग तो बन्ध का कारण है, राग पुद्गल है। अर र! उसे छोड़कर, ज्ञान जो प्रगट है, भले पर्याय है परन्तु है तो ज्ञान; इस ज्ञान, आहाहा! इस ज्ञान की प्रगट पर्याय को... अरे! इसे ग्रहण करने से... यह कब ग्रहण (की है) इसने कभी (यह किया नहीं)। अनादि से राग की क्रिया - दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा राग है, यह करो, मन्दिर बनाओ, यह बनाओ, वह बनाओ, वह तो धूल है - पर है। आहाहा! समझ में आया? पण्डित जयचन्दजी ने भी, अन्दर आचार्य ने जो गाथा में कहा था-व्याप्त है न? व्यक्तं (लक्षण) उसे जीव का कहना

(कहकर) यथार्थस्वरूप को प्रगट किया है। है न अन्दर ? कलश में कल आया था। वह योग्य, यह (लक्षण) प्रगट है। चैतन्य, तत्त्व का-जीव का लक्षण कहा वह योग्य है। योग्य है अर्थात् प्रगट है। दो श्लोक आये हैं, है श्लोक ? आहाहा! ४२ श्लोक।

चैतन्यतत्त्व को जीव का लक्षण कहा, वह योग्य है। समुचित-सम्यक्त-यथावत् है और वह चैतन्यलक्षण प्रगट है। यह ४२, कलश नीचे है, नीचे की तीसरी लाईन। आहाहा! उस कलश में है, उसे यहाँ प्रगट करते हैं। आहाहा! है ?

अतिव्याप्ति, अव्याप्ति दूषण से रहित चैतन्यतत्त्व को जीव का लक्षण कहा, वह योग्य है-उचित है क्योंकि वह चैतन्यलक्षण पर्याय में प्रगट है। एक बात और **व्यग्जितजीव -तत्त्मय** और उस लक्षण से जीवतत्त्व जो है, वह प्रगट होता है-ख्याल में, प्रगट वस्तु है (ऐसा) ख्याल में आता है। आहाहा! है या नहीं ? ४२ वें कलश की अन्तिम तीन लाईनें-अन्तिम तीन लाईने हैं। आहाहा! कल (स्पष्टीकरण) बहुत विस्तार से आ गया था। आज (वापस) उसका यह विस्तार है, कल आया था, उसका ही यह विस्तार है। आहाहा!

मुमुक्षु : लक्ष्य को पकड़े तो लक्षण कहलाये न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु तब पकड़े, लक्षण तो पकड़े तो लक्ष्य में जाये-जिसका लक्षण है, उसे पकड़े तो लक्ष्य में जाये! इस राग को तो अनादि से पकड़ा है, कहते हैं आहाहा! ऐसा राग-पंच महाव्रत का भी अनन्त बार लिया है। अनन्त बार नग्न-मुनि (हुआ) अनन्त बार हुआ है और पंच महाव्रत की क्रिया... प्राण जाये तो भी उसके लिये बनाया हुआ आहार न ले! चौका बनाकर बनावै वह तो न ले, ऐसी राग की क्रिया तो इसने अनन्त बार की है। समझ में आया ? आहाहा!

यह तो चौका बनाते हैं और (आहार) लेते हैं, वह तो सच्चा व्यवहार ही नहीं है। आहाहा! ऐसी राग की क्रिया... इसके लिये पानी की बूँद (प्रासुक जल) बनायी हो तो ले नहीं-ऐसी-ऐसी राग की क्रिया इसने अनन्त बार की। आहाहा! परन्तु अन्तर चैतन्यलक्षण से लक्षित, चैतन्य यह चेतन का लक्षण है। यह राग, उसका लक्षण नहीं। ऐसा चैतन्यलक्षण है, उसे ग्रहण करके चैतन्य का ग्रहण करना, वह वस्तु का स्वरूप है। आहाहा!

मुमुक्षु : पहले लक्षण ग्रहण करना ?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ; राग से भिन्न चैतन्यलक्षण पकड़े तो वह लक्षण द्रव्य का है, तो वहाँ दृष्टि जाये। अरे! वीतरागमार्ग में ऐसी बातें, बापू! आहाहा! जिनेश्वर त्रिलोकनाथ (तीर्थंकरदेव) ऐसा फरमाते हैं, वह सन्त फरमाते हैं–दिगम्बर सन्त! आहाहा!

मुमुक्षु : सच्चा लक्षण तो अनुभव हो तब कहलाये न?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह लक्षण प्रगट हुआ, तब अन्तर में गया, तब इसे अनुभव हुआ! आहाहा! इसीलिए कहा न, उसका स्पष्टीकरण किया है। जो चैतन्यलक्षण है, वह उचित है। पर्याय में लक्षण है, वह उचित है–यहाँ ऐसा कहना है न! और वह चैतन्यलक्षण प्रगट है। चैतन्यलक्षण जो जाननपर्याय है, वह प्रगट है और उसने जीव के यथार्थ स्वरूप को प्रगट किया है। कल तो बहुत बात आ गयी थी। आहाहा!

भगवान आत्मा की चैतन्य पर्याय जो जानन... जानन... जानन..., वह तो तीनों ही काल में जानन पर्याय रहती है; इसीलिए उसका यह लक्षण है। राग उसका लक्षण नहीं, शरीर की क्रिया उसका लक्षण नहीं, वह तो पुद्गल का लक्षण है। आहाहा! और यह चैतन्यलक्षण... राग से भिन्न सूक्ष्म पर्याय पकड़ना, वह कहीं साधारण बात है!? आहाहा!

इन्द्रियों के विषय बन्द हो जायें और राग की ओर का लक्ष्य छूट जाये! यह क्या है? आहाहा! यह चैतन्यलक्षण जो पर्याय में है, वहाँ लक्ष्य हो जाये, दृष्टि वहाँ ग्रहण कर ले। आहाहा! तो उससे चैतन्य प्रगट होता है। जिसका लक्षण है, उस लक्षण को प्रगट करने से–लक्षण जिसका है, ऐसा लक्ष्य प्रगट हो जाता है। बात तो ऐसी है प्रभु! आहाहा! यह बात दिगम्बर सन्तों के अतिरिक्त कहीं नहीं है, आहाहा! कहीं यह बात नहीं है।

मुमुक्षु : लक्ष्य-लक्षण एकसाथ प्रगट होते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : लक्षण प्रगटा तब वह लक्ष्य में अन्दर गया (क्योंकि) जिसका लक्षण है, उसका लक्षण प्रगटा, तब उसमें गया। आहाहा!

मुमुक्षु : दोनों का काल एक ही है?

पूज्य गुरुदेवश्री : अन्दर में समय एक ही है परन्तु भाषा में तो कैसे कहना? (भाषा में तो भेद पड़ते हैं) यह... यह... चैतन्य है, राग नहीं। निर्मल पर्याय, हों! ऐसा लक्ष्य गया

तो वहाँ उस लक्ष्य में द्रव्य आ गया लक्ष्य में! आहाहा! ऐसी बातें हैं। आहाहा! क्या श्लोक! क्या श्लोक!! (अलौकिक)।

यह श्वेताम्बर के ४५ सूत्र पढ़े-करोड़ों श्लोक पढ़े परन्तु यह बात उनमें नहीं निकलती। आहाहा! हमने तो सब देखे हैं न! करोड़ों श्लोक श्वेताम्बर के देखे हैं। आहाहा! यह चीज़... यह चीज़ (उसमें नहीं है)। आहाहा!

मुमुक्षु : (श्वेताम्बर के) करोड़ों श्लोकों में राग पुद्गल है, ऐसा नहीं आया?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह यहाँ आया न पुद्गल! उनमें कहीं नहीं आया। वे तो शुभयोग से कल्याण भी होता है और बन्ध भी होता है दोनों (बात) आती है। तत्पश्चात् आनन्दघनजी ने थोड़ा पकड़ा है परन्तु वह सब बाद में, मूल चीज़ तो... सूक्ष्म बात है बापू! आनन्दघनजी ने सूत्र और टीका को मान्य रखा है, ऐसी बात है।

मुमुक्षु : श्वेताम्बरपना कायम रखा है?

पूज्य गुरुदेवश्री : कायम रखा है! सूक्ष्म बात है, प्रभु! यह श्वेताम्बर मत है, वह गृहीत मिथ्यात्व से उत्पन्न हुआ है। दिगम्बर में से दो हजार वर्ष पहले निकला है, दुष्काल-बारह वर्ष का दुष्काल पड़ा तो वे स्वभाव से भ्रष्ट बनकर, नये शास्त्र बनाये। उसमें से ये सब ले लिया। यह बात उनमें नहीं है। अब कोई (कोई) अभी जरा कहते हैं, दूसरों का सुनकर-यहाँ का / दिगम्बर का सुनकर (कहते हैं) परन्तु यह चीज़ वहाँ नहीं है। आहाहा! वहाँ तो व्यवहार करते-करते निश्चय होगा, व्यवहार भी साधन और मोक्ष का मार्ग है, ऐसा कहते हैं। अभी तो यहाँ सम्प्रदाय में-दिगम्बर सम्प्रदाय में भी ऐसा कहते हैं, वह श्वेताम्बर का प्रकार हो गया है। व्रत, तप, भक्ति, पूजा बहुत करो, (वह) साधन है, उससे धर्म होगा। (उससे) साध्य-निश्चय होगा। (यह बात) बिलकुल झूठ है क्योंकि उन सब (भावों को) यहाँ तो पुद्गल कहा है न! (कहा कि) पुद्गल के (भाव) हैं। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने (कहा है)। आहाहा!

ये (दिगम्बर सन्त) कुन्दकुन्दाचार्य दो हजार वर्ष पहले (संवत् ४९ में) हुए हैं। वे भगवान (सीमन्धरस्वामी के) पास गये थे, वहाँ (महाविदेह में) सीमन्धर प्रभु (विराजमान हैं) वहाँ आठ दिन रहे और (वहाँ से आकर) ये शास्त्र बनाये! ओहोहो! राग इसका लक्षण

नहीं, क्योंकि रागभाव प्रत्येक अवस्था में नहीं रहता (और) शरीर आदि जड़ इसका लक्षण नहीं क्योंकि (जीव की) प्रत्येक अवस्था में शरीर नहीं रहता। आहाहा! यह ५० से ५५ गाथा में कहा है न कि रंग, राग से भिन्न, भेद से भिन्न... रंग अर्थात् गंध, रस, स्पर्श, संहनन, संस्थान से भिन्न, परन्तु राग से भिन्न और रंग-राग से भिन्न और भेद से भिन्न! आहाहा! भगवान ने ५० से ५५ गाथा में ऐसा कहा है। कुन्दकुन्दाचार्य दिगम्बर सन्त... आहाहा! जगत को जाहिर करते हैं कि परमात्मा का यह फरमान है, भाई! आहाहा! तेरा लक्ष्य जो राग और निमित्त पर है, वह कहीं चैतन्य का लक्षण नहीं है। आहाहा! वहाँ से वह लक्ष्य छोड़ दे! आहाहा! जानन... जानन... जानन... जानन... जानन... जो दशा, वह चैतन्य का लक्षण है, तो उसे पकड़ / ग्रहण कर और उससे चैतन्य (तत्त्व) प्रगट हो जाता है। जिसका लक्षण है, लक्षण को पकड़ा तो चैतन्य प्रगट हो जाता है। वहाँ (लक्षण में) लक्ष्य कर, ऐसा कहते हैं। ऐसी बात है बापू! क्या हो? अभी तो इतने झगड़े खड़े हुए हैं। आहाहा! कोई कहे यह एकान्त है, अमुक है। व्यवहार से भी होता है ऐसा मानते नहीं! परन्तु व्यवहार पुद्गल है, कहाँ से माने? सुन तो सही।

यहाँ तो भगवान कुन्दकुन्दाचार्य (ने) व्यवहार क्रियाकाण्ड को पुद्गल कहा! तेरे छह-छह महीने के उपवास किये हों, वह तो राग की क्रिया है, वह कहाँ आत्मा है? आहाहा! लाख-करोड़ सम्मेदशिखर की यात्रा कर और गिरनार की, वह तो शुभराग है। परलक्ष्यी (भाव) वह तो राग है, वह कहीं चैतन्यवस्तु नहीं है। आहाहा!

कलश-४३

अब, 'जब कि ऐसे लक्षण से जीव प्रगट है, तब भी अज्ञानीजनों को उसका अज्ञान क्यों रहता है?'—इस प्रकार आचार्यदेव आश्चर्य तथा खेद प्रगट करते हैं:—

जीवादजीवमिति लक्षणतो विभिन्नं
ज्ञानी जनोऽनुभवति स्वयमुल्लसंतम्।
अज्ञानिनो निरवधिप्रविजृम्भितोऽयं
मोहस्तु तत्कथमहो बत नानटीति।।४३।।

श्लोकार्थ - [इति लक्षणतः] यों पूर्वोक्त भिन्न लक्षण के कारण [जीवात् अजीवम् विभिन्नं] जीव से अजीव भिन्न है [स्वयम् उल्लसन्तम्] उसे (अजीव को) अपने आप ही (स्वतन्त्रपने, जीव से भिन्नपने) विलसित होता हुआ - परिणमित होता हुआ [ज्ञानी जनः] ज्ञानीजन, [अनुभवति] अनुभव करते हैं, [तत्] तथापि [अज्ञानिनः] अज्ञानी को [निरवधि-प्रविजृम्भितः अयं मोहः तु] अमर्यादरूप से फैला हुआ यह मोह (अर्थात् स्वपर के एकत्व की भ्रान्ति) [कथम् नानटीति] क्यों नाचता है — [अहो बत] यह हमें महा आश्चर्य और खेद है!।।४३।।

कलश- ४३ पर प्रवचन

अब, 'जब कि ऐसे लक्षण से जीव प्रगट है, तब भी अज्ञानीजनों को उसका अज्ञान क्यों रहता है ?' आहाहा! अब क्या कहते हैं ? कि यह भगवान आत्मा चैतन्यमूर्ति –ज्ञानानन्दस्वरूप, इसकी पर्याय में चैतन्यलक्षण तो प्रगट है, तथापि अज्ञानी उसे क्यों नहीं जानता ? और राग तथा पुण्य की क्रिया को—दया, दान, व्रतादि को धर्म मानता है, क्या हुआ तेरा अज्ञान ? आहाहा! ऐसी बातें प्रभु! **इस प्रकार आचार्यदेव आश्चर्य तथा खेद प्रगट करते हैं** - ४३ है न!

जीवादजीवमिति लक्षणतो विभिन्नं
ज्ञानी जनोऽनुभवति स्वयमुल्लसंतम्।
अज्ञानिनो निरवधिप्रविजृम्भितोऽयं
मोहस्तु तत्कथमहो बत नानटीति।।४३।।

आहाहा! **श्लोकार्थ - इति लक्षणतः यों पूर्वोक्त भिन्न लक्षण के कारण...** क्या कहा ? राग नहीं, पुण्य-पाप के भाव नहीं, शरीर, वाणी, रंग नहीं—रंग और राग से भिन्न भगवान, ऐसे **भिन्न लक्षण के कारण...** आहाहा! भगवान का-चैतन्यप्रभु तो जानन चैतन्यलक्षण है, उस लक्षण के कारण से **'जीवात् अजीवम् विभिन्नं' जीव से अजीव भिन्न है...** चैतन्यलक्षण से लक्षित प्रभु है, इस कारण जीव और अजीव भिन्न है। आहाहा! इसलिए **(अजीव को) अपने आप ही (स्वतन्त्रपने, जीव से भिन्नपने) विलसित होता**

हुआ... क्या कहते हैं? अपने आप ही (स्वरूप से) जीव से भिन्नरूप से (विलसता परिणमता) धर्मी जीव को... आहाहा! अपने ज्ञानलक्षण से लक्षित अनुभव करने से अजीव-रागादि तो भिन्न हो जाते हैं, भिन्न ही (वे) रहते हैं। आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म बात भाई! अनन्त काल से कोई एक सेकेण्ड धर्म किया नहीं कभी! आहाहा! वह चीज़ कोई अलौकिक होगी न! आहाहा! और उसका फल भी अलौकिक है न! आहाहा!

यों पूर्वोक्त भिन्न लक्षण के कारण... इति लक्षणतः कहा न! राग को पर के लक्षण से भिन्न लक्षण के कारण **जीव से अजीव भिन्न है...** भगवान ज्ञानलक्षण से लक्षित है तो अजीव, अजीव रागादि, वह भिन्न है। **'स्वयम् उल्लसन्तम्' उसे (अजीव को) अपने आप ही...** रागादि **अपने आप ही (स्वतन्त्रपने, जीव से भिन्नपने)...** आहाहा! राग, दया, दान, व्रत के विकल्प हैं, वे ज्ञानी को स्वयं भिन्न भासित होते हैं। अपने ज्ञानलक्षण से अनुभव करने से वे रागादि लक्षण भिन्न रहते हैं, आत्मा में आते नहीं। आहाहा! आहाहा! **(स्वतन्त्रपने, जीव से भिन्नपने) विलसित होता हुआ - परिणमित होता हुआ ज्ञानीजन, भिन्न अनुभव करते हैं,...** समझ में आया? जीव से अजीव का भिन्न (रूप) अनुभव करते हैं। चैतन्यलक्षण से लक्षित भगवान का अनुभव करने से रागादि क्रियाओं को भिन्न जानते हैं। आहाहा! 'जाना हुआ प्रयोजनवान' यह आया, यह शैली ली है। भिन्न जानते हैं, यह शैली ली है।

चैतन्यलक्षण... ये दूसरे (जो लक्षण) अव्याप्ति, अतिव्याप्ति लक्षणों से भिन्न, उस चैतन्यलक्षण से भगवान जानने में आया। तो धर्मी जीव को चैतन्यलक्षण से आत्मा का अनुभव होने से अजीव के भाव को भिन्न अनुभव करता है, वे अपने अनुभव में नहीं आते। आहाहा! दूसरे प्रकार से कहें तो... चैतन्यलक्षण से लक्षित भगवान का अनुभव करने से, जो राग बाकी है, वह भिन्न अनुभव में अर्थात् भिन्नरूप से-भिन्न जानने में आता है। 'जाना हुआ प्रयोजनवान' जो बारहवीं गाथा में कहा है। आहाहा! समझ में आया? भिन्न ज्ञान का भिन्न ज्ञान होता है। आहाहा! ऐसी बातें बहुत कठिन, परमसत्य तो यह है भाई! आहाहा!

अब **ज्ञानीजन, अनुभव करते हैं, तथापि...** अरे रे! ऐसा होने पर भी-ज्ञान के लक्षण से अन्तर अनुभव आत्मा का होने पर भी, ज्ञानी को राग स्वतंत्ररूप से उसके कारण

से वहाँ उत्पन्न होता है, वह (राग) अपने अनुभव में नहीं आता, ऐसा वस्तु का स्वरूप है **तथापि अज्ञानी को 'निरवधि-प्रविजृम्भितः अयं मोहः तु'** आहाहा! **अमर्यादरूप से फैला हुआ यह मोह...** आहाहा! अरे! राग में मेरी चीज़ है और राग से लाभ हुआ, ऐसी एकत्वबुद्धि मिथ्यात्व की है। आहाहा! **क्यों नाचता है...** है इसमें? ऐसा कहा न?— **निरवधि** अरे रे! मोह-राग मेरा है और राग से लाभ होता है, निरवधि-मर्यादारहित मोह है- माहमिथ्यात्व मोह है, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

वह **अमर्यादरूप से फैला हुआ यह मोह (अर्थात् स्व-पर के एकत्व की भ्रान्ति)... (क्यों नाचता है)**। चैतन्यलक्षण से लक्षित अनुभव में आनेवाला... अज्ञानी को अजीव भिन्न रहता है तो भी अज्ञानी को अजीव, आत्मा का है, राग आत्मा का है—ऐसी भ्रान्ति -मर्यादारहित मिथ्यात्व क्यों उत्पन्न होता है। आहाहा! है? **'कथम् नानटीति' क्यों नाचता है...** मोह क्यों होता है? परन्तु यहाँ तो कहते हैं वह नाचता है क्योंकि अज्ञानी नाच रहा है। क्योंकि मिथ्यात्व में-एकत्वबुद्धि है न! भगवान ने कहा-(हमें) महा आश्चर्य और खेद है। फिर कहते हैं कि वह तो नाचता है तो पुद्गल नाचे, जीव को (उसमें) क्या है? परन्तु यहाँ तो पहले अज्ञानी राग से एकत्व मानता है तो मिथ्यात्व से नाचता है। आहाहा!

राग तो ज्ञानी को भी आता है परन्तु वह राग पररूप से जानने में आता है, अपना है, ऐसा नहीं। आहाहा! स्व-पर की भ्रान्ति एकत्व (बुद्धि की) क्यों नाचती है? **यह हमें महा आश्चर्य है!** क्योंकि चैतन्यलक्षण से लक्ष्य प्रत्यक्ष प्रगट है, उसे छोड़कर राग की एकत्वबुद्धि में मोह क्यों नाचता है? क्यों परिणमता है? आहाहा!

अहो! **महा आश्चर्य और खेद है!** मुनि हैं न, जरा राग है तो खेद है। आहाहा! अब यह (अज्ञानी) क्या करता है? भगवान अन्दर चैतन्यलक्षण से लक्षित विराजमान है, उसे छोड़कर यह राग—दया, दान, व्रत, भक्ति का राग मेरा है, उससे मुझे लाभ होगा (ऐसा मानकर) नाचता है (परिणमता है) यह मिथ्यात्व क्यों नाचता है? आहाहा! आश्चर्य! ऐसी बात है।

जबकि ज्ञानी चैतन्यलक्षण का (लक्ष्य करके) चैतन्यलक्षण से (आत्मा का) अनुभव करता है तो अजीव भिन्न रह जाता है, तो यह अज्ञानी अजीव को एक मानकर मोह

में क्यों नाचता है? अपने चैतन्यलक्षण से लक्षित आत्मा को क्यों भूल जाता है? आहाहा! यह तो बड़ा सिद्धान्त है-सिद्ध हुआ सिद्धान्त। आहाहा! सिद्धान्त है। जिसमें सिद्धपद की प्राप्ति हो, वह सिद्धान्त है। समझ में आया? इससे सिद्धान्त ऐसा सिद्ध (होता है कि) जिससे सिद्धपद की प्राप्ति हो, संसार की प्राप्ति हो। वह सिद्धान्त ही नहीं। आहाहा!

आचार्य हैं, दिगम्बर-सन्त हैं आनन्द के अनुभव की जिनकी मोहर-छाप पड़ी है- अतीन्द्रिय आनन्द मुनि को अर्थात् सच्चे सन्त तो हो उसे तो अतीन्द्रिय प्रचुर आनन्द (होता है) आनन्द की मोहर-छाप (जिनकी है) अतीन्द्रिय आनन्द का प्रचुर वेदन वर्तता है, उन मुनि को थोड़ा राग है तो (मुनिराज कहते हैं कि) अरे, अज्ञानी को क्यों (राग नाचता है)? अरे ऐसी चीज़ पड़ी है, चैतन्यलक्षण से लक्षित! प्रगट चैतन्य होनेवाली चीज़ है, उसे छोड़कर यह राग मेरा है, राग लक्षण जीव का है (ऐसा) मानकर यह मोह में क्यों नाचता है? कहो, हमें आश्चर्य होता है! आहाहा! चैतन्य-ज्ञानलक्षण से लक्षित, अनुभव में आनेवाला आत्मा, धर्मी को तो उसका अनुभव होता है, सम्यग्दृष्टि को चौथे गुणस्थान में ज्ञान से आत्मा जानने में आया, तब आत्मा का अनुभव होता है, राग का नहीं, राग भिन्न है। आहाहा! यहाँ चौथे गुणस्थान से बात है।

यहाँ तो मुनि कहते हैं, छठे गुणस्थान में मुनि विराजते हैं, आनन्द में झूलते हैं, तो उन्हें विकल्प आया, ये (कलश) बनाये, उसमें कहते हैं कि अरे रे! प्रभु! यह तेरा आत्मा चैतन्यलक्षण से लक्षित प्रभु अन्दर विराजता है, वहाँ क्यों नहीं जाता और यह राग जो तेरी किसी अवस्था में... सकल अवस्था में व्याप्त नहीं रहता, किसी में है; ऐसे राग को पकड़कर अजीव का अनुभव क्यों करता है? ऐसी बात है। ऐसा उपदेश ही सुनना कठिन पड़ता है। है? वह तो ऐसा सीधा-उपवास करो, व्रत करो, बारह व्रत लो, पंच महाव्रत लो... ऐई! सीधा-सट्ट, है अज्ञान! आहाहा!

यहाँ तो परमात्मा ने कही हुई बात सन्त-दिगम्बर सन्त आढ़तिया होकर दुनिया को माल देते हैं। माल लेना हो तो लो, वरना माल तो यही है। आहाहा! खेद है न! यहाँ दूसरा कहीं खेद का खुलासा किया है... ऐसा कि जरा राग है, वहाँ ऐसा कहा है, इसमें स्पष्टीकरण नहीं है। ऐसा कि मुनि को भी ऐसा क्यों होता है? अन्यत्र कहीं आया है, आया था, खेद

क्यों होता है ? ये तो मुनि हैं ! आत्मा के आनन्द का अनुभव (प्रचुर वर्तता है) परन्तु जरा विकल्प है। तो... यह क्या करते हैं ? आहा ! प्रभु इस राग का अनुभव करके, राग का वेदन करके (राग से) आत्मा को लाभ होता है, ऐसा क्यों मानते हो ? ऐसे मोह में तुम क्यों नाचते हो ? आहाहा ! आहाहा ! कहो, देवीलालजी ! आहाहा !

मुमुक्षु : करुणारूप खेद है।

पूज्य गुरुदेवश्री : है ? करुणा-राग है, परन्तु वहाँ विकल्प आया है और छद्मस्थ है न। वीतराग सर्वज्ञ हो तो कुछ आवे नहीं। इन्हें (साधक) ऐसा जानते हैं कि (राग) भिन्न है, मेरी चीज़ नहीं, आहाहा ! (तथापि) अज्ञानी ऐसा मानता है। ऐसा आत्मा भगवान अन्दर चिदानन्द प्रत्यक्ष विराजता है और जिसकी ज्ञान की पर्याय, प्रगट लक्षण है तो उस प्रगट लक्षण के नमूना से अन्दर जाया जाता है, ऐसा अनुभव ये करते नहीं और इस अकेले राग का अनुभव करते हैं, आश्चर्य ! आहाहा ! भगवान त्रिलोकनाथ चैतन्य प्रभु अन्दर विराजता है, सद्‌चिदानन्द प्रभु ज्ञानगंज ! आनन्द का गंज ! प्रभु प्रज्ञा ब्रह्म !—प्रभु आत्मा तो है ज्ञान और आनन्द का पुंज। आहाहा !

उसमें (आत्मा में) राग कैसा ? नवतत्त्व हैं न ! उसमें राग तो पुण्यतत्त्व है तथा (अशुभराग) पापतत्त्व है, भगवान ज्ञायकतत्त्व है। आहाहा ! दूसरे तत्त्व से, दूसरे तत्त्व में मिला देते हैं तो तत्त्व भिन्न नहीं रहते। आहाहा ! व्रत, तप, भक्ति, पूजा आदि भाव, वे कोई जैनधर्म नहीं है, वह तो राग है। आहाहा ! उस राग को अपना मानकर चैतन्य के लक्षण का अनुभव तू क्यों भूल जाता है ? साक्षात् (प्रगट) विराजता है, उसे भूल जाता है और यह क्या ? तेरी चीज़ में नहीं, उसे अपना मानकर तू अनुभव करता है, मिथ्यात्वभाव है, आश्चर्य है ! प्रभु ! तेरी चीज़ पड़ी है, उसे भूलकर (राग का अनुभव करता है) आश्चर्य होता है। यहाँ तो ऐसा कहते हैं। (आहा) क्षणिक विकृत अवस्था को अपनी मानकर त्रिकाली को (निर्मलानन्द को) भूल जाता है, आश्चर्य है ! आहाहा ! ऐसी बातें हैं। यह सन्त-दिगम्बर मुनि कहते हैं। भगवान तीन लोक के नाथ कहते हैं, वह सन्त कहते हैं। आहाहा ! **अहोवत्** है न ? अहो अर्थात् आश्चर्य और वत् अर्थात् खेद ! **अहोवत्** अहो ! आश्चर्य (और) वत् - खेद, ये दो शब्द !

मुमुक्षु : कलश २२२ में खेद का आया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : २२२ में है, ठीक! ख्याल में है न! यहाँ इस (खेद शब्द का) स्पष्टीकरण नहीं किया, वहाँ यह स्पष्टीकरण किया है।

कलश-४४

अब, पुनः मोह का प्रतिषेध करते हुए कहते हैं कि 'यदि मोह नाचता है तो नाचो? तथापि ऐसा ही है' :—

अस्मिन्ननादिनि महत्यविवेकनाट्ये
वर्णादिमान्नटति पुद्गल एव नान्यः।
रागादिपुद्गलविकारविरुद्धशुद्ध-
चैतन्यधातुमयमूर्तिरयं च जीवः।।४४।।

श्लोकार्थ - [अस्मिन् अनादिनि महति अविवेक-नाट्ये] इस अनादिकालीन महा अविवेक के नाटक में अथवा नाच में [वर्णादिमान् पुद्गलः एव नटति] वर्णादिमान पुद्गल ही नाचता है, [न अन्यः] अन्य कोई नहीं; (अभेद ज्ञान में पुद्गल ही अनेक प्रकार का दिखायी देता है, जीव अनेक प्रकार का नहीं है;) [च] और [अयं जीवः] यह जीव तो [रागादि-पुद्गल-विकार-विरुद्ध-शुद्ध-चैतन्यधातुमय-मूर्तिः] रागादिक पुद्गल-विकारों से विलक्षण, शुद्ध चैतन्यधातुमय मूर्ति है।

भावार्थ - रागादिक चिद्विकार को (-चैतन्यविकारों को) देखकर ऐसा भ्रम नहीं करना कि ये भी चैतन्य ही हैं, क्योंकि चैतन्य की सर्व अवस्थाओं में व्याप्त हों तो चैतन्य के कहलायें। रागादि विकार सर्व अवस्थाओं में व्याप्त नहीं होते—मोक्ष अवस्था में उनका अभाव है और उनका अनुभव भी आकुलतामय दुःखरूप है। इसलिए वे चेतन नहीं, जड़ हैं। चैतन्य का अनुभव निराकुल है, वही जीव का स्वभाव है ऐसा जानना।।४४।।

कलश - ४४ पर प्रवचन

अब, पुनः मोह का प्रतिषेध करते हुए कहते हैं कि 'यदि मोह नाचता है तो नाचो ?... हम तो आत्मा आनन्दस्वरूप-ज्ञानस्वरूप हैं। आहाहा! कितना आया? ४४

अस्मिन्ननादिनि महत्यविवेकनाट्ये
वर्णादिमान्नटति पुद्गल एव नान्यः।
रागादिपुद्गलविकारविरुद्धशुद्ध-
चैतन्यधातुमयमूर्तिरयं च जीवः।।४४।।

आहाहा! आहाहा! '**अस्मिन् अनादिनि महति अविवेक-नाट्ये**' अरे रे! **इस अनादिकालीन महा अविवेक के नाटक में अथवा नाच में वर्णादिमान पुद्गल ही नाचता है,** आहाहा! '**न अन्यः**' **अन्य कोई नहीं;...** वर्ण और राग, सब वर्णादिमान पुद्गल हैं, वे नाचते हैं, चार गति में परिणमन करते हैं (उसमें) राग और पुद्गल नाचता है। भगवान-आत्मा तो इस राग और पुद्गल में है नहीं। आहाहा! है? आत्मा जो आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा, वह तो ज्ञानस्वरूप है, वह तो राग और पुद्गल में आता नहीं। तो कहते हैं कि अनादिकाल से यह शरीर, वाणी, मन, पुद्गल जड़ है, वैसे (ही) पुण्य-पाप के भाव, दया, दान, व्रतादि के भाव भी पुद्गल है तो यह पुद्गल नाचता है तो नाचो! आत्मा उसमें तो आता नहीं। आहाहा! ऐसी बातें हैं। आहाहा!

अनादिकाल से महा अविवेक का नाटक... अविवेक का नाटक! आहाहा! भगवान आनन्दस्वरूप ज्ञानस्वरूप प्रभु है, उसे छोड़कर शुभ-अशुभभाव / राग जो दया, दान, व्रत, भक्ति, तप आदि का भाव होता है, वह पुद्गल है, आहाहा! वह जीवद्रव्य नहीं। तो वह पुद्गल नाचता है तो नाचो, उसमें आत्मा का क्या आया? आहाहा! सन्तों की यह वाणी तो देखो! आहाहा!

वर्णादिमान पुद्गल... वर्णादि में रंग, राग और भेद सब ले लेना। **वर्णादिमान पुद्गल ही नाचता है, अन्य कोई नहीं;...** उसमें आत्मा नहीं आया। (**अभेद ज्ञान में पुद्गल ही अनेक प्रकार का दिखाई देता है,...**) क्या कहते हैं? भगवान आत्मा का-

ज्ञानस्वभाव का अनुभव हुआ–अभेदज्ञान का अनुभव हुआ तो राग आदि पुद्‌गलरूप दिखाई देते हैं। आहाहा! अनेक प्रकार के दिखाई देते हैं, वह पुद्‌गल दिखाई देते हैं। भगवान है एक, (वह) अनेक प्रकार नहीं होता। आहाहा! भगवान अर्थात् यह आत्मा, हों! वह एकरूप ज्ञानानन्दस्वभाव से विराजमान है। उससे विरुद्ध रागादिभाव दया, दान, व्रत, काम, क्रोधादि भाव, वह पुद्‌गल है। आहाहा! **(अभेद ज्ञान में पुद्‌गल ही अनेक प्रकार का दिखायी देता है,...)** ऐसा कहा न! आहाहा! जीव अनेक प्रकार का नहीं। आहाहा!

भगवान आत्मा सद्‌चिदानन्द प्रभु एकरूप अभेद है। उसमें रागादि के भेद दिखाई नहीं देते। आहा! ऐसी बातें, पकड़ना कठिन पड़े अभी। यह उपदेश ही विरल हो गया है। आहाहा! 'विरले जानैं तत्त्व को, विरले सुनते कोई' विरले जाने कोई, विरले श्रद्धे कोई, (विरले समझे कोई।) आहाहा! **(जीव अनेक प्रकार का नहीं है;) और यह जीव तो रागादिक पुद्‌गल-विकारों से विलक्षण,...** है। चैतन्यतत्त्व भगवान आत्मा-ज्ञायक -स्वभावभाव यह प्रभु, राग आदि विकाररूप कभी नहीं होता। आहाहा! पुद्‌गल विकार से विलक्षण है, शुद्धचैतन्य की मूर्ति-चैतन्यधातुमय है। प्रभु! शुद्ध चैतन्यधातु—सहजानन्द प्रभु, वह आत्मा है। यह तो पुद्‌गल रागादि नाचे तो नाचो, उसमें आत्मा को क्या है?

विशेष आयेगा। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १४३ श्लोक-४४-४५ दिनाङ्क २२-११-१९७८, बुधवार
कार्तिक कृष्ण ८, वीर निर्वाण संवत् २५०४

कलश ४४ का भावार्थ। **रागादिक चिद्‌विकार को (-चैतन्यविकारों को) देखकर ऐसा भ्रम नहीं करना कि ये भी चैतन्य ही हैं,...** क्या कहते हैं? कि इसकी पर्याय में राग और द्वेष तथा विकार की दशा देखकर, उसके प्रति लक्ष्य नहीं करना, यह भ्रम नहीं करना कि वह चैतन्य का स्वरूप है, ऐसा। उसके प्रति लक्ष्य छोड़कर ज्ञान की परिणति द्वारा द्रव्य का लक्ष्य करना और उसका अनुभव करना, वह चैतन्य है। पर्याय में राग और द्वेष, पुण्य और पाप, वह चिद्‌विकार है परन्तु वह देखकर ऐसा भ्रम नहीं करना कि यह मेरी चीज़ है क्योंकि यह राग और द्वेष, दया, दान आदि के परिणाम आत्मा की प्रत्येक

अवस्था में व्याप्त नहीं होते; इसलिए ये रागादि चिद्विकार देखकर वहाँ लक्ष्य नहीं बाँधना। आहाहा! ज्ञान की पर्याय द्वारा त्रिकाली द्रव्य का लक्ष्य करना, उसका अनुभव करना, वह चैतन्य है। आहाहा!

क्योंकि चैतन्य की सर्व अवस्थाओं में व्याप्त हों... भगवान ज्ञानस्वरूपी प्रभु की प्रत्येक अवस्था में रहे तो उसकी चीज़ कहलाये। आहाहा! **रागादि विकार सर्व अवस्थाओं में व्याप्त नहीं होते...** यह विकल्प जो है रागादि, वह कहीं आत्मा की प्रत्येक अवस्था में नहीं रहते। है न? **मोक्ष अवस्था में उनका अभाव है...** आहाहा! सिद्ध क्या करना है? कि विकार की दशा हो परन्तु वह चैतन्यस्वरूप की नहीं है अर्थात् विकारदशा हो परन्तु वहाँ लक्ष्य करनेयोग्य नहीं है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! लक्ष्य तो चैतन्य परिणति द्वारा चैतन्यस्वरूप की दृष्टि करके अनुभव करनेयोग्य है। आहाहा! ऐसी बात है। एक बात–उसकी प्रत्येक अवस्था में व्याप्त नहीं है, इसलिए वे चैतन्य का स्वरूप नहीं; इसलिए उन्हें लक्ष्य में लेने योग्य नहीं। प्रथम, इसे लक्ष्य में ज्ञायकस्वरूप है, उसे लक्ष्य में लेकर और जो ज्ञान-अनुभव हो, पश्चात् राग है, उसे जाने कि मुझमें नहीं है। आहाहा! ऐसी बात है। एक बात।

और उनका अनुभव भी आकुलतामय दुःखरूप है। आहाहा! चाहे तो वह विकल्प दया, दान, व्रत, भक्ति का हो परन्तु वह आकुलतामय दुःखरूप है। पहले ऐसा कहा कि वह पुण्य और पाप, दया, दान, राग-विकार, वह चैतन्य का विकार भासित होता है परन्तु वह चैतन्य का नहीं है, क्योंकि उसकी प्रत्येक अवस्था में नहीं रहता; इसलिए उसका नहीं है। इस कारण उसका लक्ष्य छोड़कर ज्ञायक की ओर का अनुभव करना। आहाहा!

अब दूसरी बात करते हैं। इसका चिद्विकार प्रत्येक अवस्था में नहीं, परन्तु जिस अवस्था में है, आहाहा! उसका अनुभव भी आकुलतामय है। आहाहा! वह प्रत्येक अवस्था में नहीं, इसलिए इसके नहीं परन्तु जब इसकी अवस्था में है, आहाहा! तब वह आकुलतामय दुःखरूप है। आहाहा! चाहे तो वह विकल्प शुभराग हो या अशुभ हो, वह तो आकुलतामय है। भगवान आत्मा आकुलतास्वरूप नहीं, वह तो अनाकुल आनन्दस्वरूप है। देखो! इसे भिन्न को सिद्ध किया। यह राग का विकल्प चाहे तो भक्ति का हो या पूजा का हो या दया का हो या दान का हो। आहाहा! परन्तु यह राग, आत्मा की प्रत्येक अवस्था

में नहीं; इसलिए वह आत्मा का नहीं। क्योंकि मोक्ष अवस्था में उसका अभाव हो जाता है; इसलिए अभाव हो जाता है, वह चीज़ इसकी नहीं है। एक बात।

अब अवस्था में जहाँ है, आहाहा! अवस्था में जहाँ रागादि विकल्प है, उसका अनुभव भी आकुलतामय है। आहाहा! प्रत्येक अवस्था में नहीं, इसलिए वे इसके नहीं परन्तु जिस अवस्था में है, वहाँ भी वे आकुलतामय है। आहाहा! ऐसी बात है। **उनका अनुभव भी...** ऐसा, इसकी अवस्था में है वहाँ; नहीं वहाँ नहीं, इसलिए यह तो सवाल रहता नहीं परन्तु अब इसकी अवस्था में जहाँ है, वहाँ भी, ऐसा। आहाहा! **आकुलतामय दुःखरूप है।** आहाहा! समझ में आया? प्रत्येक अवस्था में नहीं, इसलिए इसके नहीं-एक बात। और इसकी अवस्था में जब वे जिस-जिस अवस्था में हैं, वहाँ भी वे आकुलतामय दुःखरूप है। आहाहा! देखो न! भिन्न-भिन्न (सिद्ध किया)। आहाहा!

चैतन्य भगवान आत्मा की प्रत्येक अवस्था में तो ज्ञान और दर्शन आदि होते हैं परन्तु रागादि प्रत्येक अवस्थाओं में नहीं होते - एक बात, परन्तु दूसरी बात - जब अवस्था में (रागादि) हैं तब, आहाहा! आहाहा! **उनका अनुभव भी...** आहाहा! उस राग का वेदन आकुलतामय, आकुलतामय दुःखरूप... आहाहा! गजब बात है। किस प्रकार सिद्ध करते हैं? कि भगवान तो अनाकुल आनन्दस्वरूप है न? आहाहा! उसकी अवस्था में होते हैं, तथापि वे तो दुःखरूप हैं न? आहाहा! वह शुभराग भी दुःखरूप है। आहाहा! इसलिए उसके आनन्दस्वरूप से अलग जाति है, इसलिए उनसे (रागादि से) भिन्न भगवान हैं। समझ में आया? आहाहा!

देखो, पण्डित जयचन्दजी भी इतना स्पष्ट, अत्यन्त सादी भाषा में (स्पष्टीकरण करते हैं)। आहाहा! उनकी भिन्नता का भान कैसे हो? आहाहा! इसकी अवस्था में जहाँ है... प्रत्येक में तो नहीं, परन्तु जहाँ है, आहाहा! वहाँ भी वह राग है, वह आकुलतामय दुःखरूप है। वह आकुलतामय दुःखरूप है। आहाहा! इसलिए वे चेतन नहीं है। आहाहा! आकुलता और दुःखरूप राग है, इसलिए वे चेतन नहीं हैं। क्यों? कि वे जड़ हैं। क्यों? कि **चैतन्य का अनुभव निराकुल है,...** आहाहा! जो भगवान आत्मस्वरूप है, वह आनन्दस्वरूप है और उसका अनुभव भी आनन्दस्वरूप है। आहाहा! समझ में आया?

वह आकुलतामय है, इसलिए वह जीवस्वरूप नहीं है। प्रत्येक अवस्था में व्याप्त नहीं है, इसलिए वह जीवस्वरूप नहीं है। आहाहा! ऐसी सादी भाषा में... आहाहा! अन्दर भगवान भिन्न है। वर्तमान में हो तब भी वह दु:ख का अनुभव है और आत्मा चैतन्य का अनुभव,... आहाहा! राग का अनुभव हो, तब भी दु:खरूप है और तब भगवान चैतन्य का अनुभव, वह निराकुल है। आहाहा! ऐसा है। चैतन्यभगवान आनन्दस्वरूप की वर्तमान दशा में भी आनन्द का अनुभव है। आहाहा! यह उसकी दशा है। समझ में आया? उसकी दशा में रागादि हैं, वे तो दु:खरूप हैं; इसलिए वे आकुलता हैं और भगवान उस समय भी चैतन्य का अनुभव तो अनाकुल और आनन्द है। आहाहा!

चैतन्यस्वरूप जो भगवान आत्मा, वह आनन्दस्वरूप है, उसका अनुभव तो अनाकुल आनन्दरूप अनुभव है। आहा! उसकी अवस्था में होने पर भी (रागादि), वह दु:खरूप है और इसकी अवस्था-भगवान की अवस्था, वह अनुभव आनन्दरूप है। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बातें! धर्म के नाम पर लोगों ने कुछ का कुछ करा दिया है। आहाहा! चैतन्य आनन्दस्वरूप प्रभु तो उसकी अवस्था में होनेवाला राग दु:खरूप और चैतन्य का अनुभव सुखरूप है। इसलिए वह (राग) जीव का नहीं है। आहाहा!

वही जीव का स्वभाव है... देखा? **चैतन्य का अनुभव निराकुल है,...** आहाहा! अनुभव निराकुल है। आहाहा! ज्ञान की परिणति की प्रगट दशा है, उसे अन्तर में झुकाने पर, पर्याय में अनाकुलता का अनुभव होता है, आनन्द का अनुभव होता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! और इससे चैतन्य का अनुभव आनन्द है और राग का अनुभव दु:ख है; इसलिए वह जीव का नहीं है। आहाहा! ऐसी बात को अन्तर में पहुँचे, वह अन्तर में गति किये बिना वह मिले, ऐसा नहीं है। आहाहा! जहाँ ज्ञान की पर्याय, वर्तमान प्रगट है, उसका लक्ष्य करके अन्तर (में) झुक। वहाँ राग है, उसका लक्ष्य छोड़ दे, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? ज्ञान की वर्तमान दशा जो प्रगट है, उसका लक्ष्य लेकर अन्दर में जा, उसके लक्षण से अन्दर में जा, इससे तुझे आनन्द का अनुभव होगा और यह राग, वह तो दु:खरूप है, आकुलता है। आहाहा! इसलिए वह चैतन्य के स्वभाव से राग आकुलतामय है; इसलिए भिन्न हैं। अजीव स्वभाव है। आहाहा! ऐसा स्वरूप लोगों को कठिन पड़ता है। अभ्यास

नहीं करते और इस सम्यग्दर्शन के बिना सीधे व्रत ले लेना, पंचम गुणस्थान हो गया (ऐसा मान लेते हैं)। क्या हो प्रभु ? भाई! यह व्रत का विकल्प है, वह भी दु:खरूप है। आहाहा! वह विकल्प प्रत्येक अवस्था में तो नहीं। आहाहा! परन्तु जब है, तब भी उस पर लक्ष्य करनेयोग्य नहीं है क्योंकि वह दु:खरूप है। आहाहा! समझ में आया ? है, तब भी वह दु:खरूप है; इसलिए उसका लक्ष्य करनेयोग्य नहीं है। आनन्दरूप भगवान आत्मा है, वहाँ लक्ष्य करके अनुभव करनेयोग्य है। आहाहा! ऐसा मार्ग है। आहा! वीतराग सर्वज्ञ के सन्त ऐसा प्रसिद्ध करते हैं, छद्मस्थ प्राणी, आहाहा! पंचम काल में ऐसा प्रसिद्ध करते हैं। आहा! भाई! तू प्रभु आत्मा है, क्योंकि आत्मा है, उसकी पर्याय तो कायम निर्मलादि कायम रहती है, वह रागरूप नहीं है भाई! और जब यह राग है, तब भी वह दु:खरूप है; इसलिए तू आनन्दस्वरूप है, उस आनन्द के अनुभव के समक्ष यह तो दु:खरूप है। आहाहा!

वही जीव का स्वभाव है, ऐसा जानना। आहाहा! जो आनन्दस्वभाव त्रिकाली है, वह जीव, परन्तु उसका अनुभव हो, तब इसे ज्ञात होता है कि यह जीव है। समझ में आया ? इसे राग के प्रति लक्ष्य छोड़कर, उसका (स्वभाव का) अनुभव होने पर जो पर्याय में स्वाद आवे, तब यह जाने कि ओहोहो! यह तो आनन्दस्वरूप ही भगवान है – ऐसी बात है। क्या हो ? यह कोई पण्डिताई की चीज़ नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : नमूना से माल का ख्याल आता है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : नमूना... राग इसकी प्रत्येक अवस्था में नहीं है, इसलिए इसका नहीं है, एक बात परन्तु जब है, तब दु:खरूप है और जो भगवान आत्मा है, वह आनन्दस्वरूप है और उसका अनुभव होता है, वह आनन्दरूप है। आहाहा! समझ में आया ? यह तो उतावलों का काम नहीं है, बापू! यह तो धीरजवान का काम है। आहाहा! धीर बुद्धि, धीर प्रेरति, जो ज्ञान और बुद्धि अन्दर में प्रेरे-जाये, उसे धीर कहते हैं। धी-बुद्धि, र-प्रेरे जो ज्ञान पर्याय अन्दर में जाये, उसे धीर कहते हैं। आहाहा! केवलज्ञान को भी बुद्धि कहा है। केवलज्ञान को बुद्धि कहा है। ज्ञान, ज्ञान, ज्ञान है न ? उसे यहाँ बुद्धि शब्द प्रयोग किया है। शास्त्र में आता है बहुत जगह (आता है)। एक हजार आठ (नाम) में तो बहुत आता है। ज्ञान धीर, आनन्द धीर... आहाहा!

जब राग है, तब भी उसमें से लक्ष्य छोड़, क्योंकि वह तो दु:खरूप है। आहाहा! और भगवान आत्मा में दृष्टि कर कि जिससे तुझे उसी पर्याय में आनन्द का अनुभव हो, वही जीव है। आहाहा! समझ में आया? इतना भावार्थ आया ४४ का। सिद्धान्त तो उसे कहते हैं कि थोड़े में बहुत-गागर में सागर भरा हो। आहाहा!

कलश-४५

अब, भेदज्ञान की प्रवृत्ति के द्वारा यह ज्ञाता द्रव्य स्वयं प्रगट होता है, इस प्रकार कलश में महिमा प्रगट करके अधिकार पूर्ण करते हैं :—

इत्थं ज्ञानक्रकचकलनापाटनं नाटयित्वा
जीवाजीवौ स्फुटविघटनं नैव यावत्प्रयातः।
विश्वं व्याप्य प्रसभविकसद्व्यक्तचिन्मात्रशक्त्या
ज्ञातृद्रव्यं स्वयमतिरसात्तावदुच्चैश्चकाशे।।४५।।

इति जीवाजीवौ पृथग्भूत्वा निष्क्रान्तौ।

इति श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ जीवाजीव-प्ररूपकः प्रथमोऽङ्कः।

श्लोकार्थ - [इत्थं] इस प्रकार [ज्ञान-क्रकच-कलना-पाटनं] ज्ञानरूपी करवत का जो बारम्बार अभ्यास है, उसे [नाटयित्वा] नचाकार [यावत्] जहाँ [जीवाजीवौ] जीव और अजीव दोनों [स्फुट-विघटनं न एव प्रयातः] प्रगटरूप से अलग नहीं हुए, [तावत्] वहाँ तो [ज्ञातृद्रव्यं] ज्ञाताद्रव्य, [प्रसभ-विकसत्-व्यक्त-चिन्मात्रशक्त्या] अत्यन्त विकासरूप होती हुई अपनी प्रगट चिन्मात्रशक्ति से [विश्वं-व्याप्य] विश्व को व्याप्त करके, [स्वयम्] अपने आप ही [अतिरसात्] अतिवेग से [उच्चैः] उग्रतया अर्थात् आत्यन्तिकरूप से [चकाशे] प्रकाशित हो उठा।

भावार्थ - इस कलश का आशय दो प्रकार का है —

उपरोक्त ज्ञान का अभ्यास करते-करते जहाँ जीव और अजीव दोनों स्पष्ट भिन्न

समझ में आये कि तत्काल ही आत्मा निर्विकल्प अनुभव हुआ-सम्यग्दर्शन हुआ। (सम्यग्दृष्टि आत्मा श्रुतज्ञान से विश्व के समस्त भावों को संक्षेप से अथवा विस्तार से जानता है, और निश्चय से विश्व को प्रत्यक्ष जानने का उसका स्वभाव है; इसलिए यह कहा कि वह विश्व को जानता है।) एक आशय तो इस प्रकार है।

दूसरा आशय इस प्रकार से है — जीव-अजीव का अनादिकालीन संयोग केवल अलग होने से पूर्व अर्थात् जीव का मोक्ष होने से पूर्व, भेदज्ञान के भाते भाते अमुक दशा होने पर निर्विकल्प धारा जमीं - जिसमें केवल आत्मा का अनुभव रहा और वह श्रेणी अत्यन्त वेग से आगे बढ़ते-बढ़ते केवलज्ञान प्रगट हुआ और फिर अघातियाकर्मों का नाश होने पर जीवद्रव्य अजीव से केवल भिन्न हुआ। जीव-अजीव के भिन्न होने की यह रीति है॥५६॥

टीका - इस प्रकार जीव और अजीव अलग अलग होकर (रंगभूमि में से) बाहर निकल गये।

भावार्थ - समयसार की इस 'आत्मख्याति' नामक टीका के प्रारम्भ में पहले रंगभूमिस्थल कहकर उसके बाद टीकाकार आचार्य ने ऐसा कहा था कि नृत्य के अखाड़े में जीव-अजीव दोनों एक होकर प्रवेश करते हैं और दोनों ने एकत्व का स्वाँग रचा है। वहाँ भेदज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुरुष ने सम्यग्ज्ञान से उन जीव-अजीव दोनों की उनके लक्षणभेद से परीक्षा करके दोनों को पृथक् जाना, इसलिए स्वाँग पूरा हुआ और दोनों अलग-अलग होकर अखाड़े से बाहर निकल गये। इस प्रकार अलंकारपूर्वक वर्णन किया है।

जीव-अजीव अनादि संयोग मिलै लखि मूढ़ न आतम पावैं,
सम्यक् भेदविज्ञान भये बुध भिन्न गहे निजभाव सुदावैं;
श्री गुरु के उपदेश सुनै रु भले दिन पाय अज्ञान गमावैं,
ते जगमाँहि महन्त कहाय वसैं शिव जाय सुखी नित थावैं।

इस प्रकार श्री समयसार की (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री समयसार परमागम की) श्रीमद् अमृतचंद्राचार्यदेवविरचित आत्मख्याति नामक टीका में जीव -अजीव का प्ररूपक पहला अंक समाप्त हुआ।

कलश-४५ पर प्रवचन

अब, भेदज्ञान की प्रवृत्ति के द्वारा यह ज्ञाता द्रव्य... यह क्या कहा ? भेदज्ञान की प्रवृत्ति द्वारा अर्थात् राग का लक्ष्य छोड़कर अन्तर में लक्ष्य जाने का अभ्यास करने पर, आहाहा ! **भेदज्ञान की प्रवृत्ति के द्वारा...** यह राग आकुलता है, यह राग प्रत्येक अवस्था में नहीं; इसलिए इससे भिन्न पड़ने पर, आहाहा ! इसकी भिन्नता का अभ्यास करने पर **भेदज्ञान की प्रवृत्ति के द्वारा यह...** आत्मद्रव्य **स्वयं प्रगट होता है,...** भगवान आत्मा पर्याय में प्रगट होता है। आहाहा ! शक्तिरूप से अनन्त गुण का धाम भगवान, परन्तु इसे विकल्प जो रागादि, उनसे भिन्न अभ्यास करने पर... आहाहा ! क्योंकि चैतन्यद्रव्य, राग से भिन्न है। आहाहा ! इसलिए राग से भिन्न अभ्यास करने पर, भेदज्ञान का अभ्यास करने पर, आहाहा ! है ? तब प्रभु प्रगट होता है। शक्ति में जो है, वह भेदज्ञान द्वारा पर्याय में प्रगट होता है। आहाहा ! आहाहा ! समझ में आया ? यह श्लोक कहते हैं। **इस प्रकार कलश में...** इस प्रकार कलश में **महिमा प्रगट करके अधिकार पूर्ण करते हैं :—**

इत्थं ज्ञानक्रकचकलनापाटनं नाटयित्वा
जीवाजीवौ स्फुटविघटनं नैव यावत्प्रयातः।
विश्वं व्याप्य प्रसभविकसद्व्यक्तचिन्मात्रशक्त्या
ज्ञातृद्रव्यं स्वयमतिरसात्तावदुच्चैश्चकाशे।।४५।।

आहाहा ! **इस प्रकार 'ज्ञान-क्रकच-कलना-पाटनं' ज्ञानरूपी करवत का जो बारम्बार अभ्यास है,...** आहाहा ! ज्ञान की पर्याय को अन्दर में राग से भिन्न करने का अभ्यास, आहाहा ! **इस प्रकार 'ज्ञान-क्रकच' ज्ञानरूपी करवत का 'कलना' 'कलना-पाटनं' 'कलना'** अर्थात् **बारम्बार अभ्यास है,... 'कलना'** अर्थात् अभ्यास। **'पाटनं'** अर्थात् बारम्बार। आहाहा ! आहाहा ! **ज्ञानरूपी करवत का...** ज्ञान है न, फिर **क्रकच** अर्थात् करवत। आहाहा ! राग और ज्ञानस्वभाव के बीच भेद पाड़ने की करवत ज्ञान है। प्रज्ञाछैनी कहा था न ? कहेंगे न आगे (समयसार गाथा २९४ में) आहाहा ! जैसे करवत से लकड़ी के दो टुकड़े हो जाते हैं, वैसे राग से ज्ञानस्वभाव को भिन्न करने से, दोनों भिन्न पड़ जाते हैं। आहाहा ! ऐसी बात ! ज्ञानरूपी करवत का कलना अर्थात् अनुभव करने से-

अभ्यास करने से, अनुभव करने पर **पाटनं** अर्थात् बारम्बार, आहाहा! ज्ञान की पर्याय को अन्तर में राग से भिन्न करते-करते... आहाहा! **नचाकर...** अर्थात् परिणमाकर। आहाहा! भगवान आत्मा की राग से भिन्न दशा को परिणमाकर। आहाहा! **जहाँ जीव और अजीव दोनों...** आहाहा! जहाँ जीव और अजीव **दोनों प्रगटरूप से अलग नहीं हुए,...** आहाहा! अर्थात् पूर्ण नहीं हुए, ऐसे भिन्न प्रगट नहीं हुए, ऐसा है। प्रगटरूप से भिन्न अर्थात् केवल ज्ञानरूप से भिन्न नहीं हुए... यह कहेंगे अर्थ में। वहाँ तो '**ज्ञातृद्रव्यं प्रसभ-विकसत्-व्यक्त-चिन्मात्रशक्त्या**' दो अर्थ करेंगे। **अत्यन्त विकासरूप होती हुई अपनी प्रगट चिन्मात्रशक्ति से...** आहाहा! **विश्व को व्याप्त करके,...** अर्थात् ज्ञान की पर्याय लोकालोक को जानती पर्याय प्रगट होती है। आहाहा!

सम्यग्दर्शन में भी जो ज्ञान हुआ, वह विश्व को प्रकाशित करता ज्ञान प्रगट होता है। आहाहा! स्वयं का तो प्रकाशित किया परन्तु श्रुतज्ञान की पर्याय में भी वह विश्व-लोकालोक पूरा है, वह प्रकाश अर्थात् ज्ञात होता है। आहाहा! भले उपयोगरूप से इसे ख्याल में न आवे परन्तु इसके ज्ञान की पर्याय का विश्व को-समस्त को जानना, ऐसा प्रगट हो जाता है। आहाहा! **अत्यन्त विकासरूप होती हुई अपनी प्रगट चिन्मात्रशक्ति से विश्व को...** प्रगट होती चिन्मात्रशक्ति, हों! चिन्मात्रशक्ति तो त्रिकाल है परन्तु उसमें से प्रगट होती, आहाहा! अत्यन्त चिन्मात्रशक्ति से **विश्व को व्याप्त करके, अपने आप ही...** अर्थात् स्वयं ही यह '**अतिरसात्**' **अतिवेग से...** आहाहा! ज्ञानस्वभाव को राग से भिन्न करने पर, जो ज्ञानस्वभाव पर्याय में प्रगट हुआ, वह अतिवेग से विश्व को जाने, ऐसा उसका स्वभाव है, अर्थात् एक समय में जाने, ऐसा उसका स्वभाव है। आहाहा! एक तो राग से भिन्न पड़कर ज्ञानस्वरूपी प्रकाशित हो उठा और दूसरा राग से भिन्न करके पूर्ण प्रकाशित हो गया। आहाहा! एक-एक गाथा, एक-एक कलश अलौकिक है! आहाहा! अमृतचन्द्राचार्य ने अमृत... अमृत... बरसाया है। आहाहा!

इस कलश का आशय दो प्रकार का है, देखा? **उपरोक्त ज्ञान का अभ्यास करते-करते...** अर्थात्? राग जो पर्याय में है, उसका लक्ष्य छोड़कर, जो उस समय ज्ञान की पर्याय है, उसे ज्ञायक की ओर झुकाने पर-अभ्यास करने पर, आहाहा! इस प्रकार राग

से भिन्न पड़ा और पर्याय द्रव्य में ढलती है। आहाहा! **जहाँ जीव और अजीव दोनों स्पष्ट भिन्न समझ में आये कि तत्काल ही आत्मा निर्विकल्प अनुभव हुआ...** आहाहा! ऐसा कहते हैं पहले तो। राग से भेदज्ञान-स्वभाव को भिन्न करते-करते जहाँ आत्मा समझ में आया-आत्मा का भान हुआ कि तुरन्त ही निर्विकल्प अनुभव हुआ। उसी क्षण निर्विकल्प अनुभव होता है। आहाहा!

मुमुक्षु : भिन्न करते-करते यह तो सविकल्प भेदज्ञान है और करते-करते...

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, भेद करते-करते सविकल्प नहीं; राग से भिन्न करते। विकल्प नहीं, वह तो भेद का विकल्प भी यह करता हूँ वह विकल्प, ऐसा अभी यहाँ नहीं लेना। यहाँ तो राग से ज्ञान की ओर का भेद करना, बस। इसमें भी यह भेदज्ञान विकल्प है-यह आता है, यह अपेक्षा दूसरी। ऐसे दो (भेद) करने पर राग और ऐसा भेद पड़े इतना, परन्तु यहाँ तो इस ओर ढलने पर... समझ में आया? ऐसा मार्ग! जिसका फल वर्तमान में शान्ति और आनन्द तथा जिसके पूर्ण फल में परम आनन्द और पूर्ण शान्ति (है) आहाहा! ऐसे भेदज्ञान की क्या बात करना! आहाहा! अरे! यह चीज़ नहीं मिलती और इसके बिना यह व्रत, तप और उपवास किये और हो गये पंचम गुणस्थान (वाले)। भाई! यह चीज़ जो है राग से भिन्न, आहाहा! है न? ऊपर कहा - ज्ञान का अभ्यास करने से... ज्ञान का अर्थात् राग से भिन्न पड़ने का अभ्यास करने पर। यहाँ तो भिन्न ऐसा भी नहीं कहा। ज्ञान का अभ्यास करने पर। **जहाँ जीव और अजीव दोनों स्पष्ट भिन्न समझ में आये कि तत्काल ही आत्मा निर्विकल्प अनुभव हुआ-सम्यग्दर्शन हुआ।** आहाहा!

राग, वह अजीव है; भगवान चैतन्यमूर्ति, वह जीव है। ऐसे अजीव से भिन्न ज्ञान का अभ्यास करते-करते जहाँ आत्मा ज्ञायकस्वरूप है, ऐसा समझ में आया, उसी क्षण निर्विकल्प अनुभव होता है। ऐसा है, भाई! आहाहा!

मुमुक्षु : समझ में आने का अर्थ स्पष्ट प्रतिभास में आया?

पूज्य गुरुदेवश्री : समझ में आया और तुरन्त अनुभव हुआ, ऐसा। यह ज्ञायक-ऐसा जाना, उसी क्षण अनुभव हुआ। आहाहा! शब्द में ऐसा है अवश्य न? **प्रगटरूप से अलग नहीं हुए**—ऐसा कहा न? अर्थात्, ऐसे अत्यन्त पूर्ण अलग नहीं हुए परन्तु यहाँ राग से भिन्न पड़कर ज्ञानानन्द में अनुभव हुआ, अत्यन्त पूर्ण प्रगट भिन्न नहीं हुए - एक बात;

और अभी भी राग से भिन्न करके जहाँ ज्ञात हुआ, वहाँ अनुभव-सम्यग्दर्शन हुआ। आहाहा! इसका नाम सम्यग्दर्शन है, लो!

ज्ञान का अभ्यास करते... ऐसा कहा न? अर्थात् ज्ञान जो दशा है न? उसे अन्तर में झुकाते, ऐसा। आहाहा! विकल्प तो बाहर रह गया। ऐसा है, रसिकभाई! कलकत्ता-फलकत्ता में कहीं मिले ऐसा नहीं कहीं। कहो, अजीतभाई! आहाहा!

मुमुक्षु : विकल्प होने पर भी विकल्प से ही भिन्न करना है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ तो भिन्न ही पड़ा है। ज्ञान का अभ्यास। आहाहा! ज्ञान का अभ्यास करते (करते) - ऐसा कहा है न? **जहाँ जीव और अजीव दोनों स्पष्ट भिन्न समझ में आये...** आहाहा! **कि तत्काल ही आत्मा निर्विकल्प अनुभव हुआ...** आहाहा! **सम्यग्दर्शन हुआ।** आहाहा! अब सम्यग्दृष्टि आत्मा श्रुतज्ञान से विश्व को प्रकाशित करता है-ऐसा आया है न? **(विश्व के समस्त भावों को संक्षेप से अथवा विस्तार से जानता है,...)** उसे पूर्ण है, ऐसा भी जानता है और संक्षेप में भी जानता है। उसे उपयोग भले ऐसे काम न करे, परन्तु उपयोग का स्वरूप ऐसा है कि उसे पूरा विश्व ज्ञात हो जाता है। जहाँ स्व ज्ञात हुआ, इसलिए उसकी पर्याय में पर ज्ञात हो जाये, ऐसा उसका स्वरूप है-ऐसा कहते हैं। भगवान आत्मा की ज्ञान की पर्याय में पूर्ण... पूर्ण... पूर्ण... पूर्ण... भगवान है, ऐसा जहाँ ज्ञात हुआ, आहाहा! तब उसी पर्याय में इस ओर पूर्ण है, वह भी ज्ञात हो जाता है। पूर्ण अर्थात् पूरा विश्व। समझ में आया? आहाहा!

ज्ञान का अभ्यास करने से जहाँ जीव और अजीव दोनों भिन्न पड़ गये, अकेला जीव ज्ञायकभाव ख्याल में आया, उस क्षण में ही वह निर्विकल्प अनुभव होता है। आहाहा! और इससे ज्ञान की पर्याय में पूर्ण... पूर्ण... पूर्ण... परमात्मा पूर्ण स्वरूप भगवान, ऐसा ज्ञान हुआ; इसलिए उसकी पर्याय में इस ओर का पूरा विश्व है, उसका भी ज्ञान होता है, भले परोक्ष है। आहाहा! मूल कहने का आशय यह है कि जहाँ भगवान पूर्ण द्रव्यस्वभाव ज्ञान का अभ्यास करने से जहाँ ज्ञात हो गया, जानने में आया... आहाहा! उसी क्षण उसे अनुभव होता है और उसी क्षण वह ज्ञान की पर्याय है, वह यहाँ 'पूरे' को जाने, वहाँ ऐसे 'पूरे' को जानने की पर्याय वहाँ प्रगट की है। आहाहा!

मुमुक्षु : अलौकिक बातें हैं!

पूज्य गुरुदेवश्री : है ? ऐसी बातें हैं। आहाहा ! यह मूल चीज़ यह है। अब इसे प्रगट हुए बिना, जाने बिना बाकी सब व्रत और तप करे और पंचम गुणस्थान हो जाये (ऐसा अज्ञानी मानता है) अरे भगवान ! बापू ! भाई ! तुझे लाभ नहीं होगा। आहाहा ! नुकसान के रास्ते जाने से लाभ होना मानता है प्रभु ! आहाहा ! ऐसा कि व्रत और तप लिया, इसलिए पंचम गुणस्थान हो गया। अभी सम्यग्दर्शन क्या चीज़ है, इसका तो पता नहीं होता। आहाहा !

देखो, यह अन्तिम गाथा है न ! यह जीव-अजीव (अधिकार की अन्तिम गाथा है); इसलिए बहुत सरस बात संक्षिप्त में (गाथा के) कलश में सब भरा है, उसको स्पष्ट किया है। आहाहा ! ऐसा कहा न, देखो न ! **ज्ञानरूपी करवत का जो बारम्बार अभ्यास...** करने से, ऐसा कहा न, भाई ! ज्ञान की जो परिणति... पहले आ गया है कि ज्ञान की परिणति है, वह प्रगट है। भले राग हो, उसका लक्ष्य छोड़ दे क्योंकि वह इसमें (स्वभाव में) नहीं है, इसका नहीं है; होता है तो भी दुःखरूप है, इसलिए वह जीव नहीं है। इस ज्ञान की परिणति को ऐसे अन्तर में झुकाने से... आहाहा ! जाननेवाले की दशा को जाननहार की ओर झुकाने से, आहाहा ! उसे ज्ञानस्वभावी भगवान आत्मा जानने में आ गया। आ गया अर्थात् तुरन्त ही, उसी क्षण निर्विकल्प अनुभव होता है। आहाहा ! और उसी क्षण वह ज्ञान की पर्याय जहाँ स्व को-पूर्ण को जाने... यह आत्मा समझ में आया-ज्ञात हुआ, यह आत्मा समझ में आया-ज्ञात हुआ, उसी समय पर्याय में विश्व को जानने का भी स्वभाव पर्याय में प्रगट हुआ। आहाहा ! आहाहा !

मुमुक्षु : अनुभव के पहले ख्याल में आ जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसकी पर्याय में इतनी ताकत आयी, वह ज्ञात हुआ। भले उस पर तरफ इसका लक्ष्य न जाये, परन्तु इसकी पर्याय में पूरे विश्व को जानने की ताकत खिल निकली। आहाहा ! ऐसी बात है। क्यों ? कि ज्ञान का अभ्यास करने से जहाँ ज्ञायक ज्ञात हुआ, तो ज्ञान की पर्याय का स्वभाव स्व-परप्रकाशक है, इसलिए जब ज्ञाता ज्ञायक ज्ञात हुआ, वह स्वप्रकाशक हुआ, उसी समय परप्रकाशक विश्व का भी ज्ञान साथ आया। आहाहा ! फिर भले विश्व के भावों को संक्षेप से या विस्तार से... **(निश्चय से विश्व को प्रत्यक्ष जानने का उसका स्वभाव है;...)** आहाहा ! **(विश्व को प्रत्यक्ष जानने का उसका**

स्वभाव है;...) क्योंकि जहाँ स्वयं को प्रत्यक्ष जानता है, तब उस पर्याय का स्व-परप्रकाशक का प्रत्यक्ष जानने का स्वभाव है। **(इसलिए यह कहा कि वह विश्व को जानता है।) एक आशय तो इस प्रकार है।** दो आशय है न? आहाहा! यह धर्म कथा है। आहाहा!

दूसरा आशय (इस प्रकार से है)—जीव-अजीव का अनादिकालीन संयोग केवल अलग होने से पूर्व... आहाहा! वह केवल अलग अर्थात् मोक्ष, ऐसा। एक भाव यह लिया है। आहाहा! जीव और अजीव अर्थात् रागादि और भगवान आत्मा। अजीव शब्द से (आशय) राग। आहाहा! जीव और रागादि का **अनादिकालीन संयोग केवल अलग होने से पूर्व...** अलग तो है परन्तु पूर्ण पर्याय में अलग पड़े बिना पहले आहाहा! **जीव का मोक्ष होने से पूर्व,...** अर्थात् जीव का मोक्ष होने से पहले। वहाँ अन्दर आया था न? **प्रगटरूप से अलग नहीं हुए,...** ऐसा आया था न? अन्दर आया था। **'स्फुट-विघटनं न एव प्रयातः' प्रगटरूप से अलग नहीं हुए,...** अर्थात् केवलज्ञान नहीं हुआ - ऐसा कहते हैं। आहाहा! ...सन्तों की वाणी तो देखो! उनके एक-एक शब्द में-एक-एक पद में, ओहोहो! क्या गम्भीरता! क्या भरपूर भाव से भरपूर वाच्य और वाचक शब्द में... आहाहा! यह कहा था न? **प्रगटरूप से अलग नहीं हुए, वहाँ तो अत्यन्त विकासरूप होती हुई अपनी प्रगट चिन्मात्रशक्ति से विश्व को व्याप्त करके,...** प्रगट हुई है अर्थात् पूर्ण-केवलज्ञान प्रगट नहीं हुआ, उससे पहले सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्रगट हो गया। आहाहा! भाई! यह कोई वार्ता नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : प्रयोग करनेयोग्य है।

पूज्य गुरुदेवश्री : जीव का मोक्ष होने से पूर्व, भेदज्ञान के भाते-भाते... ज्ञान की परिणति को ज्ञायक की ओर झुकाने से। आहाहा! अमुक दशा होने से अर्थात् निर्विकल्प धारा जमी-अनुभव हुआ। **जिसमें केवल आत्मा का अनुभव रहा...** जिसमें केवल आत्मा का अनुभव रहा। **और वह श्रेणी..** आहाहा! **अत्यन्त वेग से आगे बढ़ते-बढ़ते..** आहाहा! **केवलज्ञान प्रगट हुआ...** आहाहा! बाद में भी कहा है न? कि ज्ञान का भान हुआ, भेद से, फिर भी भेद अभ्यास करते-करते चारित्र होता है-आता है न? आहाहा!

इस राग से भिन्न ज्ञायकस्वभाव का-चैतन्य का अनुभव हुआ। अब वहाँ तो दर्शन-ज्ञान और स्वरूपाचरण स्थिरता हुई। अब जब चारित्र प्रगट करना है तो इसे वर्तमान पर्याय से भी पूरी वस्तु भिन्न है, ऐसा अन्दर में अभ्यास करते-करते इसे चारित्र होता है और उग्र अभ्यास करते-करते केवलज्ञान हुआ। भेद अभ्यास-समयसार में चारित्र के लिये गाथा में आता है, आगे अधिकार है, आलोचना है न, तीन बोल, उसमें आता है। आहाहा! इतने से तो ज्ञान हुआ परन्तु अब अभी चारित्र प्रगट करना है तो उसे भी अन्दर में आश्रय ऐसे अन्दर भेद करते-करते द्रव्य का उग्र आश्रय लेते... आहाहा! अर्थात्? कि इतनी यह पर्याय खिली, उतना मैं नहीं। आहाहा! उसे पूर्ण ज्ञायक की ओर अभ्यास करने से चारित्र होता है और उसके अभ्यास में उग्रपना करते केवलज्ञान होता है। आहाहा! क्या शैली! चारों ओर से देखो तो अविरोध सिद्धान्त ही उत्पन्न होता है। आहाहा! इसका नाम सिद्धान्त होता है। आहाहा! जिसमें सिद्धपना प्राप्त हो, ऐसे सिद्धान्त को सिद्धान्त कहने में आता है। जिसका टोटल अन्त में सिद्ध (पना) हो। आहाहा! ऐसे शब्दों को सिद्धान्त कहा जाता है। आहाहा! वाणी द्वारा... वाच्य तो वह सिद्धान्त अन्दर है। आहाहा! राग से भिन्न पड़कर अनुभव हुआ परन्तु जहाँ तक पूर्ण भिन्न नहीं हुआ तो भी अनुभव तो हो गया, ऐसा कहते हैं। आहाहा! अर्थात्? भगवान ज्ञानानन्दस्वरूप है, वह ज्ञानपरिणति द्वारा राग से भिन्न पड़कर इस ओर में अनुभव हुआ तो वह तो पूर्ण का अनुभव हुआ और इससे पर्याय में विश्व का प्रकाशकपना ऐसा ज्ञात हुआ, परन्तु अभी पूर्ण भेद प्रगट नहीं हुआ - भेद नहीं पड़ा। आहाहा!

यह तो परोक्षरूप से पर को और स्व को वेदन से और पर को जानने से इतना प्रगट हुआ परन्तु इसे पूर्ण केवलज्ञान जो है... आहाहा! उस ज्ञान का अन्दर में एकाग्र अभ्यास करते-करते केवलज्ञान होता है, उससे पहले अनुभव हो गया, ऐसा कहा है। अलग नहीं पड़ने से पहले अनुभव हुआ, यह कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? इसमें तो ऐसा है (कि) एक शब्द भी फेरफार हो तो सब (बदल जाये।) आहाहा! तीन लोक के नाथ की वाणी और संतों की वाणी! आहाहा! दूसरे साधारण मानस को तो अभिमान उतर जाये, ऐसा है। आहाहा!

भेदज्ञान के भाते-भाते... पहले ज्ञान का अभ्यास करते-करते, ऐसा शब्द था। समझ में आया? अब कहते हैं कि उस ज्ञान का भान हुआ, उसे भाते-भाते धारा जमी-

निर्विकल्प धारा जमी। आहाहा! अन्तर स्थिरता जमी, जिसमें केवल आत्मा का अनुभव रहा और वह **श्रेणी दशा अत्यन्त वेग से...** आहाहा! धारावाहिक श्रेणी अर्थात् धर्मधारा, वीतरागधारा। आहाहा! वीतरागस्वभाव के आश्रय से जो वीतरागधारा चली... वह **बढ़ते-बढ़ते केवलज्ञान प्रगट हुआ...** आहाहा! वापस ऐसा भी सिद्ध किया कि भेदज्ञान होते-होते उसका अभ्यास करते ही केवल(ज्ञान) हुआ; कोई राग की क्रिया थी और व्यवहार था; इसलिए केवलज्ञान हुआ (–ऐसा नहीं है)। आहाहा! उस समय भी जो राग था, उससे भिन्न पड़ा, परन्तु अभी राग रहा है। आहाहा! उससे भी भेद करते... करते... करते... अन्दर में दशा जमी, यह निर्विकल्पदशा जहाँ जमी.. आहाहा! आनन्द दशा (जहाँ जमी), वहाँ केवल आत्मा का अनुभव रहा। आहाहा! यह बात है।

मुमुक्षु : निर्विकल्प धारा जमी अर्थात् श्रेणी शुरु हो गयी।

पूज्य गुरुदेवश्री : हैं? निर्विकल्प धारा हुई, उसका ही अर्थ वहाँ स्थिरता जमी। आहाहा! आनन्द के नाथ में पर्याय में स्थिरता जमी, यह वीतरागता.. वीतरागता.. वीतरागता.. जमी। आहाहा! वीतरागस्वभाव के उग्र आश्रय से वीतरागता जमी। आहाहा! वह वीतरागता जमने से केवलज्ञान हुआ। आहाहा! बारहवें (गुणस्थान में) वीतरागता होती है न? आहाहा! क्या मधुर शैली! क्या संक्षिप्त गागर में सागर भर दिया!! आहाहा! **फिर अघातियाकर्मों का नाश होने पर...** पहले ऐसा कहा था न – दोनों अत्यन्त भिन्न नहीं पड़े, इसलिए फिर यहाँ अलग पड़े हैं। वैसे पहले अत्यन्त भिन्न अनुभव से पड़ते हैं, वहाँ अभी सर्वथा पर से भिन्न पड़ा नहीं, इसलिए अनुभव हुआ – भिन्न पड़ा पहले, ऐसा कहा था न? वह पूर्ण अलग होने से पहले। आहाहा! **फिर अघातियाकर्मों का नाश होने पर जीवद्रव्य अजीव से केवल भिन्न हुआ।**

भगवान आत्मा, प्रतिजीवी गुण की भी जो विपरीतता थी, वह भी अजीव था, कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? प्रतिजीवी गुण की जो विपरीतता थी, आहाहा! वह भी अजीव है। आहाहा! यहाँ जहाँ अन्दर में ऐसी स्थिरता जमी–निर्मल धारा (जमी), वहाँ उसकी पूर्णता हो गयी। फिर अघाति का नाश होकर केवल भिन्न हुआ। जीवद्रव्य, अजीव से अत्यन्त अलग हुआ। **जीव-अजीव के भिन्न होने की यह रीति है।** आहाहा! कैसी शैली! पहले से ठेठ तक की भी धारा एकधारी है।

मुमुक्षु : पहली भाव भिन्नता हुई, फिर क्षेत्र भिन्नता हुई...

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे रे! ऐसी बातें भी सुनने को नहीं मिले, इसे बेचारे को जाना कहाँ? मान बैठता है कि हम धर्म करते हैं। आहाहा!

टीका - इस प्रकार जीव और अजीव अलग-अलग होकर (रंगभूमि में से) बाहर निकल गये। अजीव अलग पड़ गया और जीव अकेला पूर्ण हो गया। आहाहा! देखा? वह विपरीत पर्याय है, वह सब अजीव है। आहाहा! अकेला जहाँ पूर्णस्वरूप प्रगट हुआ, वहाँ अजीव अलग पड़ गया। आहाहा!

भावार्थ - (समयसार की इस 'आत्मख्याति' नामक टीका के) प्रारम्भ में पहले रंगभूमिस्थल कहकर उसके बाद टीकाकार आचार्य ने ऐसा कहा था... वह जीव डाला था न पहला, जीव अधिकार, ३८ (गाथा तक), वह रंगभूमि इस **नृत्य के अखाड़े में जीव-अजीव दोनों एक होकर प्रवेश करते हैं और दोनों ने एकत्व का स्वाँग रचा है। वहाँ भेदज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुरुष ने सम्यग्ज्ञान से...** सम्यग्ज्ञान से **उन जीव-अजीव दोनों की उनके लक्षणभेद से परीक्षा करके...** आहाहा! राग का लक्षण आकुलता है; भगवान का लक्षण अनाकुलता। आहाहा! आहाहा! **परीक्षा करके दोनों को पृथक् जाना, इसलिए स्वाँग पूरा हुआ...** हो गया। आहाहा! **और दोनों अलग-अलग होकर अखाड़े से बाहर निकल गये। इस प्रकार अलंकारपूर्वक वर्णन किया है।**

विशेष आयेगा! (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १४४ दिनाङ्क २४-११-१९७८, शुक्रवार
कार्तिक कृष्ण ९, वीर निर्वाण संवत् २५०४

श्री समयसार - अन्तिम बोल है। थोड़ा हिन्दी चलेगा।

जीव-अजीव अनादि संयोग मिलै लखि मूढ़ न आतम पावैं,
सम्यक् भेदविज्ञान भये बुध भिन्न गहे निजभाव सुदावैं;
श्रीगुरु के उपदेश सुनै रु भले दिन पाय अज्ञान गमावैं,
ते जगमाँहि महन्त कहाय वसैं शिव जाय सुखी नित थावैं।

जीव-अजीव अधिकार पूरा किया है न! **जीव-अजीव अनादि संयोग...** भगवान परम ज्ञायकभाव ऐसा जो पारिणामिकस्वभावभाव, उसके साथ अजीव का-निमित्त का संयोग है। **अनादि संयोग मिलै...** उसे **लखि**-जानकर। राग-द्वेष-भेद आदि का संयोग **लखि मूढ़ न आतम पावैं,...** दो संयोग तो देखे परन्तु अलग नहीं देखता। **मूढ़ न आतम** -आत्म-परमस्वभावभाव / पारिणामिकभाव द्रव्यभाव स्वभावभाव को वह नहीं जान सकता। कर्म, राग और भेद, वह संयोगी चीज़ है। आहाहा! वह अजीव का संयोग है, उसे देखने से भिन्न आत्मा भगवान शुद्ध चैतन्य को वह नहीं देखता।

सम्यक् भेदविज्ञान भये... परन्तु सम्यक् भेदविज्ञान—राग, दया, दान का राग, कर्म और भेद से सम्यक् भेदविज्ञान भये - सम्यक् अर्थात् सत्य भेदविज्ञान; ख्याल में आवे कि यह राग है, ऐसा नहीं। आहाहा! अन्तर के ज्ञायकभाव को पकड़कर पर से भेदज्ञान करे तो **बुध भिन्न गहे...** तो ज्ञानी आत्मा को अलग ग्रहे। आहाहा! **सम्यक् भेदविज्ञान भये बुध...** धर्मी-ज्ञानी **भिन्न गहे निजभाव...** निजभाव, परमस्वभावभाव, उसे अपना **सुदावैं**-दाँव-पेच से निज को पकड़े।

श्रीगुरु के उपदेश सुनै... श्रीगुरु का यह उपदेश है - ऐसा कहना है। उसे भेद करके स्वभाव को पकड़ना, यह उपदेश है। **भले दिन पाय...** अहो! ऐसे स्वकाल को प्राप्त करने से **भले दिन पाय अज्ञान गमावैं, ते जगमाँहि महन्त कहाय...** वह जग में महात्मा अथवा महन्त कहने में आता है। **वसैं शिव जाय...** शिव में जाये और मोक्षमार्ग में... **सुखी नित थावैं।** मोक्ष होकर नित्य सुखी होता है। यह जीव अधिकार पूरा हुआ।

इस प्रकार श्री समयसार की (श्रीमद्‌भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री समयसार परमागम की) श्रीमद् अमृतचंद्राचार्यदेवविरचित आत्मख्याति नामक टीका में जीव-अजीव का प्ररूपक पहला अंक समाप्त हुआ। पहला जीव-अजीव का भाग हुआ। एक में जीव है और दूसरा अजीव है। दोनों को शामिल करके (अब दूसरा कर्ता-कर्म)।

कर्ता-कर्म अधिकार के प्रवचन
समयसार सिद्धि, भाग 4-5 में दिये गये हैं।